द्विवेदी युग का हिन्दी-काव्य

आलोचनात्मक पुस्तकें—शोध-प्रबन्ध

माखनलाल चतुर्वेदी : व्यक्ति और काव्य—डा० रामखिलावन तिवारी
हिन्दी उपन्यास का उद्‌भव और विकास—डा० लक्ष्मीकान्त सिनहा
हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता—डा० सुखदेव शुक्ल
आधुनिक प्रगीत-काव्य—डा० गणेश खरे
हिन्दी काव्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त—डा० सच्चिदानन्द चौधरी
प्रकीर्णिका—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य—सं० डा० रामाधा
डिंगल-साहित्य : प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव—डा० गोवर्द्धन श
हिन्दी-निबन्ध का विकास—डा० ओंकारनाथ शर्मा
अज्ञेय का काव्य—सुश्री सुमन झा
हिन्दी की नयी कविता—श्री वी० नारायणन कुट्टी
आधुनिक हिन्दी-कविता में अलंकार विधान—डा० जगदीशनारायण ि
नया हिन्दी-काव्य—डा० शिवकुमार मिश्र
हिन्दी की सैद्धान्तिक-समीक्षा—डा० रामाधार शर्मा
रामचरितमानस : काव्यशास्त्रीय अनुशीलन—डा० राजकुमार पाण्डेय
हिन्दी-उपन्यास : समाजशास्त्रीय-विवेचन—डा० चण्डीप्रसाद जोशी
तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा—डा० राजाराम रस्तोगी
कविवर बिहारीलाल और उनका युग—डा० रणधीर सिन्हा
निराला का परवर्ती काव्य—श्री रमेशचन्द्र मेहरा
छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—श्री राजेश्वरदयाल सक्सेना
प्रयोगवाद—श्री नरेन्द्रदेव वर्मा
आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—पं० किशोरीदास वाजपेयी
हिन्दी गद्य का विकास—डा० प्रेमप्रकाश गौतम
कामायनी का प्रवृत्ति-मूलक अध्ययन—डा० कामेश्वरप्रसाद सिंह
प्रसाद की काव्य-प्रवृत्ति—डा० कामेश्वरप्रसाद सिंह
आधुनिक हिन्दी कविता में मनोविज्ञान—डा० उवशी ज. सूरती
कविवर पद्माकर और उनका युग—डा० व्रजनारायण सिंह

अनुसन्धान प्रकाशन,
८७/२५६, आचार्यनगर, कानपुर-३

द्विवेदी-युग का हिन्दी-काव्य

डॉ० रामसकल राय शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०

मूल्य : अठारह रुपये

प्रकाशक :

अनुसंधान प्रकाशन
आचार्यनगर, कानपुर-३

मुद्रक :

अनुपम प्रेस, चंद्रिकादेवी रोड,
कानपुर

प्रकाशन काल :

सितम्बर, १९६६

आचार्य पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी

को

जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रति मेरे हृदय में

अपार आस्था एवं श्रद्धा है ।

भूमिका

इस वर्ष विक्रम विश्वविद्यालय में अपने नवीन पदभार के ग्रहण करने के पूर्व मैं गत अठारह वर्षों से अधिक समय तक सागर विश्वविद्यालय, हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य करता रहा। वहां पिछले बारह-चौदह वर्षों से पी-एच० डी० का शोध-कार्य नियमित रूप से चल रहा था और मेरे स्थानान्तरण के पूर्व प्रायः पांच दर्जन शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये जा चुके थे और शोध-छात्रों को उपाधियां प्राप्त हो चुकी थीं। आरम्भ में कतिपय विशिष्ट कवियों और साहित्य-पुरस्कर्ताओं पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने का क्रम चला था। इस विषय में एक प्रमुख कठिनाई प्रामाणिक जीवनी के अभाव की उपस्थित हुई। स्वतन्त्र जीवनी-लेखन का कार्य अब तक हिन्दी में गम्भीरतापूर्वक नहीं अपनाया गया, जिसका मुख्य कारण उपजीव्य सामग्री की विरलता ही कहा जायगा। यद्यपि हमारा शोध-कार्य कवि-कर्तृत्व पर ही केन्द्रित रहकर सम्पन्न हो सकता था, परन्तु प्रामाणिक जीवनियों के अभाव में वह यथेष्ट फलप्रद नहीं हो सकता था। अतएव, हमें आंशिक रूप से अपनी शोध-दिशा बदलनी पड़ी। कुछ प्रबन्ध युगीन भूमिकाओं पर भी लिखे गये हैं, जिनमें युग विशेष के साहित्य-स्रष्टाओं की कृतियों का विवेचन किया गया है और उनके साहित्यिक और कलात्मक प्रदेय प्रकाश में लाये गये हैं। यद्यपि यह काम हिन्दी के आरम्भिक साहित्यिक आकलन के लिए आवश्यक और उपयोगी रहा है, पर इतने से ही संतोष करना हमारे लिए उचित और सम्भव न था। तब हमने आधुनिक युग के विविध साहित्यिक आंदोलनों और उनसे निःसृत कला शैलियों में से प्रत्येक को इकाई मानकर शोध-कार्य का तृतीय अध्याय आरम्भ किया। इस संदर्भ में, स्वच्छंदतावादी साहित्यिक आंदोलन से संबधित साहित्यिक विकास पर प्रायः आधे दर्जन शोध-विषय दिये गये, जिनमें से अधिकांश का कार्य सम्पन्न हो गया है और कुछ का शेष है। स्वच्छंदतावादी काव्य, कथा-साहित्य, नाट्य-कृतियां, समीक्षा तथा स्वच्छंदतावाद के सैद्धांतिक आधारों पर हमारे विभाग द्वारा अनेक शोध-प्रबध प्रस्तुत किये गये हैं और अब भी उसके कुछ पक्षों पर कार्य किया जा रहा है। विशुद्ध वैचारिक, सिद्धांत और कलाशास्त्रीय तथ्यों के अनुशीलन के लिये भी हमारी शोध-योजना में स्थान रहा है, और कुछ विशिष्ट शोध-कर्ता इस कार्य में संलग्न हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र और कला-विवेचन के सिद्धांतों पर स्वतंत्र रूप से अलग-अलग शोधकृतियां प्रस्तुत करने की दिशा में भी हम अग्रसर हो रहे हैं, क्योंकि हमें ज्ञात है कि भारतीय कला या साहित्यशास्त्र का अनुशीलन अब भी परम्परागत प्रणालियों से ही हो रहा है। इसमें नवीन चिंतन और आधुनिक वैज्ञानिक उद्भावनाओं का सम्यक् योग नहीं हो पाया है। हमारी पारिभाषिक शब्दावली भी इस क्षेत्र में अद्यतन नहीं है। प्राचीन साहित्य-चिंतन को नया स्वरूप और नई शब्दावली देने की आवश्यकता है। इन सबके अतिरिक्त, कतिपय सांप्रतिक साहित्यिक समस्याओं और प्रश्नों पर भी संतुलित विचारणा की आवश्यकता है, जिन पर भी पी-एच० डी० के शोध-कार्य लाभप्रद हो सकते हैं; उनकी ओर भी हमारी दृष्टि गई है और कुछ कार्य किया गया है

सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग मे डी० लिट० के शोध संबंधी कुछ विषय भी निर्धारित किये गए हैं। इसमे स्वभावतः अधिक व्यापकता और अधिक प्रशस्त विवेचन और आकलन की आवश्यकता प्रतीत हुई है। डी० लिट० संबंधी यह शोध-कार्य कुछ ही समय में एक स्पष्ट रूपरेखा ग्रहण करेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्फुट और सहसा प्रत्यागत विषयों पर आनुषंगिक कार्य करने की अपेक्षा विशिष्ट योजना के अनुसार, सुसम्बद्ध और समग्र भूमिकाओं पर शोध-कार्य करने में हमारी अधिक रुचि रही है और इस रुचि को साकार रूप देने और फलप्रद बनाने में हम पिछले कुछ समय से संलग्न रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक हमारे शोध-छात्र श्री रामसकल शर्मा की शोध-कृति है, जिसके आधार पर उन्हें सागर विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली है। इसमें डा० शर्मा ने द्विवेदी-युगीन काव्य पर सर्वतोमुखी विचार किया है। कुछ बहुत अच्छी स्थापनायें भी की हैं। द्विवेदी-युगीन कवियों को कई वर्गों में विभाजित कर प्रत्येक का विश्लेषणात्मक आकलन किया गया है। काव्य-विषय, काव्य-भाषा, काव्य-रूप, छंद-योजना, अलंकार-योजना आदि के अध्याय देकर समग्र विवेचन किया गया है तथा उचित पृष्ठभूमि पर इस काव्य की उत्पत्ति और विकास की मीमांसा की गई है।

द्विवेदी युग के काव्य के संबंध में स्फुट कवियों पर अलग-अलग तो विचार किया गया है, परन्तु युगगत समाहित विवेचन की बहुत थोड़ी सामग्री उपलब्ध होती है। जो उपलब्ध भी है उसमें लेखक का दृष्टिकोण सर्वांगीण नहीं बन सका है। इस अभाव की पूर्ति डा० शर्मा की पुस्तक करती है। इस प्रकार हिंदी साहित्य के अध्येताओं के लिए यह नवीन और उपयोगी प्रयास है। इसके अध्ययन से द्विवेदी युग के काव्य का यथार्थ परिचय मिल जाता है। मैं इस पुस्तक के रचयिता डा० रामसकल शर्मा की आशंसा करता हूं और यह आशा रखता हूं कि पुस्तक का साहित्यिक समाज में उचित सत्कार होगा।

उपकुलपति
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

— नन्ददुलारे वाजपेयी

कुछ अभिमत

"......अन्यत्र प्रकीर्णक रूप में विचार होने के कारण उस युग का सर्वांगीण चित्र उपस्थित नहीं होता था। इस शोध-प्रबन्ध में सम्यक् निरूपण द्वारा परिपूर्ण चित्र सामने लाने का प्रयास है। पर शोधकर्ता ने अपने को पूर्व लिखित आलोचनात्मक अथवा शोधपरक साहित्य से ही सारी सामग्री संकलित करने के प्रयास से पृथक् रखा है और उसने स्थान-स्थान पर अपने ढंग से नवीन रूप में उस युग के काव्य के विवेचन का सदुपयोग किया है। केवल पहले से निर्मित या प्रस्तुत सामग्री के आलोड़न और सहमति न होने पर उस सामग्री का यथास्थान खण्डन और अपने मत का मण्डन नहीं किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनुसंधाता का यह प्रयास नवीन व्याख्या को दृष्टि में रखकर हुआ है। इस प्रकार के किसी युग के काव्य के सर्वतो-भावेन साहित्यिक अन्वेषण का सर्वेक्षण के रूप में भी महत्व है। इसलिए मेरे विचार से यह कार्य शोध के क्षेत्र में श्लाघ्य है। ......प्रबन्ध पर्याप्त उच्च साहित्यिक स्तर का है और उसकी शैली उत्तम है।"

आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, गया।

—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

⊕

"मैंने उपर्युक्त शोध-प्रबन्ध का आलोचनात्मक परीक्षण किया। यह शोध-प्रबन्ध हिन्दी-काव्य के विकास के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण युग का विस्तृत विवरण एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। द्विवेदी-युग को लेकर कुछ शोध-प्रबन्ध पहले भी लिखे जा चुके हैं, पर यह शोध-प्रबन्ध उस युग के कवियों, कृतियों और उस युग की एतद्विषयक समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों का जैसा व्यवस्थित और पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करता है, वैसा इसके पहले नहीं हुआ था। अध्यायों के विभाजन और सामग्री के चयन एवं विश्लेषण को देखकर यह विश्वास हो जाता है कि अभ्यर्थी को शोध की नवीनतम वैज्ञानिक प्रक्रिया का समुचित ज्ञान है।

इस शोध-प्रबन्ध के कुछ अध्याय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके प्रथम अध्याय में द्विवेदी-युग के काल-निर्णय के सम्बन्ध में कई विचारोत्तेजक तथ्य युक्तियुक्त रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। तीसरे अध्याय में आचार्य द्विवेदी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का उपयुक्त विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सरस्वती के कवि भाग १, २ के अन्तर्गत एक सौ पच्चीस कवियों के नामों की तालिका दी गयी है जो बड़ी मूल्यवान है यह तालिका उस युग के अनेक कवियों को विस्मृति के गर्त में निमज्जित होने से बचा सकती है और आगे के अनुसंधाताओं के लिए पथ

कार्य की भूमिका बन सकती है। सातवें अध्याय में तत्कालीन ब्रजभाषा के कवियों के काव्य का भी सम्यक् अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। आठवें अध्याय में छायावाद की कतिपय मूल-प्रवृत्तियों को लेकर अत्यन्त तथ्यपरक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन अध्यायों में अनुसन्धाता ने साहित्यिक सामग्री के आलोचनात्मक परीक्षण एवं सम्यक् निर्णय की क्षमता का अच्छा प्रमाण दिया है।.........

कुल मिलाकर यह शोध-प्रबन्ध एक महत्वपूर्ण कृति है। यह बड़े परिश्रम से लिखा गया है। इसमें अनुपलब्ध तथ्यों की उपलब्धि के साथ-साथ उपलब्ध तथ्यों का सम्यक् शोधन भी किया गया है। विवेच्यकाल की विचार-परम्परा के विकास का सम्यक् निर्देश भी इसमें है तथा इसकी भाषा-शैली भी सुस्पष्ट एवं अपेक्षित स्तर की है।"

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

—कुँ० चन्द्रप्रकाश सिंह

मुझे डा० रामसकल शर्मा द्वारा लिखित 'द्विवेदी-युग का हिन्दी-काव्य' शीर्षक शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित होते देखकर बड़ी प्रसन्नता है। द्विवेदी-युग के हिन्दी काव्य की कुछ विशिष्ट धारायें है जिनका अध्ययन महत्वपूर्ण है। यह युग हिन्दी-काव्य के लिए रचनात्मक भूमि बनाने में संलग्न रहा। इस युग का कवि सामयिक विचार एवं राष्ट्रीय चेतना का कवि है। सामाजिक गतिविधियों की प्रतिक्रियायें इस युग के कवि मानस पर बड़े तीव्र रूप से हुई हैं। अतएव इस युग को हम 'राष्ट्रीय चेतना-युग' के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि इस युग का हिन्दी काव्य सीधा एवं आडम्बर-शून्य है। कला-का चमत्कार इसमें हमें कम ही मिल सकता है। परन्तु इस युग के काव्य में अटूट आस्था एवं निष्ठा के स्वर मुखरित हुए हैं। इस कारण कला की कमी होने पर भी प्रभाव की दृष्टि से इस युग के काव्य में विलक्षण क्षमता एवं स्मरणीयता है।

इस युग का काव्य अपने और समाज के ऊपर तो आस्था जगाता ही है, काव्य के प्रति भी इसमें निष्ठा है। इसमें सात्त्विक वर्चस्व विद्यमान् मिलता है। अतएव इसका अनेक दृष्टियों से अध्ययन आवश्यक है।

डा० रामसकल शर्मा ने यह अध्ययन पूरा करके एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। आशा है कि वे भविष्य में भी महत्वपूर्ण साहित्यिक कार्य करते रहेंगे।

सागर
कृष्णाष्टमी
१९६६

—भगीरथ मिश्र

आमुख

द्विवेदी-युग हिन्दी-खड़ीबोली कविता की 'साधनावस्था' से 'सिद्धि' तक का इतिहास है। इस युग की कविता को भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में आँकने का प्रयास किया गया है। राष्ट्र-भाषा के लोकप्रिय कृती कवि मैथिलीशरण गुप्त, रससिद्ध महाकवि हरिऔध और ब्रजभाषा के अमर गायक रत्नाकर इसी युग की विभूति है। साथ ही साथ लगभग १५० अन्य कवि (१२५ सरस्वती से सम्बन्धित और २५ सरस्वती से दूर) भी स्मरणीय है, जिन्होंने अपनी शक्ति, क्षमता से नई हिन्दी का भण्डार भरा। नीव के पत्थर की भांति वे काल के कराल गाल में दब गए हैं, पर आधुनिक भारत की वर्तमान राजभाषा (कुछ 'सिर फिरे' जोड़-भाषा भी कहने लगे हैं) की आधार शिला बनने का गौरव तो उन्हें प्राप्त है ही।

प्रस्तुत काल कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसका विकास-क्रम ऐतिहासिक है। युग की हिन्दी कविता राष्ट्रीय चेतना के अदम्य स्वर को साधकर आगे बढ़ी है। उसमें नई जीवन-दृष्टि और 'भारतीयता' के संस्कार हैं। वह हिन्द की मिट्टी की गंध, देश की अर्जित निजी सांस्कृतिक थाती की अभ्यर्थना, मानवीय आस्था और विश्वासों से मंडित है। हिन्दी कविता के आधुनिक विकास-क्रम को ठीक-ठीक समझने के लिए द्विवेदी कालीन कविता का व्यवस्थित अध्ययन इसी-लिए आवश्यक है।

द्विवेदी-युग से सम्बन्धित कई शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें डा० श्रीकृष्णलाल का 'हिन्दी साहित्य का विकास', डा० उदयभानुसिंह का 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' तथा डा० सुधीन्द्र का 'हिन्दी कविता में युगान्तर' विशेष उल्लेखनीय हैं।

डा० लाल का प्रबन्ध आधुनिक युग के २५ वर्षों के समस्त साहित्य का परिचय है। उसमें 'द्विवेदी-युग' की कविता पर एक अध्याय मात्र है, सो भी सन् १९२५ ई० तक की कवि-ताओं का संक्षिप्त विवेचन। दूसरा प्रबन्ध डा० सिंह का है, जिसमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है, किन्तु युग के अन्य कवियों और काव्य-प्रवृत्तियों के लिए उसमें अवकाश ही कम मिला। तीसरा प्रबन्ध 'हिन्दी कविता में युगांतर' द्विवेदी-युग की कविता पर ही लिखा गया ग्रन्थ है, किन्तु डा० सुधीन्द्र ने उसे कविता का सर्वो-दय, क्रम-विकास, अंतरंग-दर्शन, प्रकृति और प्रेम, भक्ति और रहस्य प्रतीक और संकेत रूप और

रस तथा कवि और काव्य शीर्षकों के अन्तर्गत रखकर स्वतन्त्र अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसमें शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया का न तो आधार लिया गया है, न कवियों, कृतियों और युग की समस्त-प्रवृत्तियों का व्यवस्थित अध्ययन ही प्रस्तुत किया गया। अस्तु, प्रस्तुत (हमारे) प्रबन्ध की सामग्री अपने आप पिष्टपेषण से मुक्त है। यहीं एक बात और, जब इस युग के कई प्रमुख कवियों पर अलग-अलग एक से अधिक शोध-प्रबन्ध लिखे गए हैं और उनका प्रकाशन भी हो चुका है, तब सम्पूर्ण युग पर स्वतन्त्र रूप से काम करने की गुंजाइश तो है ही।

मैंने जान-बूझकर 'द्विवेदी-युग' के 'हिन्दी-काव्य' के अनुशीलन का कार्य अपने हाथ में लिया है। सुयोग से गुरुवर आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ऐसे समर्थ हिन्दी-आलोचक एवं राष्ट्रीय चिन्तक मार्ग-दर्शक के रूप में मुझे मिल गए। उनकी दीर्घ दृष्टि, उदारचेता भावना, सहृदयता, सरलता तथा स्नेह के तरल वात्सल्य ने मुझे निरन्तर प्रोत्साहन दिया। जब कभी निजी कठिनाइयों से मैं निराश हुआ, उन्होंने बड़ी उदारता से समझा-बुझाकर मेरे मन पर छाये धुन्ध को हटाया, शंकाओं का समाधान और भ्रमों का निवारण किया।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में कुल १० अध्याय हैं। प्रथम अध्याय काल-निर्णय से सम्बन्धित है, जिसमें काल-निर्णय के आधार, द्विवेदी-काल-चक्र और विशेष के अंतर्गत समस्त प्राप्त सामग्री की छान-बीन करके सन् १९००–१९२० ई० की सीमा निश्चित की गई है।

अध्याय दो, द्विवेदी युग का पूर्वाभास है। इसमें सन् १८५७ ई० की राजक्रान्ति से लेकर भारतेन्दु काल के अंत तक की भाषा, साहित्य, राजनीतिक परिस्थिति, सामाजिक दशा, सांस्कृतिक चेतना आदि पर नई दृष्टि से विचार किया गया है। नये परिवर्तनों को भी यथाक्रम दिखाया गया है।

अध्याय तीन में युग-निर्माता द्विवेदी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व की चर्चा है। इसमें उनका जीवन-परिचय, स्वभाव और चरित्र की विशेषतायें समाहित हैं। यहीं उनके निर्माण-कार्य, सम्पादन-कला, प्रभाव, स्वतन्त्र शैलीकार के रूप में उनका महत्व आदि दिखा कर युग-निर्माता की स्थापना की गई है।

अध्याय चार में सरस्वती के कवि भाग १, भाग २ के अन्तर्गत उन सभी लगभग १२५ कवियों के नामों की दो तालिकायें दी गई हैं, जिन्होंने उस समय सरस्वती में अपनी रचनायें प्रकाशित करने के लिये भेजीं। प्रमुख कवियों के संक्षिप्त जीवन और साहित्यिक परिचय के साथ सरस्वती में प्रकाशित उनकी रचनाओं का मूल्यांकन किया गया है। तत्कालीन कवियों के काव्य-विषय, शीर्षक, शैली को दिखा कर उस समय होने वाले प्रथम महायुद्ध के प्रभाव का भी उल्लेख है। उसके बाद उठने वाली राष्ट्रीय चेतना के विकास की ओर संकेत किया गया है। यहीं हमने तीन नये कवियों का पता लगाया है और उनके नामों के साथ उनकी रचनाओं के उदाहरण भी दिये हैं। वे क्रमशः (१) पार्वती देवी, (२) तोषकुमारी और (३) पं० शिवकुमार त्रिपाठी हैं।

अध्याय पांच में सरस्वती से भिन्न कवियों, जैसे श्रीधर पाठक, नाथूराम शर्मा शंकर, हरिऔध रामनरेश त्रिपाठी और [illegible] चतुर्वेदी के जीवन और काव्य का अध्ययन प्रस्तुत है। भिन्नता के कारण अभिव्यंजना शैली और भाषा के स्वरूप पर भी विचार किया गया है।

अध्याय छः में कविता की भाषा छंद और अलंकार आदि के अध्ययन के साथ ही साथ काव्य-रूपों मुक्तक खण्ड और महाकाव्य की विवेचना की गई है। यह इस प्रबन्ध का शास्त्रीय पक्ष है, इसमें कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है।

अध्याय सात में 'प्राचीन काव्य का अनुवर्तन' शीर्षक के अन्तर्गत तत्कालीन ब्रजभाषा के प्रमुख कवियों और उनके काव्य का अनुशीलन किया गया है। इसमें खड़ी बोली और ब्रजभाषा की तुलना और निष्कर्ष में मेरी अपनी निजी मान्यतायें नये ढंग पर प्रस्तुत है।

अध्याय आठ में 'द्विवेदी-युग में छायावाद की कतिपय मूल-प्रवृत्तियां' शीर्षक के अन्तर्गत छायावाद की प्रारम्भिक तिथियां, छायावाद की विभिन्न परिभाषायें, प्रमुख प्रवृत्तियां, द्विवेदी-युगीन काव्य से उनकी भिन्नता आदि बातें आती हैं। प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला और पंत के प्रारम्भिक काव्य की रोचक एवं तथ्यपरक बातें भी यहां पठनीय है। इस अध्याय की सामग्री में मैंने कई नई बातों का उद्घाटन किया है। उनके आधार पर अपने निष्कर्ष भी निकाले हैं, जैसे प्रसाद और निराला के प्रारम्भिक काव्य की तुलना आदि।

अध्याय नौ, द्विवेदी-युग के कवियों के परवर्ती विकास पर लिखा गया है। इसमें गुप्त जी के 'साकेत', हरिऔध के 'वैदेही वनवास' और सियारामशरण गुप्त तथा गोपालशरण सिंह के काव्य का विस्तार से परिचय दिया गया है। प्रबन्ध काव्य-परम्परा एवं कथात्मक शैली पर लिखे गये 'हल्दी घाटी', 'जौहर' और 'नूरजहां' काव्यों को भी यहां जान-बूझ कर चुना गया है। श्यामनारायण पाण्डेय और गुरुभक्त सिंह आलोच्य युग के बाद की कवि-विभूतियाँ है, फिर भी परवर्ती विकास में उन्हें लिया गया है।

अन्तिम अध्याय दस में विवेचित काव्य का महत्व दिखाया गया है। युग के काव्य की उपलब्धियों की संक्षिप्त चर्चा करके निष्कर्ष निकाला गया है। इसमें युग की अनेक विशेषताओं को दृढ़ता एवं साहस के साथ लिखा गया है। जब कई आलोचक इस युग को इतिवृत्तात्मक, नीरस, अंग्रेजी, बंगला, मराठी आदि से अधिक प्रभावित मानते हैं, तब हमने स्पष्ट किया है कि द्विवेदी-युग का काव्य हिन्दी की अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास है, इस पर विजातीय या देश की दूसरी सखी भाषा की छाप कम, किन्तु संस्कृत का प्रभाव अधिक है।

एक बात और, साहित्य में कहीं इति नहीं है। प्रत्येक प्रयास अपने आप में अधूरा रहता है, परन्तु वह नये प्रयास की भूमिका बनता है। इसी सत्य के आधार पर मैं अपनी सीमा-मर्यादा जान कर भी विश्वास करता हूं कि मेरा यह शोध-प्रबन्ध द्विवेदी-युग की विभिन्न भाव-धाराओं और तत्कालीन अप्रमुख कवियों के अध्ययन की भूमिका सिद्ध होगा। अनेक शक्तिशाली कवियों के काव्य का समग्र चिन्तन अभी शेष है। इस युग पर अभी कई शोध-प्रबन्ध लिखे जाने चाहिये, तभी उन १५० कवियों और उनकी कृतियों के प्रति न्याय होगा। अपने शोध-प्रबन्ध में किसी अद्भुत, अलौकिक या अज्ञात की खोज का हमारा दावा नहीं है, यह तो एक लघु, नम्र प्रयास है। इसमें जो कुछ उत्तम या सारगर्भित होगा वह गुरुजनों, अग्रजों और विद्वानों का भाग होगा किन्तु दोषों की जिम्मेदारी निस्सन्देह मेरी व्यक्तिगत है

इस प्रबन्ध के प्रेरक आचार्यश्री मेरे गुरु हैं, उनको मैं धन्यवाद देने का अभिनय नहीं कर सकता। गुरुऋण तो जीवनपर्यन्त साथ रहता है, वह चुकाया भी नहीं जा सकता। उनके सम्मुख मैं मन, वचन और कर्म से नतशिर हूं। साथ ही, परमश्रद्धास्पद आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, डा० भगीरथ मिश्र, आचार्य पं० मोहन वल्लभ पन्त, डा० जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा, आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी, डा० रामलाल सिंह तथा डा० त्रिभुवन सिंह के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करता हूं।

शोध-प्रबन्ध के लिये सामग्री प्राप्त करने में मुझे नागरी-प्रचारिणी सभा वाराणसी, यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी सागर, यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी बाम्बे, मारवाड़ी पुस्तकालय बम्बई, नेशनल कालेज लाइब्रेरी बांदरा, बम्बई के अधिकारियों एवं कर्मचारियों से बड़ी सहायता मिली है; इसके लिये मैं उन सबका हृदय से आभार मानता हूं।

इसके अतिरिक्त मेरे इस कार्य में जिन मित्रों और आत्मीय जनों एवं शिष्यों का तनिक भी योगदान हुआ है, उसके लिये मैं उन सबको हार्दिक धन्यवाद देता हूं। जिन कृतियों, लेखों, कविताओं और विचारों (लिखित या मौखिक) से किंचित् मात्र भी लाभान्वित हुआ हूं, उनके लेखकों, कवियों और विचारकों को प्रणाम करता हुआ क्षमा चाहता हूं।

विनीत :—

रामसकल राय शर्मा

विषयानुक्रम

१

काल-निर्णय

'सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम्'। कालिदास के इस भारत-वाक्य का उद्घोष करती हुई 'सरस्वती' जनवरी सन् १९०० ई० में बड़े संकल्प के साथ जनता के सामने प्रकट हुई। उस प्रथम अंक में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की दो रचनाएं क्रमशः 'नैषध चरित चर्चा और सुदर्शन' तथा 'द्रौपदी वचन वाणावली' प्रकाशित हुईं। इन दोनों रचनाओं से द्विवेदी जी की लेखनी की शक्ति एवं उनके व्यक्तित्व की गरिमा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

सन् १९०० ई० के सरस्वती के जून अंक में द्विवेदी जी ने 'हे कविते' शीर्षक से तत्कालीन तुकबन्दियों, समस्यापूर्तियों एवं नीरस पदावलियों के विरुद्ध यह अभिव्यक्ति की—

'सुरम्य रूपे रस-राशि-रंजिते !
विचित्र वर्णाभरणे कहां गई ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा
कवीन्द्र-कान्ते ! कविते ! अहो कहां ?' आदि।

ब्रजभाषा की पिटीपिटाई शैली से ऊबकर द्विवेदीजी खड़ीबोली को गद्य की भांति पद्य में भी पूर्णतः स्थापित करना चाहते थे। इसके लिए उनके हृदय में एक अदम्य लालसा और बेचैनी थी, जिसको उनकी उपर्युक्त काव्य की निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा आंका जा सकता है।

'अभी मिलेगा ब्रज मण्डलान्त का,
सुभुक्त भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-संगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही।
इसीलिए हे भवभूति-भाविते !
अभी यहां हे कविते ! न आ, न आ।'

इतना ही नहीं, उसी वर्ष जुलाई अंक में उन्होंने 'कवि कर्तव्य' शीर्षक निबन्ध के माध्यम से वह शंखनाद किया, जिसने कवियों के मानस में एक हलचल मचा दी। नई चेतना पैदा कर दी। यह सुयोग भी कितना अनूठा था कि ठीक दो वर्ष बाद सन् १९०३ ई० में ही द्विवेदीजी

१ कालिदास सरस्वती भाग १ अंक १ जनवरी १९०० ई० पृष्ठ १

सरस्वती के सम्पादक के आसन पर आसीन हो गए। इसलिए सन् १९०० ई० से ही हम द्विवेदी युग का आविर्भाव मानते है।

यहीं यह स्पष्ट कर देना भी असमयिक न होगा कि पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती मे लिखने से पूर्व भी अन्य पत्र-पत्रिकाओं में उच्चकोटि की रचनाएं दे चुके थे। तत्कालीन हिन्दी-संस्कृत विद्वानों पर द्विवेदीजी की उन प्रारंभिक रचनाओं का अच्छा प्रभाव पड़ चुका था। उनके प्रखर व्यक्तित्व एवं दीर्घ दृष्टि का अनुमान इससे लगाया जा सकता है—'माघ सं० १९५५ की 'रसिक वाटिका' में आपका 'रसविवेचन' नाम का लेख पढ़कर पहले पहल 'रसपरिपाक' किसे कहते हैं, यह बात यथार्थ–रूप में मेरी समझ मे आई। 'छत्तीसगढ़ मित्र' में आप की लिखी हुई व्यग्यपूर्ण, सस्कृत और हिन्दी दोनो में ही 'काककूजितम्' नाम की कविता पढ़कर मैं लोट-पोट हो गया था।'[1]

इन रचनाओं के अतिरिक्त सन् १९०० से पूर्व द्विवेदीजी की अनूदित तथा मौलिक प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं की एक लम्बी सूची है, जिनमे से कतिपय के नाम यहा दिए जा रहे हैं :—

क्रम	रचना का नाम	रचना काल	मौलिक या अनूदित
१.	विनयविनोद	१८८९ ई०	अनूदित
२.	बिहार-वाटिका	१८९० ,,	,,
३.	स्नेहमाला	१८९० ,,	,,
४.	गगालहरी	१८९१ ,,	,,
५.	ऋतुतरंगिणी	१८९१ ,,	,,
६.	सोहागरात (अप्रकाशित)	१९०० ,,	,,
७.	देवी-स्तुति-शतक	१८९२ ,,	मौलिक
८.	कान्यकुब्जलीव्रतम्	१८९८ ,,	,,
९.	समाचार पत्र सम्पादकस्तव:	१८९८ ,,	,,
१०.	नागरी	१९०० ,,	,,

उपर्युक्त ये रचनाएं पद्य में है। इनके सिवा 'भामिनी बिलास' और 'अमृत-लहरी' शीर्षक गद्य रचनाएं क्रमश: १८९१ ई० और १८९६ ई० मे लिखी गई कृतियां हैं। 'तरुणोपदेश', 'सोहागरात' और 'कौटिल्य कुठार' ये तीन अप्रकाशित पुस्तकें हैं, जिनके विषय-वर्णन विवादास्पद है।[2]

काल-निर्णय के आधार क्या है ?

१. कुछ आलोचक किसी काल विशेष का प्रारम्भ उस व्यक्ति की प्रथम कृति से मानते है, जिसके नाम पर उस काल विशेष का नामकरण होता है। कुछ लोग किसी साहित्यिक स्पष्ट परिवर्तन को काल निर्णय का आधार बनाते हैं। कुछ लोग नई शैली के आगमन से काल का निर्णय

१ श्री रामदास गौड़ द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रंथ पृष्ठ सख्या ५२३

२ डा० उदयभानु सिंह महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग ७८ ७९

करते है । कुछ ऐसे भी विद्वान है, जो किसी विशेष साहित्यिक धारा की यथेष्ट प्रतिष्ठा हो जा पर काल निर्णीत करते हैं । संक्षेप में ये ही विविध आधारभूमियां हैं, जिनके सहारे साहित्यि काल का आरम्भ होता है । हमारे इस काल-निर्णय में ये सभी तत्व समाहित हैं । प्रस्तुत प्रबन्ध मे सन् १९०० से लेकर सन् १९२० तक के समय को द्विवेदी-युग के नाम से सम्बोधित किया गया है

२. यद्यपि सन् १८९९ ई० से १९०३ ई० तक तीन चार वर्षों तक का साहित्यिक व्यव धान ही इस काल निर्णय में विशेष बाधक जान पड़ता है । परन्तु दो साहित्यिक युगों के बीच दो चार वर्षों का अन्तर विशेष महत्व नहीं रखता । हां, राजनैतिक इतिहास में वर्ष-मास और दिन का अन्तर अवश्य बहुत बड़ा विभेद पैदा कर देता है । किन्तु साहित्य में एक-दो वर्ष का व्यवधान तो सदैव रहता ही है । दो युगों की सधिबेला में कुछ संक्रमण भी चलता है । अस्तु, उस संक्रमण काल में प्रमुख काव्य-विशेष के अतिरिक्त भी अन्य काव्य धाराएं प्रवाहित होती रहती है । काला-न्तर में शक्तिशाली जीवन्त काव्यधारा अन्य काव्यधाराओं पर हावी हो जाती है ।[1]

३. द्विवेदी युग की अन्तिम तिथि के निर्णय के सम्बन्ध में हमें यह देखना होगा कि इस विशेष शैली का परिपाक कब हुआ और आचार्य द्विवेदी ने सरस्वती का सम्पादन कब तक किया ?

ध्यान से देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि सन् १९१६–१७ ई० तक द्विवेदी युगीन काव्य-शैली का पूर्ण विकास हो चुका था । खड़ीबोली ब्रजभाषा के स्थान पर पूर्णतः काव्य की भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुकी थी और सन् १५-१६ के आसपास ही छायावादी काव्य की मधुमय उर्मियां हिन्दी-साहित्य-सागर में तरंगित होने लगी थीं ।

प्रसाद का 'चित्राधार' और 'झरना' क्रमशः १९१८ और १९१९ की रचनायें हैं । पंतजी की वीणा, ग्रंथि और पल्लव की रचना १९१८–१९ और १९२०-२१ में पूर्ण हुई । यद्यपि पल्लव का मुद्रण आगे चल कर १९२२ में हुआ, पर उसका निर्माण तो पहले ही हो चुका था । महाकवि निराला की 'जुही की कली' सन् १९१६ में ही लिखी गई, किन्तु उसका प्रकाशन बहुत आगे जाकर १९२७ में हुआ ।

उपर्युक्त सभी काव्य-परिवर्तन एक नये युग के आगमन की घोषणा कर रहे थे । इधर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने १९२० ई० तक अभिनिवेश पूर्ण सम्पादन करके सरस्वती का कार्य भार पं० पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को सौंप दिया । द्विवेदी जी के बाद प्रथम बार पंत की कविता सरस्वती में स्थान पा सकी । उधर पल्लव के प्रकाशन के समय विरोधात्मक भूमिका पत्र के गद्य-पद्य में प्रकाशित हुई । उससे भी यही प्रमाणित होता है कि नई शैली का अभ्युदय हो रहा था ।

४ हमारा प्रबन्ध काव्य सम्बन्धी है । यदि गद्य साहित्य के विवेचन का प्रश्न होता तो इस युग को ५ १० वर्ष और आगे बढा सकते थे 2 रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी युग मे ही

लिखना प्रारम्भ किया था और वे इसी युग के प्रौढ़ गद्य लेखक थे, परन्तु शुक्ल जी का गौरवपूर्ण गद्य साहित्य द्विवेदी युग के बाद की रचना है। यद्यपि आचार्य वाजपेयी उन्हें द्विवेदी युग के विकास के रूप में स्वीकार करते हैं। किंचित इसी लिए शुक्ल जी के इतिहास को वे द्विवेदी युगीन रचना मानते हैं।[1]

५. एक बात और—द्विवेदी युग मूलतः काव्य का युग नहीं था, इसका प्रबल प्रमाण है—उसका शीघ्र ही समाप्त होना ! तत्कालीन विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आन्दोलनों ने जनता को गद्य की ओर उन्मुख कर दिया था। इन बातों के अतिरिक्त एक और तथ्य भी है, वह यह कि जीवन की पृष्ठ भूमियाँ भी बदलती रहती हैं। समाज की आवश्यकतायें बदलती हैं। फिर जीवन के मानदण्ड और चिन्तन का स्वर बदल जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?[2]

गांधी जी के राजनीति में आने से भारतीय जनजीवन एवं सामाजिक चेतना में एक नया उद्वेलन हुआ। यद्यपि गांधी जी का राजनीतिक नेतृत्व लोकमान्य तिलक के निधन के बाद सन् १९२०-२१ से प्रारम्भ होता है, पर उनके व्यक्तित्व की छाप इससे पूर्व ही परिलक्षित होने लगी थी। द्विवेदी युगीन कविता पर स्वातन्त्र्य-आन्दोलन एवं आर्य समाज के प्रचार का रंग भी गहरा है।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि युग के समाप्त होने पर भी उस धारा की रचनायें तत्काल बन्द नहीं होतीं, वरन् प्रचुर मात्रा में होती रहती हैं। परन्तु यह सब कुछ होने के बावजूद नई आगन्तुक शैली पाठक-समाज को आकर्षित एवं मुग्ध कर लेती है। सर्वत्र नई वस्तु की चर्चा होने लगती है। पुराने की चर्चा बन्द हो जाती है। कई वर्षों तक नई शैली पर पुरानी का आंशिक प्रभाव पड़ता रहता है। गुप्त जी के पुराने प्रगीतों का नए प्रगीतों से मिलान करने पर यह तथ्य स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

नई शैली का सम्पूर्ण स्वरूप निर्धारित करने में कुछ समय लगता है। बीच के समय को हम संक्रान्ति काल कहते हैं। और स्पष्ट रूप से १९१५-२५ ई० तक के समय में इस प्रकार की सक्रान्ति रही, किन्तु हमें तो एक सुनिर्णीत तिथि स्वीकार करनी पड़ेगी।

यहाँ हम अन्य हिन्दी विद्वानों के मतों का परीक्षण भी कर लेना अनिवार्य समझते हैं। सर्व प्रथम डा० दीन दयालु गुप्त का यह मत द्विवेदी युग के सम्बन्ध में, देखिए 'द्विवेदी जी का साहित्य क्षेत्र में आना, हिन्दी खड़ी बोली के इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित करने वाली घटना हुई थी। उनका आगमन मानो हिन्दी साहित्य कानन में वसंत का आगमन था। उस समय साहित्यिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति आ गई।...हिन्दी साहित्य क्षेत्र में द्विवेदी जी का इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी साहित्य-सेवा का काल (१९०१ ई० से १९२० तक) 'द्विवेदी-युग' के नाम से हो गया[3] दूसरा मत है डा० श्री का

इस परिवर्तित युग के सबसे महान युग प्रवतक पुरुष तथा नायक महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। १९०० से १९२५ ई० के बीच मे पद्य-रचना अथवा गद्य शैली में ऐसा कोई भी साहित्यिक आन्दोलन नहीं, जिस पर द्विवेदी जी का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ा हो।'[1]

डा० सुधीन्द्र द्विवेदी-युग को 'युगान्तर' के नाम से सम्बोधित करते है। नए नाम की सार्थकता के सम्बन्ध में उनका तर्क है—'इस (ईसा की बीसवीं) शताब्दी से तो कविता के बहिरंग मे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। एक प्राचीन प्रतिष्ठित भाषा के सामने काव्य में अप्रचलित लोक भाषा को पदस्थ किया गया और इस प्रकार क्रान्ति का दूसरा चरण आया। इसको एक महा-क्रान्ति कहा जा सकता है फिर भी इस क्रान्ति को मैंने एक विनम्र 'युगान्तर' का नाम दिया है। सम्पूर्ण आधुनिक युग को तो 'क्रान्ति युग' ही कहना उपयुक्त होगा, जिसका यह दूसरा चरण है।'[2]

यहां विचारणीय यह है कि डा० सुधीन्द्र ने 'नवीन हिन्दी कविता के विकास का अध्ययन' १९००—२० ई० तक को ही हिन्दी कविता में युगान्तर सज्ञा प्रदान की है। अब प्रश्न उठता है कि स्वनाम धन्य डा० साहब सीधे इसे द्विवेदी-युग क्यो नही स्वीकार करते ? उत्तर स्पष्ट है—(अ) नये नाम का आकर्षण और (ब) अनुसधान के क्षेत्र मे चमत्कार पैदा करने की प्रवृत्ति।

परन्तु मजे की बात तो यह है कि डा० साहब अपने बनाये हुए व्यूह में बुरी तरह फस गये हैं। उन्होंने अपने प्रबन्ध के अंत में 'द्विवेदी-काल-चक्र' दिया है। उसी के अन्तर्गत विवेचित काल की समस्त सामग्री रखी है। बात इतनी ही होती तो शंका के लिए गुंजाइश भी रहती, पर डा० साहब ने 'द्विवेदी-काल-चक्र' के ठीक नीचे और सारी सामग्री के अंत मे क्रमशः दो टिप्पणियां दी हैं, जिन्हें हम मूल रूप मे अविकल यहां उद्धृत कर रहे हैं—

द्विवेदी—काल—चक्र

'आलोच्यकाल की सम्पूर्ण घटनाओं की पृष्ठ भूमि में उल्लेखनीय कृतियों का एक काल चक्र क्रमानुसार नीचे दिया जाता है। यह स्मरणीय है कि प्रकाशन के विक्रमी एव ईसवी वर्ष के आधार पर ग्रंथो का यह क्रम निर्धारण हुआ है। जो कृति पुस्तकाकार होने से पूर्व पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुकी है उसका यही प्रकाशन-काल मान लिया गया है। अनुवादित कृतियां मोटे अक्षरों में दी गयी हैं।'

विक्रमी सवत् काव्य महत्वपूर्ण घटनायें काव्य कवि ई० सन्[3]

विशेष

'बुद्ध-चरित' (शुक्ल), 'चुभते चौपदे' (हरिऔध) आदि कुछ काव्यो का प्रकाशन पीछे होते हुए भी उनका रचनाकाल प्रायः द्विवेदी काल ही है।'[4]

उपर्युक्त दोनों टिप्पणियों को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि 'हिन्दी कविता में युगान्तर'

---

१. डा० श्रीकृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, विशेष, पृष्ठ, ३१
२. डा० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता मे युगान्तर, पृष्ठ, ख, प्रास्ताविक
३ डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता मे युगान्तर पृष्ठ ३८०
४ वही पृष्ठ ३८५

द्विवेदी-युग का ही दूसरा नाम है। इसमें इसी काल की काव्य शैलियों का समुचित विवेचन है। नए नाम के चमत्कार से किसी प्रकार भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है।

लगे हाथ यहीं डा० उदयभानु सिंह के युग-निर्णय को भी परख लेना उपादेय होगा। उनका मत है कि पं० महावीर प्रसाद की संस्कारजन्य संस्कृत भक्ति ने पाठकजी आदि के स्वच्छन्दतावाद को रोक दिया। सं० १९६० में वे सरस्वती के सम्पादक हुए। उन्होंने एक प्रभविष्णु और सफल सेनापति की भांति हिन्दी के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। यहीं से अराजकता-युग का अंत और द्विवेदी-युग का आरम्भ हुआ।[1] अपने कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने निम्नलिखित तर्क भी दिया है—'सं० १९६० से १९८२ तक के काल का द्विवेदी युग कहने का केवल यही कारण नहीं है कि उस युग की गद्यात्मक और पद्यात्मक रचना द्विवेदी जी की ही शैली पर हुई है। उसका महत्तर कारण यह है कि उस युग की अधिकांश देन स्वयं द्विवेदीजी, उनके शिष्यों और उनसे विशेष प्रभावित साहित्यकारों की ही है।'[2]

उपर्युक्त मतों के सिवा एक और मूल्यवान मत है पूज्य आचार्य नंददुलारे बाजपेयी जी का, जो उन्होंने आधुनिक साहित्य की भूमिका में दिया है। इस मत से, बाजपेयीजी के सम्बन्ध में डा० उदयभानु सिंह आदि को जो भ्रम हो गया है, उसका भी निवारण हो जायगा। बाजपेयीजी की मान्यता है कि नए विचार और नई भाषा, नया शरीर और नई पोशाक—दोनों ही नई हिन्दी को द्विवेदीजी की देन है। इसी कारण वे नई हिन्दी के प्रथम और युग प्रवर्तक आचार्य हैं।[3]

आगे चलकर द्विवेदी युग की सीमा निर्धारित करते समय वे कहते हैं, 'संक्षेप में यही इस शताब्दी के आरम्भिक बीस वर्षों के साहित्य की साधारण रूपरेखा है। एक पीढ़ी समाप्त हो रही थी और दूसरी का उदय हो रहा था। नए के आगमन का पूर्वाभास और पुराने की बिदाई की बिलंबित छाया कभी-कभी कुछ वर्षों का समय घेर लेती है। इस कारण हमें नए के आगमन और पुराने के अवसान की ठीक तिथि निर्धारित करने में कठिनाई भी हो जाती है। परन्तु सन् १९१९ ई० में समाप्त होने वाला प्रथम महायुद्ध और सन् २० ई० के आसपास भारतीय राजनीति में गांधीजी का प्रवेश, दो ऐसे स्मारक हैं, जिनके आधार पर इन्हीं वर्षों को नए साहित्यिक उन्मेष की तिथि मान लेने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है।'[4] लोगों के भ्रम का कारण है आचार्य जी का यह वाक्य, 'हमारे साहित्य में द्विवेदी युग अब समाप्त हो रहा है यद्यपि उसके नाम का जादू अब भी काम कर रहा है।'[5]

इसके अतिरिक्त आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में गद्य साहित्य का प्रसार (द्वितीय उत्थान) १९५०—१९५७ वि० के भीतर द्विवेदी जी को व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक के रूप में ग्रहण किया है। आगे चल कर नई धारा

---

१. डा० उदयभानु सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २६५

२ वही पृष्ठ २६६

३ नंददुलारे बाजपेयी आधुनिक साहित्य—पृष्ठ १२

(द्वितीय उत्थान) संवत् १९५० ७५ वि० के भीतर द्विवेदी जी को पद्य रचना प्रणाली के प्रवर्तक के रूप में भी अभिहित किया है।[1] एक बात जो यहाँ विशेष ध्यान देने की है वह यह कि शुक्लजी ने काव्य-रचना-प्रणाली तथा भाषा की सफाई के क्षेत्र में द्विवेदीजी को प्रवर्तक मानते हुए भी उन्हें युग प्रवर्तक की संज्ञा क्यों नहीं दी ? मेरे विचार से शुक्लजी समस्त आधुनिक युग को प्रथम, द्वितीय और तृतीय उत्थान में बाँट कर अपना कार्य बहुत पहले ही निश्चित कर चुके थे। आधुनिक युग के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए न उन्हें अवकाश मिला और न तो वे जीवित लेखक-कवियों के सम्बन्ध में जमकर लिख ही सके। इस संदर्भ में आचार्य बाजपेयीजी का निम्नलिखित वक्तव्य भी पठनीय है—

'नवीन साहित्य की प्रेरक शक्तियों, नवीन व्यक्तियों और नए विश्वास के अनुरूप उनकी रचनाओं की वास्तविक छानबीन में शुक्ल जी एक प्रकार से उतरे ही नहीं। वे अभिव्यक्ति की प्रणालियों तक ही पहुँचे अथवा अपनी पहले से बँधी दार्शनिक धारणाओं के आधार पर सम्मतियाँ देते गये।"[2]

किसी भी जीवित कवि पर दिया गया वक्तव्य कभी समग्र या सम्पूर्ण नहीं हो सकता।[3] किन्तु शुक्लजी द्विवेदीजी की महत्ता को पूर्णतः स्वीकार करते हैं जिसकी पुष्टि निम्नलिखित पंक्तियों से हो जाती है—

"इस द्वितीय उत्थान के आरम्भकाल में हम पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी को पद्य-रचना की एक प्रणाली के प्रवर्तक के रूप में पाते हैं। गद्य पर जो शुभ प्रभाव द्विवेदी जी का पड़ा, उसका उल्लेख गद्य के प्रकरण में हो चुका है।"[4]

प्रस्तुत सामग्री का विश्लेषण करने पर हमें दो तथ्य मिलते हैं। (१) पहला यह कि अधिकांश आलोचक द्विवेदी-युग का आरम्भ सन् १९०० ई० अथवा १९०१ ई० ही से मानते हैं। शेष जो इस युग का प्रारम्भ सन् १९०३ से मानते हैं, उनमें और प्रथम वर्ग के लोगों में कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है वरन् उनके मतवैभिन्य का कारण एक घटना है—द्विवेदीजी का सरस्वती

---

१ व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता पर तो थोड़े ही दिनों में कोपदृष्टि पड़ी, पर भाषा की रूपहानि की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। पर जो कुछ हुआ वही बहुत हुआ और उसके लिए हमारा हिन्दी-साहित्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदीजी ही थे। गद्य की भाषा पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जायगी, तब तक बना रहेगा।" (आचार्य शुक्ल : हिन्दी सा० का इतिहास : गद्य सा० का प्रसार : द्वितीय उत्थान : १९५०–१९७५ वि० : पृ० संख्या ४९०)।

२. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : नवीन संस्करण १९६१, पृ० ३०।

३ आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, वक्तव्य, १ जनवरी सन् १९६३, हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी के नवीन संस्करण में मुद्रित।

४ आचार्य शुक्ल, हिन्दी सा० का इतिहास, नई धारा, द्वितीय उत्थान, संवत् १९५०–१९७५, पृष्ठ सख्या ६१० दसवाँ सस्करण

की आसन्दी पर सम्पादक के रूप में आसीन होना। हम ऊपर कह चुके है कि सरस्वती का सम्पादन हाथ में लेने से पूर्व ही द्विवेदीजी की प्रतिभा, व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रभाव तत्कालीन विद्वानों पर पड़ चुका था। दूसरी बात यह भी द्रष्टव्य है कि काव्य की प्रायः सम्पूर्ण भाषा सन् १९०० ई० से ही खड़ी बोली के रूप में सरस्वती में गृहीत हो चुकी थी। तीसरा तर्क यह भी अपने आप में कुछ कीमत रखता है कि सरस्वती का प्रकाशन नये युग की नई आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया गया था।[1] और द्विवेदीजी पत्रिका के प्रथम अंक से ही प्रमुख लेखक के रूप में सम्मानित हो चुके थे। अस्तु, केवल उनके सम्पादन कार्य करने के नाते युग को ३–४ वर्ष पीछे ले जाना समीचीन नहीं जंचता। अतएव हम प्रामाणिक तर्कों एवं तथ्यों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्विवेदी-युग का आरम्भ सन् १९०० ई० से प्रारम्भ होता है। इसी वर्ष हिन्दी को उत्तर प्रदेश के न्यायालय में प्रथम बार स्थान मिला।

नए युग का नया सदेश लेकर सरस्वती हमारे पास आई। काव्य का रंग और रूप पूर्णतः बदल गया। ब्रजभाषा की बहुचर्चित पिटीपिटाई लीक छोड़कर शायर-सिंह-सपूत की भाँति हमारे कवि गण आगे बढ़े। दरबारी संस्कारों की कविता का अन्त हो गया। स्वाधीनता, देशभक्ति, समाज-सुधार और ज्ञान-विज्ञान के दिव्य संदेश से कविता कामिनी का कलेवर निखर उठा।

(२) दूसरा तथ्य जो हमे प्राप्त होता है वह द्विवेदी युग के अन्त के सम्बन्ध है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अधिकांश विद्वान इस युग को सन् १९२० तक ही मानते हैं, पर दो तीन मत यहां ऐसे है जिनकी मान्यतायें भिन्न हैं। यद्यपि हमारे विचारो से वे मेल नहीं खाते पर उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। इस वर्ग में प्रथम मत है आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का जिन्होंने इस युग को सम्वत् १९७५ तक ही माना है। शुक्लजी के विचार से दो वर्ष पूर्व अर्थात् १९१८ ई० में ही द्विवेदी युग का अन्त हो जाता है। सम्भवतः प्रसाद पंत और निराला की नवीन शैली की रचनाओं के एक साथ ही शक्तिशाली ढंगपर प्रकाशन से शुक्ल जी नए युग का उदय मान लेते है। ये कवि द्विवेदी युगीन काव्य शैली से बिल्कुल भिन्न काव्य-रूप लेकर आये थे। अतरग और बहिरग दोनों दृष्टियो से वे युग की धारा के विपरीत थे। अतएव शुक्ल जी के तर्क मे जहाँ बल है वहीं उसका कमजोर पहलू भी है। वे स्वयं द्विवेदी-युग का प्रारम्भ द्विवेदी जी के सम्पादन काल अर्थात् १९०३ ई० से (सं० १९६०) मानते है।[2] अस्तु, द्विवेदीजी के सम्पादन छोड़ने (१९२० ई०) तक वे द्विवेदी युग क्यो नही मानते? एक बात और, प्रसाद, पत और निराला ने नई शैली मे रचनायें अवश्य सन् १९१७–१८ ई० में दी, पर जनता पर द्विवेदी युगीन कवियो (मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, माखनलाल चतुर्वेदी तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि) की जो धाक थी, वह कम नही हुई थी। छायावादी प्रगीतों, मुक्तकों और भाव-गीतो को जनता तक पहुँचने और विद्वत्समाज मे उनकी मान्यता होने मे ३–४ वर्षों का समय लगना स्वाभाविक था। अस्तु शुक्ल जी के भाव को ग्रहण करके भी हम युग को २–३ वर्ष आगे ले जाने मे किसी प्रकार की कठिनाई नही अनुभव करते।

---

१. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १३।

२. डा० उदयभानु सिंह महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृ० २६६ (पाद टिप्पणी)

किन्तु डा० लाल का मत जो द्विवेदी युग को १९२५ ई० तक रखने का पक्षपाती है उसका हम अत्यन्त नम्रता के साथ खण्डन करते हैं; जिसके निम्नलिखित कारण हैं—

अ—सन् १९२० के बाद छायावादी कवियों का स्वर इतने शक्तिशाली ढंग से मुखर हो गया कि द्विवेदी युगीन कथा प्रधान काव्य उसके सामने फीके पड़ गए।

ब—गीत, लय, ताल और हृदय के अन्तरमन को छूने की जो शक्ति प्रसाद, पंत और निराला के गीतों में दीख पड़ी उसका स्पष्ट अभाव, गुप्त, हरिऔध और भारतीय आत्मा मे खटकने लगा।

स—भाषा का जो निखार तथा शैली की गीतात्मकता एवं भाव-प्रवणता नये कवियो में मिली उनका पूर्ववर्ती कविता में सर्वथा अभाव था।

द—आँसू तक पहुंचते-पहुंचते नई कविता में काव्य और संगीत का जो मणिकांचन संयोग हुआ उसके फलस्वरूप परवर्ती कवियों को साहित्यिकों ने हृदय से अपना लिया।[1]

य—युग के बदलते हुए शक्तिशाली स्वर का आभास पाकर आचार्य द्विवेदी ने उस आचार्य-आसन को सन् १९२० ई० में स्वत: ही छोड़ दिया, जहाँ रहकर वे समस्त हिन्दी जगत को लगभग २०–२१ वर्षों तक नियंत्रित एवं संचालित करते रहे।

अस्तु, सन् १९२० ई० के बाद छायावादी काव्य की शहनाई सर्वत्र गूँजने लगी और द्विवेदी युगीन काव्य-धारा मद्धिम पड़ने लगी। तद्यपि मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध और रामनरेश त्रिपाठी तथा गोपालशरण सिंह आदि की रचनायें पुरानी परिपाटी पर बहुत बाद तक चलती रहीं।

उपर्युक्त समस्त परीक्षण, विश्लेषण और छानबीन के बाद द्विवेदी युग का निर्धारण उचित जान पड़ता है। अब हम अपने उस निर्दिष्ट पर बिना किसी कठिनाई के पहुंच जाते हैं और अपेक्षित सुनिर्णीत तिथि, जिसकी हमने कामना की थी, सहज ही मिल जाती है। सन् १९०० ई० से सन् १९२० ई० तक के काल को कविता के क्षेत्र में हम द्विवेदी-युग मानते हैं और आगे चल कर इसी काल के काव्य का अनुशीलन अभीप्सित है।

---

१. आचार्य पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ० २७।
"तीसरा महत्वपूर्ण योग स्वयं प्रसादजी का है, जिनके आंसू के प्रगीतों में भी नई कल्पना का योग हो चुका था आंसू पर पहुंचते-पहुंचते हिन्दी प्रगीत अपनी पखुड़ियाँ खोलने लगा था

द्विवेदी युग का पूर्वाभास

भारतेन्दु युग का अंत और द्विवेदी युग का पूर्वाभास

सन् १८५७ ई० के जनविद्रोह के असफल हो जाने के बाद देश का नक्शा बदल गया। सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजी प्रभुसत्ता का बोलबाला हो गया। देशी राजा और नबाब दंत-नख-विहीन सिंहों की तरह अंग्रेजों की कृपा पर जीने लगे। शासन को सुदृढ़ एवं स्थायी बनाने के विचार से अंग्रेजों ने अपनी भाषा और अपने साहित्य के पठन-पाठन की व्यवस्था की। रेल-तार, डाक और प्रेस की व्यवस्था और सुदृढ़ हुई। भारतीय जनता पर पूर्ण नियन्त्रण रखने एवं सेना तथा सैनिक सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के विचार से सड़कों, पुलों और रेल मार्गों का जाल बिछाया गया। समय-समय पर निकाले जाने वाले घोषणा-पत्रों, आदेशों, सूचनाओं तथा चेतावनियों को जन-सामान्य तक पहुँचाने के विचार से अनेक गजट निकाले गए। समाचार पत्रों एव पत्रिकाओं का भी मुद्रण तेजी से आगे बढ़ा। जनता को धार्मिक स्वतन्त्रता मिली, जो मुसल० मानों के समय में नहीं थी।

देश की बाहरी एवं भीतरी सुरक्षा को ध्यान में रख कर स्थल-जल और बाद में वायु सेना का गठन हुआ। एक आधुनिक युग की सभ्य, साहित्य, कला, व्यापार तथा विज्ञान के क्षेत्र मे उन्नत जाति, प्राचीन युग की चक्की में पिसी हुई, जनता के निकट सम्पर्क में आई। जीवन के विभिन्न आदर्श एक ही धरातल पर मिले। लचीली, व्यवहार कुशल शासक वर्ग की नीति ने शासितों को यहाँ भी मात दे दी। भारत की अंग्रेजी पढ़ी लिखी तथाकथित सभ्य जनता गोरी मृग मरीचिका में फंस गई। अभागे देश के वाणी पुत्र भी अंग्रेजों के मानसपुत्रों के स्वर से स्वर मिलाकर शासन की प्रशंसा करने लगे। गुलामी के जुए को उतार फेंकने की बात न करके वे भी गद्दी की पूजा में जुट गए। खेद तो इस बात का है कि भारतेन्दु ऐसे बैतालिक कवि भी अंग्रेजों की बड़ाई करने से न चूके।[1] उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियां देखिए—

> "परम मोक्ष फल राजपद, परसत जीवन माँहि।
> वृष्न देवता राजसुत पद परसहु चित माँहि॥"[2]

---

१ भारतेन्दु युग डा० रामविलास शर्मा पृष्ठ ३

२ भारतेन्दु ग्रन्थावली पृष्ठ ७०२

"अंगरेज राज सुख साज सजे बहु भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥"[1]

परन्तु किसी राष्ट्र का आत्मसम्मान गुलामी की मोह-निद्रा में कब तक सो सकता है ? राष्ट्रीय चेतना की एक हल्की सी लहर ही उसे जगाने के लिए पर्याप्त होगी। शासकों से ही प्रेरणा लेकर भारतीय उर्वर मस्तिष्कों में स्वाधीनता के भाव जगने लगे। यत्र-तत्र छोटी सुविधाओं के लिए आवाजें उठाई जाने लगीं। सुयोग भी अच्छा मिला। स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण, स्वामी दयानन्द सरस्वती, लोक-हितवादी चिपलूणकर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मण्डल के अन्य लेखक और कवि एक साथ मैदान में आए। यहाँ स्मरण रखना होगा कि ५७ ई० का विद्रोह मूलतः सिपाहियों का था, उसकी जड़ ऊपर थी और वह कुचल दिया गया। पर सांस्कृतिक सुधारवादी उपर्युक्त लोगों ने जनवादी दृष्टिकोण अपनाकर सारे देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जागरण का वह मन्त्र फूंक दिया जिससे जनता ने निराशा की चादर फेंक कर अपने को पहचाना।

युग बदला। समय आगे बढ़ा। देश ने आंखें खोलीं। पराधीनता असह्य बन गई। चारों ओर सुधार की मांगें होने लगीं। बस फिर क्या था—सन् १८८५ ई० में राष्ट्र के सपूतों ने बम्बई नगर में कांग्रेस की स्थापना की। २८ दिसम्बर को दिन के १२ बजे गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज के भवन में कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ। यह एक इमली का पौधा है जिसके उगने से फलने तक में देर अवश्य लगी, पर हमारी स्वाधीनता और सफलता का सेहरा तो इसी के माथे पर बँधा है। समय-समय पर इस राष्ट्रीय आयोजन में बाधायें आईं। भीतरी और बाहरी शत्रुओं ने इसे नष्ट करने के सुनियोजित प्रयत्न किये, किन्तु राष्ट्रीय गौरव के अखण्ड वेग के सामने सब नत मस्तक हो गये। अंग्रेजों ने भी अनेक अराष्ट्रीय तत्वों को संघटित करके इसे छिन्न-भिन्न करने की कोशिश की, परन्तु उन्हें मुंह की खानी पड़ी।[2] स्वदेश-प्रेम और स्वदेशी के प्रति दिन-प्रतिदिन भाव बढ़ने लगे। जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से विदित होता है—

"आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ॥"[3]
"वन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बांधवता में बंधे परस्पर, परता के अज्ञानी हों॥"[4]

इसी स्वतन्त्रता-भाव को बढ़ाते हुए एक पग और आगे बढ़कर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हुंकार किया था—

---

१. हिन्दी सा० का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृष्ठ ५९२, नवां संस्करण
२. मौलवी मजहर अली संदीलवी की डायरी (१८६७-१९११) उर्दू अप्रैल—१९३८
३. बालमुकुन्द गुप्त, स्फुट कविता (१९१९ में संकलन रूप में प्रकाशित—महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ ४ से उद्धृत)
४ श्रीधर महावीर प्रसाद और उनका युग पृष्ठ ४

जिसको न निज गौरव तथा निज देस का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है ॥ [1]

ऊपर किए गए रेखांकन से हमें तत्कालीन भारतीय समाज के विकास शील जीवन का पता चलता है। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं कि मानव जीवन विकासशील वस्तु है, इसीलिए साहित्य भी विकासशील है क्योंकि विकासशील मानव-जीवन के महत्वपूर्ण मार्मिक अंगों की अभिव्यक्ति ही तो साहित्य है।

उस समय देश के कवियों-लेखकों में नव-निर्माण के प्रति जो अंकुर उग रहे थे, वे ही आगे जाकर बट वृक्ष का रूप धारण कर सके। यहां हम संक्षेप में पृष्ठभूमि के रूप में भारतेन्दु-युग के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और भाषा सम्बन्धी हेरफेर का परिचय देकर द्विवेदीयुग की काव्य-विधाओं, शैलियों, साहित्यिक परिवर्तनों, मूल्यों और स्थापनाओं का विस्तार से विवेचन करेंगे। यह पृष्ठभूमि हमारे लिए आधार-शिला का काम देगी।

भाषा और साहित्य

द्विवेदी-युग के काव्य के सम्यक् अनुशीलन से पूर्व, हमे एक चलती नजर से, भारतेन्दु युगीन भाषा-प्रयोग और साहित्य-रूपों का सर्वेक्षण कर लेना उपादेय होगा, क्योंकि आगे चलकर हमारे सामने कई प्रश्न उठेंगे। बीसवीं शताब्दी के कवियों की मूल प्रेरक शक्तियां क्या थीं ? किन कारणो से इस युग के लेखक और कवि जीवन की मधुमय अमराइयों और ब्रज की रसीली गलियो से बाहर निकले ? किस प्रकार उन्होंने काव्य का सम्बन्ध जीवन से जोड़ा ? आदि प्रश्न सहज ही पूछे जा सकते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें पीछे मुड़कर देखना पड़ेगा।

भारतेन्दु-युग जागरण के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है। राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल के साथ ही साथ उसमें भाषा और साहित्य में भी परिवर्तन हो रहे थे। नए-नए पत्र-पत्रिकाओं की बढ़ती ने अनेक लेखकों और कवियों को जन्म दिया। आवश्यकतानुसार अनेक नए विषयों पर रचनाएं हुई।

"साहित्य जीवन के दुःख-सुख, हास-विलास की मार्मिक अभिव्यक्ति है। साहित्य का मानव जीवन से चिरंतन सम्बन्ध है। साहित्य का स्रष्टा मनुष्य है और मनुष्यके लिए ही साहित्य की सृष्टि है। मानव जीवन ही साहित्य का उपादान और विषयवस्तु रहा है और रहेगा। मानवजीवन विकासशील वस्तु है, इसीलिए साहित्य भी विकासशील है"।[2] आचार्य बाजपेयी का यह कथन कितना सही है।

भाषा तो विचारों का माध्यम है। अभिव्यक्ति का साधन है। साहित्य की अनुवर्तिनी है और परिवर्तित साहित्यिक परिस्थितियों में साड़ी बदलते उसे देर नहीं लगती। हां, इस परिधान-परिवर्तन के समय वह देशकाल का ध्यान अवश्य रखती है। उसे रंग के सम्बन्ध में विशेष सावधान होना पड़ता है।

---

[1] कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' के शीर्ष पर छपने वाला सिद्धान्त वाक्य
[2] आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी नया साहित्य नए प्रश्न पृष्ठ ३ निकष

हां, तो हम देखते हैं कि भारतेन्दु-युग में भाषा न दरबारों की है न सरकारी अफसरों और कचहरियों की। वह जनता की भाषा है। इसमें टीप-टाप का अभाव है। ग्राम्य सम्पर्क से यह संपृक्त है। इस पर अवधी और ब्रज भाषा की छाप है। इसके साहित्य को हम तीन भागों मे विभक्त पाते है :

अ—जनता में अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह की भावना भरनेवाला।

ब—शृंगारिक रीतिकालीन परम्परागत लीक पर चलनेवाला।

स—स्वतन्त्र विषयों पर, नवीन विचारों के प्रचार के हेतु लिखा गया साहित्य।

उदाहरण के लिए देखिए :—

उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त उस युग के साहित्य को पुनः हम तीन प्रकारों में बाट सकते हैं :—

१—मौलिक।

२—अनूदित।

३ भावानुवाद या छायानुवाद।

भारतेन्दु बाबू का मत है कि साहित्य जनता की सेवा के लिए है। साहित्यिक अपने सामाजिक जीवन में भी जनता की सेवा करे। उन्होंने अपने प्रण को पूरा-पूरा निभाया है।

भारतेन्दु के जीवन में असंगतियां थीं, उसके अंतर्विरोध थे। अमीचंद के घराने की परंपरा से एक नई परम्परा टक्कर ले रही थी। दरबारी संस्कृति और राजभक्ति से देशभक्ति और जन-सस्कृति की लड़ाई चल रही थी। उस युग की समूची साहित्यिक प्रक्रिया में उसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भारतेन्दु बाबू तथा उनके मण्डल के सभी लेखक इस बात को भली भाति जानते थे कि जन संपर्क से भाषा सबल होती है और साहित्यिकों के त्याग और साधना से साहित्य महान बनता है। यही कारण है कि भारतेन्दु से लेकर गदाधर सिंह तक सभी ने उस युग को अपनी शक्ति भर संवारा है। कुछ ने जानबूझकर, कुछ ने बिना जाने ही। अंग्रेजी उद्बोधन-गीत एव प्रेरणा दायक साहित्य का प्रभाव यह हुआ कि जनता का मन निराशा से हटकर नए आन्दोलनों में लगा।

भारतेन्दुजी अंग्रेजी की अनिष्टकारा नीति समझते थे, पर खुलकर उस पर चोट नहीं कर सकते थे। व्यंग्य संकेत द्वारा ही वे जनता को जगाते थे। अपने नाटकों 'भारत दुर्दशा' आदि मे वे इस उद्देश्य में भली भाँति सफल हुए जान पड़ते हैं।

राष्ट्रकवि दिनकर ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' में ठीक ही कहा है कि कम्पनी के कर्मचारी भारतीयों को अंग्रेजी सिखाना चाहते थे त कि उनके श्रम में आसानी हो और सरलता पूर्वक उनमें ईसाइयत भरी जा सके। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का अंग्रेजों के यहाँ सम्मान था।[1]

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य-धारा के नए मोड़ का युग है। "इसमें जीवन और कविता का

१ रामधारी सिंह दिनकर सस्कृति के चार अध्याय

युग-युग का टूटा हुआ सम्बन्ध पुनः स्थापित हुआ। भाषा, भाव और शैली तीनों दृष्टियों से हिन्दी कविता में परिवर्तन हुए। रीतिकालीन साहित्य के विषय चुम्बन, आलिंगन, स्वकीया, परकीया, रति और विलास का धीरे-धीरे प्रचलन बन्द हो गया। हिन्दी काव्य जीवन की स्वस्थ भाव भूमि पर खड़ा हुआ और पुनः उसमें लोकहित के भाव जगने लगे। इसीलिए हम इस युग को राष्ट्रीय चेतना का उषाकाल मानते हैं।

ब्रजभाषा का प्रभाव हिन्दी कविता पर अब भी प्रबल था। गद्य में खड़ीबोली की स्थापना के बावजूद पद्य की भाषा नही बदल पा रही थी। यत्र-तत्र कतिपय प्रयोग खड़ी बोली में भी हो रहे थे, पर वे स्थायित्व नही पा सके। कहीं कहीं ब्रज और अवधी तथा खड़ीबोली तीनो की खिचड़ी भी पक जाती थी। पं० श्रीधर पाठक को छोड़कर खड़ीबोली कविता का सच्चा हिमायती कोई नही था। ढुलमुल नीतिवालों की भी कमी नहीं थी।

वीर सिपाही के हृदय में जब चोट लगती है तो किसी महायुद्ध की विभीषिका खडी होती है और साहित्यकार जब आघात से मर्माहत होता है तब किसी महाकाव्य का निर्माण होता है, यह कहावत काफी प्रसिद्ध है। जैसा कि हम पहले कह आए हैं कि १९ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध आन्दोलनों का युग था, उसमें राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन तो चल ही रहे थे। उसी समय भारतेन्दु ने हिन्दी लेखकों और कवियों को यह नारा दिया—

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।"

इस मंत्र ने भारतेन्दु मण्डल के कवियों विशेषकर पं० प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, जगमोहन सिंह और प्रेमघन पर जादू का सा असर किया। इन लोगों ने समाज-सुधार, स्वदेशी आन्दोलन और भारतीय सांस्कृतिक उत्थान के लिए अनेक ग्रामगीत लिखे और लिखाये। इस जनजागरण की बेला में इन कवियों के इस लघु प्रयास का बड़ा शुभ परिणाम निकला। एक ओर अशिक्षित जनता तक राष्ट्रीय भाव-धारा पहुँची दूसरी ओर अपनी देशी भाषा का प्रचार बढ़ा। उस समय इन्होंने अंग्रेजी-शिक्षा, विदेशी-शासन, बेकारी, पुलिस, सामाजिक दोषों आदि पर व्यंग्यपूर्ण मुकरियाँ लिखी—

सब गुरु जन को बुरो बतावे, अपनी खिचड़ी आप पकावे।
भीतर तत्व न झूठी तेजी, क्यों सखि साजन ? नहिं अंग्रेजी ॥[1]

*   *   *

तीन बोलाए तेरह आवें, निज निज विपदा रोइ सुनावें।
आंखी फूटी भरा न पेट, क्यों सखि साजन ? नहिं ग्रेजुएट ॥

*   *   *

रूप दिखावट सरबस लूटे, फन्दे में जो पड़े न छूटे।
कपट कटारी हिय में हूलिस, क्यों सखि साजन ? नहिं सखि पूलिस ॥

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जागरण का

---

१ भारतेन्दु ग्रन्थावली पृष्ठ ८१०–८११

प्रभाव भारत की प्राय: सभी जीवित भाषाओं पर पड़ रहा था। हम देखते हैं कि बंगाल में बंकिमचन्द्र ने 'बन्दे मातरम' के रूप में देश को राष्ट्रगीत दिया। गुजरात में कवि नर्मद, महाराष्ट्र में चिपलूणकर और उत्तर प्रदेश में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी अपनी वाणी का जागरण-मंत्र फूँका।

यद्यपि यह स्वीकार किया जा चुका है कि भारत में नवजागरण साहित्यिक-उत्थान अंग्रेजी राज्य एवं अंग्रेजी भाषा और साहित्य से प्रभावित था, पर यह मानने के लिए कोई कारण नही है कि हिन्दी-भाषा में वह आलोक बँगला के वातायान से आया।[1] यहीं हम नम्रतापूर्वक कहना चाहेंगे कि हिन्दी काव्य-भूमि की पूँजी बंगला या भारत की किसी भी भाषा की पूँजी से हीन अथवा अल्प नहीं थी। सूर, तुलसी और कबीर तथा मीरा के काव्य को यदि हम अलग ही रखें, तो जिस रीतिकालीन काव्य से पिण्ड छुड़ा कर भारतेन्दु युग आगे बढ़ रहा था, उसका काव्य-वैभव तत्कालीन किसी भी भारतीय भाषा से (संस्कृत को छोड़कर) अधिक प्रभावशाली था। देव बिहारी और भूषण तथा मतिराम के काव्यों की तुलना मराठी अथवा बंगला-गुजराती शृंगारिक कवियों से करके यह अन्तर देखा जा सकता है।

लगे हाथ दो अन्य बातें, जो इसी संदर्भ में बार-बार आती है, उन पर भी विचार कर लेना सामयिक होगा। पहली बात यह है कि हिन्दी में बंगला अथवा मराठी से कतिपय अनुवाद हुए और आज भी प्रचुर मात्रा में उनसे अनुवाद किये जा रहे हैं। इसका अर्थ यह लगाने वाले कि हिन्दी अपनी दरिद्रता इस जूठन से भर रही है, काफी भ्रम में हैं। इसके दो उदाहरण रखकर हम आगे बढ़ना चाहते है।

(१) विश्व में आज अंग्रेजी और रूसी भाषायें ज्ञान, विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे बढ गई है, पर दोनों में विदेशी भाषाओं से जितने अधिक अनुवाद हो रहे हैं, उतने किसी अन्य भाषा मे नही। किंचित वे अनुवाद अपने अभाव की पूर्ति के लिए नहीं वरन सम्पन्नता में और चार चाद लगाने की दृष्टि से हो रहे हैं। हजारों विदेशी शब्द ये भाषाये प्रतिवर्ष सरलता से पचाती जा रही हैं क्योंकि ये सम्पन्न राष्ट्रों की जीवित भाषायें है। ठीक उसी प्रकार हिन्दी भी अपनी श्रीवृद्धि के लिए विदेशी भाषाओं के साथ ही अपनी भगिनी भाषाओं के अमूल्य रत्नों को पचाना चाहती है, तो इसमें उसकी विपन्नता कहाँ से झलकती है? खेद तो इस बात का है कि अनेक हिन्दी-लेखक और कवि अपने अज्ञान के कारण ऐसे ही हीनत्वपूर्ण वक्तव्य दे देते हैं जिससे कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

(२) दूसरी बात जो हमें कहनी है वह यह कि अंग्रेज और अंग्रेजी दोनों हिन्दी प्रदेशों मे, बगाल, गुजरात और महाराष्ट्र के बाद पहुँचे। हिन्दी प्रदेशों पर उनके प्रभाव इन भाषाओं की अपेक्षा ५०-५० वर्ष पीछे पड़े। हम एक कदम और बढ़कर यदि यह कहें कि हिन्दी प्रदेशों ने अंग्रेज और अंग्रेजी और अंग्रेजियत को कभी हृदय से नहीं लगाया तो अतिशयोक्ति नही होगी। अस्तु, अंग्रेजी भाषा का प्रभाव हिन्दी पर देर से पड़ने का कारण स्पष्ट हो गया। शासक की

---

२ डा० सुधीन्द्र बंग भूमि के से वह [illegible] हिन्दी के आंगन में आया तो इस आलोक में हिन्दी वाङ्मय ने भी आंख खोलीं हिन्दी कविता में युगान्तर पृष्ठ २८

भाषा का प्रभाव शासित पर पड़ना स्वाभाविक है। हिन्दी उससे अछूती कैसे रह सकती थी। फिर अंग्रेजी में अनेक काव्य-विधायें जो नवीन थी, ग्राह्य थी, उन्हें हमने सहर्ष ग्रहण किया।

(अंग्रेजी की डफली बजाने वालों को भी अन्यत्र समुचित उत्तर दिया जायगा पर वह इस प्रसंग के बाहर की वस्तु है।)

राजनीतिक परिवर्तन :—सन् १८५७ ई० के विद्रोह के बाद महारानी विक्टोरिया ने १ नवम्बर १८५८ ई० को भारतीयों को खुश करने तथा अंग्रेजी राज्य को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से एक घोषणा की। सुधार के वादों से लोग गद्गद हो गए।[1] कवियों के कण्ठ से प्रशस्तियां फूट पड़ी। भारतेन्दु-युग का बहुत सा साहित्य जो राजभक्ति से पूर्ण है, उसका यही रहस्य है।

किन्तु कालान्तर मे अंग्रेजों के प्रति संदेह उत्पन्न होने लगा। जनता के हृदय में प्रारम्भ मे जो श्रद्धा अंग्रेजों के प्रति उत्पन्न हुई थी, वह उनकी नीति के कारण क्रमशः असन्तोष में बदलती गई। उसके स्थान पर अंग्रेज विरोधी भावना वेग से बढ़ने लगी।[2]

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सुधारवादी युग था। चारों ओर सामाजिक साहित्यिक और वैज्ञानिक परिवर्तन हो रहे थे। देश-विदेश में लगभग थोड़े से ही अन्तर से ऐसे महान व्यक्तित्वों का आविर्भाव हुआ था, जिनकी शक्ति अपरिमेय थी। सचमुच एक साथ इतनी विभूतियों का पृथ्वी पर आना एक आश्चर्यजनक घटना थी। इस सम्बन्ध मे डा० रामबिलास शर्मा का यह कथन पठनीय है—

'संसार के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का महत्वपूर्ण स्थान है। कार्लमार्क्स, डारविन, भारतेन्दु, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, टालस्टाय, स्वामी दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द प्रभृति महापुरुषों ने इसी समय अपना त्याग और तपस्या का जीवन बिताया। इन वैज्ञानिको, समाज सुधारकों और साहित्यिकों के मार्ग में बड़ी बड़ी शिलायें थीं, जिन्हें इन्होंने अपने हाथों से ठेलकर एक ओर कर दिया। बाद में लोगों ने आकर उसी मार्ग को पीटपाट कर बराबर किया और उसको जनसमूह के चलने योग्य बनाया।'[3]

अंग्रेजों की धार्मिक सहिष्णुता के बावजूद सांस्कृतिक भिन्नता एवं शैक्षणिक दृष्टिकोण के कारण देश की जनता उनसे दूर खिचने लगी। आशा की जो बेलि महारानी विक्टोरिया के वासंती फरमानों से लहलहा उठी थी वह आगे चल कर शासकों की क्रूर लू से झुलस गई। संदेह की खाई बढने लगी। अंग्रेजों ने अपना शासनतन्त्र चलाने के लिये देश के कुछ खुशामदी लोगों को जिन्होंने

---

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृष्ठ ५६ (१ नवम्बर १८५८ ई० को नई शासन व्यवस्था की घोषणा हुई। लार्ड कैनिंग (१८५६–६१) पहले वाइसराय तथा गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। उसी दिन महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र पढ़ा गया। उसमे उन्होंने शासन की ओर से उदारता, दया तथा धार्मिक सहिष्णुता प्रकट की। भारतीय जनता पर घोषणा का अच्छा प्रभाव पड़ा। ब्राह्मणों ने यज्ञोपवीत हाथ में लेकर कहा था— 'महारानी चिरजीवी हों।'

२ श्री टी० सी० पावेल प्राइस, हिस्ट्री आफ इंडिया, पृष्ठ ५९१–५९२

३ भारतेन्दु युग पृष्ठ १९३

व्यक्तिगत लाभ और लोभ के वशीभूत होकर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, पद-प्रतिष्ठा देक सामान्य जनता से अपने को दूर ही रखा। फूट डालो और राज्य करो की नीति से अंग्रेज शासक ने काम लेना शुरू किया। देश में उन्होंने 'वर्ग' की भावना खड़ी कर दी। धर्म परिवर्तन करने वाले अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को बड़ी बड़ी नौकरियां मिलने लगीं। हिन्दू-मुसलमानों पर अविश्वास की नजर रखी गई। इस बिलगाववादी भाव ने आगे चलकर अपना पूरा रंग दिखाया।

यदि अंग्रेज ईमानदारी से काम लेते तो विभिन्नता होते हुए भी ये दो संस्कृतियां एक दूसरे की पूरक हो सकती थी। परन्तु अंग्रेजों की दूषित भावनाओं और घातक नीति ने देश और संस्कृति का शासक और शासित के बीच में विभाजन कर दिया, जिसके फलस्वरूप ये आरोपित भावनायें भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विपरीत पड़ीं और समन्वयशील भारतीय संस्कृति उन्हे ग्रहण करने में असमर्थ रही।[1]

इस सम्बन्ध में श्री आर० वी० जे० मैरीसन का मत भी पठनीय है—'१८८५ ई० से १९०० ई० तक उस युग में, जो उतार चढ़ाव देखने में आए हैं, उनमें प्रमुख रूप से इसी अविश्वास, असन्तोष और विरोध की कहानी है। परन्तु इस बार का असन्तोष और विद्रोह अनिवार्य रूप से सैनिकों का न होकर साहित्यिकों का था।'[2]

भारत पर अंग्रेजों के सार्वभौमत्व स्थापित होने का एक सीधा परिणाम यह भी हुआ कि वे उद्धत एवं घमण्डी बन गए और साम्राज्यवादी नीति की क्रूरता का नग्न ताण्डव देखने को मिला। अतः अब शासक और शासित के बीच की खाई और अधिक गहरी होने लगी। वैसे अंग्रेज पहले से ही अपने को ऊँचा और सभ्य मानते थे। काले आदमी उनकी घृणा के पात्र थे, विद्रोह ने उनकी घृणा की भावना को और तीव्र कर दिया।

पारस्परिक अविश्वास और कटुता का एक और परिणाम यह हुआ कि अच्छे-अच्छे विद्वान् और कार्य कुशल व्यक्ति भी शासन से दूर रखे गए। हमारे रहन-सहन, उपासना आदि की खिल्ली उड़ाई जाने लगी। रेलगाड़ी के प्रथम श्रेणी के डिब्बों में से टिकट रखने के बावजूद भारतीयो को धक्के मारकर निकाल दिया जाता था। यह क्रम १९ वीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा।[3]

अंग्रेजों की राजनीतिक तथा आर्थिक भेदनीति के कारण हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य भी दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। सन् १८८८ ई० में कांग्रेस के विरुद्ध सरकार ने एक मीटिंग बुलाई जिसमे राजा, नवाब, जमींदार और बड़े-बड़े ताल्लुकेदार शामिल थे।[4]

इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी ज्यों ज्यों ने भारतीय प्रगति में रुकावटें डालीं

त्यों त्यों राजनीतिक असन्तोष बढ़ता ही गया। उसी समय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। उनके राजनीति में आते ही भारतीय राजनीतिक विचार धारा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उन्होंने खुलकर विदेशी शासकों के प्रति उग्र विचारों का प्रचार किया। हिन्दी में व्यंग्य एवं कटूक्तियों द्वारा जो विचार भारतेन्दु बाबू और उनके मंडल के सदस्य पहले ही प्रकट कर चुके थे, उन्हें लोकमान्य की नीति से और भी बल मिला। सन् १८८४ ई० में भारतेन्दु ने नए ज़माने की मुकरी में सरकारी आर्थिक नीति की जो आलोचना की थी उसे इन पंक्तियों में देखिए :—

> 'भीतर भीतर सब रस चूसै। हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै।
> जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि साजन नहिं अंग्रेज ॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर से दक्षिण तक राष्ट्रीय अनुशासन की तैयारी चल रही थी और दूसरी ओर अंग्रेजों के कट्टर भक्त सर सैयद अहमद खां ऐसे लोग संकीर्णता का बाना धारण कर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना भुलाकर बिलगाववादी दृष्टिकोण अपना कर, मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा, राजनीति आदि में आगे बढ़ाने की कोशिश में लगे थे।[1]

अनेक कुचक्रों, व्यवधानों और राजनीतिक कष्टों को झेलता हुआ हमारा समाज अपनी सांस्कृतिक उन्नति की ओर अग्रसर रहा। विदेशी संस्कृति के समस्त आकर्षणों के बावजूद भारतीय सामाजिक चेतना अपनी आस्था पर दृढ़ रही। जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल हमने यत्र-तत्र कुछ सुधार भी किए। किन्तु अपना देश, अपनी भाषा और अपनी संस्कृति के प्रति समाज निष्ठावान रहा। यह दूसरी बात है कि अपवाद स्वरूप कुछ लोग अपने 'स्व' को छोड़कर 'पर' से मिले और भौतिक लाभ के लिए हमसे अलग हो गए, परन्तु उनकी संख्या अंगुली पर गिनने लायक थी।

भारतेन्दु युग के अंत होने और द्विवेदी युग के प्रारम्भ में कोई विशेष नवीन सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुए। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, थियोसाफिकल सोसायटी तथा कांग्रेस आदि जो धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विचारधाराएं पहले से चल रही थीं, उन्हीं का क्रमिक विकास हुआ। हां, समय के साथ ही साथ कवि लेखक और नेता खुल कर अंग्रेजों की निन्दा और राष्ट्रीयता के प्रचार में दत्तचित्त हो गए। सिर पर कफन बाँधकर स्वाधीनता का झण्डा लहराने वाले वीर भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद वगैरह का उस समय राष्ट्रीय मंच पर आना निःसंदेह एक अपूर्व ऐतिहासिक घटना थी। सन् १९०५ में बंगभंग की घटना ने आग मे घी का काम किया।

सामाजिक स्थिति—उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ अनेक परिवर्तनों को साथ लेकर चल रहा था। राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक आन्दोलनों से देश का सारा वातावरण उद्वेलित हो उठा था। दो जबर्दस्त जीवन-दर्शन एक दूसरे से टकरा रहे थे। जनता में नई चेतना का उदय हो रहा था। अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी आदर्शों ने भारतीय समाज को झकझोर दिया था। धार्मिक रूढ़ियों, कुसंस्कारों एवं संकीर्णता के

१. डा०　　　　वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य पृष्ठ ७८

विरुद्ध स्वत हमारे नेता अग्रसर हो रहे थे। महाराष्ट्र में लोकहितवादी और चिपलूणकर बंगाल में विवेकानन्द, गुजरात मे स्वामी दयानन्द और उत्तर प्रदेश में प० मदनमोहन मालवीय तथा भारतेन्दु आदि सामाजिक-क्रान्ति के प्रथम प्रहरी के रूप में अपनी लेखनी से जनता को राह दिखा रहे थे।

सन् १८५७ ई० के पूर्व हिन्दुस्तान में जो रीतिकालीन परम्पराओं का जोर था, उसका रंग उखड़ने लगा। दिल्ली और लखनऊ की महफिलें उजड़ गई। दरबारों में जो रंडियों-भांड़ों और सस्ते शायरों का जमघट लगा रहता था, सुरा-सुन्दरी और संगीत की संगत बैठायी जाती थी, वह हवा सा हो गया। डा० रामबिलास शर्मा के शब्दों में एक दिन वह महल ढहकर गिर पड़ा। लखनऊ और दिल्ली की बुलबुलें उड़ गई और दूर-दूर आशियाने खोजने लगीं।[1]

अंग्रेज भारत में अपने साथ जिन आदर्शों और मूल्यों को साथ लाए थे, वे बिल्कुल निरर्थक नहीं थे। विज्ञान की कसौटी पर कसे हुए उनके विचारों ने हमारे सपनों के लोक में विचरण करने वालों को काफी प्रभावित किया। सदियों की मूर्छा से हम सावधान हुए। यहां यह स्पष्ट करना उचित होगा कि भारतीय जागरण का सारा श्रेय पश्चिमी सभ्यता, अंग्रेजी शिक्षा एवं विचारों को देना भारी भूल होगी। हां, जहां अनेक कारण हमारे उत्थान में सहायक हुए हैं, वहीं पश्चिमी शिक्षा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और योरोप की जीवन-पद्धति भी कुछ अंशों तक हमारे लिए उपादेय सिद्ध हुई, इसमें संदेह नहीं।

अंग्रेजी के अध्ययन के साथ ही साथ बर्क, मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, मिल्टन, मेकाले, रूसो, वाल्टेयर आदि के विचार भारतीय मस्तिष्क में हलचल मचाने लगे। उनमें नई स्फूर्ति और चेतना भरने लगे। पश्चिमी देशों के इतिहास ने तो इस दिशा में और अधिक काम किया। यूरोपीय इतिहास की 'पिटीशन आफ राइट्स' "बिल आफ राइट्स" ग्लोरियस रिवोल्यूशन' और 'सिविल वार' जैसी घटना भारतीय युवकों के दिमाग में विद्रोह की भावना भरने लगी। देश के बड़े बड़े नेता एक ही मंच पर मिल कर देश की समस्याओं पर विचार विनिमय करने लगे। जिसका शुभ परिणाम यह निकला कि आजादी की लड़ाई के लिए स्वस्थ भूमिका तैयार हुई।[2]

सन् १८९२ ई० में दादा भाई नौरोजी पार्लियामेण्ट के प्रथम भारतीय सदस्य चुने गये। कांग्रेस के दबाव और नौरोजी के प्रभाव से १८९५ ई० मे ग्लैडस्टन ने 'रायल कमीशन' की स्थापना की। पर सन् १९०० ई० में जब इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो निराशा ही हाथ लगी। फलस्वरूप जनता का असन्तोष बढ़ता गया। अकाल, महामारी और भारी टैक्सों से किसानों की दशा दयनीय हो गई। सन् १८५७ ई० में ही बम्बई, कलकत्ता और मद्रास विश्व-विद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी। इनसे हजारों स्नातक निकल चुके थे। उन्हें योग्य पद और प्रतिष्ठा न पाने का भारी क्लेश था। आगे चलकर द्विवेदी-युग में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार-आन्दोलन, स्वदेशी-प्रचार आदि में इन्होंने अच्छा योग दिया।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि:—अंग्रेजों का प्रभाव सर्वप्रथम गुजरात और बंगाल में फैला, क्योंकि

---

१. डा० रामबिलास शर्मा : भारतेन्दु युग : पृष्ठ १६४

२ श्री बाबूराव जोशी भारतीय रण का इतिहास पृष्ठ २५

वे ही लोग उनके सम्पर्क में पहले आये। यह सुयोग भी कैसा विचित्र रहा कि सांस्कृतिक जागरण का श्रीगणेश भी बंगाल और गुजरात में ही शुरू हुआ।

ईसाई धर्म प्रचारकों की अनिष्टकारी नीति और धार्मिक उन्माद ने बंगाल में राजा राममोहन राय को जन्म दिया। यह कोई अनहोनी बात न थी। श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन से स्पष्ट कहा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"[1]

१—ब्राह्म समाज—राजा राममोहन राय पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने सुधारवादी दृष्टि रखते हुए भी अंग्रेजों का विरोध किया। ईसाइयों के धार्मिक अत्याचार से गरीब अशिक्षित हिन्दुओं को बचाने के विचार से और सती प्रथा आदि दुर्गुणों से हिन्दुत्व को पवित्र करने के ध्येय से उन्होंने सन् १८२८ ई० में 'ब्राह्म समाज' की स्थापना की। इस धर्म-संघ ने बंगाल के नवयुवकों को जागरण का मंत्र पढ़ाया। वह नवयुग की जाग्रति के अग्रदूत थे। उनके बाद केशवचन्द्र सेन ने उनके काम को आगे बढ़ाया। सेन जी प्रभावशाली धर्म प्रचारक थे। उन्होंने ब्राह्म समाज का प्रचार बंगाल से बाहर देश के अन्य भागों में भी किया।

२—प्रार्थना समाज—'ब्राह्म समाज' की भाँति ही सन् १८६७ ई० में बम्बई नगर में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना हुई। इसके आचार्य थे न्यायमूर्ति रानडे और डा० भाण्डारकर। रानडे बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। वह सर्वांगीण सुधार चाहते थे। प्रार्थना समाज हिन्दू धर्म का ही एक सुधारक पंथ था। रानडे मानते थे कि ईश्वर सर्वव्यापी है। उनका कहना था कि अवतार ईश्वर नहीं, वरन् पूज्य विभूतियां हैं। प्रार्थना समाज का महाराष्ट्र के जनजीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ा।[2]

३—आर्य समाज—यद्यपि ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज नवीन जाग्रति का संदेश लेकर आए थे, किन्तु उनके सुधारवाद पर पश्चिमी छाप थी। उन्हें सरकारी प्रतिष्ठा भी प्राप्त थी। उनमें हमें हार की मनोवृत्ति का स्पष्ट दर्शन होता है। किन्तु सन् १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बम्बई नगर में आर्य समाज की स्थापना की। शीघ्र ही उनके विचार उत्तर प्रदेश, पंजाब और गुजरात में फैल गए। सामान्यतः सारे देश में उनका स्वागत हुआ। स्वामीजी ने हिन्दू धर्म की मूर्छित आत्मा को जगाया और राष्ट्रीय जीवन में शक्ति पैदा की। वीर सेनानी की भांति उन्होंने सारे भारत की यात्रा की। विचारों की दुनियां में उन्होंने क्रांति मचा दी। आर्य समाज का आन्दोलन केवल धार्मिक या सांस्कृतिक ही न था। उसमें राष्ट्रीय पुनरुत्थान की अदम्य लालसा थी।

स्वामी दयानंद पहले दूरन्देश नेता थे, जिन्होंने हिन्दी को अपने धार्मिक प्रचार का माध्यम बनाया और अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में लिखा। इस प्रकार राष्ट्रीय यज्ञ और राष्ट्रभाषा की वेदी पर एक साथ उन्होंने श्रद्धा के अक्षत एवं पुष्प चढ़ाए। उनके इस

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४, श्लोक [illegible]
२ श्री बाबूराव जोशी भारतीय नवजागरण का इतिहास पृष्ठ २० ३१

कार्य का ऐतिहासिक महत्व है। आलोच्य काल की कविता पर स्वामीजी तथा आर्य समाज का प्रचुर प्रभाव है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान स्वामीजी के चिर ऋणी रहेंगे।

४–**थियासोफिकल सोसाइटी**—'अड्यार' मद्रास में सन् १८८२ ई० में इसकी स्थापना हुई। जब श्रीमती एनीबीसेण्ट सन् १८६३ ई० में भारत आई तो उन्होने इसके कार्य को आगे बढ़ाया। यह सोसाइटी सारे धर्मों के प्रति बन्धु भावना से संपृक्त थी। इसमें प्राचीन भारतीय गौरव के प्रति आदर तथा विश्व बन्धुत्व की भावना प्रबल थी। एनीबीसेण्ट संस्कृत साहित्य से बहुत प्रभावित थीं। उन्होंने इस संस्था को जीवित रखने के विचार से काशी में एक कालेज खोला और विश्वबन्धुत्व तथा भारतीय संस्कृति के उत्थान का नारा बुलन्द किया। इस आन्दोलन से भी भारतीय नव-जागरण को बल मिला।

५–**जातीय गौरव सम्पादनीय सभा**—सन् १८६१ ई० में मेदिनीपुर, बंगाल में इस सभा की स्थापना हुई थी। ५–६ वर्ष के कार्य-कलाप के बाद यह 'हिन्दू मेला' के रूप में बदल गई। सन् १८६६ ई० के चैत्र मास में पहली बार यह मेला लगा। इस मेले में एक प्रदर्शनी का आयोजन और व्यायाम का भी प्रदर्शन किया गया। इस संस्था की उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसके सदस्य अंग्रेजी शब्दो के स्थान पर हिन्दी और बंगाली शब्दावली का प्रयोग करते थे। वे आपस मे मिलते समय 'गुड मार्निंग' के स्थान पर 'सुप्रभात' कहते थे। इतना ही नहीं, यदि भूल से इस सस्था का कोई सदस्य अंग्रेजी शब्द बोल देता तो उसे एक पैसा (पुराना) दण्ड देना पड़ता था। इस मेले के तत्कालीन प्रभाव का अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इस मेले में भाग लिया था। सन् १८७७ ई० में गुरुदेव ने इस मेले मे अपनी कविता पढ़ी थी। सन् १८८० तक यह मेला प्रतिवर्ष लगता रहा। स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर इसमें बड़ा जोर दिया जाता था और इसके सदस्य 'ब्रिटिश इंडियन असोसियेशन' के कट्टर आलोचक थे।[1] सचमुच यह संस्था कांग्रेस की भावी रूपरेखा की जननी थी। कांग्रेस के भावी कार्यक्रमों के स्वस्थ बीज इसमें छिपे थे।

उपर्युक्त सभी सांस्कृतिक-धार्मिक संस्थाओं का ऐतिहासिक महत्व है। सार्वजनिक जीवन-निर्माण में उन्होंने पर्याप्त योग दिया है। युग चेतना के विकास और राष्ट्रीय आन्दोलन के मार्ग मे ये प्रथम पगडंडियाँ थीं, जिनपर चलकर बीहड़ वनों एवं ऊँची नीची घाटियों में जीवन का गन्तव्य ज्ञात हुआ। कांग्रेस के रोलर ने इन्हें ही काट-छांटकर तनिक और चौरस करके राजपथ का निर्माण किया।

आर्थिक स्थिति—पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों की एक मान्य नीति है कि जिस देश को गुलाम रखना हो उसको आर्थिक दृष्टि से कमजोर बनाओ और वहाँ की संस्कृति को नष्ट करके अपना जीवन-दर्शन दो। उनकी वह पुरानी नीति आज भी बदली नहीं है। इसी को वे अपनी कूटनीति मानते हैं। इस दृष्टि से सारे पश्चिमी राष्ट्र बिना किसी अपवाद के आज बीसवी शताब्दी के   में भी संसार के छोटे छोटे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए कमजोर राष्ट्रों को

कठपुतली की तरह नचा रहे हैं। अंग्रेज इस नीति के जन्मदाता हैं। उन्होंने प्रकृति के इस अनुपम खंड भारत के हरे भरे खेतों, खनिज पदार्थों से भरे हुए पहाड़ों, जल से भरी हुई नदियों और इसके अन्य वैभवों को देखा तो उनके मुँह में पानी भर आया।

धीरे-धीरे जोंक की भाँति व्यापार द्वारा यहाँ की सारी संपत्ति वे इंगलैंड खींच ले गए। यहाँ के विलासी राजा और नवाबों की आँखों में धूल झोंक कर उन्होंने सारा सोना लूट लिया। देश पहले दरिद्र हो गया, बाद में परतन्त्र।

अंग्रेजी शासन की मशीनरी का खर्चा इतना बढ़ गया कि उसके बोझ को उठाने की देश में ताकत न रही। कर बढ़ा दिये गये। असन्तोष बढ़ने लगा। व्यापार धन्धे चौपट हो गए थे। केवल दिखाने के लिए बम्बई में सूती मिलों का कुछ विकास किया गया था। सन् १८७२–७३ ई० में बम्बई प्रान्त में कपड़े की लगभग २० मिलें थीं और ७९–८० ई० में यह संख्या बढ़कर ५८ तक पहुँच गई।

उधर प्रकृति का प्रकोप भी कुछ कम न था। देश में बार-बार दुर्भिक्ष पड़ा। महामारी, प्लेग और चेचक आदि बीमारियों ने गरीब, कमजोर जनता को तबाह कर दिया। इस दीन दशा को देखकर भारतेन्दु युग के कवियों एवं लेखकों ने राजनीतिक सुधारों के साथ ही साथ देश की आर्थिक उन्नति, शिल्प की औद्योगिक शिक्षा का भी आग्रह किया, जैसा कि निम्नलिखित पद से प्रकट है—

"सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवन केवल।
और विद्या की उन्नति भई शिल्प की उन्नति नाहीं॥[1]
तिनहि सिखावउ कृषि कर्म जस होत बिलायत॥"[2]

इस सम्बन्ध में डा० केसरीनारायण शुक्ल के विचार भी पठनीय हैं—"इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र के समान ही आर्थिक क्षेत्र में भी ये लेखक अपनी सामंजस्यबुद्धि के अवसर की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए कभी देशवासियों का आह्वान और उद्बोधन करते हैं और कभी अधिकारियो से आवेदन (और प्रार्थना की पूर्ति न देखकर) और असन्तोष की व्यंजना।[3]

अंग्रेजी राज्य भारत के घोर आर्थिक शोषण का ही दूसरा नाम है। इस सम्बन्ध में स्वयं एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है, "हमारी पद्धति एक स्पंज के समान है जो गंगा-तट से अब अच्छी चीजों को चूस कर टैम्स-तट पर ला निचोड़ती है।"[4]

इसी प्रसंग में पं० नेहरू के विचार भी द्रष्टव्य है—

"ब्रिटिश राज्य में जो हिन्सा, धनलोलुपता, पक्षपात और अनीति है, उसका अनुमान लगाना

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—पृ० ६८४।
२. वही पृ० ६८४।
३. डा० केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्य धारा- पृ० १०३
४ डा० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर पृ० २४

कठिन है। एक बात ध्यान देने की है कि एक हिन्दुस्तानी शब्द जो अंग्रेजी भाषा में सम्मिलित हो गया 'लूट' है।"[1]

भारत एक कृषि प्रधान देश है। किसान ही हमारे राष्ट्र के मेरुदंड हैं। वह हमारे अन्नदाता हैं। उन्हें अंग्रेजी शासन काल में सबसे दीन और दरिद्र बनना पड़ा। जमींदारी प्रथा ने उन्हें चूसकर बरबाद कर दिया।

यह भी विधि की एक विडम्बना ही है कि पहले विदेशी व्यापारी हमारे देश से तैयार माल खरीद कर अपने देश में ले जाकर बेंचते थे और मुनाफा कमाते थे, पर धीरे धीरे क्रम उलट गया। भारत विदेशी तैयार माल का बाजार बन गया। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के इस कथन में काफी सचाई नजर आती है—"यदि ऐसा न होता तो मैन्चेस्टर की मिलें शुरू में ही बंद हो जातीं और फिर भाप की ताकत से भी न चल सकतीं।"[2]

३

द्विवेदीजी का व्यक्तित्व और प्रभाव

जीवन-परिचय [सन् १८६४-१९३८ ई०]

वैशाख, शुक्ल ४ सम्वत् १९२१ (९ मई सन् १८६४ ई०) के दिन रात के पिछले पहर का वह शुभ मुहूर्त, भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रभाषा हिन्दी के इतिहास में युग-युग तक गर्व और गौरव के साथ स्मरण किया जायगा, जिस समय माँ भारती का यह सपूत धरती पर उतरा। एक बार 'महावीर' ने त्रेता में भगवती सीता की खोज करके भगवान राम को ही नहीं, समस्त आर्यावर्त को आश्वस्त कर दिया था, इस बार पुनः कलियुग में 'महावीर' ने अपनी अद्भुत शक्ति से उपेक्षित, लांछित राष्ट्रभाषा हिन्दी के सच्चे-स्वरूप का पता लगाकर नए भारत को अभयदान दे दिया है।

"किन्तु प्राचीन स्मृतियां तो लुप्त नहीं होतीं, इसलिए प्राचीन संस्कार भी कभी सुयोग पाकर पुनर्जन्म ले लेते हैं। गंगा की जो धारा कभी अपनी वीचि-रचना के उपलक्ष में बालमीकि के कवि कण्ठ का सुवर्णहार प्राप्त करती होगी, आज भी दौलतपुर के समीप से ही निकल कर बहती है। वे आम्र कानन जो वहीं सोये पथिकों के समीप अपने अमृत-फल बरसाते थे, आज भी दौलतपुर के चतुर्दिक अपना वही उपहार लिए खड़े हैं।"[1] आचार्य बाजपेयी का यह कथन यहाँ द्रष्टव्य है। वे द्विवेदीजी की जीवनी को एक नए युगोन्मेष का सूचक और राष्ट्रोत्थान के एक काल विशेष का प्रतीक मानते हैं।

द्विवेदीजी के पितामह का नाम था—पंडित हनुमन्त द्विवेदी। वे संस्कृत के धुरंधर विद्वान थे। पं० हनुमन्त द्विवेदी के तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी।
२—पं० रामसहाय द्विवेदी।
३—पं० रामजन द्विवेदी।

जन्म के आध घण्टे पश्चात् और जात कर्म से पूर्व नवजात शिशु की जिह्वा पर एक ज्योतिषी ब्राह्मण ने सरस्वती का बीज मंत्र अंकित कर दिया। मंत्र का प्रभाव सच निकला।[2]

---

१. श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृ० ४, नवीन संस्कृत
२ सरस्वती का बीजमन्त्र द्विवेदीजी कृत 'नैषध चरित चर्चा' के आधार पर सिद्ध

पण्डित हनुमन्त द्विवेदी अपने पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा की ठीक व्यवस्था न कर सके औ असमय में ही काल कवलित हो गए। थोड़े ही दिन पश्चात् सबसे छोटे रामजनजी का स्वर्गवास हो गया। दुर्गाप्रसाद जी ने जीविका के लिए बैसवाड़े में ही गौरा के तालुकेदार के यहां कहानी सुनाने की नौकरी कर ली। रामसहायजी ने इधर उधर देखा, पर जीवन को कोई सहार मिलता नजर नहीं आया। बस घर से निकले और सेना में भर्ती हो गये।[1]

दुर्भाग्य ने वहाँ भी साथ नहीं छोड़ा। सन् १८५७ ई० में वह गुल्म भी विद्रोही हो गया जिसमें रामसहायजी थे। पराजित होने पर सभी भागे। रामसहायजी भी अपना प्राण बचाने के लिए दौड़े। सामने देखा तो सतलज बल खाती हुई बह रही थी। जीवन-मरण का प्रश्न था, सोचने का अवसर न मिला और भरी सतलज में वे कूद पड़े। भाग्य और पुरुषार्थ का यह युद्ध स्मरणीय है। सतलज की भयकर लहरों के वेग के सामने सैनिक शक्ति पराजित हो गई। सैकडो मील बहने के बाद निस्पन्द, मूर्छित शरीर स्वत: किनारे लग गया।

प्रकृति मे पुरुष बलवान निकला। मारने वाले से जीवन देने वाला अधिक चालाक है। धीरे-धीरे बिना किसी उपचार के चेतना लौटने लगी। पास में खाने पीने को तो कुछ था नही, घास के डंठलों को चूस-चूसकर उसके रस से प्राणरक्षा की। आगे बढ़े। साधु वेश धारण किया। माँगते खाते किसी प्रकार घर पहुँचे।

इधर पं० हनुमन्त द्विवेदी की विधवा पत्नी ने अपने पास पड़े समस्त संस्कृत ग्रन्थों को स्वर्गीय पति के एक मित्र को दान दे दिया। रामसहायजी जब थोड़े स्वस्थ हुए तो पुन: जीविकोपार्जन के हेतु बम्बई पहुँचे। वहाँ पहले सेठ चिमनलाल के यहाँ नौकरी की, फिर नरसिंहलाल के यहाँ चले गये। ये बड़े ही भजनानंदी जीव थे। सैनिक जीवन में भी पूजापाठ किया करते थे। सन् १८८० ई० तक नौकरी करके वे घर चले आए और सन् १८९६ ई० मे वे सदा के लिए सांसारिक बाधाओ से मुक्त हो गए।

उनके दो संतानें उत्पन्न हुई थी। एक था लड़का जो आगे चलकर हमारा चरितनायक बना और दूसरी थी लड़की जो माँ बनकर गोलोकवासी हुई।

पिता को हनुमानजी का इष्ट था इसलिए पुत्र का नाम 'महावीर सहाय' रखा गया। उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर नामक गाँव में जहाँ वे पैदा हुए थे, उनके चाचाने उन्हें शीघ्रबोध, दुर्गा सप्तशती, विष्णु सहस्त्रनाम, मुहूर्त चिन्तामणि और अमरकोश के अश कठ कराये। जरा और सयाने होने पर ग्राम पाठशाला में नाम लिखाया। प्रारम्भ में उन्होंने हिन्दी, उर्दू और गणित की शिक्षा पाई। दो-तीन फारसी की पुस्तकें भी पढ़ीं।

पूत के पाँव पालने में दीखते हैं। बालक द्विवेदी कुशाग्र बुद्धि निकले। जो कुछ पढ़ाया गया उसे कंठस्थ कर गए। प्राइमरी पास होने पर उन्हें ३ रुपये मासिक स कारी वजीफा मिला। वे अग्र जी पढने के विचार से रायबरेली के जिला स्कूल में प्रविष्ट हुए उधर प्रमाणपत्र मे

ने भूल से महावीर सहाय के स्थान पर महावीर प्रसाद लिख दिया यह नाम रजिस्टर से दर्ज होने के कारण प्रचलित हो गया और असल नाम रह गया।

युग प्रवर्तक द्विवेदीजी के जीवन की कुछ झांकियाँ देख लेने पर उनके संघर्ष शील, अडिग स्वभाव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है, "बातचीत के सिलसिले में मालूम हुआ कि द्विवेदीजी ने अंग्रेजी शिक्षा रायबरेली में पाई। घरका पिसा आटा पीठ पर लाद कर प्रति रविवार को दौलतपुर से रायबरेली तक पैदल जाते। रोटी बनाना आता न था इसलिए दाल में आटे के पेड़े बना कर डाल देते थे और उबले हुए आटे के फलों तथा दाल से पेट-पूजा करते थे।"[1]

एक बार जाड़े के दिन थे। सारी रात पैदल चलकर ३६ मील की दूरी तय कर किशोर (तेरह वर्षीय) द्विवेदी पाँच बजे प्रातः घर पहुँचे। द्वार भीतर से बन्द था, माँ चक्की पीस रही थी। बालक ने दस्तक दी। मां ने हड़बड़ा कर किवाड़ खोले। श्रान्त, सन्तप्त वत्स को अपने स्निग्ध आंचल की शीतल छाया में समेट लिया। वात्सल्यमयी जननी का कोमल हृदय नयनो का द्वार तोड़ कर बह निकला। डा० उदयभानु सिंह का यह कथन कितना मार्मिक एवं तथ्य परक है, "धन्य है भगवान की महिमा। वह जिस पर कृपा करता है उसकी जीवन-प्याली में वेदना, अशान्ति और कठिनाइयाँ उड़ेल देता है। और जिस पर अप्रसन्न होता है उसे कचन, कामिनी और कादंब की विलास-भूमि का धराधीश बना देता है। उसके शाप और वरदान की इस रहस्यमयी प्रणाली को मर्त्य लोक के मायावशवर्ती क्षुद्र प्राणी कैसे समझ सकते है।"[2]

जैसे तैसे करके एक वर्ष बीता। द्विवेदी को दौलतपुर से रायबरेली की दूरी का अच्छा अनुभव हो गया। अतः वे उन्नाव जिले के रनजीतपुरवा स्कूल में लाए गए। थोड़े ही दिन बाद वह स्कूल टूट गया। तदनन्तर वे फतेहपुर भेजे गए। वहाँ डबल प्रमोशन लेना चाहा, पर सफलता नहीं मिली। फिर वे उन्नाव चले आए। यहाँ उन्हें डबल प्रमोशन तो मिल गया, किन्तु उनका मन इस दौड़धूप और अव्यवस्था के कारण पढ़ाई से उचट गया। पाँच छः महीने बाद वे अपने पिता के पास बम्बई चले गए। बाल्यावस्था में ही उनका व्याह हो चुका था। बम्बई पहुँच कर उन्होंने संस्कृत, गुजराती, मराठी और अंग्रेजी का थोड़ा बहुत अभ्यास किया। थोड़ी सी टेलिग्राफी सीखी और रेलवे में नौकरी कर ली। बम्बई से उनकी बदली नागपुर के लिए हो गई। उनका मन वहाँ भी न लगा। फिर वे अजमेर चले गये। अजमेर में उन्होंने १५ रुपये मासिक की नौकरी कर ली। उस पन्द्रह रुपयों मे से वे ५ रुपये अपनी माताजी को भेजते थे, ५ रुपये एक पण्डित ट्यूटर को देते थे। बचे हुए केवल पाँच रुपयों में वे अपना खर्च चलाते थे। हमारे विद्याव्यसनी तपःपूत साहित्यव्रती की साधना कितनी कठिन थी।[3]

वे अजमेर से पुनः बम्बई लौट आए। यहाँ जी० आई० पी० रेलवे (आजकल सेण्ट्रल रेलवे) में सिग्नलर हो गए। यहीं से उनके जीवन का व्यवस्थित क्रम प्रारम्भ होता है। अब वे

---

१. सप्ताहिक जागरण (काशी) द्विवेदी अभिनन्दन अंक, वर्ष १, अंक ३६ १ मई सन् १९६३ ई०।
२. डा० उदयभानु सिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० ३५
३. डा० वही पृ० ३५

लगभग बीस वर्ष के हो चुके थे सिग्नलर रहने के समय उन्होंने एक नई प्रणाली निकाली और आगे चलकर अंग्रेजी में उस पर एक पुस्तक भी लिखी।

रेलवे में वे क्रमशः तारबाबू, टिकटबाबू, स्टेशनमास्टर, प्लेटियर आदि के काम सीखते रहे। स्थान-स्थान पर उनकी बदली भी होती रही, किन्तु परिश्रम और कार्य-निष्ठा ने इन्हें सदैव आगे बढ़ाया। इंडियन मिडलैंड रेलवे के खुलने पर उसके ट्राफिक मैनेजर डब्लू० बी० राइट ने उन्हें झांसी बुला लिया और टेलीग्राफ इंसपेक्टर के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। कुछ समय बाद उनकी पदोन्नति हुई और वे हेड टेलीग्राफ इन्सपेक्टर हो गए। दौरे से ऊबकर उन्होने ट्रैफिक मेनेजर के दफ्तर में बदली करा ली। कुछ काल बाद असिस्टेण्ट चीफ क्लर्क और फिर रेट्सके प्रधान निरीक्षक नियुक्त हुए।

जब आई० एम० रेलवे जी० आई० पी० रेलवे से मिला दी गई तो वह कुछ दिन फिर बम्बई में रहे। बम्बई आफिस में उन्हें सन्तोष न मिला। ऊंचे पद का मोह छोड़कर वे पुनः झाँसी चले गए। वहां डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिण्टेंडेंट के अफिस में पांच वर्ष तक चीफ क्लर्क रहे। द्विवेदीजी को दिन रात काम करना पड़ता था। इसका कारण यह था कि उनके आफिसर महोदय सुरा सुन्दरी के चक्कर में अपनी मोहक राते क्लबों में काटते, इधर द्विवेदीजी दिन भर अपनी ड्यूटी करके रात को साहब के पत्रों, तारों तथा अन्य कागज पत्रों का उत्तर देते। जिन्दगी नर्क बन गई। चांदी के चन्द टुकड़ों के लिए मानव पिस गया [1]।

कुछ दिन पश्चात् साहब महोदय ने द्विवेदीजी से यह कहा कि वे इस प्रकार का सारा कार्य दूसरे लोगों से करा लिया करें। दूसरों को भी देर तक रोकें। उनपर आदेश निर्देश जारी करें। द्विवेदीजी की आत्मा चीख उठी। वे स्वयं सब कुछ सह सकते थे, पर दूसरों पर अत्याचार नहीं कर सकते थे। बस, त्यागपत्र देने के सिवा चारा ही क्या था। डेढ़ सौ रुपये मासिक की (उस समय) नौकरी छोड़कर द्विवेदीजी चल दिए। बाद में लोगों ने त्यागपत्र वापस लेने के लिए मनाया, समझाया-बुझाया, पर सब व्यर्थ। उस समय द्विवेदीजी ने अपनी धर्मपत्नी की राय माँगी। उन्होने स्पष्ट कह दिया, "थूककर क्या कोई चाटता है ?" हिन्दी का अहोभाग्य था कि हमारे चरितनायक ने कमला का क्षीरसागर छोड़कर सरस्वती की हिमशिला पर पुजारी का आसन ग्रहण किया।

सन् १९०३ ई० में श्री चिन्तामणि घोष के आग्रह और बाबू श्यामसुन्दरदास के समर्थन पर द्विवेदीजी ने सरस्वती का सम्पादन ग्रहण किया। सन् १९०४ ई० तक वे झांसी में रह कर ही सम्पादन करते रहे। उन्हें २० रुपये मासिक वेतन और ३ रुपये डाक खर्च कुल मिलकर २३ रुपये मिलते थे। बाद में वे कानपुर चले आए और जुही मुहल्ले में रह कर सम्पादन करने लगे। कठिन परिश्रम के कारण उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। सन् १९१० ई० मे उन्हें एक वर्ष की छुट्टी लेनी पड़ी। इसी बीच उनकी माताजी का भी स्वर्गवास हो गया। सत्रह वर्ष तक सम्पादन करने के पश्चात् सन् १९२१ ई० में इन्होंने इस कार्य से अवकाश ग्रहण किया। अगस्त सन् १९२० से दिसम्बर सन् १९२० ई० तक द्विवेदीजी के साथ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम

---

१ डा० उदयभानु सिंह महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ ३७

भी सरस्वती पर छपता रहा। इससे ऐसा लगता है कि बख्शीजी द्विवेदीजी के संरक्षण में ही कार्य करने लगे थे।

जीवन के शेष १८ वर्ष द्विवेदीजी ने अपने गांव में ही बिताये। कुछ समय तक आनरेरी मुंसिफ रहे, बाद में ग्राम पंचायत के सरपंच के पद को सुशोभित किया। जीवन के अंतिम दिन बहुत दुःख से बीते। स्वास्थ्य गिरता गया। ज्यों ज्यों दवा की मरज बढ़ता गया। अन्न त्याग देना पड़ा। लौकी की तरकारी, दलिया और दूध ही उनका आहार था। रोगों के निरन्तर आक्रमण ने उनके शरीर को शिथिल कर दिया। इलाज कराने के विचार से उनके सम्बन्धी उन्हें रायबरेली ले गए। वहां भी अनेक वैद्य-डाक्टरों ने उनकी चिकित्सा की, पर लाभ न हुआ।

उस समय उन्हें जो मर्मान्तिक पीड़ा थी उसका सहज ही अनुमान निम्नलिखित पंक्तियो से लग जाता है—

"मैं कोई दो महीने से नरक यातनायें भोग रहा हूं। पड़ा रहता हूं। चल फिर कम सकता हू। दूर की चीज भी नहीं दीख पड़ती। लिखना पढ़ना प्रायः बन्द है। जरा सी दलिया और शाक खा लेता था, अब वह कुछ हजम नहीं होता। तीन पाव के करीब दूध पी कर रहता हूं तीन दफे में। सूखी खुजली अलग तंग कर रही है। बहुत दवायें की नहीं जातीं।"[1]

२१ दिसम्बर सन् १९३८ ई० प्रातःकाल पांच बजे आखिर वह समय भी आया जब समस्त सांसारिक यातनाओं का अंत हो गया। जीवन का वह सत्य सामने आया जिससे धरती पर रहनेवाला कोई महात्मा, राजा, योगी, दुष्ट, दरिद्र आज तक बच नहीं सका। द्विवेदीजी हिन्दी-जगत को सूना करके चले गए।

द्विवेदीजी का विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था, जैसा कि हम ऊपर कह आए हे। उनकी पत्नी सुन्दर न थीं।। उल्टे उन्हे मिरगी रोग की, शिकायत थी।[2]

इतना होते हुए भी द्विवेदीजी उन्हें बहुत प्रेम करते थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, वह स्मृति-मन्दिर,जिसे द्विवेदीजी ने अपने द्वार पर बनवाया है। उस मन्दिर में उन्होंने अपनी पत्नी की मूर्ति लक्ष्मी और सरस्वती के बीच स्थापित की है जो आज भी द्विवेदीजी के प्रेम की साक्षी है। द्विवेदीजी संतान विहीन थे इसलिए लोगों ने उनसे कहा कि वे दूसरा व्याह कर लें, पर वे साफ इन्कार कर गए। स्मृति मन्दिर में पत्नी की मूर्ति स्थापित कराने पर लोगो ने बहुत भला बुरा कहा। स्त्रियों ने तो गालियां भी दीं, "दुबौना कलियुगी है। द्याखौ ना, मेहरिया कै मूरति बनवाय के पधराईसि हइ! यही कौनिउ बेद पुरान के मरजाद आय!"[3]

द्विवेदीजी को पारिवारिक सुख नहीं मिला। जीवन का यह एक ऐसा सत्य है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। बाबू चिन्तामणि घोष, जो सरस्वती के मालिक थे, द्विवेदीजी को

---

१. पं० किशोरी दास बाजपेयी को लिखित पत्र, सरस्वती, भाग ४०, संख्या २, पृष्ठ २२२,२२३

२. सरस्वती भाग ४०, संख्या २, पृष्ठ १५३

३. वही, २ पृष्ठ २२९

अपने परिवार के सदस्य के रूप में ही मानते थे। यहां तक कि वे उनकी गठरी उठाकर स्वयं पहुचाने जाते थे और चपरासी साथ में खाली हाथ चलता था। मालिक और नौकर का यह व्यवहार अब किस्सा कहानी का विषय माना जायगा पर तब यह सच था।

बाबू चिन्तामणि घोष की मृत्यु पर द्विवेदीजी ने बिलखते हुए लिखा था, "आज तक मेरे सभी कुटुम्बी एक एक करके मुझे छोड़ गए। मैं ही अकेला कूल-द्रुम बना हुआ हूं। अपनी अंतिम श्वासों की राह देख रहा हूं। कभी मैंने सरस्वती में अपना रोना नहीं रोया। मेरी उस कष्ट-कथा से सरस्वती का कुछ भी सम्बन्ध न था। अतएव उसे सरस्वती के पाठकों को सुनाकर उनका समय नष्ट करना मैंने अन्याय समझा।"[1]

अपनी मनोदशा का वर्णन करते हुए द्विवेदीजी ने प० किशोरीदास बाजपेयी को जो पत्र लिखा है, उससे उनकी हार्दिक व्यथा का आभास होता है :—

"आपकी कौटुम्बिक व्यवस्था से मिलता जुलता ही मेरा हाल है। अपना निज का कोई नही है। दूर-दूर की चिड़ियां जमा हुई हैं। खूब चुगती है। पुरस्कार स्वरूप दिनरात पीड़ित किए रहती है।"

द्विवेदीजी ने अपनी मृत्यु से पूर्व ही अपनी समस्त संपत्ति वसीयत कर दी थी। सन् १९०७ ई० में उन्होंने अपनी मां, स्त्री और विधवा सरहज को क्रमश: ३०, ५० और २० प्रतिशत का हिस्सा बांट दिया था, पर वे सभी द्विवेदीजी के जीवन काल में ही चल बसे इसलिए वह बेकार हो गया। अपनी गाढ़ी कमाई की एक मोटी रकम लगभग ७०००) रुपये उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय काशी को दान कर दिया। अपनी अचल संपत्ति का उत्तराधिकारी उन्होंने अपने कल्पित भानजे कमलाकिशोर त्रिपाठी को बनाया, जो अन्तिम समय में द्विवेदीजी के साथ रहे।

सरपंच अथवा आनरेरी मुंसिफ के रूप में काम करते समय द्विवेदीजी ने पूर्ण ईमानदारी से न्याय किया। कभी-कभी ऐसे अवसर आए कि गरीब अपराधियों के जुर्माने की रकम उनकी असमर्थता पर स्वयं द्विवेदीजी ने ही भरी, पर उन्हे मुक्त नहीं किया। इस कठोर न्यायप्रियता से बहुत से लोग अप्रसन्न भी हुए।

अपने गांव का उन्होंने खूब सुधार किया। सफाई की व्यवस्था की। उसमें बाहर से लाकर एक भंगी बसाया। अस्पताल, डाकखाना, मवेशीखाना आदि बनवाये। आमों के कई बाग लगवाये। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि अशिक्षित लोगों को शिक्षित करने से ही भारत की उन्नति हो सकती है।

स्वभाव की विशेषतायें :

द्विवेदीजी स्वभाव से निडर, स्पष्टवक्ता, मितव्ययी व्यवहार कुशल, क्षमाशील और न्यायप्रिय थे। दो टूक बात कहने के कारण लोग प्राय: उनसे अप्रसन्न हो जाते थे। दबना द्विवेदीजी की प्रकृति में नहीं था। जो कुछ कहते थे उसपर दृढ़ रहना भी जानते थे। लोभ-लाभ के छुद्र स्वार्थों में

---

१ सरस्वती भाग ४० संख्या २ पृष्ठ ३२१

उनकी आत्मा कभी नहीं रमी द्विवेदीजी अतिथि-सेवा में बड़े प्रवीण थे सस्ती कीर्ति और साहित्यिक अखाड़ेबाजी को वे नफरत की निगाह से देखते थे।

सच्चे अर्थों में द्विवेदीजी मानव थे। उनमें प्रेम, सहानुभूति, करुणा और कोमलता के सुन्दर भाव थे। वे दूसरों के दुःख-सुख से उसी प्रकार प्रभावित होते थे जैसे निजी संताप-आनन्द से। आलोचक की कठोरता तो उनका आरोपित गुण था। गरीबों के प्रति उनका भाव कितना उदात्त था यह उनके निम्नलिखित लेख से स्पष्ट है—"जब बदलू चमार की जूड़ी उतर जाती है तब मैं समझता हूं कि मुझे कैसरे हिन्द का तमगा मिल गया।"[1]

द्विवेदीजी स्वभाव से व्यवस्थाप्रिय थे। उनके घर में प्रत्येक वस्तु ठिकाने से उचित स्थान पर रखी जाती थी। नियम का तनिक भी उल्लंघन उन्हें प्रिय नहीं था। अपनी पुस्तकों की सफाई वे स्वयं करते थे। पुस्तकें उन्हें प्राणों से भी बढ़कर प्यारी थीं। यदि किसी को कभी कोई पुस्तक उधार दे देते तो पूरी हिदायत के साथ—कि उसमें कहीं कोई दाग, स्याही या अन्य प्रकार की गन्दगी न लगने पावे। कृत्रिमता, बनावट और खुशामद के वे घोर विरोधी थे। सत्य और प्रतिज्ञापालन को वे अपना धर्म समझते थे। ईश्वर की सत्ता में उन्हें पूर्ण विश्वास था, पर वे पूजा पाठ नहीं करते थे। ईश्वर या रामनाम का उच्चारण भले ही कभी कभी कर लेते थे। आत्मसम्मान की मात्रा उनमें यथेष्ट थी।

उनके कमरे में अनेक अस्त्रशस्त्रों के अतिरिक्त एक फरसा भी टंगा रहता था, जो उनके उग्र स्वभाव का द्योतक था। कदाचित उसी को देख कर व्यंकटेशनारायण तिवारी ने उन्हें वाक्य-शूर परशुराम कहा था।[2]

द्विवेदीजी अपने मित्रों-शिष्यों को क्षमा करने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। उदाहरण के लिए देखिए—अभ्युदय के मैनेजर ने अपने 'निबन्ध-नवनीत' में द्विवेदीजी की रचना 'प्रताप नारायण मिश्र का जीवनचरित' संग्रहीत कर लिया और इसी प्रकार बाबू भवानी प्रसाद ने उनकी कुछ कवितायें अपनी पुस्तक 'शिक्षासरोज' एवं 'आर्य-भाषा-पाठावली' में द्विवेदीजी की अनुमति के बिना ही छाप लीं। द्विवेदीजी पहले तो इन दोनों पर क्रुद्ध हुए, पर बाद में क्षमा कर दिया।[3]

द्विवेदीजी अपने द्वारा पर आए हुए अतिथि की कितनी सेवा करते थे, कहा नहीं जा सकता। शत्रु को भी वे अपने घर पर आदर सत्कार देना जानते थे। एक घटना इस प्रकार है—द्विवेदीजी ने नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यों की आलोचना की। सभा ने सरस्वती के ऊपर से अपना संरक्षण उठा लिया। द्विवेदीजी ने दृढ़ता से इसका मुकाबला किया। इससे क्रुद्ध होकर सभा की ओर से केदारनाथ पाठक द्विवेदीजी के घर गये। उन्होंने तैश में पूछा, "सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमें किस प्रकार प्रतिकार करना होगा? क्या विषस्य विषमौषधम की नीति का करना पड़ेगा?' उसी समय द्विवेदीजी ने मुस्कुराते हुए कहा देवता

ठहर जाओ, मैं अभी आता हूं।" बस घर में जाकर एक हाथ में एक गिलास-जिस पर एक सु तश्तरी में मिठाइयां रखी थीं तथा दूसरे हाथ में एक लोटा पानी लिए हुए बाहर आए। ला पाठकजी के सामने रख दिया और उसी कमरे के एक कोने से एक लाठी भी लाकर सामने रख द फिर मुस्कुराते हुए बोले, 'सुदूर प्रवास से थके-मांदे आ रहे हो, पहले हाथमुंह धोकर जलपा करके सबल हो जाओ, तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है।" यह सुनकर पाठकजी पान पानी हो गए।[1]

ऐसा नहीं है कि द्विवेदीजी पाठकजी की उग्रता से दब गए। जो व्यक्ति अंग्रेज आफीस की उद्दण्डता से तनिक भी विचलित नहीं हुआ, वरन् अपने मिर्जापुरी सोंटे से उसकी खूब मरम्मत की[2]—सो भी रेलगाड़ी के द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में, जहाँ अंग्रेजी शासन, अंग्रेजी कानून, अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजियत का बोलबाला था—तो भला वह किसी अन्य से कब डरने वाले थे।

द्विवेदीजी निरे आदर्शवादी नहीं थे। वे पूर्णतः वस्तुवादी थे। सम्पत्तिशास्त्र नाम की उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी और स्वयं उसपर अमल करते थे। उनका अटूट विश्वास था कि आमदनी से खर्च सदा कम रखने में ही कल्याण है। वे अपने मिलने जुलनेवालों को बड़े प्रेम से यह श्लोक सुनाया करते थे—

"इदमेव हि पाण्डित्यमियमेव विदग्धता।
अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्ययः।"[3]

द्विवेदीजी की संग्रहवृत्ति बेजोड़ थी। वे पुराने कागज पत्रों, लिफाफों, पत्रिका की डोरी, फीते, अखबारों की कतरन आदि को भी बड़ी हिफाजत से रखते थे। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है, "बण्डलों के अन्दर कागजों का सिलसिला देखकर आचार्य द्विवेदी के अपूर्व संग्रहानुराग पर बड़ा आश्चर्य होता है। चिट्ठियों के लिफाफे, रजिस्ट्री और तार की रसीदें, अखबारों के रैपर और कटिंग सब सुरक्षित रखे है। मुकदमे का खुलासा (जो उन्होंने वि० एन० शर्मा पर चलाया था) स्वयं द्विवेदीजी ने लिखकर रखा है। वास्तव में द्विवेदीजी के समान संग्रही हिन्दी जगत् में कोई नजर नहीं आता।"[4]

द्विवेदीजी कभी कोई बात छिपाना नहीं जानते थे। जो कुछ वे अनुभव करते थे और जो उन्हे उचित लगता था, उसे वे अपने मित्रों से बिना किसी भूमिका के कह देते थे। यह तो सभी जानते है कि द्विवेदीजी हिन्दी कविता को ब्रजभाषा के कलेवर से खड़ी बोली में लाये और शृंगारिकता और नायिका भेद के दलदल से निकाल कर उसे जीवन के स्वस्थ धरातल पर स्थापित

---

१. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ५३०, श्रद्धांजलि

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ ४३ (कमलाकिशोर त्रिपाठी की विवाह-यात्रा के समय द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में एक विलायती साहब ने द्विवेदीजी से अपमानजनक शब्दों में स्थान खाली करने को कहा उस अनाचार का उत्तर उन्होंने मिर्जापुरी दण्ड से दिया
द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ ५६४

किया पर तत्कालीन शृंगारिक कवियों की किस प्रकार मीठी चुटकी भर कर उन्हें अपने पक्ष मे करते थे, इसकी जानकारी कम लोगों को है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की शृंगारिक स्वच्छन्दतावादी रचनाओं को देखकर द्विवेदीजी ने चुहुल के साथ अपनी ग्रामीण बोली में एक बार नवीनजी से पूछा, "काहे को बालकृष्ण, ई तुम्हार सजनी, सखी, सलोनी प्राण को आंय। तुम्हार कविता माँ इनका बड़ा जिकर रहत है।"[२] नवीनजी झेंप गए, भला वे इस सीधी-सादी उक्ति का क्या उत्तर देते। द्विवेदीजी खूब जानते थे कि किससे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए।

द्विवेदीजी बड़े सरल एवं भावुक थे। प्रायः संतानहीनता और स्त्री-वियोग लोगों को नीरस बना देते हैं। वे जीवन से निराश हो जाते हैं। उदासीनता और कटुता का वास उनके हृदय में अनायास ही हो जाता है। फलस्वरूप उनके व्यवहार में एक रूखापन आ जाता है। परन्तु द्विवेदीजी जीवन के सारे अभावों को पी गए थे, फिर भी शिव की भाँति वे अडिग एवं अप्रभावित से थे। संगीत, गीत और रुदन का उनपर इतना प्रभाव पड़ता था कि कभी कभी वे उसी में खो जाते थे। उनकी भावुकता के सम्बन्ध में केवल इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि जब ग्रामीण स्त्रियों के मुँह से वे "बिछुड़ गई जोड़ी, जोड़ी मोरे रामा।" आदि पद सुनते थे, तो आत्म-विभोर हो जाते थे। उनकी आँखो से आँसुओं की धारा बह निकलती थी। ऐसा नही है कि वे अपने जीवन में एक अभाव के नाते इतने प्रभावित होते थे, उनको शाश्वत जीवन में जोड़ी के बिछुड़ने का जो दुःख हो सकता है, उसकी सच्ची अनुभूति होने लगती थी, चाहे वह राम-सीता के वियोग की हो, चाहे 'क्रौंच' के वियोग की। समान रूप से वे वियोग की करुणा में द्रवीभूत हो जाते थे। वहाँ 'स्व' और 'पर' की भावना कहाँ? ग्रामीण [illegible] की बात तो जाने दीजिए, जब कभी नर्तकी-वेश्याओं के मुख से भी मधुर स्वर और मीठी लय में किसी उत्सव आदि के अवसर पर 'मोसम कौन कुटिल खल कामी' आदि भाव भरे पद सुनते थे, तो वे उसी मे खो जाते थे। भला इससे बढ़कर उनकी भावुकता का और कौन-सा प्रमाण ढूँढा जाय।

द्विवेदीजी पक्षपात रहित व्यवहार रखते थे। इस सम्बन्ध में एक घटना इस प्रकार है— पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने द्विवेदीजी के पट्ट शिष्य मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' की आलोचना विशाल भारत में प्रकाशित कराई। गुप्त जी उस आलोचना से सहमत न हुए और १५ जनवरी सन् १९३२ ई० को उन्होंने पूर्व प्रकाशित आलोचना का उत्तर दिया। अपनी प्रत्यालोचना की प्रतिलिपि द्विवेदीजी के पास भेजी और द्विवेदी जी से उस पर सम्मति माँगी। द्विवेदीजी ने अत्यन्त स्पष्टता से उत्तर दिया, "तुलसी की कविता से आप को अपनी कविता की तुलना करना शोभा नहीं देता।" गुप्त जी इस प्रकार के उत्तर के लिए तैयार न थे। उन्होने २८ जनवरी को पुनः पत्र लिखा, "आज पच्चीस वर्ष से ऊपर हुए, मैं आपकी छत्रछाया में हूँ। यह बात औरों के कहने के लिए रहने दीजिए। मैंने अपनी ध्यान समाधि में जैसा देखा, वैसा लिखा।

२ द्विवेदी मीमांसा पृ० २३४

इस पत्र से जाहिर है कि गुप्तजी जैसे भी हो द्विवेदीजी द्वारा अपना पक्ष समर्थन कराना चाह‍ थे, वह हुआ इसके विपरीत।

द्विवेदीजी ने रुष्ट होकर उत्तर दिया, "आप विवाद पर उतर आये। ध्यान-समाधि लगा कर पुस्तक लिखने वालों को मेरे और बनारसीदास जैसे मनुष्यों की राय की परवा ही क्यों करनी चाहिए ? वे अपनी राह जायँ आप अपनी। आपकी राय ठीक, मेरी और बनारसीदास की गलत सही—तुष्यतु भवान्।"[1]

गुप्तजी अपनी गलती समझ गये। उन्होंने क्षमा प्रार्थना की और 'चरणानुचर' मैथिली-शरण गुप्त लिखा। बस, ब्राह्मण द्विवेदी का हृदय गद्गद् हो उठा और वे गुप्तजी से प्रसन्न हो गए। सारा मनोमालिन्य मिट गया।

द्विवेदीजी का स्वभाव था खरी आलोचना करना था। वे दूसरों की कड़ी टीका करके प्रसन्न होते थे ऐसी बात नहीं, वरन वे तो अपने काव्य की कटु आलोचना सुनकर या पढ़कर खुश होते थे। द्विवेदीजी ने पद्मसिंह शर्मा को २७–५–१९१० ई० को एक पत्र लिखा था, जो उनकी 'शिक्षा' पुस्तक की आलोचना के बाद लिखा गया था। उस पत्र की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है—

"इस हफ्ते का 'भारतोदय' अवश्य मनोरंजक है। कुछ पढ़ लिया। बाकी को भी पढ़ूँगा। 'शिक्षा' की आलोचना के लिए धन्यवाद। खूब है। पढ़कर चित्त प्रसन्न हुआ। पर आपका माफी माँगना अनुचित है।"[2]

लगे हाथ एक और उदाहरण देख लेना समीचीन होगा। पं० कामता प्रसाद गुरु ने द्विवेदीजी के 'राजे', 'योद्धे', 'जुदा-जुदा नियम', 'हजारहा' आदि चिन्त्य प्रयोगों की चर्चा की तब द्विवेदीजी ने खीझने की जगह प्रसन्नता-पूर्वक उत्तर दिया, "आप मेरे जिन प्रयोगों को अशुद्ध समझते हैं उनकी स्वतन्त्रता से समालोचना कर सकते हैं।"[3]

द्विवेदीजी के स्वभाव में मिठास और तिक्तता, करुणा और कठोरता, दया और रोष, भावुकता और यथार्थ, संग्रह और त्याग का एक अभूतपूर्व मेल था। हिन्दी भाषा और साहित्य की श्रीवृद्धि करना ही उन्होने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। व्यक्तिगत जीवन का उनका दायरा तो बहुत सीमित था। उसमें ईश्वर ने अपनी ओर से भी संकोच ही किया, पर द्विवेदीजी को इसकी शिकायत नही थी। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने ठीक ही कहा है, "जिनके मस्तिष्क की भगीरथ-शक्ति संसार में नवीन विचारधारा प्रवाहित करती है, 'ते नर वर थोरे जग माहीं,' किन्तु जो नई नहरें निकाल कर उस धारा का स्वच्छ जल अपने समाज के लिए सुगम कर देते हैं, वे भी हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी है। आचार्य द्विवेदी ने पिछले पैंतीस-चालीस वर्षों के सतत परिश्रम से खड़ी बोली के गद्य और पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनो प्रणालियो

---

१ दौलतपुर में रक्षित द्विवेदीजी तथा गुप्त जी के पत्र की फाइल से।

२ सरस्वती नवम्बर १९४० द्विवेदीजी का पत्र

द्वारा, पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी ज्ञान सम्पत्ति सम्पूर्ण हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में मुक्त हस्त से वितरित की जिसके लिए हम उनके ऋणी हैं।[1]

द्विवेदीजी में प्रतिभा को परखने की विलक्षण शक्ति थी। वे शक्तिशाली लेखकों और कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं को देख कर ही उनके उज्ज्वल भविष्य का अनुमान लगा लेते थे। उनको हर सम्भव सहायता तथा प्रोत्साहन देते थे। "द्विवेदीजी के ही उद्योग और प्रोत्साहन का यह परिणाम है कि श्री मैथिलीशरण गुप्त ऐसे भारत प्रसिद्ध कवि, बाबू गोपालशरण सिंह जैसे सत्कवि और पं० रामचरित उपाध्याय ऐसे पंडित-कवि हिन्दी में दिखाई पड़े।"[२] उनके स्वभाव की झलक देते हुए आचार्य मिश्र कहते हैं, "द्विवेदीजी सचमुच 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनिकुसुमादपि' चरित्रवाले लोकोत्तर पुरुष थे। उच्छृंखलता न उन्हें साहित्य में पसंद थी न जीवन में। वे दुष्टों के कट्टर शत्रु थे, बड़े निर्भीक और प्रभावशाली। कर्मक्षेत्र में वे बराबर वज्र रहे, पर क्षेत्र त्याग के अनन्तर वे बड़े ही कोमल हो गये।"[३]

इस कोमलता और स्वभाव परिवर्तन का कारण पूछने पर द्विवेदीजी ने जो उत्तर दिया था, वह भी कितना मार्मिक है—

"उमा जे राम चरन रत, बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय, देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध॥"

द्विवेदीजी की यह संयासवृत्ति भी अनायास ही नहीं थी। उनके जीवन-संघर्ष के पिछले प्रहरों में इस स्वाभाविक वृत्ति के अतिरिक्त कोई दूसरी बात आ भी कैसे सकती थी। वे पूरे कर्मयोगी थे। उनका सम्पूर्ण जीवन एक खुली हुई पुस्तक था। जहाँ कोई दुराव नहीं कोई छिपाव नहीं। उसमें सर्वांगीण जीवन का एक स्वस्थ, मधुर स्वर मुखर है।

चरित्रगत विशेषताएँ

द्विवेदीजी के चरित्र में दृढ़ता, आत्मगौरव, स्वाभिमान, त्याग, अनुशासन एवं व्यवस्था का मणिकांचन संयोग था। वे कटु सत्य के उपासक थे। इसीलिए उनकी आलोचनाएँ प्रायः कठोर होती थीं। वे हृदय से कोमल, किन्तु कर्तव्य के प्रति जागरूक थे। उनकी दृढ़ता को देखकर हम उन्हें नारियल के फल की उपमा दे सकते है, जिसकी कठोर जटा के भीतर हमें मीठी गिरी और स्वादिष्ट जल पीने को मिलता है।

अदम्य उत्साह, लगन, साहस और निष्ठा उनके चरित्र की विशेषताएँ थीं। अपने इन्हीं चारित्रिक गुणों के बल पर ही वे इतने आगे बढ़ सके। इतनी बाधाओं को झेलकर, समस्त शिलाओं को मार्ग से हटा कर उन्होंने अपना मार्ग चौरस किया। प्रारम्भिक जीवन से

---

१. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० १, नवीन

२ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृ० २९

लेकर सरस्वती के सम्पादन तक उन्हें विपरीत परिस्थितियों से जूझना पड़ा उसमें वे सर्वदा विजयी हुए कारण यह था कि जीवन का श्रेय और प्रेय उन्हें ज्ञात था श्रेय के लिए उन्होंने प्रेय को ठुकरा दिया। साधना के व्रत से ज्ञान का वह आलोक विकीर्ण किया, जिसमें आने वाली पीढ़ी युग-युग तक उनसे प्रकाश एवं प्रेरणा पाती रहेगी। उनके सम्बन्ध में पण्डित देवीदत्त शुक्ल का मत भी पठनीय है—

"द्विवेदीजी असाधारण पुरुष पुंगव थे। वे जैसे विद्वान और बहुज्ञ हैं, वैसे ही प्रतिभाशाली और क्षमतावान भी। उनकी विद्वत्ता और बहुज्ञता का परिचय जहाँ उनकी चारु कृतियाँ देती हैं, वहाँ उनकी कृतियों की प्रत्येक पंक्ति से उनकी प्रतिभा और क्षमता का भी ज्ञान होता है और यही वे गुण है, जिनकी बदौलत उन्होंने विश्वामित्र की भाँति लड़कर ब्राह्मणत्व-रूपी हिन्दी के आचार्यत्व जैसे उच्च पद को प्राप्त किया है। द्विवेदीजी का जीवन ऐसा ही उत्साहपूर्ण और स्वाभिमान व्यंजक रहा है।"[1]

हिन्दी साहित्य में उछल-कूद मचाने वालों के द्विवेदीजी विरोधी थे। वे असत्य के मूलोच्छेदकर्त्ता थे। साहित्य में सस्ती कीर्ति लूटने वालों के लिए उन्होंने जगह ही नहीं रखी। द्विवेदीजी ने मेघ की भाँति जल बरसा कर हिन्दी साहित्य के उपवन को हरा-भरा कर दिया।[2] द्विवेदीजी वादे के बड़े पक्के और समय के पूरे पाबन्द थे। संस्कृति की रक्षा तथा विकास का साधन भाषा है और द्विवेदीजी हिन्दी भाषा के सजग प्रहरी थे। अस्तु, वे संस्कृत के भी रक्षक थे। आधुनिक साहित्य हिमालय की तरह भवभूतल को भेद कर आकाश की ओर अग्रसर नहीं हो रहा है। वह हरी घास की तरह सारी पृथ्वी पर फैलकर उसे स्निग्ध बनाना चाहता है।[3] द्विवेदीजी उसे सींचने में जीवनपर्यन्त लगे रहे।

द्विवेदीजी शुद्धता एवं सिद्धांत के पक्षपाती थे। आज के व्यवहार की दुनियाँ में चारों ओर मिलावट का बाजार गर्म है। वे साहित्य, भाषा और जीवन सभी को पवित्र एवं विकासशील देखना चाहते थे। जहाँ कहीं उन्हें इसके विपरीत दृश्य दिखाई देता था, वे तत्काल अंगुलि-निर्देश करते थे। टीका-टिप्पणी करते थे। आलोचना लिखते थे। किन्तु आज जब चारों ओर शुद्धता के स्थान पर भ्रष्टाचार छाता जा रहा है और लोग कार्य-निष्ठा, परिश्रम और त्याग-बलिदान की जगह 'नवनीतीकरण' को रामबाण समझ कर काम निकालने में जुटे हुए हैं, तब द्विवेदीजी का हिन्दी के अनेक विद्वानों से बिगाड़ हो गया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

द्विवेदीजी प्रतिभा के धनी थे। उनका संकल्प महान था। इन्हीं गुणों ने उनको जबरदस्त व्यक्तित्व प्रदान किया था। वे अपने महान कार्य मे इतने व्यस्त थे कि उन्हें कौन क्या कहता है, इसकी जरा भी फिक्र नहीं थी। उन्होंने बदरीनाथ गीता वाचस्पति को प्रबोधन देते हुए स्वयं लिखा है—"मेरी लोग निन्दा करते हैं या स्तुति, इस पर मैं कभी हर्ष-विषाद नहीं करता। आप भी न किया कीजिए। मार्ग भ्रष्ट कभी न कभी मार्ग पर आ ही जाते हैं। मेरा किसी से द्वेष

---

१. देवीदत्त शुक्ल, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ५४०
२. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५३८
३ द्विवेदी ग्रन्थ पृ० ५३७

नहीं, न लखनऊ के किसी सज्जन से. न और ही किसी से । इम् थोड़ी है वह द्वेष और शत्रु भाव प्रदर्शन के लिए नहीं । मैं सिर्फ इतना करता हूं कि जो '''मेरे हृदयगत भावों को नहीं समझते, उनसे दूर रहता हूं ।[1]

द्विवेदी जी के चरित्र की एक बहुत बड़ी विशेता यह भी थी कि वे समय नष्ट नहीं करते थे । व्यर्थ बकवास, गप्पें ठोकना, बिना प्रयोजन बैठे रहना उन्हें प्रिय नहीं था । वे अपने मिलने वालों से भी इसी प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखते थे । जब कोई उनसे मिलने जाता तब वे अपनी डिबिया में से दो पान निकाल कर देते और इस प्रकार आगन्तुक का स्वागत करते थे । परन्तु बात चीत समाप्त होते ही वे पुनः दो पान देते थे । यह बिदाई का सूचक था ।[2] भारतीय परम्परा और संस्कृति में अखण्ड विश्वास रखने वाले द्विवेदी जी भला यह कैसे कहते कि अब आप जाइए ।

द्विवेदी जी विद्वान, आचार्य और एक महान सम्पादक तो थे ही, परन्तु इससे बढ़कर भी वे वत्सल पिता थे । तद्यपि उनके कोई अपनी औरस संतान न थी, पर दूर के रिश्तेदार के परिवार का भरण-पोषण जिस ईमानदारी से निभाया, वह आदर्श था । द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ के उत्तरार्द्ध को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वे शिष्टाचार का भली भाति पालन करते थे । निश्चय ही यह पिता द्विवेदी सम्पादक द्विवेदी से अधिक महान था ।[3]

द्विवेदीजी ने वाणी की अपेक्षा कर्म द्वारा ही उपदेश दिया । मार्ग में आते जाते समय यदि उन्हें कहीं गोबर, कांटा, कांच का टुकड़ा आदि दिखाई पड़ता तो उसे उठाकर ऐसी जगह फेंक आते, जहां से वह किसी को हानि न पहुँचा सके । उनके इस आदर्श से नवयुवकों पर बड़ा प्रभाव पडता था और वे भी उनका अनुकरण करने लगते थे । गांव के लोग जब कभी उनके पास मुक-दमे के सम्बन्ध में राय लेने आते थे, तो वे उन्हें समझा बुझाकर समझौता करा देते थे । गरीब किसानों को रुपये उधार देकर उनकी मदद करते थे । अत्यन्त असहाय व्यक्ति को दान देकर सहायता करते थे ।

वे मान के भूखे नहीं थे । उन्हें काम से मतलब था । जब उनके अभिनन्दन ग्रंथ का आयोजन हो गया तब संयोजकों पर यह जिम्मेदारी आ पड़ी कि द्विवेदी जी से उनके जीवन की बहुत सी बातों का पता लगावें । इस सम्बन्ध में जब द्विवेदी जी से पत्र व्यवहार का सिलसिला चला तो वे बड़े लज्जित और खिन्न हो गये । उनकी उस समय की दशा का वर्णन करते हुए आचार्य शिवपूजन सहाय, जो प्रमुख कार्यकर्ता थे, लिखते हैं:—

'अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्बन्ध में उन्हें एकदम विरक्त देखा । जान पड़ा, अभिनन्दन ग्रंथ उन पर लादा जा रहा है । उन्होंने लिखस्पष्ट दिया कि आत्म विज्ञापन और आत्मश्लाघा के काम

---

१. सरस्वती, १९४० ई० के मई अंक में प्रकाशित, द्विवेदीजी द्वारा २१-११-१९१४ को लिखित पत्र ।
२ द्विवेदी मीमांसा, पृष्ठ २३ ।
३ सरस्वती भाग ४०, सं० २ पृष्ठ १३९
४ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ ४२

में मुझे घोर और मानसिक ग्लानि हो रही है इस विषय में मुझे अब छोड़ें ।[1] यह उनकी महानता का ही द्योतक है ।

उनका निष्कपट व्यवहार, सरल एवं सरस प्रेम, उनकी सहृदयता एवं उदारता ईर्ष्या की वस्तु थी । कुछ लोग ऐसा सोचते थे कि वे बड़े कड़े एवं क्रोधी व्यक्ति रहे, पर यह उनका भ्रम था । उनके लम्बे कद, विशाल रोबदार चेहरा और घनी बड़ी मूछों से एक तेजस्वी व्यक्तित्व की झलकी मिलती थी । वे निर्भीक समालोचक थे । निडर स्वभाव के निश्छल पुरुष थे । अध्ययन कक्ष में द्विवेदी जी को तलवार, बन्दूक और खन्जर आदि रखना पड़ता था, वह स्वाभाविक ही है । जिस अशिक्षित, हिंसा में सने समाज में हम सांस लेते है, उसमे गौतम, गांधी और ईसा के सिद्धान्त अपनाना निरी मूर्खता है । द्विवेदीजी इस बात को भली भांति जानते थे । यही कारण है कि वे सदैव सचेत रहे । फिर शक्ति पर विश्वास करने वाला व्यक्ति दूसरों की दया पर भला कैसे जीता ! उसे तो एक गुलाम जाति में शक्तिशाली साहित्य और मनोबल के साथ ही पुरुष के सिंहवत गुण भी भरने थे ।

वीरता के उपासक होते हुए भी वे अपने प्रतिद्वन्दी को निकट पाने पर उसके प्रति आत्मीयता पूर्ण सद्‌व्यवहार दिखाने में कभी पीछे नहीं रहे ।[2]

द्विवेदी जी हाजिर जवाब इतने थे कि कुछ पूछिए मत ! एक बार मीर मुंशी बालमुकुन्द जी गुप्त ने 'हम पंचन के ट्वाला मां' शीर्षक लेख में द्विवेदी जी पर पूरी शक्ति से कटाक्ष किया । भला द्विवेदीजी कब चूकने वाले थे । उन्होंने 'कल्लू अल्हइत' के नाम से 'सरगौ-नरक ठिकानौ नाहिं'[3] शीर्षक आल्हा लिखकर सरस्वती में प्रकाशित कर दिया । उस आल्हे की बड़ी धूम मची । अंत में गुप्त जी यह बात कह कर 'क्या खूब, भई क्यों न हो, अपनी भाषा में लिखा गया है' सतोष कर लिया ।

मानव कमजोरियां भी प्राय: प्रत्येक व्यक्ति में होती हैं । द्विवेदी जी इसके अपवाद नहीं थे । व्यक्तिगत धरातल पर जब कभी कोई बात आ जाती तो वे विचलित हो जाते थे । एक ऐसी ही अप्रिय घटना तब घटी जब श्री वि० एन० शर्मा ने २४ सितम्बर सन् १९०८ ई० और १ अक्टूबर सन् १९०८ ई० को 'सरस्वती में आर्य' शीर्षक लेख 'आर्य मित्र' में प्रकाशित कराया । यह लेख बडी ही तीखी शब्दावली में लिखा गया था । द्विवेदी जी इस आक्षेप को सहन नहीं कर सके । वे इस लेख से इतने विचलित हुए कि उनके धैर्य का बांध टूट गया और उन्होने लेखक-प्रकाशक पर २० हजार रुपये के दावे की कानूनी नोटिस दी । इसे उन्होने व्यक्तिगत मानहानि का विषय समझा । राय देवीप्रसाद पूर्ण उनके वकील थे । फलस्वरूप उक्त वि० एन० शर्मा ने २४ सितम्बर १९०९ ई० के 'आर्यमित्र' में अपना 'क्षमापत्र' प्रकाशित किया । उस क्षमापत्र के नीचे आर्यमित्र के प्रिण्टर (बाबूराम शर्मा भूतपूर्व सम्पादक और पब्लिशर कपूरचन्द्र का दुःख प्रकाश वके

अक्षरों में छपा था। इससे खीझ कर कई पत्रों ने द्विवेदी जी पर व्यंग्य किए जिनमें 'बिहार बन्धु' पटना आदि प्रमुख थे ।[1]

द्विवेदीजी मान के भूखे नहीं थे। उन्हें भीड़ की अपेक्षा एकान्त साहित्य-साधना अधिक रुचिकर थी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के अध्यक्ष पद के लिए तत्कालीन पदाधिकारियों ने उनसे कई बार आग्रह किया, पर वे बीमारी का बहाना बनाकर उससे सदैव अलग ही रहे। ऐसा उन्होने किसी और अन्य कारण से किया हो, यह आज तक किसी को ज्ञात नहीं है। ४-९-१९१३ ई० को भागलपुर सम्मेलन की स्वागत समिति ने एक तार द्विवेदी जी को अंग्रेजी में भेजा जिसमें लिखा था—'सर्व सम्मति से हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चौथे अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये हैं, तार द्वारा स्वीकृति भेजिए।'[2] द्विवेदीजी को यह तार कानपुर होकर देर से ८-९-१९१३ ई० को दौलतपुर में मिला। उन्होंने तुरन्त इसका उत्तर भेजा-'स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण स्वीकृति नहीं दे सकता।' इसी प्रकार छठें अधिवेशन लाहौर का भी यही हाल हुआ। स्वागत समिति ने तार भेजा और द्विवेदीजी ने बीमारी का बहाना बना दिया। बस जब कभी यह प्रसंग आया उन्होंने हीलाहवाली ही की।

द्विवेदीजी का साहित्य-निर्माण-कार्य पर्याप्त विस्तृत है। इसमें पद्य और गद्य की अलग-अलग छाप है। उनकी समस्त कृतियो को प्राय: दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:—१—मौलिक और २—अनूदित। उनकी अनूदित कृतियों की चर्चा यहाँ इसलिए की जा रही है कि उसका एक ऐतिहासिक महत्व है। किंचित वे सभी अनुवाद खड़ी बोली में विषय की विविधता, भावकी विदग्धता और भाषा की निपुणता प्रदर्शित करने के विचार से प्रस्तुत किए गए है। अस्तु, उनका महत्व स्वत: सिद्ध है।

द्विवेदीजी की प्रकाशित कृतियों की दो विस्तृत सूचियाँ हमें प्राप्त हुई हैं, जिनमें से प्रथम सूची है आचार्य शिवपूजन सहाय की जो उन्होंने पहली बार हंस में प्रकाशित करायी थी।[3] और दूसरी सूची है डा० उदय भानु सिंह की, जो उनके शोध-प्रबन्ध 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में दी गई है।[4]

इन दोनों सूचियों में बहुत कुछ साम्य है। किन्तु दोनों का अन्तर भी कम महत्वपूर्ण नही है। वह अंतर यदि केवल संख्या की दृष्टि से होता तो बात उतनी नहीं थी, परन्तु उनमें तात्विक अन्तर भी है। अस्तु, उनके गुण-दोषों की किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी करने से पूर्व हम उन्हे यहाँ अविकल रूप में उद्धृत कर रहे हैं :

१. शिवपूजन रचनावली, भाग ४, पृष्ठ, १८०
2. 'Unanimously elected President of Fourth Hindi Sahitya Sammelan, wire acceptance.'
3. Ill health prevents acceptance.'
४. शिवपूजन रचनावली : खंड : पृष्ट १८०।

(द्विवेदीजी की आदरणीय साहित्य-सेवा की चर्चा तो बहुत हुई है, पर अभी तक कहीं उनकी लिखी पुस्तकों की पूरी सूची नहीं छपी है। अतएव हंस के पाठकों की सेवा में यह पुस्तक सूची उपस्थित की जाती है)

शिवपूजन बाबू अपनी सूची प्रस्तुत करने से पूर्व लिखते हैं :—

...मैं शुरू से ही द्विवेदीजी की लिखी हुई सब पुस्तकों की नामावली तैयार कर रहा था। दिन-दिन वह नामावली बढ़ती गई। उसके संशोधन में (देवी दत्त शुक्ल) वर्तमान (सन् १९३३ ई०) सरस्वती संपादक ने बड़ी सहायता दी।...पं० यज्ञदत्त शुक्ल ने भी द्विवेदीजी की पुस्तकों की सूची बनाई थी।. .वह द्विवेदीजी के सम्बन्धी हैं। इसलिए उनकी बनाई हुई सूची विशेष प्रामाणिक हो सकती है। सरस्वती सम्पादक शुक्लजी के अनुरोध से उन्होंने अपनी सूची मुझे दे देने की कृपा की। मैंने अपनी और उनकी सूची एक करके द्विवेदीजी की सेवा में भेज दी। उसमें द्विवेदीजी ने यत्र-तत्र संशोधन मात्र कर दिया।"[1]

पद्य

१—देवी स्तुति
२—विनय विनोद
३—महिम्नस्तोत्र
४—गंगालहरी
५—स्नेहमाला
६—बिहार वाटिका
७—काव्य मंजूषा
८—कविता कलाप (संपादित संग्रह)
९—कुमार सम्भव सार
१०—सुमन (काव्य मंजूषा का संशोधित संस्करण)
११—अमृत लहरी

गद्य

१—भामिनी विलास
२—बेकन विचार रत्नावली
३—हिन्दी कालिदास की समालोचना
४—हिन्दी शिक्षावली के तृतीय भाग की समालोचना
५—अतीत स्मृति
६—स्वाधीनता
७—शिक्षा
८—सम्पतिशास्त्र
९—नाट्य शास्त्र
१०—हिन्दी भाषा की उत्पत्ति
११—हिन्दी महाभारत
१२—रघुवंश
१३—मेघदूत
१४—कुमार संभव
१५—किरातार्जुनीय
१६—नैषधचरित-चर्चा
१७—विक्रमांक देवचरित चर्चा
१८—कवि कालिदास की निरंकुशता
१९—आलोचनांजलि
२०—आख्यायिका सप्तक
२१—कोविद कीर्तन
२२—विदेशी विज्ञान
२३—जलचिकित्सा
२४—प्राचीन चिह्न
२५—चरितचर्या
२६—पुरावृत्त
२७—लोअर प्राइमरी रीडर
२८—अपर प्राइमरी रीडर
२९—शिक्षा सरोज (रीडर, पांच भाग)
३०—बालबोध या वर्णबोध (प्राइमर)
३१—जिला कानपुर का भूगोल

१ डा० उदयभानु सिंह महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग

३२—आध्यात्मिकी
३३—औद्योगिकी
३४—रसज्ञ रंजन
३५—कालिदास
३६—वैचित्र्य-चित्रण
३७—विज्ञान वार्ता
३८—चरित्रचित्रण
३९—विज्ञ-विनोद
४०—समालोचना-समुच्चय
४१—वाग्विलास
४२—साहित्य-सन्दर्भ
४३—वनिता-विलास
४४—महिला मोद
४५—अद्भुत आलाप
४६—सुकवि-संकीर्तन
४७ प्राचीन पण्डित और कवि
४८—संकलन
४९—विचार विमर्श
५०—पुरातत्व प्रसंग
५१—साहित्यालय
५२—लेखांजलि
५३—साहित्य-सीकर
५४—दृश्य-दर्शन
५५—अवध के किसानों की बरबादी
५६—कानपुर के साहित्य सम्मेलन का स्वागत भाषण
५७—आत्मनिवेदन (काशी के अभिनन्दनोत्सव में दिया गया भाषण) इत्यादि।

उपर्युक्त पुस्तकों के सम्बन्ध में शिवपूजन सहाय ने संक्षिप्त टिप्पणी भी दी है। उसे भी यहां मूल रूप में उद्धृत कर रहे हैं:—

'पद्य की पुस्तकों में नं० १ से नं० ६ तक बहुत पुरानी हैं। नं० १ सन् १८९२ ई० में और नं० २ सन् १८८९ ई० छपी थीं। गद्य की पुस्तकों में भी नं० १ से ५ तक बहुत पुरानी है। नं० ६ और ७ अंग्रेजी से अनुवादित प्रसिद्ध ग्रंथ है। नं० ११ और १२ अनुवादित होने पर भी मौलिक के समान आनन्दप्रद हैं। यही बात नं० १३ से १७ तक पुस्तकों के बारे में भी कही जा सकती हैं। द्विवेदीजी की अनुवादित पुस्तकें भी शुद्ध मौलिक प्रतीत होती हैं।

'नं० ७ से ३२ तक की पुस्तकें सम्भवतः इण्डियन प्रेस प्रयाग से निकली हैं। नं० ६ का प्रकाशन हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय (बम्बई) है। नं० ३३, ३४ और ३५ जबलपुर के राष्ट्रीय मन्दिर से तथा नं० ३८ और ३९ हिन्दी प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हैं। नं० ४० के प्रकाशक हैं-रामनारायण लाल, इलाहाबाद। और नं० ४१ के है—वैदेही शरण, हिन्दी पुस्तक-भंडार लहेरियासराय बिहार। नं० ३३ से ४७ तक का प्रकाशन लखनऊ के गंगा पुस्तक माला कार्यालय द्वारा हुआ है। नं० ४८ और ४९ काशी के भारती भण्डार ने प्रकाशित किया है। नं० ५० चिरगांव (झांसी) के साहित्य सदन से, नं० ५१ पटना के खंगविलास प्रेस, से, नं० ५२ कलकत्ता की हिन्दी पुस्तक-एजेन्सी से, नं० ५३ प्रयाग तरुण-भारत-ग्रंथावली-कार्यालय से, नं० ५४ मतवाला मण्डल (कलकत्ता) से और नं० ५५ काशी के ज्ञान मण्डल कार्यालय से प्रकाशित हैं।'

'नं० १४ से २६ और नं० ३२ से ५४ तक की पुस्तकों में अधिकतर सरस्वती में प्रकाशित लेखों और सम्पादकीय नोटों का ही संग्रह है। कुछ लेख अन्य पत्रिकाओं के भी है। फिर भी मेरा ख्याल है कि द्विवेदी जी के बहुत छोटे-बड़े लेख अभी तक पुस्तकाकार में संग्रहीत नहीं हुए हैं

मैंने मोटे तौर पर हिसाब लगाकर देखा है कि २५-३० वर्षों के अन्दर आचार्य महोदय ने २०,००० पृष्ठों से भी अधिक लिखा है।'[1]

दूसरी सूची है डा० उदयभानु सिंह की। डा० साहब ने प्रायः पिछली सभी सूचियो की पूरी छान-बीन करके अपनी नई सूची बनाई है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि हंस मे प्रकाशित सूची, डा० प्रेम नारायण टंडन की साहित्य-मीमांसा में प्रकाशित सूची तथा सभा आदि की सभी सूचियों का उन्होंने परीक्षण किया है। अपने ग्रंथ में उन्होंने टण्डन और शिवपूजन सहाय की सूचियों को पाद-टिप्पणी में प्रकाशित भी कराया है।

डा० सिंह की सूची की प्रामाणिकता इसलिए और बढ़ जाती है कि उन्होंने द्विवेदीजी की कृतियों का नाम देकर ही संतोष नही किया है, वरन् उन्होंने रचना की तिथि और उनका संक्षिप्त परिचय भी दिया है। उन्हें एक और सुविधा प्राप्त थी जो पूर्ववर्ती सूचीकारों को नहीं मिली—

अ—लगभग सन् १९४५-४६ ई० तक द्विवेदी जी सम्बन्धी प्रकाशित समस्त सामग्री का उपयोग करने का उन्हें अवसर मिला।
ब—द्विवेदीजी की मृत्यु २० दिसम्बर, सन् १९३८ ई० को हो गई और उसके बाद उनकी समस्त रखी हुई फाइलें वगैरह प्रकाश में आईं।
स—अनेक प्रकार से उनके कृतित्व और व्यक्तित्व पर स्वर्गवास के बाद प्रकाश डाला गया। अनेक स्मृति अंक निकाले गए। वे सब सिंह साहब को सरलता से उपलब्ध हुए।
द—द्विवेदीजी के कृतित्व और व्यक्तित्व का सर्वांगीण विवेचन ही उपर्युक्त प्रबन्ध का उद्देश्य भी रहा है। अस्तु, डा० सिंह की सूची भी अब हम यहाँ मूल रूप में रख रहे हैं:—

पद्य-अनूदित

१—विनय-विनोद—रचनाकाल सन् १८८९ ई०, भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' का दोहों में अनुवाद।
२—विहार-वाटिका—सन् १८९० ई०, संस्कृत वृत्तों में जयदेव के 'गीत गोविन्द' का संक्षिप्त भावानुवाद।
३—स्नेहमाला—सन् १८९० ई०, भर्तृहरि 'शृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद।
४—श्री महिम्नस्तोत्र—सन् १८८५ में अनूदित, किन्तु सन् १८९० ई० में प्रकाशित, 'संस्कृत महिम्नस्तोत्रम्' का संस्कृत वृत्तों में सटीक हिन्दी अनुवाद।
५—गंगालहरी—सन् १८९१ ई०, में पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगा लहरी' का सवैया अनुवाद।
६—ऋतुतरंगिणी-सन् १८९१ ई०, कालिदास के 'ऋतुसंहार' की छाया लेकर देवनागरी छदो में षड्ऋतु-वर्णन।

उपर्युक्त कृतियों की द्विवेदी लिखित भूमिकाओं से सिद्ध है कि उन्होंने मूल संस्कृत रचनाओ की काव्य माधुरी का आस्वाद कराने और हिंदी में संस्कृत वृत्तों का प्रचार कराने के लिए ये अनुवाद प्रस्तुत किए

७—सोहाग-रात (अप्रकाशित)— १९०० ई०, अंग्रेज कवि बाइरनके 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद।

८—कुमारसम्भवसार— १९०२ ई०, कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम पाँच सर्गों का पद्यात्मक सारांश। खड़ीबोली पद्य में कालिदास के भावों की व्यंजना का आदर्श उपस्थित करने के लिए ही द्विवेदीजी ने इस अनुवाद की रचना की थी।

लिक (पद्य)

१—देवी-स्तुति-शतक— १८९२ ई०, गणात्मक छन्दों में चंडी की स्तुति।

२—कान्यकुब्जली व्रतम्— १८९८ ई०, कान्यकुब्ज-समाज पर तीखा व्यंग्य।

३—समाचारपत्र सम्पादक स्तवः— १८९८ ई०, सम्पादकों पर आक्षेप।

४—नागरी— १९०० ई० नागरी विषयक चार कविताओं का संग्रह।

५—काव्यमंजूषा १९०३ ई०, १८९७ ई० से १९०२ ई० तक रचित संस्कृत और हिन्दी की फुटकर रचनाओं का संग्रह।

६—कान्यकुब्ज-अबला-विलाप— १९०७ ई०, कान्यकुब्ज-समाज की विवाह-सम्बन्धी कुप्रथाओं पर आक्षेप।

७—सुमन— १९२३ ई० काव्यमंजूषा का संशोधित संस्करण।

८—द्विवेदी काव्यमाला— १९४० ई०, द्विवेदीजी की उपर्युक्त रचनाओं और प्रायः अन्य समस्त कविताओं का संग्रह।

९—कविता-कलाप— १९०९ ई०, द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित, महावीर प्रसाद द्विवेदी, राय देवी-प्रसाद पूर्ण, नाथूराम 'शंकर' कामता प्रसाद गुरु और मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं का प्रायः सचित्र संग्रह।

(अनूदित)

१—भामिनी-विलास— १८९१ ई०, संस्कृत-कवि, पंडित राज जगन्नाथ की संस्कृत पुस्तक 'भामिनी-विलास' का सफल अनुवाद। यह द्विवेदीजी की प्रारम्भिक गद्य भाषा का एक सुन्दर उदाहरण है।

२—अमृत-लहरी १९९९ ई०, उक्त पंडितराज के यमुनास्त्रोत' का सफल भावानुवाद।''''

३—बेकन-विचार-रत्नावली— १८९९ ई० में लिखित और १९०१ ई० मे प्रकाशित, अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध लेखक बेकन' के निबन्धों का अनुवाद।

४—शिक्षा— १९०६ ई०, प्रसिद्ध तत्ववेत्ता 'हर्बर्ट स्पेन्सर' की 'एज्यूकेशन' नामक पुस्तक का अनुवाद।

५—स्वाधीनता— १९०७ ई०, 'जान स्टुअर्ट मिल' के 'आन लिबर्टी' निबन्ध का अनुवाद।

६—जल चिकित्सा— १९०७ ई०, जर्मन लेखक 'लुई कोने' की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद।

७—हिन्दी-महाभारत— १९१८ ई०, संस्कृत महाभारत की कथा का हिन्दी रूपान्तर।

८—रघुवंश— १९१२ ई०, 'कालिदास' के 'रघुवश' महाकाव्य का हिन्दी गद्य में भावार्थ बोधक अनुवाद

९—वेणी-संहार— १९१३ ई०, संस्कृत कवि 'भट्टनारायण' के 'वेणी संहार' नाटक का आख्यायिका के रूप में अनुवाद।

१०—कुमार-सम्भव— १९ ५ ई०, 'कालिदास' के 'कुमार संभव' का गद्यात्मक अनुवाद।

११—मेघदूत— १९१७ ई०, कालिदास के 'मेघदूतम्' का गद्यात्मक अनुवाद।

१२—किरातार्जुनीय— १९१७ ई०, 'भारवि' के 'किरातार्जुनीयम्' का गद्यानुवाद।

उपर्युक्त उत्तम और लोकप्रिय काव्यों के गद्यानुवादों का उद्देश्य था—तिलस्मी, जासूसी और ऐय्यारी आदि उपन्यासों के कुप्रभाव को रोकना और आख्यायिका-रूप में सुन्दर पठनीय सामग्री देकर हिन्दी पाठकों की पतनोन्मुख रुचि का परिष्कार करना। ये अनुवाद संस्कृत न जानने वाले हिन्दी पाठकों को कालिदास, भारवि, भट्टनारायण आदि महा कवियों की रचना, विचार परम्परा और वर्णन वैचित्र्य के साथ ही साथ भारत की प्राचीन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था से भी परिचित कराते हैं। ये मनोरंजक भी हैं और ज्ञानप्रद भी।

१३—प्राचीन पण्डित और कवि— १९१८ ई०, अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर भवभूति आदि प्रचीन कवियों और पंडितों का परिचय।

१४—आख्यायिका-सप्तक— १९२७ ई०, अन्य भाषाओं की आख्यायिकाओं की छाया लेकर लिखित सात आख्यायिकाओं का संग्रह।

मौलिक

१—तरुणोपदेश— १८९४ ई०, अप्रकाशित और दौलतपुर में रक्षित कामशास्त्र पर उपदेशात्मक ग्रंथ।

२—हिन्दी शिक्षावली— तृतीय भाग की समालोचना, १८९९ ई०।

३—नैषधचरित चर्चा— १९०० ई०, श्रीहर्ष लिखित 'नैषधीय चरितम्' नामक संस्कृत काव्य की परिचयात्मक आलोचना।

४—हिन्दी-कालिदास की आलोचना— १९०१ ई०, लाला सीताराम कृत 'कुमार संभव भाषा' 'मेघदूत भाषा' और 'रघुवंश भाषा' की तीखी समालोचना।

५—वैज्ञानिक कोष— १९०१ ई०[1]

६—नाट्यशास्त्र— १९०३ में लिखित किन्तु १९१० में प्रकाशित पुस्तिका।

७—विक्रमांक देव चरितम् चर्चा— १९०७ ई०, संस्कृत-कवि बिल्हण के 'विक्रमांक देव चरितम्' की परिचयात्मक आलोचना।

८—हिन्दी भाषा की उत्पत्ति— १९०७ ई०।

९—सम्पत्तिशास्त्र— १९०७ ई०। इस ग्रन्थ में संपत्ति के स्वरूप, वृद्धि विनिमय, वितरण और उपयोग एवं व्यावसायिक बातों, खासकर बैंकिंग, बीमा, व्यापार कर तथा देशान्तर गमन की विस्तृत व्याख्या और समीक्षा की है।

---

[1] इसी कोष के सम्पादन के कारण बाबू श्यामसुन्दर दास से द्विवेदीजी का बिगाड़ हो गया था। द्विवेदीजी ने इसमें बहुत कार्य किया था, पर बाबू साहब के अकेले नाम से यह छपा, तब द्विवेदीजी का कुपित होना ही था।

१०—कौटिल्य कुठार– १९०७ ई०, अप्रकाशित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कला भवन में रक्षित।[1]

११—कालिदास की निरंकुशता– १९११ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित।

बालोपयोगी तथा स्कूली रीडरे

१२—हिन्दी की पहली किताब– १९११ ई०

१३—लोअर प्रायमरी रीडर

१४—अपर प्राइमरी रीडर

१५—शिक्षा सरोज

१६—बाल बोध या वर्ण बोध

१७—जिला कानपुर का भूगोल

१८—अवध के किसानो की बर्बादी

१९—वनिता-विलास– १९१८ ई०, सरस्वती मे प्रकाशित विदेशी और भारतीय नारियों के जीवन-चरितों का संग्रह।

२०—औद्योगिकी– १९२० ई० सरस्वती में प्रकाशित साहित्यिक लेखों का संग्रह।

२१—रसज्ञरंजन– १९२० ई०, सरस्वती मे प्रकाशित साहित्यिक लेखों का संग्रह। इस संग्रह का दूसरा लेख श्रीयुत विद्यानाथ (कामताप्रसाद गुरु) का है।

२२—कालिदास और उनकी कविता– १९२० ई०, सरस्वती में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२३—सुकवि-संकीर्तन– १९२२ सरस्वती में प्रकाशित कवियों और विद्वानों के जीवन चरित।

२४—तेरहवें हिन्दी सहित्य सम्मेलन (कानपुर अधिवेशन) के स्वागताध्यक्ष का भाषण १९२३ ई०।

२५—अतीत-स्मृति– १९२३–२४ ई०, सरस्वती में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२६—साहित्य-संदर्भ– १९२४ ई० ,, ,, ,,

२७—अद्भुत-आलाप– ,, ,, ,, ,,

२८—महिला-मोद– १९२५ ई० स्त्रियोपयोगी लेखों का संग्रह।

२९—आध्यात्मिकी– १९२३ ई० सरस्वती में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

३०—वैचित्र्य-चित्रण– ,, ,, ,,

३१—साहित्यालाप– ,, ,, ,,

३२—विज्ञ-विनोद– ,, ,, ,,

३३—कोविद-कीर्तन– १९२७ ई०, सरस्वती में प्रकाशित विद्वानों के संक्षिप्त जीवन चरितों का संग्रह।

३४—विदेशी विद्वान– १९२७ ई०, सरस्वती में प्रकाशित विदेशी विद्वानों के संक्षिप्त जीवन चरितों का संग्रह।

१ सभा से बिगाड होने पर तथा सभा के मंत्री द्वारा जवाब तलब किये जाने पर ७५ पृष्ठो

३५—प्राचीन चिन्ह– सरस्वती मे प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

३६—चरित चर्चा– १९२७ ई०, सरस्वती में प्रकाशित जीवन चरितों का संग्रह ।

३७—पुरावृत्त– ,, ,, ,,

३८—दृश्यदर्शन– १९२८ ई० ,, ,, ,,

३९—आलोचनांजलि– ,, ,, ,,

४०—समालोचना समुच्चय– ,, ,, ,,

४१—लेखांजलि– ,, ,, ,,

४२—चरित-चित्रण– १९२९ ई० ,, ,, ,,

४३—पुरातत्व प्रसंग– ,, ,, ,,

४४—साहित्य सीकर– ,, ,, ,,

४५—विज्ञान-वार्ता– ,, ,, ,,

४६—वाग्विलास– ,, ,, ,,

४७—संकलन– १९३१ ई० ,, ,, ,,

४८—विचार-विमर्श– ,, ,, ,,

४९—आत्मनिवेदन– १९३३ ई०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किये गये अभिनन्दन के अवसर पर दिया गया भाषण ।

५०—भाषण– १९३३ ई०, प्रयाग में आयोजित द्विवेदी मेले के अवसर पर ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदीजी की समस्त छोटी-बड़ी रचनाओं (पद्य-गद्य) की कुल संख्या ८१ है । यद्यपि साहित्य में गणना की अपेक्षा गुण का प्रभाव ही अधिक मान्य है, फिर भी यह लगभग बीस हजार पृष्ठों को काला कोई आसान खेल नहीं है । यह किसी महावीरी शक्ति द्वारा ही सम्भव था ।

द्विवेदीजी की कृतियो का विहगावलोकन करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :—

अ–द्विवेदीजी ने पद्य की अपेक्षा गद्य-साहित्य ही अधिक रचा है ।

ब–सरस्वती में समय समय पर लिखे गये गंभीर लेखों, चरित्रों, निबन्धों, टिप्पणियों आदि का संग्रह ही उनके गद्य-साहित्य का अधिकांश कलेवर घेर लेता है ।

स–द्विवेदीजी का ध्यान सदैव इस बात की ओर लगा रहा है कि हिन्दी पाठकों को सुरुचिपूर्ण विविध प्रकार की सामग्री दी जाये ।

द–खड़ीबोली पद्य और गद्य दोनों में विभिन्न शैलियों का निर्माण हो ।

य–जीवन का समस्त स्वर हिन्दी खड़ी बोली के माध्यम से मुखरित हो । यह खड़ीबोली न रहकर ऐसी गति से चले कि इसमें विश्व साहित्य का सारा ज्ञानविज्ञान समाहित हो जाय ।

जैसा कि हमारे विषय से ही ज्ञात है, हमारे शोध-प्रबन्ध की एक बँधी हुई सीमा है । सन १९०० ई० से १९२० ई० तक की कविता का समग्र आकलन करना ही हमारा अभीष्ट है इसलिए हम द्विवेदीजी की समस्त कृतियो का न प्रस्तुत करके केवल उन्हीं पर विचार

करेंगे जो उपर्युक्त युग से सम्बद्ध हैं। हां, यह दूसरी बात है कि शैलीकार द्विवेदी अथवा युग निर्माता आचार्य के विवेचन में हम उनकी परवर्ती और पूर्ववर्ती रचनाओं का प्रासंगिक उल्लेख करेंगे।

इस प्रकार आलोच्य काल से द्विवेदीजी की निम्नलिखित काव्यकृतियां ही सम्बद्ध हैं :—

मौलिक १—नागरी-सन् १९०० ई०
२—काव्य मंजूषा—१९०३ ई०
३—कान्यकुब्ज अबला-विलाप—१९२० ई०
४—सुमन-१९२३ ई०[1]
५—कविता कलाप—१९०९ ई०
६—द्विवेदी काव्य माला[2]—१९४० ई०

और

अनूदित १—सोहागरात—१९०० ई०
२—कुमारसम्भवसार—१९०२ ई०

यदि सुमन, द्विवेदी काव्य माला और सोहागरात को भी अलग कर दें तो हमारे सामने केवल पांच रचनायें रह जाती है। इन्हीं के परीक्षण, विवेचन और अध्ययन से हमें द्विवेदीजी के कवि की प्रतिभा, ज्ञान, अध्ययन, अभ्यास एवं प्रयास का सहज ही आभास मिल जायगा।[3]

सम्पादक के रूप में उनका प्रभाव

जनवरी सन् १९०३ ई० से द्विवेदीजी सरस्वती के सम्पादक नियुक्त हुए। प्रथम अंक से ही पत्रिका पर उनकी छाप दिखाई देने लगी। संपादक द्विवेदी के सामने मुख्यत: निम्नलिखित कठिनाइयाँ थीं—

(१) विभिन्न विषयों पर अच्छे ढंग से लिखने वाले हिन्दी लेखकों की कमी।
(२) हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में (तब तक) किसी सुनियोजित आदर्श पत्र का न होना तथा पत्रकारिता में 'कोड' का अभाव।
(३) हिन्दी भाषी जनता में पत्र-पत्रिकाओं के प्रति रुचि जागृत करना।
(४) खड़ीबोली हिन्दी गद्य को व्यावहारिक रूप देना, उसे व्याकरणसम्मत बनाना तथा उसमे अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता भरना।
(५) अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला और मराठी साहित्यिक कृतियों और उनके पत्र पत्रिकाओं की अच्छी बातों का हिन्दी में सरल अनुवाद प्रस्तुत करना।

---

१. सुमन कोई स्वतंत्र नवीन रचना नहीं है बल्कि वह काव्यमंजूषा का ही संशोधित संस्करण है।
२ 'द्विवेदी काव्य माला' का प्रकाशन १९४० ई० है जो हमारे प्रबन्ध के बाहर का समय है, पर इस कृति की अधिकांश रचनायें द्विवेदी युग की ही हैं।
३ सोहागरात पुस्तक अभी भी अप्रकाशित ही है

(६ विदेशों में होने वाली वैज्ञानिक खोजों नये परिवर्तनों तथा ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र की अन्य महत्वपूर्ण सामग्री को हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ बनाना।

(७) देश में चलने वाली सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक चेतना तथा हलचलों के प्रति जनता को जागरूक रखना।

(८) हिन्दी में प्रकाशित होने वाले अस्वस्थ साहित्य की कड़ी टीकाटिप्पणी एवं उसकी रोक-थाम करना और अच्छी कृतियों को समालोचना द्वारा प्रोत्साहित करना।

(९) खड़ीबोली काव्य को नवीन शैली, नए विचार, प्रांजल भाषा और विभिन्न छंद प्रदान करके उसे संक्रमण से बचाना।

(१०) पाठकों को कला-साहित्य और राजनीतिक भावना से सदा स्पन्दित करना आदि।

इन कठिनाइयों की 'सुरसा' से महावीर किंचित विचलित नहीं हुए। उन्होंने इन पर विजय प्राप्त करने के विचार से स्वयं के लिए चार आदर्श नियत किए, क्योंकि उन्हें यह भली भाँति ज्ञात था कि दूसरों को साधने से पूर्व स्वयं को सिद्ध करना अनिवार्य है। अस्तु, उन्होंने तय किया—

अ— सरस्वती मे सदैव समय का पालन होगा। अर्थात् वह निश्चित तिथि को अवश्य प्रकाशित होगी, चाहे सम्पादक को इसके लिए किसी भी कठिनाई का सामना क्यों न करना पड़े।

ब— जैसे भी होगा, 'सरस्वती' के प्रकाशक-मालिकों का विश्वास अर्जित करना होगा क्योंकि बिना उसके सारी योजना ठप हो जायगी। द्विवेदीजी जानते थे कि मालिकों के पूर्ण सहयोग के बिना सरस्वती उनकी इच्छानुसार प्रकाशित नहीं हो सकती। और मालिको का पूर्ण सहयोग तभी प्राप्त होगा, जब उन्हें सम्पादक में सोलह आने विश्वास हो।

स— अपने हानि-लाभ की चिन्ता न करके पत्रिका के पाठकों के लाभ को वरीयता देना। उनकी रुचि का विशेष ध्यान रखना। यह इसलिए आवश्यक था कि जब तक पाठकों की संख्या नहीं बढ़ेगी तब तक पत्रिका की आमदनी नहीं बढ़ेगी और आमदनी के अभाव में हानि उठाकर कोई मालिक अधिक दिन तक उसे नहीं चला सकता।

द— चौथी बात थी न्याय और सम्पादक के व्यक्तित्व की दृढ़ता की। उन्होंने निश्चय किया कि कभी भी किसी प्रलोभनवश सम्पादक की कुर्सी का अनादर नही होने देंगे। अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहने का विवेक नहीं छोड़ेंगे। 'नीर-क्षीर-विवेक' की भीष्म प्रतिज्ञा लेकर वे आगे बढ़े। ईश्वर ने उन्हें सफलता दी।

द्विवेदीजी ने पत्रिका को समय पर निकालने के लिए कठिन परिश्रम एवं अनवरत शोधन द्वारा छः महीने की एडवांस सामग्री तैयार की। फिर प्रति माह एक महीने के लिए सामग्री तैयार करते रहे। इसलिए पत्रिका के विलम्ब से निकलने का कभी प्रश्न ही नहीं उठा। जब कभी वे छुट्टी पर गए या बीमार पड़े, तब भी उनकी उस एडवांस सामग्री से सहायता मिली। इससे पाठक एवं प्रकाशक दोनों खुश हुए। बाबू चिन्तामणि घोष ने स्वयं कहा था कि हिन्दुस्तानी सम्पादकों में मैंने केवल दो ही व्यक्ति ऐसे देखे हैं जो समय के पाबन्द और कर्तव्य

पालन के विषय में दृढ़प्रतिज्ञ है।[1] वे दोनों व्यक्ति थे—रामानन्द बाबू और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। इस प्रकार हम देखते है कि द्विवेदीजी मालिकों के विश्वासपात्र ही नहीं आदर-पात्र भी बन गए।

सम्पादक द्विवेदी के चरित्र की दृढ़ता के एक दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा। एक बार एक सज्जन ने द्विवेदीजी के पास शक्कर की कुछ थैलियाँ भेजीं। वे इस बहाने द्विवेदीजी से अपने बारे में कुछ लिखाना चाहते थे अथवा अपना चित्र सरस्वती में छपाना चाहते थे। द्विवेदीजी ने उनकी थैलियाँ उन्हें वापिस कर दीं और कहा, "सरस्वती इस प्रकार किसी के व्यापार की साधक नहीं बन सकती।"[2] इस प्रकार समय समय पर स्वार्थी लोग द्विवेदीजी के पास अनेक पत्र भेजते, जिसमें तरह-तरह के प्रलोभन रहते, पर द्विवेदीजी बज्र की तरह दृढ़ रहे। लोगों की घड़ियों, रेशमी दुपट्टों, ऊनी शालों और सूती धोती जोड़ों को देने की उदारता को उन्होंने सहज ही अस्वीकार कर दिया। इससे नाराज होकर कई लोगों ने धमकी भरे पत्र भी भी भेजे, पर इनसे सम्पादकजी विचलित न हुए। उन पर मानों इस व्यंग्य का कोई प्रभाव ही न पड़ा।

अपने सम्पादन में उन्हें इतना दृढ़ विश्वास था कि एक बार एक पी-एच० डी० लेखक महोदय ने द्विवेदीजी के पास अपना एक लेख भेजा और उस लेख से संलग्न एक पत्र भी था। पत्र में लेखक ने लिखा था कि लेख को सम्पादित करते समय उसमें कोई उर्दू-शब्द न जोड़ा जाय। द्विवेदीजी ने उस लेख को लौटाते हुए उन्हें उत्तर दिया, "सम्पादन के सम्बन्ध में मैं किसी प्रकार की कोई शर्त स्वीकार नहीं करता।"[3]

अपने सम्पादन काल मे वे सदैव व्यवस्था एवं शुद्धता के पक्षपाती रहे। पुस्तक, कलम जो वस्तु जहाँ रखते, वे चाहते कि वह वहीं रहे। कोई उसे वहाँ से न हटाये। यदि अति आवश्यकतावश कोई उसे उठाये ही, तो पुनः वहीं उसी तरह रख दे। पुस्तक पर कहीं स्याही, पेंसिल आदि के निशान लगाने के वे विरुद्ध थे। वे कार्य को समय से पूर्व करने के हिमायती थे। वे पत्र-व्यवहार में भी परम पटु थे। आवश्यक पत्रों के उत्तर तत्काल दे देते थे। रचनाओं के सम्बन्ध मे भी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति की सूचना लेखकों एवं कवियों को ठीक समय से भेज देते थे। अनावश्यक पत्रों एवं रद्दी रचनाओं पर मौन साध लेते थे। हाँ, टिकट पाते ही उसे लौटती डाक से भेज देते थे।

सम्पादक द्विवेदी बड़े ही गुणग्राही थे। सरस्वती के माध्यम से उन्होने अनेक लेखक और कवि पैदा किये। जहाँ कहीं किसी में प्रतिभा की झलक मिली, उसे अपनी ओर खींचा। हिन्दी-सेवा के क्षेत्र में वे अकेले नहीं थे। उन्होंने एक विशाल सेना खड़ी कर दी, जिसने आगे चलकर उन्हीं के आदर्शों पर हिन्दी का मार्ग प्रशस्त किया।

खड़ीबोली कविता के विकास और गद्य के उन्नयन में वे दिन रात लगे रहते थे। जहाँ

---

१. सरस्वती १९२८ ई०, खंड २, पृ० २८२।
२ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ ५४०।
३ दयीदत्त शुक्ल अभिनन्दन ग्रंथ पृ० ५४०

कहीं उन्हें अव्यवस्था या असंगति नजर आती थी, तो वे फौरन उस पर तीखे से तीखे शब्दों का प्रहार करते थे। कभी-कभी इन कार्यों से उन्हें झंझट में भी फँसना पड़ता था। उदाहरण के लिए नागरी प्रचारिणी सभा से द्विवेदीजी के बिगाड़ की घटना देखी जा सकती है। द्विवेदीजी ने सभा के विरुद्ध लेख लिखा, यद्यपि उनका उद्देश्य सभा के कार्यों में सुधार मात्र था, फिर भी सभा के तत्कालीन मन्त्री ने उन्हें जो पत्र लिखा था, उससे सभा के अधिकारियों के रुख का पता चलता है—"तुमने कई दफे सभा के खिलाफ लेख लिखे हैं। तुम कई दफे पब्लिक के सामने गए हो। यह बात विधि-विरुद्ध है--जाब्ते के खिलाफ है। इस दशा में तुम सभा के मेम्बर नहीं रह सकते बतलाओ, क्यों न तुम निकाले जाव।"[1]

इसी प्रकार 'आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त, बुलन्दशहर' के मन्त्री श्री मदन मोहन सेठ एम० ए० ने द्विवेदीजी की एक आलोचना से अप्रसन्न होकर उनके खिलाफ एक सर्कुलर निकाला था, जिसका संक्षिप्त रूप यह है—"आर्य ग्रंथकारों से सविनय निवेदन है कि वे अपनी लिखी हुई पुस्तकों को सरस्वती-सम्पादक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के पास समालोचनाथ कदापि न भेजा करें।......अभी हाल में आपने एक पुस्तक की समालोचना करते हुए श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती के गुरु महर्षि विरजानन्दजी प्रज्ञाचक्षु के ऊपर गंदे शब्दों की बौछाड़ करके अपनी महावीरता का प्रचंड परिचय दे डाला है।"[2]

परन्तु द्विवेदीजी इन सबसे अविचलित रहे। उन्हें तो यह संस्कृत श्लोक प्रिय रहा—

अद्यापि दुर्निवारं स्तुतिकन्या बहित कौमारम्।
सद्भ्यो न रोचते सा सन्तोऽप्यस्यै न रोचन्ते॥

स्वावलम्बन और कार्य-कुशलता द्विवेदीजी की रग-रग में भरे हुए थे। सरल, सुबोध लेखन-शैली, निर्भीक सत्यप्रीति और तेजस्विता किसी भी सम्पादक के लिए गर्व एवं गौरव की वस्तु है। उनकी बहुदर्शिता और मर्मज्ञता कार्यदक्षता के साथ मिलकर एक त्रिवेणी संगम बनाते थे, जिसकी छबि न्यारी है। हिन्दी पत्रों एवं पत्रिकाओं में आज जो विविधता, रोचकता व्यवस्था और निखार है, वह द्विवेदीजी की देन है। परन्तु हमारे आज के सम्पादक समस्त साधनों एवं सुविधाओं के बावजूद सरस्वती की कोटि की एक भी पत्रिका निकालने में असमर्थ हैं। जिस सुरुचि एवं सावधानी से द्विवेदीजी ने सरस्वती का प्रवर्तन किया था, उसका आज सर्वथा अभाव है।[3]

द्विवेदीजी के सम्पादनकाल में बंगला को छोड़कर सरस्वती तमाम देशी भाषाओं की पत्रिकाओं में सर्वश्रेष्ठ थी। सम्पादक द्विवेदी एक जागरूक प्रहरी की भाँति अंग्रेजी, मराठी, उर्दू और बंगला आदि की अधिक से अधिक पत्रिकाओं को देखा करते थे। उनसे वे सरस्वती की तुलना करते थे, जहां कोई नई बात दिखती, उससे सरस्वती का अगला अंक सुशोभित हो जाता।

होनहार प्रतिभाशाली लेखकों की खोज में द्विवेदीजी सदैव लगे रहे। उनके प्रोत्साहन एवं सद्व्यवहार से प्रभावित होकर श्री सत्यदेव, भोलादत्त पांडे, पाण्डुरंग खलखोजे और राम-

---

१. वाग्विलास, भट्टी कविता, पृ० २०१।
२. आर्य समाज कोप. वाग्विलास. पृष्ठ २४५।
३ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हिन्दी का सामयिक साहित्य पृष्ठ २३ २४

कुमार खेमका आदि अमेरिका से, श्री सुन्दर लाल, संत निहाल सिंह, जगद्‌विहारी सेठ और कृष्णकुमार माथुर इंगलैंड से प्रेम नारायण शर्मा और वीरसेन सिंह दक्षिणी अमेरिका से तथा बेनी प्रसाद शुक्ल फ्रांस से लेख भेजते रहे।[1]

लगभग १८ वर्षों तक द्विवेदीजी ने पूरी लगन और निष्ठा के साथ अपना कार्य किया। सरस्वती की सेवा को उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया। लेखों की काट-छाँट, संशोधन के साथ वे स्वयं बहुत अधिक सामग्री जुटाते रहे। जिन विषयों पर लेख नहीं मिलता अथवा उपयुक्त लेख नहीं मिलता था, उस पर द्विवेदी जी स्वयं कलम चलाते थे। एक ही नाम की अरुचि को पाठक के हृदय पर न पड़ने देने के विचार से वे कई छद्म नामों से लेख लिखते थे। उदाहरण के लिए कमलाकिशोर त्रिपाठी, कल्लू अल्हइत, गजानन गणेश गर्वखंडे, भुजंग भूषण भट्टाचार्य आदि कल्पित नामों से सरस्वती के कलेवर भरे पड़े हैं।

द्विवेदीजी की सम्पादन-कला की विशेषता थी सरस्वती की विविध विषयक सामग्री की सामंजस्य योजना। द्विवेदीजी के क्षेत्र में आने से पूर्व भी फलक था, तूलिका थी, रंग थे परन्तु चिन्तन न था। द्विवेदीजी ने अपनी शक्तिशाली तूलिका से चित्र ही नहीं खींचा, वरन् उसमें प्राण-प्रतिष्ठा भी कर दी। तभी तो हिन्दी के यशस्वी दैनिक पत्र 'आज के सम्पादक बाबूराव विष्णु पराड़कर ने उनके बारे में लिखा है—'आचार्य द्विवेदीजी के समय की सरस्वती का कोई अंक निकाल देखिये, मालूम होगा कि प्रत्येक लेख, कविता और नोट का स्थान पहले निश्चित कर लिया गया था। बाद में उसी क्रम से मुद्रक के पास भेजे गए। एक भी लेख ऐसा न मिलेगा जो बीच में डाल दिया गया सा मालूम हो। सम्पादक की यह कला बहुत ही कठिन है। और एकाध को ही सिद्ध होनी है। द्विवेदीजी को सिद्ध हुई थी और इसी से सरस्वती का प्रत्येक अंक अपने रचयिता के व्यक्तित्व की घोषणा अपने अंग प्रत्यंग के सामंजस्य से देता है। मैंने अन्य भाषाओं के मासिकों में भी यह विशेषता बहुत कम पाई है और विशेषकर इसी के लिए मैं स्वर्गवासी पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को सम्पादकाचार्य मानता हूँ और उनकी पुण्य स्मृति में यह श्रद्धांजलि अर्पण करता हूं।'[2]

सरस्वती को सर्वांगीण बनाने के प्रयत्न के साथ ही साथ द्विवेदीजी की यह अभिलाषा भी रहती थी कि हिन्दी के अन्य पत्र भी अच्छे निकलें। सस्ती पत्रकारिता के वे बड़े विरोधी थे। भाषा की शुद्धता पर वे इतना ध्यान देते थे कि उनके सम्पादन काल की सरस्वती को उठाकर पढते चले जाइए बीसों पृष्ठों तक कहीं प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी नहीं मिलतीं। कानपुर में रहकर प्रयाग से प्रकाशित होने वाले पत्र के सम्पादक की इतनी पैनी दृष्टि थी कि वहीं से वह सब कुछ नियन्त्रित करता रहता था। पर आज पत्र के कार्यालय में मोटी तनख्वाह पाने वाले सम्पादक अपनी मस्ती में इतने डूबे रहते हैं कि उनकी नाक के नीचे से गलतियाँ ऐसे निकल जाती हैं जैसे जल में मीन

प्रेस से ही 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी' क्रमशः इंगलिश और बंगला में छपते थे। इसलिए सरस्वती को ब्लाक वगैरह भी यथा समय प्राप्त हो जाता था। उन चित्रों को सरस्वती के पाठकों की रुचि के अनुसार वे टिप्पणी देकर सजाते थे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि द्विवेदजी ने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सरस्वती में मिल दिया था। सरस्वती की साधना में वे इतने तल्लीन हो गए कि उनका स्वास्थ्य जाता रहा। वह बलवान विशाल शरीर दिन-रात के परिश्रम से इतना पिस गया कि असमय में ही उन्हें सरस्वती से अवकाश ग्रहण करना पड़ा।

मानव अपूर्ण है और उसकी भावनायें अधूरी। सदैव सचेत एवं पवित्र रहने पर भी उससे ऐसे कार्य जान या अनजान में हो जाते हैं, जिनका धब्बा व्यक्ति में कोर कसर रह गई है की सूचना देता है। द्विवेदीजी भी इसके अपवाद न थे। सारी अच्छाइयों, गुणों और विशेषताओं के विपरीत उनके जीवन में, विशेषतः सम्पादन काल में दो-तीन ऐसी घटनायें घट गई हैं, जिनकी ओर से मुंह नहीं फेरा जा सकता। द्विवेदी जी दूसरे सम्पादकों, लेखकों और कवियों पर अपनी लौह लेखनी की पूरी शक्ति से प्रहार करने में नहीं चूकते थे, यदि उनकी रचनायें द्विवेदीजी की दृष्टि से अस्वस्थ, भद्दी अथवा अव्यवस्थित होती थीं। पर वही द्विवेदी वि० एन० शर्मा की लेखनी की मार से इतने विचलित हो गए कि उन्हे कानूनी नोटिस दे दी। यह सम्पादक द्विवेदी के लिए अनुचित ही कहा जाएगा जैसा कि ऊपर इसी अध्याय में इसका जिक्र किया जा चुका है। इसी प्रकार की एक और बात 'चांद' के तत्कालीन सम्पादक 'रामरख सिह सहगल' के एक पत्र से भी विदित होती है। ऐसा लगता है कि द्विवेदीजी ने गर्व एवं अभिमान में आकर उन्हें कुछ लिखा था। सहगल साहब के निम्नलिखित पत्र से इसका आभास मिलता है—'"'दोनों ही पत्र पढ़ कर बहुत दुःख हुआ। यदि कोई जाहिल ऐसे पत्र लिखता तो कोई बात नहीं थी, किन्तु मुझे दुःख इस बात का है कि आप के पत्र से सदा अनुचित अभिमान और तिरस्कार की बू आती है जो सर्वथा अक्षम्य है।"'आपका लेख चांद में प्रकाशित होने से पत्र का मान बढ़ जायगा यदि आपका यह ख्याल है तो निश्चय ही आपका यह भ्रम है। आप जैसे सुयोग्य विद्वानो के लेख अन्य पत्रिकाओ की शोभा भले ही बढ़ा सकें किन्तु मेरे पत्र के लेखक एक दूसरी ही श्रेणी के हैं और वे बहुत हैं।'[1]

स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने चाँद में छपने के लिए कोई लेख भेजा था, जो स्थान न पा सका। उससे अपना अपमान समझकर द्विवेदीजी ने दर्प पूर्ण पत्र चांद के सम्पादक के नाम भेजा है, जिसके उत्तर में उपर्युक्त पत्र लिखा गया है। किन्तु इतने लम्बे जीवन में इतनी साधना के भीतर यह उनके भव्य ललाट पर एक हल्की काजल की रेखा की भांति है, इन्हें तो माता द्वारा बालक के मुखमण्डल अथवा ललाट पर लगाये गये दिठौने की संज्ञा ही दी जा सकती है।

सम्पादक द्विवेदी ने भाषा के परिष्कार में जैसा काम किया वैसा काम एक भी व्यक्ति ने किसी भी भाषा में न किया होगा। जितना युद्ध उन्होंने अकेले शरीर से किया उतना किसी हिन्दी के महारथी ने न किया होगा। हिन्दी की इतनी अधिक उन्नति (इतने अल्प समय में) का सबसे ाधिक श्रेय उसी महावीर को है। जिस समय उन्होंने लेखनी उठाई थी, उस समय 'हिन्दी'

1 द्विवेदी के पत्र संख्या ४३ नागरी प्रचारिणी सभा कार्यालय काशी

'स्टुपिड हिन्दी' कही जाती थी। क्या आज किसी की हिम्मत है कि वह हिन्दी को इन शब्दों से सम्बोधित कर सके।[1]

सरस्वती के माध्यम से द्विवेदीजी ने हिन्दी का सर्वतोमुखी विकास किया। इसको सभी प्रकार के विषयों से पूरा करने का मार्ग खोल दिया। भारतेन्दु जी ने दरबारी संस्कृति से निकल कर हिन्दी को जनता के साथ खड़ी किया और उसके साहित्य में सामाजिक स्वर भरा, तो द्विवेदी जी ने उसे विश्वालोक में ला खड़ी किया।[2]

सम्पादक द्विवेदी का मातृभाषा-प्रेम गौरव का विषय है। उस समय जो भारतीय विद्वान देशी भाषाओं में कुछ न लिखकर शान के मारे अंग्रेजी में ही साहित्य रचते थे उन पर द्विवेदीजी का कठोर व्यंग्य पठनीय है, 'अपनी माँ को निस्सहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा सुश्रूषा में रत होता है, उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।'[3]

सरस्वती के आसन पर बैठकर द्विवेदीजी ने भाषा-खड़ी बोली को परिकृत एवं परिमार्जित करके उसके रूप की प्रतिष्ठा की। अन्य लेखकों और कवियों के दोषों की तीव्र आलोचना की। सम्पादक पद से सरस्वती के लेखकों की रचनाओं का संशोधन किया और कराया। अपने सम्पादकीय लेखों, पत्रों और भूमिकाओं द्वारा लेखकों को सावधान किया।

द्विवेदीजी की पुस्तक-आलोचना भी द्रष्टव्य है। हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की आलोचना में भाषा-दोष इंगित करते हुए लिखते हैं—

'हिन्दी शिक्षावली
तृतीय भाग
जो
पश्चिमोत्तर देश के हिन्दी पाठशालाओं की दफा
प्राइमरी २ के लिए बनाई गई

यह कर्म प्रधान वाक्य है। इसमे बनाई गई क्रिया का कर्म हिन्दी शिक्षावली माना गया है। यह नितान्त अशुद्ध है। यदि हिन्दी शिक्षावली की क्रिया बनाई गई है, तो तृतीय भाग का अन्वय कहां होगा? कहीं हो ही नहीं सकता। संशोधक महाशयों को समझना चाहिए कि हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग यह एक ही सामासिक शब्द है। अलग अलग लिख देने से इसका समासत्व नहीं जा सकता। क्योंकि यहां हिन्दी शिक्षावली का तृतीय भाग इस अर्थ के अतिरिक्त और अर्थ में आ ही नहीं सकता। समास के अन्त में जो शब्द आता है उसी के लिंग और वचन के अनुसार काम होता है।'[4]

---

१. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृष्ठ २३
२. वही
३. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष पद से किया गया भाषण पृष्ठ २३।

हिन्दी कालिदास की आलोचना का एक अंश भी देखा जा सकता है । इससे सम्पादक द्विवेदी का भाषा पर प्रभाव प्रकट होगा—

'ठंड' के झुन्ड को तो देखिये । शीत और शीतल को अर्धचन्द्र देकर जहां कहीं आवश्यकता पड़ी है प्राय: 'ठन्डे' ही का प्रयोग किया गया है । 'चंचु' अथवा 'चोंच' शब्द नहीं आने पाया । आने पाया है 'टोंट' । 'पलाश' और 'किंशुक' का प्रयोग नहीं हुआ, हुआ है 'टेसू' का । 'पाथर ढेरी', 'वुनुडोर,' 'नेवाड़ी' की मधूरता को तो देखिए ।'[1]

उपर्युक्त अंश से द्विवेदी जी की जिन्दादिली जाहिर होती है । कितने विनोदप्रिय ढंग से भाषा के परिष्कार का प्रयत्न करते है । उनके भाषा और व्याकरण शीर्षक दो लेखों ने हिन्दी-जगत में खलबली पैदा कर दी । यहाँ द्विवेदीजी हिन्दी में अति उर्दूपन को लक्ष्य करके व्यंग्य कर रहे हैं—"ये अरबी फारसी और उर्दू के दास 'सत्य' को 'सत', 'पति' को 'पती', 'अनुभूति' को 'अनुभूती', 'लक्ष्मी' को 'लक्शमी', 'स्त्री' को 'इस्त्री', 'पांच सौ' को 'पान सौ', 'मेष राशि' को 'मेख (खूटा) राशी' लिखकर अपनी जबांदानी साबित करते हैं । यहाँ तक कि अपना नाम लिखने में वे 'नारायण' को 'नरायन', 'प्रसाद' को 'परसाद' और 'गुप्त' को 'गुप्ता' तक लिख डालते है ।[2]

पंडित सुधाकर द्विवेदी की रामकहानी की आलोचना द्विवेदीजी ने इसी दृढ़ता से की है वे उसके सम्बन्ध में सरस्वती में लिखते हैं——

"इस पुस्तक की भाषा न हिन्दी है, न उर्दू है, न गंवारी है । वह इन सबकी खिचड़ी है । किसी की मात्रा कम है, किसी की अधिक । गेहूं, चावल, तिल, उड़द आदि सात धान्य, कोई कम कोई अधिक, सब एक में गड्ड बड्ड कर देने से जैसे सतनजा हो जाता है, वैसे ही इस पुस्तक की भाषा भी कई बोलियों की खिचड़ी है ।[3]

मैथिलीशरण गुप्त ने एक बार क्रोधाष्टक लिखकर द्विवेदीजी के पास सरस्वती में प्रकाशनार्थ भेजा । उसमे पर्याप्त सुधार की जरूरत थी । द्विवेदीजी ने उसे परिश्रम के साथ ठीक किया । जब उसका उचित परिष्कार हो चुका तब उन्होंने गुप्त जी को पत्र लिखा—"हम लोग सिद्ध कवि नहीं । बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं । कुछ लिखकर उसे छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है । आपने क्रोधाष्टक थोड़े ही समय मे लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घण्टे लग गए ।"[4]

इस प्रकार द्विवेदीजी ने अपने युग के लेखकों एवं कवियों की भाषा का सुधार किया । व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियों, विराम चिन्हों, मुहाविरों, जटिलता, शिथिलता, पंडिताऊपन तथा ठठ और अति उर्दू मय आदि दोषों का समाहार किया अनिश्चित प्रयोगों और मनमाने ढग की

लिखावट पर महावीर का एक अंकुश लग गया। आगे चल कर भाषा की सभी शैलियाँ इससे लाभान्वित हुई।

स्वतन्त्र शैलीकार का व्यक्तित्व

जहाँ व्यक्तित्व है, वहाँ शैली भी है। शैली भीतर की आत्मा का बाह्य रूप है।[1] प्रेमचन्दजी के अनुसार व्यक्तित्व बनाया जाता है, स्वयं नहीं बनता। लोकाकांक्षा ही व्यक्ति की महिमा प्रतिष्ठापित करती है। हमारे आचार्य द्विवेदीजी भी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपनी निःस्वार्थ साहित्यिक साधना से उन्होंने जिस वातावरण की सृष्टि की उसके भीतर से लोकाकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ और यही हमारे इतने बड़े आह्लाद का कारण बनी।[2]

"यद्यपि भाषा के रूप का विकास भारतेन्दुजी के समय में ही भलीभाँति हो चुका था, उसकी अभिव्यजनाशक्ति पहले से बहुत बढ़ गई थी, पर उसका शरीर अव्यवस्थित ही पड़ा रह गया। शब्द संघटन और व्याकरण के अनुशासन द्वारा उसे व्यवस्थित करने की आकांक्षा बनी ही रही। यह कार्य द्विवेदीजी ने किया। भाषा की 'अनस्थिरता' दूर की गई और व्याकरण के विधान द्वारा उसे परिष्कृत किया गया। जिस समय द्विवेदीजी हिन्दी-क्षेत्र में अपनी कलम करने वाली कलम लेकर उतरे उस समय कितना वितंडावाद उठ खड़ा हुआ था, इसे हिन्दी गद्य साहित्य का थोड़ा सा इतिहास जानने वाले भी जानते हैं।"[3]

हम देखते हैं कि द्विवेदीजी के सामने खड़ीबोली की सुव्यवस्थित शैली का अभाव था। उस समय सबसे बड़ी उलझन तो यह थी कि सभी अपनी डफली लेकर अपना राग बजा रहे थे। कोई किसी की सुनने वाला नहीं था। ऐसी परिस्थिति में एक ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो किसी के झूठे वर्चस्व को स्वीकार न करे, तथा अपने स्वतन्त्र विचारों से भाषा के क्षेत्र में मार्गदर्शन करे। किन्तु उस अराजकता में ऐसा करना कोई हँसी खेल न था। यह वही कर सकता था जिसमें प्रतिभा का सम्बल हो, विवेक की गहरी दृष्टि हो, जीवन की अखंड ज्योति हो, कार्य के प्रति निष्ठा हो और हो किसी से भी न डरने वाला साहस। संयोग से उस समय महावीर जी मिल गये। इनमे प्रायः वे सभी गुण मौजूद थे। इनका व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही इतना ओजस्वी था कि जो सामने पड़ा, नतमस्तक हुआ और जो अड़ गया वह या तो टूट कर खंड-खंड हो गया अन्यथा बाद में पुनः शरण में आया और अपना अपराध स्वीकार किया।

हाँ, यह सही है कि द्विवेदीजी ने भाषा पर जैसा प्रभाव सिद्ध किया वैसा साहित्य पर नहीं, पर साथ ही आक्षेप करने वालों को यह देखना चाहिए कि उस समय भाषा अपना स्वरूप ही स्थिर करने और सुव्यवस्थित करने में लगी थी, साहित्य की ओर बढ़ने का उतना अवकाश ही नहीं था। द्विवेदीजी तो उस समय हिन्दी-जगत को यह दिखा देना चाहते थे कि हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति कम नहीं है, उससे काम लेने का ढंग आना चाहिए।[4]

---

१. प्रेमचन्द, मूल्यांकन (१) पृ०ठ १९८।

२. वही, पृ० १७८।

३. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी का सामयिक साहित्य पृ० २६

शायर, सिंह, सपूत लीक पर नहीं चलते। वे तो अपनी राह स्वयं बनाते हैं। द्विवेदीजी में तीनों प्रकार के गुण थे। इन्हीं गुणों से समन्वित उनका व्यक्तित्व भी विशाल बन गया। उन्होंने स्वयं नई शैली को जन्म दिया। भाषा की जिस सरलता का आग्रह आज शासन की ओर से उठाया जा रहा है, उसको युग निर्माता द्विवेदीजी ने आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व ही समझ लिया था। भाषा में सरलता का उनका अर्थ था स्वाभाविकता, आडम्बर विहीनता और प्रवाहमयता।

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इस प्रकार स्पष्ट किया है—"पर उनका जोर बराबर इस बात पर रहता था कि कविता बोलचाल की भाषा में होनी चाहिए। बोलचाल से उनका मतलब ठेठ या हिन्दुस्तानी का नहीं था। गद्य की व्यावहारिक भाषा बहुत अधिक गद्यवत् हो गई। पर जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।' —भाषा से विचार अलग नहीं किया जा सकता।"[1]

द्विवेदीजी का व्यक्तित्व इतना आकर्षक एवं सशक्त था कि लगभग २० वर्षों तक वे खडी बोली के पुरस्कर्ता रहे। एक जगह बैठकर वे हिन्दी की सारी गतिविधियों को इस प्रकार नियंत्रित एव मर्यादित करते रहे, जैसे बम्बई में क्षण-क्षण पर बिजली से चलने वाली लोकल ट्रेनों को कण्ट्रोलर नियन्त्रित करता रहता है। इस सम्बन्ध में आचार्य नंददुलारे बाजपेयी का मत भी पठनीय है—उन लेखों पर द्विवेदी कलम की मुहर है और उनके द्वारा २० वर्षों की सम्पादित सरस्वती पर द्विवेदी काल का 'लेबुल' है। द्विवेदीजी के सरस्वती-सम्पादन का इतिहास ऐसे अनेक आन्दोलनों का इतिहास है। वह उनके विकास का इतिहास भी कहा जा सकता है।[2]

द्विवेदीजी के काव्य में नवीन शैली, नई भाषा और नए वेश का आकर्षण अधिक है। उनकी भूमिकाएं खुले शब्दों में घोषित करती हैं कि वे छन्दों के प्रयोग के लिए या भाषा के नमूने दिखाने के लिए किसी संस्कृत काव्य का रूपान्तर कर रहे हैं, या मौलिक पुस्तक लिख रहे हैं।[3]

'बफून' ने शैली को लेखक का व्यक्तित्व माना है।[4] और 'वाल्टर ह्विटमैन' ने उसका समर्थन किया है। किंचित इसी परिभाषा को हमारे यहाँ भी मान्यता प्राप्त है। परन्तु व्यक्तित्व शब्द स्वय बडा भ्रामक है। इस पर पर्याप्त मतभेद है फिर भी लेखक के बाह्य एवं भीतरी सभी गुण दोषों का समन्वित रूप और उसके संस्कार मिलकर व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का निर्माण भी कुछ इसी प्रकार का हुआ था। उनके जीवन की गतिविधियाँ सरल थी, समतल भूमि पर ही चलना उन्हें अभीष्ट था। जीवन को गति देने के विचार से उन्होने परिहास और व्यंग्य शैली का प्रचलन किया।

द्विवेदीजी यह जानते थे कि शैली कोई हो, वाक्य रचना की व्यवस्था, भाषा की शुद्धता

---

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६८२।
२. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ १-२।
३ पण्डित उमेशचन्द्र मिश्र द्विवेदी ।ला भूमिका पृष्ठ ९ १०
4 Style is the man

और प्रयोगों की समीचीनता सर्वत्र आवश्यक है। अज्ञता या कचाई न कोई विशिष्टता कही जा सकती है, न दोष या अशुद्धि कोई नवीन शैली। उनका पक्का विश्वास था कि भाषा जब विचार की गति के रूप में चलती है तब पाठक नए-नए तथ्यों तक पहुंचते हैं और जब वह भाव-संचरण के रूप में चलती है, तब प्रस्तुत तथ्यों के प्रति उनके हृदय में आनन्द, करुणा, ह्रास, क्रोध, इत्यादि जागरित होते हैं। ये दोनों विधान अन्तःकरण के विकास के लिए आवश्यक हैं और भाषा की शक्ति सूचित करते है।[1]

द्विवेदीजी साधारणतः हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी आदि सभी भाषाओं के शब्दों का व्यवहार करते थे, परन्तु स्थान की उपयुक्तता का विचार रखते थे। इसके अतिरिक्त उनका शब्द संग्रह भावानुकूल और व्यवस्थित होता था। उनकी वाक्य रचना भी सीधी और हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप होती थी। छोटे वाक्यों में बल तथा चमत्कार लाते हुए गूढ़ विषयों तक की स्पष्ट अभिव्यंजना द्विवेदीजी के बांये हाथ का खेल था।[2] यहां द्विवेदीजी के गद्य से एक उदाहरण लीजिए।

'शरत्काल है। धरातल पर धूल का नाम नहीं। मार्ग रजोरहित है। नदियों का औद्धत्य जाता रहा, वे कृश हो गई है। सरोवर और सरलतायें में निर्मल जल मे परिपूर्ण है। जलाशयों मे कमल खिल रहे हैं। भूमि भाग कासाँशुकों से शोभित हैं। वनोपवन हरे-हरे लोल पल्लवों से आच्छादित हैं। आकाश स्वच्छ है, कहीं बादल का लेश नहीं। प्रकृति को इस प्रकार प्रफुल्लवदन देखकर एक दफे, रात के समय श्रीकृष्ण को एक दिल्लगी सूझी।"

इस प्रकार अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं। विभिन्न विषयों एवं प्रसंगों के अनुसार उनकी शैली बदल गई है। द्विवेदी जी की देन के सम्बन्ध मे आचार्य नन्ददुलारे जी ने बड़े मार्मिक शब्दों में लिखा है—'परन्तु इन प्रदेशों के निस्सम्पन्न कर्म ब्राह्मण की भांति द्विवेदीजी का शुष्क, सात्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है, जिसमें न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर उदात्त भावों का भी संस्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन हैं। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई, कपास की भाँति नीरस होती हुई भी, गुणप्रद फल देती है। द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कपास की ही खेती की, 'निरस विशद गुणमय फल जासू।'[4]

संक्षेप में द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का यही स्वरूप है। उनको किसी एक रचना विशेष के साथ न तो बांधा जा सकता है, न किसी चमत्कारपूर्ण व्याख्या में उनके शैलीकार के व्यक्तित्व को उलझाया जा सकता है। भाव-प्रकाशन के तीन प्रकार-व्यंगात्मक, आलोचनात्मक और विचारात्मक उनकी शैली में पाये जाते हैं। कभी-कभी एक कृति में तीनों का सुन्दर मेल मिलता है।

द्विवेदी जी की भाषा मे न तो संस्कृत का सामासिक जंगल है और न उर्दू की कला-

---

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी गद्य शैली का विकास की भूमिका, पृष्ठ १५।
२. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, हिन्दी गद्य शैली का विकास पृष्ठ ९८।
३. महावीर प्रसाद द्विवेदी, समालोचना समुच्चय, प्रथम निबन्ध, गोपियों की भगवद्भक्ति।
४ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ ६

बाजियाँ। उनकी भाषा हिन्दी का ठेठ प्रकृति रूप लिए हुए हैं। केवल शब्दों का प्रयोग ही भाष नहीं है। वाक्यों की बनावट ही भाषा का असली रूप है। हिन्दी में नई-नई उद्भावनायें करवे द्विवेदीजी ने हिन्दी की व्यापकता को सार्वमान्य बना दिया है। जो लोग हिन्दी की स्वच्छन्दता के कायल नहीं हैं, उन्हें ठंडे दिल से द्विवेदीजी और पंडित रामचन्द्र शुक्ल की भाषा का मनन करना चाहिए।[1]

हिन्दी समालोचना की शैली पहले से बहुत बदल गई है। पर इसे आगे बढ़ाने वाले द्विवेदी जी हैं।...उनके सामने आकार मुख्य नहीं था, प्रभाव मुख्य था। अपने महान उद्देश्य के सामने उन्होंने बड़े-बड़े सम्प्रदायों, बड़ी-बड़ी संस्थाओं, बड़े-बड़े अधिकारियों और बड़े-बड़े व्यक्तियों की परवाह नहीं की। आघात करने और सहने में वे सचमुच महावीर थे।

साहित्य की महत्ता के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के जो विचार हैं, उनसे उनके प्रखर व्यक्तित्व एवं उत्तेजक शैली का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है-'समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता, वह समाजद्रोही है, वह देश द्रोही है, वह जाति द्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्म-हंता भी है।[2]

ऊपर की पंक्तियों में द्विवेदी जी का जीवन मन्त्र छिपा हुआ है। यह उनके हृदय की भाषा है। इसे पढ़कर ऐसा लगता है कि कोई हमारे कंधे पर सिर रखकर बोल रहा है।

गद्य शैलीकार के निर्माता के रूप में

शैली समीक्षा के मूलतः दो रूप होते हैं—सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक। शैली के सिद्धान्त पक्ष का विचार करते समय हमें क्रमशः इन विषयों की विवेचना करनी आवश्यक है—

(१) शैली के अवयव—शब्द-विन्यास, वाक्य-रचना, प्रघट्टक, मुहावरा और लोकोक्ति, अलंकार-योजना।

(२) शैलीगत गुण—प्रसाद, ओज, माधुर्य, लाक्षणिकता, प्रभावोत्पादकता, विषयाग्रह-पालन।

(३) शैलीगत अव-गुण—व्याकरण, च्युति, क्रमदोष, अस्पष्टता, दुरूहता, अवैध प्रयोग प्रादेशिकता।

(४) रचना शैली—आरम्भ और अंत, क्रम-योजना, विचार-गुम्फन, इति वृत्त कथन, वर्णन पद्धति, भावोद्रेक, परिहास और व्यंग।

शैली के व्यावहारिक पक्ष पर विचार करते समय हमें विषय एवं व्यक्तित्व पर विचार करना होगा। शैली समीक्षा के उक्त विधान पर विभिन्न लेखकों की रचना-प्रणाली में प्राप्त बविधतारतमिक एवं व्यक्तिगत विशेषताओं की छानबीन ही उसका व्यावहारिक पक्ष होगा। कौन लेखक किस प्रकार के शब्दों को अधिक अपनाता है, उसकी वाक्यरचना में क्या अपनापन

. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी का समयकि साहित्य-पृष्ठ २८।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हिन्दी का सामयिक साहित्य पृष्ठ २८

हिन्दी सा० सम्मे० के कानपुर के अधिवेशन के [illegible] से लिया गया [illegible]

दिखाई पड़ता है, वह मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग करता है अथवा नहीं और करता है तो किस अभिप्राय से, उसके अलंकार–योग में क्या वैचित्र्य मिलता है, उसमें शैली के गुणावगुण किस रूप में प्रसरित हैं अथवा उसकी रचना-शैली विचार-पक्ष प्रबल है या भावपक्ष, परिहास अथवा व्यंग्य–इत्यादि बातों का विश्लेषण ही शैली का व्यावहारिक चिन्तन है ।[1]

'सारटर रेसारट्स' के अनुसार लेखक की शैली उसके विचारों का परिधान है। पर 'कार्लाइल' ने इस परिभाषा की आलोचना करते हुए लिखा है कि लेखक शैली को उसके विचारो से पृथक नहीं किया जा सकता––वह उसी का अंग है। अपने परिधान को जब एक लेखक अपनी सुरुचि के अनुसार बदल सकता है तो वह केवल बाह्य उपकरण है–अभिन्न अंग नहीं।[2] कुछ लेखको ने शैली को लेखक की त्वचा कहा है। 'पेटन' ने इस व्याख्या के दोषों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि किसी व्यक्ति की त्वचा से उसके विचारो की जानकारो नहीं प्राप्त हो सकती। उसके इस तर्क में पर्याप्त बल है।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने अपने ग्रंथ साहित्यालोचन में शैली को रचना-चमत्कार का पर्याय माना है। उनका कहना है—'कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।'[3]

शैली के इसी परिवेश में हमें द्विवेदीजी के समस्त गद्य साहित्य को रखकर उस पर विचार करना होगा। जैसा कि सभी जानते हैं, द्विवेदी जी सम्पादक थे और उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब इतिहास पुरातत्व, विज्ञान, अध्यात्म विद्या' सम्पत्तिशास्त्र, शासन पद्धति आदि विषय न तो साहित्य के अंतर्गत ही समझे जाते थे और न इन विषयों के लेख ही प्रकाशित होते थे। जब उन्होंने ऐसे ही कुछ विषयों पर लेख लिखे और लिखवाये तब उनकी विभिन्न शैलियो का प्रचलित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[4]

द्विवेदीजी ने एक विशिष्ट शैली––आलोचनात्मक को जन्म दिया। वही उनकी निजी शैली है। उनकी आलोचनात्मक शैली के हम तीन भेद कर सकते हैं (१) आदेश पूर्ण (२) ओजपूर्ण (३) भावपूर्ण। भाषा की सरलता, मुहावरे दानी और सजीवता की दृष्टि से यही प्रधान शैली मानी जा सकती है। इसमें उर्दू और संस्कृत–दोनों के ही तत्सम एवं तद्भव शब्दों के प्रयोग किए गए हैं। वाक्यों में ओज का पुट है। पर गम्भीरता की झलक भी स्पष्ट है, क्योंकि भाव प्रकाशन के साथ ही साथ शैली विषयानुकूल बनती जाती है। उनकी यह शैली संयत भी है और सजीव भी। इस शैली को प्रधान शैली मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इस शैली के ही दो अन्य रूप विपरीत दिशाओं में प्रवाहित होते हुए नजर आते हैं। वे दोनों रूप हैं—(१) व्यंगात्मक (२) गवेषणात्मक या वर्णनात्मक।[5]

---

१. डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, हिन्दी गद्य-शैली का विकास, पृष्ठ ५-६
२. प्रो० कपिल, मूल्यांकन (१), पृष्ठ १६४।
३. मूल्यांकन, शैली विन्यास और द्विवेदी, पृ० १६५।
४. डा० प्रेमनारायण टंडन, द्विवेदी मीमांसा, पृष्ठ १७३।
५ प्रो० कपिलदेव सिंह शैली विन्यास और द्विवेदी पृ० १५६

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी द्विवेदीजी की शैली के सम्बन्ध में लिखते हैं—"द्विवेदीजी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व अनलंकृत और रुक्ष है। उनकी भाषा में कोई संगीत नही केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण कला से उधार लिया गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदीजी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी-कभी खोखली चली जाती हैं—असर नहीं करतीं, परन्तु वे फिर आती है और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते हैं, और विचारों को पुष्ट करते है। जैसे इस प्रदेश की छोटी लाखोरी ईटें दृढ़ता मे नामी हैं, वैसे ही द्विवेदीजी के छोटे-छोटे वाक्य भी।"[1] जैसे "स्वागत ! स्वागत ! खूब आई ' कहिये क्या हुआ ? कुशल तो है ? व्रज पर कोई विपत्ति तो नहीं आई ? किसलिए रात को यहाँ आगमन हुआ ?"[2]

द्विवेदीजी के गद्य से उनकी स्वाभाविक शैली का नमूना देखने के लिए एक अंश लीजिए—"जो मनुष्य समाज के भय की परवाह न करके अपने मन की बात कह डालने से नहीं हिचकता उसके मानसिक बल और वीरत्व की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। जिस समाज में विचार-स्वातंत्र्य नहीं वह चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता और जिस साहित्य में स्वतन्त्र विचारपूर्ण पुस्तकें नहीं वह कभी उन्नत नहीं हो सकता। हिन्दी के सौभाग्य से इस पुस्तक के लेखको मे विचार स्वातंत्र्य है। यह लेखकों के लिए कम गौरव की बात नहीं।"[3]

ऊपर के उदाहरण में भाषा संवारने अथवा उसे अलंकृत करने का कही कोई प्रयास नही है, किसी प्रकार का आडंबर नहीं है। भाषा स्वतः बहती चली जा रही है इसमें न तो पहाड़ी नदी का उद्दाम वेग है, न तालाब की स्थिरता। यह तो मानों शरद् ऋतु में गंगा की धारा बन बह रही है। व्यक्तित्व का सच्चा रूप इसी में देखा जा सकता है। यहाँ न कोई दुराव है न छिपाव। इसमें कामिनी की रंगीनी भले न हो, पर पत्नी की शालीनता अवश्य है। यही उनकी असली शैली है। इसमें न तो अलंकारों का मोह है, न उक्ति-चमत्कारों का आकर्षण।

हिन्दी भाषा की रीति-नीति के कायल शब्द उनकी भाषा में बराबर प्रयुक्त हुए है, स्वदेशी साचे में ढले हुए विदेशी शब्दों को सभी ने अपनाया है। कुछ लोगों ने विदेशी के बहिष्कार और स्वदेशी के अत्यधिक प्रयोग को ही हिन्दी भाषा का वास्तविक स्वरूप समझा, परन्तु द्विवेदीजी इस मोह जाल में नहीं फँसे। यही कारण है कि उनकी सी सरल भाषा लिखने में हिन्दी के अन्य शैलीकार आज तक सफल नहीं हुए। भाषा का सरल स्वरूप सामने रखने के लिए शब्दों का चुनाव और शब्द संघटन का सरल होना तो अवश्यक है ही, विचार-परम्परा को भी सुलझे हुए रूप में सामने रखना पड़ता है। द्विवेदीजी ने कहीं भी क्लिष्टक और उलझी हुई विचार-परम्परा से अपने लेखों की सरलता नहीं नष्ट की।[4]

उनकी व्यंगात्मक शैली की भाषा एकदम व्यावहारिक होती थी। जिस भाषा में कुछ पढ़ी

---

१. द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ, पृ० ८।

२. समालोचना समुच्चय, हिन्दी नवरत्न, पृ० १९९–२००।

३ महावीर प्रसाद द्विवेदी- समालोचना समुच्य गोपियों की भगवदभक्ति।

४ वि प्रसाद मिश्र हिन्दी का सामयिक साहित्य पृ० २८

लिखी, अंग्रेजी का थोड़ा बहुत ज्ञान रखने वाली, साधारण जनता बातचीत करती है, उसी का प्रयोग इस शैली के अन्तर्गत किया गया। इसकी भाषा मानों चिकोटी काटती चलती थी। इसमें एक प्रकार का मसखरापन भरा रहता था और व्यंग्य भाव भी स्पष्ट समझ में आ जाता था। ऐसे स्थलों पर मुहावरों का व्यवहार कथन को बलिष्ट और व्यंग्य को तीक्ष्ण बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है।[1] द्विवेदीजी की इस शैली का एक नमूना देखिये—

"इस म्युनिसपैलिटी के चेयरमैन (जिसे कुछ लोग कुर्सीमैन भी कहने लगे है) श्रीमान् बूचाशाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखो रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चैयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए है कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखा कर आप रायबहादुर बन जायें और खुशामदियों से आठ पहर चौसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेम्बर है बाबू बख्शिश राय। अपके साले साहब ने फी रुपये तीन-चार पसेरी का भूसा (म्युनिसपैलिटी को) देने का ठीका लिया है। आपका पिछला बिल १० हजार रुपये का था। पर कूड़ा-गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नजर नही आता। सफाई के इंसपेक्टर है लाला सतगुरु दास। आपकी इसपेक्टरी के जमाने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफे हड़ताल कर चुके है। फजूल जमीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके तीन हजार देते थे। परन्तु उन्हे वह टुकड़ा नही मिला। उसके ६ महीने बाद म्युनिसपैलिटी के मेम्बर पं० सत्यदेव सर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही जमीन एक हजार पर बेंच दी गई।"[2]

इस वाक्य समूह से शब्द-शब्द में व्यंग की झलक पाई जाती है। शब्दावली के संचय मे भी कुशलता है क्योंकि उसमें यहाँ विशेष चमत्कार दिखाई पड़ता है। अधिकारियों की पोल इस प्रकार खोली गई है कि कुछ मत पूछिए। यह थी उनकी पत्रकारिता की शक्ति और आज हमारे पत्रकार भ्रष्टाचार, भाई भतीजावाद के विरुद्ध इतनी दृढ़ता से लिखने का साहस नहीं करते। क्यो ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका जवाब नही।

इसके उपरात जब हम उनकी आलोचनात्मक शैली पर विचार करते है तो हमें ज्ञात होता है कि इसी भाषा को कुछ और गम्भीर तथा संयत करके, उसमें से मसखरापन निकाल कर उन्होंने एक सर्वाग नवीन रूप का निर्माण कर लिया था। भाषा का वही स्वरूप और वही मुहावरेदानी है, परन्तु कथन की प्रणाली आलोचनात्मक तथा तथ्यातथ्य-निरूपक होने के कारण गाभीर्य और ओज से पुष्ट हो गई।[3] जैसे—

"किसी-किसी का ख्याल था कि यह भाषा देहली के बाजार ही की बदौलत बनी है। पर यह ख्याल ठीक नहीं। भाषा पहले से ही विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रांत में बोला जाता है। बात सिर्फ यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमे अरबी-फारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिये, जैसे कि आजकल संस्कृत जानने वाले हिन्दी बोलने

---

१. डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा हिन्दी, गद्य-शैली का विकास, पृ० १००।

२ 'म्युनिसपैलिटियों के कारनामे', विचार विमर्श पृ० ३५७

३ डा० जग   ाद शर्मा हिन्दी गद्य शैली का विकास पृ० १०१

में आवश्यकता से अधिक शब्द काम में लाते हैं। उर्दू पश्चिमी हिन्दुस्तान के शहरों की बोली है। जिन मुसलमानों या हिन्दुओं पर फारसी सभ्यता की छाप पड़ गई है, वे अन्यत्र भी, उर्दू ही बोलते हैं। बस और कोई यह भाषा नहीं बोलता। इसमें कोई संदेह नही कि बहुत से फारसी और अरबी के शब्द हिन्दुस्तानी भाषा की सभी शाखाओं में आ गए है। अपढ़ देहातियों ही की बोली में नहीं किन्तु हिन्दी के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा मे अरबी-फारसी के शब्द आते हैं। पर ऐसे शब्दो को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए। वे अब हिन्दुस्तानी, हो गए है और उन्हें छोटे छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तक बोलती है। उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहास्यास्पद बात है जैसी कि हिन्दी से संस्कृत के घन, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश करना है अंग्रेजी में हजारों शब्द ऐसे है जो लैटिन से आए हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है।"[1]

अधिकांश रूप में द्विवेदीजी की यही शैली है। उनकी अधिक रचनाओं एवं आलोचनात्मक लेखों में इसी भाषा का व्यवहार हुआ है। इसमे उर्दू और सस्कृत दोनों के तत्सम शब्द है। इसमें गंभीरता बढ़ गई है। इसमें पहले उदाहरण ऐसी चुलबुलाहट एवं मसखरापन नहीं है। इसी शैली में जब वे उर्दू शब्दो की जगह केवल संस्कृत शब्दों से काम लेते है तब हमें उनकी गवेषणात्मक शैली का आभास मिलता है।[2] परन्तु गवेषणात्मक शैली मे धीरे-धीरे दुरूहता भी आने लगती है। जैसे—

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग है। उनका सम्बन्ध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसीलिए प्रतिभावान पुरुषों मे कभी-कभी विक्षिप्तता के कोई-कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलो मे नही करते। प्रतिभा मे मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते है। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है।"[3]

उपर्युक्त परिचय से स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने विषय के अनुसार शैलियां अपनाई है। सरस्वती में नए विषयों की जानकारी के लिए जो लेख या टिप्पणी लिखी जाती थी उसकी भाषा सरल, बोधगम्य, व्यावहारिक और आत्मीयतापूर्ण होती थी। कभी कभी विरोध, प्रशंसा, मंतव्य अथवा समर्थन सम्बन्धी नोटों में उग्रता, संवेदनशील, आक्षेप निर्भीकता आदि भाव स्पष्ट हो जाते थे जिससे शैली मे तीव्रता, आवेश और वक्रता के भी दर्शन हो जाते थे।

उनकी व्यंगात्मक शैली का रूप कभी-कभी बड़ा ही उग्र एवं आक्रमणकारी हो जाता था। उन्ही की लिखी 'वाग्विलास' पुस्तक मे 'अनुमोदन का अंत' और 'अनस्थिरता' शीर्षक निबंधों को पढकर कटुता और प्रहार देखे जा सकते हैं—'नायिका का नाम गुप्ता सुना गया था, पर अब गुप्ता नायक भी पैदा हो गए हैं। गुप्ता शब्द संस्कृत, हिन्दी, उर्दू आदि सब भाषाओं के व्याकरण

---

१. हिन्दी गद्य-शैली का विकास, पृ० १०२।
२ वही पृ० १०३।
३ महावीर प्रसाद द्विवेदी शीषक निबन्ध से।

से सही है, पर अनस्थिरता नहीं क्यों ? जुबादानों का हुक्म और हुक्म भी कैसा ? 'स्थिर' में अन लग जाय, पर 'स्थिरता' में न लगने पावे ।[1]

यह सब वे खुले दिल और दिमाग से कहते थे । दो सुन लेते थे, चार सुना देते थे । भाषा को इससे बल मिलता था । विचार-विमर्श होते थे । चर्चाएं चलती थीं । इसी बहाने बहुत से लेखक प्रकाश में आते थे। उनके दिल में कहीं चोर नहीं था । खोट का व्यापार तो जानते ही न थे । पाखंड और प्रवंचना से वे कोसों दूर रहे। इसलिए उनकी आलोचनात्मक शैली के व्यंगात्मक पुट को मानवोचित हृदय की विनोदप्रियता ही मानना समीचीन होगा । दूसरे शब्दों में यह व्यंग्य श्लेष तथा विरोधाभासों से समन्वित होकर, उनकी शैली का विशिष्ट अंग बन गया था । उनकी कटुता क्रमशः मिटती गई । उर्दू भाषा की कलाबाजियां और चुलबुलाहट तथा छेड़छाड़ से आक्रान्त इनकी शैली शनैः शनैः मुक्त होती गई ।[2]

द्विवेदीजी की शैली पर कतिपय अन्य विद्वानों के मत भी द्रष्टव्य हैं—

(१)'''अत्याधुनिक काल की आकांक्षाओं की जानकारी के लिए द्विवेदीजी की शैली का मनन ही एक मात्र सहारा है ।' आगे बढ़कर पुनः वे संकेत करते है—'किसी ने विषय को कैसे लिखा है अर्थात् उसकी शैली क्या है जानने से पहले यह जानना जरूरी है कि उसने क्या लिखा है ।'[3]

(२)'''उस शैली में कितना सयम है, कितना प्रसाद है, कितना ओज है, कितना सुलझाव है । उसमें रसिकों का बांकपन नहीं, पंडितों का गाम्भीर्य नही, ज्ञानियों की शुष्कता नहीं—एक सीधे-सादे उदार व्यक्ति की सजीवता है ।'[4]

(३) 'द्विवेदीजी की शैली अनुपम थी । उनके पत्रों मे ही उसके दर्शन होते हैं ।'[5]

काव्य शैली में अन्य लोगों को प्रेरणा देने वाले

द्विवेदीजी साहित्य-जगत के एक नेता थे, युगद्रष्टा थे । समय की मांग का उन्हें ज्ञान था । जनता की नाड़ी भी वे पकड़ना जानते थे । मध्यकाल से चली आई हुई काव्य-परंपरा से भली भांति परिचित थे । अंग्रेजी, संस्कृत, मराठी और बंगला के सशक्त काव्यों का उन्होंने जमकर आलोड़न किया था । इस बात को वे अच्छी तरह जानते थे कि केलि, कछार, कूल, कन्हाई और नवेलिन वाला काव्य अब समाज को उद्बोधन नही दे सकता । बीसवीं शताब्दी के बदले हुए जीवन को नए विधान, नई टेकनिक, ओज पूर्ण भाषा, नई शैली, नये छंद, नवीन विषय, नूतन भाव और शक्तिशाली स्वर की अपेक्षा है ।

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, वाग्विभूति, 'अनस्थिरता' शीर्षक लेख से ।
२. प्रो० कपिलदेव सिंह, मूल्यांकन (१) पृष्ठ १८२ ।
३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मूल्यांकन से उद्धृत (पृष्ठ १६८) ।
४ स्व० प्रेमचन्द वही
५ प०   चतुर्वेदी वही

बस उन्होंने दृढ़ता से एक झटका दिया। जर्जर परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई। काव्य का विषय और स्वरूप-भाषा शैली और छंद दोनों बदल गये। अदम्य उत्साह से उन्होंने खड़ीबोली मे काव्य रचना प्रारंभ की, किन्तु उन्हें अपनी कवि-शक्ति के सम्बन्ध मे भ्रम नही था। वे जानते थे कि उनकी कविता मात्र बानगी का काम देंगी—आदर्श प्रस्तुत करेंगी, समाज की भूख मिटाने के लिए तो नए नए प्रतिभा-सम्पन्न कवियों को खड़ी बोली-काव्य क्षेत्र में लाना होगा। अस्तु, उन्होने एक ओर अपनी लेखनी से नए विषय-नवीन छंद और नूतन भाषा का उदाहरण प्रस्तुत किया और दूसरी ओर कवियो का आह्वान किया—

'कविता का विषय मनोरंजन एवं उपदेश-जनक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वीकयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनंत आकाश, अनत पृथ्वी, अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है। सभी से उपदेश मिल सकता है। और सभी के वर्णन से मनोरंजन मिल सकता है। यदि 'मेघनाद वध'[1] अथवा 'यशवंतराय महाकाव्य'[2] वे नही लिख सकते तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थो को चुनकर उन्ही पर छोटी-छोटी कवितायें करनी चाहिए। कवि को यदि बड़ी न हो सके तो छोटी ही छोटी स्वतन्त्र कविता करनी चाहिए क्योंकि इस प्रकार की कविताओं का हिन्दी में अभाव है।'[3]

सन् १९०० के १९ अक्टूबर के 'श्री वेंकटेश्वर समाचार, बम्बई के अंक में द्विवेदीजी की प्रथम मौलिक खड़ीबोली की कविता प्रकाशित हुई। यह भविष्य की सूचक थी—

'बली बर्द, तुम पशु होने से अविवेकी कहलाते हो,
मद पर भी निज उन्मदता से विजय-बड़ाई पाते हो।
साभिमान धनवान पास भी नहीं विवेक फटकता है,
अहकार-मद में वह अपने चूर सर्वदा रहता है।'[4]

इस प्रथम रचना में ही भाषा और विषय तो बदल गए, पर छंद और रचना-विधान मे वह मनोरजकता नही आई, जो द्विवेदीजी चाहते थे। उसी समय बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'उर्दू' को उत्तर देते हुए उर्दू पद्धति पर निम्नलिखित कविता लिखी—

'न बीबी बहुत जी में घबराइए,
सभलिए ज़रा होश में आइए

कहो क्या पड़ी तुम पै उफ्ताद है
सुनाओ मुझे कैसी फरियाद है।[1]

यह रचना भी उर्दू के हिमायतियों की बौखलाहट के उत्तर स्वरूप लिखी गई थी। यद्यपि इसकी भाषा खड़ीबोली है और इसका भाव स्पष्ट है, किन्तु इसमें विनोद की चुलबुलाहट अधिक है, 'कान्ता सम्मति उपदेश' का अभाव है।

द्विवेदीजी हिन्दी खड़ीबोली को प्रशस्त चौराहे पर रखना चाहते थे। इसलिए उसे उर्दू बहरों से आगे बढ़ाना अनिवार्य था। उन्होंने संस्कृत वृत्तों को स्वयं अपनाया और अन्य कवियो को भी वैसा करने के लिए प्रेरणा दी। वे जानते थे कि संस्कृत-साहित्य अपनी अपार ज्ञान-राशि के लिए जगविख्यात है। संस्कृत-काव्य में प्रयुक्त विभिन्न छन्दो का माधुर्य और ओज उन्हें प्रिय लगा। इस अभिप्राय की सिद्धि के लिए उन्होने कवि कालिदास की सुप्रसिद्ध कृति 'कुमार सम्भवम्' का 'कुमारसभवसार' नामक रूपान्तर प्रस्तुत किया। उसकी कुछ पंक्तियां देखिए—

'बिना याचना के जो कोई स्वयं सलिल ले आता था।
सरस शशी का किरण-जाल जो यथा समय मिल जाता था।।
उसे छोड़कर शैल सुता ने और न कुछ मुख में डाला।
वृक्षों के समान, आकाशी-वृत्ति-व्रत उसने पाला।।'

इस परम्परा को हरिऔध ने ग्रहण किया। उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' सस्कृत वृत्तों में ही लिखा। हां, यह दूसरी बात है कि हरिऔधजी की भाषा आगे चलकर कठिन हो गई और द्विवेदीका यह आग्रह 'कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिससे सब कोई सहज मे समझ लें और अर्थ को हृदयंगम कर सकें।'[2] पूरा होता नहीं दिखा। इसके लिए उन्होने बाबू मैथिलीशरण गुप्त की पीठ ठोंकी और उनसे अपनी इच्छा पूर्ति का सफल प्रयत्न किया। इसका उल्लेख हम आगे करेंगे, पहले हरिऔध की संस्कृत-वृत्त-कविता का उदाहरण देख लें—

'रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्रायकलिका राकेन्द-बिम्बानना।
फूले कंज-समान मंजु-द्रगता थी मत्तता-कारिणी।।'[3]

* * *

'सद्वस्त्रा-सदलंकृता-गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी वृद्धजनोपकार निरता, सच्छास्त्र-चिन्ता-परा।।
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-सम्पोषिका।
राधा थीं सुमना प्रसन्न-बदना स्त्री जाति रत्नोपमा।।'[4]

उपर्युक्त प्रथम दो पंक्तियों में राधा के रूप वर्णन को तीव्रता प्रदान करने की दष्टि से प्रकृति को आलकारिक ढग से प्रस्तुत कराया गया है नीचे की चार पंक्तियों मे रूपवती राधा

को सर्वगुण सम्पन्न लोकहितकारिणी के रूप में चित्रित किया है। यह नए युग के अनुकूल भावना है। नारी अब केवल भोग्या नहीं रही—वह पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर जीवन के दुख-सुख, निर्माण और प्रगति में सहभागिनी बन गई है।

द्विवेदीजी ने तत्कालीन कवियों को एक और 'नुस्खा' दिया—'दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय, सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकें तो इनके अतिरिक्त और भी छंद लिखा करे।'' संस्कृत-काव्यों में प्रयोग किए गए वृत्त में से द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, बसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं जिनका प्रचार हिन्दी में होने से हिन्दी-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी।'' पादान्त में अनुप्रास-हीन छंद भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिए। संस्कृत ही हिन्दी की माता है। संस्कृत का सारा कविता-साहित्य इस तुकान्तवाद के बखेड़े से मुक्त सा है। अतएव इस विषय में यदि हम संस्कृत का अनुकरण करें तो सफलता की पूरी-पूरी आशा है।'[1]

अनुप्रास हीन अतुकान्त छन्दों की रचना हरिऔध जी ने की। उनके 'द्रुतविलंबित' छन्द का एक उदाहरण देखिए—

> 'दिवस का अवसान समीप था,
> गगन था कुछ लोहित हो चला।
> तरु शिखा पर थी अब राजती,
> कमलिनी कुल-वल्लभ की प्रभा॥'[2]

कालान्तर में हरिऔध जी ने वंशस्थ, मन्दाकान्ता, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी और वसंत तिलका आदि का धड़ल्ले से प्रयोग किया। इसी परिपाटी पर पं० रामचरित उपाध्याय भी चले और अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरित चिन्तामणि रचा। रामचरित जी की भाषा हरिऔध से सरल और अलकारों के बोझ से मुक्त है। जैसे—

> 'कुशल से रहना यदि है तुम्हें,
> दनुज तो फिर गर्व न कीजिए।
> शरण में गिरिए रघुनाथ के,
> निबल के बल केवल राम हैं।'[3]

काव्य में इस समय दो प्रवृत्तियाँ प्रचलित हुईं। प्रथम तो संस्कृत वृत्तों के आधार पर रचना करने की परम्परा और दूसरी उर्दू छन्दों के प्रयोग जो भारतेन्दुकाल से चल पड़े थे। उर्दू शैली में प्रमुख लिखने वाले थे 'सनेही', लाल जी, भारतीय आत्मा और हरिऔध। संस्कृत शैली में हरिऔध, श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि।

ऊपर हम देख चुके हैं कि हरिऔध और रामचरित ने छन्द और भाषा के क्षेत्र में परिवर्तन स्वीकार कर लिया है परन्तु उनका वर्णन-विषय वही क्रमशः राधा-कृष्ण और सीता-राम ही

---

१. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ-रंजन, कविकर्तव्य।
२. महाकवि हरिऔध, प्रियप्रवास, प्रथम सर्ग, प्रथम छन्द।
३ पण्डित रामचरित , रामचरित

रहा। यद्यपि युग–प्रवर्तक द्विवेदी जी ने 'बलीवर्द' में सर्वथा नया विषय लिया था, पर उस प कवियों का ध्यान नहीं गया। द्विवेदी जी ने सन् १९०५ ई० के सरस्वती के फरवरी अंक मे पुनः निवेदन किया—

'इंगलिश का ग्रंथ-समूह बहुत भारी है।
अति बिस्तृत-जलधि समान देह धारी है।।
संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है।
उसका भी ज्ञानागार हृदय हारी है।।
इन दोनों में से अर्थ-रत्न ले लीजै।
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेम युत कीजै।।
वह माता-सम सब भाँति स्नेह अधिकारी।
इतनी ही विनती आज विनम्र हमारी।।'[1]

द्विवेदी जी इस प्रकार समय-समय पर सरस्वती के माध्यम से अपनी रचनाओं द्वारा कवियों को इंगित करते रहे। आवश्यकता पड़ने पर कविता के उदाहरण भी प्रस्तुत करते रहे। आगे चलकर फल यह निकला कि इस युग में कवियों की एक अच्छी टोली तैयार हो गई। उस कवि वर्ग ने जीवन के विभिन्न स्रोतो से काव्य की प्रेरणा ली। उस युग की सारी काव्य-राशि को हम मोटे तौर पर चार धाराओं में विभक्त पाते है–(१) मानवीय अथवा आख्यान प्रधान (२) सामाजिक (३) राष्ट्रीय और (४) प्राकृतिक[2] आदि।

युग-निर्माता द्विवेदी जी

'आचार्य द्विवेदी वस्तुतः आचार्य थे। आचार्य का कार्य मार्ग प्रदर्शन होता है। साहित्य मे जितने आचार्य होते हैं, वे शुद्ध साहित्य का अधिक निर्माण नहीं करते–रीति की प्रतिष्ठा करते है। सस्कृत के अभिनव गुप्त पादाचार्य, मम्मटाचार्य, आदि ने रीति की स्थापना में जितना श्रम किया, काव्य निर्माण में उतना नहीं। द्विवेदीजी ने हिन्दी में भी रीति की प्रस्थापना का ही कार्य किया, साहित्य निर्माण करने वाले तो दूसरे थे; जिन्हें उन्होंने लेखक और कवि बना दिया। इसलिए यदि द्विवेदी की मौलिक रचनाओं की खोज में कोई हैरान होकर यह मालूम करना चाहे कि उन्होने क्या लिखा तो वह बड़े धोखे में रहेगा।'[3]

द्विवेदीजी जन्मजात नेता थे। मन-वाणी और कर्म से वे सदैव हिन्दी के विकास में दत्तचित्त रहे। नवीन परिवर्तन लाने की प्रवृत्ति उनमें पग-पग पर पायी जाती है। कविता के 'रूप' और 'रग' दोनों में उन्होंने युगान्तर उपस्थित किया। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, उन्होंने लिखा कम (कविता), किन्तु लिखाया अधिक। इसे भी हम उनकी सफलता मानते है, पर कवि की नहीं नेता की।[4]

---

१. सरस्वती, १९०५ ई० फरवरी अंक।
२. रामचन्द्र मिश्र, श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व-स्वच्छन्दतावादी, काव्य १५७।
३ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी का सामयिक साहित्य पृष्ठ २४।
४ प० उमेशचन्द्र मिश्र द्विवेदी काव्य माला पृष्ठ ७ भूमिका।

बीसवीं शताब्दी के दो दशक, जिन पर आचार्य श्री की विशेष छाप है, भारतीय इतिहास मे पर्याप्त महत्व रखते है। 'बंगभंग' की सुप्रसिद्ध घटना इसी काल में घटित हुई थी, जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन में अपूर्व एकता एवं उत्साह का संचार किया। इसी काल में लोकमान्य तिलक ने स्वातंत्र्य आन्दोलन के संचालन का भार पूज्य बापू के कंधों पर डाला और इसी समय संयोग से विश्व का प्रथम महायुद्ध छिड़ा। इन समस्त परिस्थितियों का द्विवेदीजी की गति-विधियों पर प्रभाव पड़ा। राष्ट्रीयता की प्रबल भावना ने राष्ट्र भाषा की उपयोगिता को बढ़ा दिया। हिन्दी मध्य देश के बहुमत की भाषा होने के कारण निर्विवाद इस पद की अधिकारिणी हुई। तब इसके कर्णधारों को इसकी चतुर्मुखी उन्नति की चिन्ता क्यों न हो? साहित्य की विभिन्न विधाओं की श्रीवृद्धि की महती जिम्मेदारी हिन्दी साहित्यकों पर आ पड़ी। सरस्वती उस समय समस्त राष्ट्रीय चेतना की दूती थी। द्विवेदीजी उसके कर्णधार रहे। अस्तु, उन्हें साहित्यिक नेता का भार उठाना ही पड़ा। कर्त्तव्यपालन में उन्होंने पूरी योग्यता एवं सम्पूर्ण क्षमता का परिचय दिया। समय-समय पर अपने निवेदन, प्रार्थना, फटकार तथा आदेश युक्त वाणी से उन्होंने कार्य लिया। साहित्यिक पैंतरेबाजी और तिकड़म के वे घोर विरोधी थे। इसीलिए नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन का अन्त हुआ और बाबू श्यामसुन्दरदास से इनका बिगाड़ हुआ।

नेता का नेतृत्व तभी कायम रह सकता है, जब वह स्वयं पर नियंत्रण रखे और अवसर पड़ने पर दूसरों के लिए त्याग करे। द्विवेदीजी में ये दोनों गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। उन्होंने उज्ज्वल चरित्र का आदर्श रखा और बुढ़ापे में अपनी सारी चल और अचल सम्पत्ति दान कर दी। भारतीय परम्परा के अनुसार उन्होने चौथे पन में प्रवेश करते ही पद, पैसा और प्रपञ्च से मुक्ति ले ली। यहाँ उनका नेतृत्व पुनः विजयी हुआ।

सन् १९३३ ई० में द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन के समय ही आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने अत्यन्त विश्वास के साथ कहा था—"जो कुछ कार्य द्विवेदीजी ने किया, वह अनुवाद का हो, काव्य रचना का हो, अथवा भाषा संस्कार का हो या केवल साहित्यिक नेतृत्व का ही हो, वह स्थायी महत्व का हो या अस्थाई; हिन्दी में युग-विशेष के परिवर्तन और निर्माण में सहायक हुआ है। उसका ऐतिहासिक महत्व है। उसी के आधार पर नवीन युग का साहित्यिक प्रासाद खड़ा किया जा सकता है।"[1]

द्विवेदीजी ने सरस्वती का सम्पादन वैसे तो दिसम्बर सन् १९२० तक किया, किन्तु जुलाई सन् १९२० से द्विवेदीजी के नाम के साथ ठीक उनके नीचे श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम भी सम्पादक के रूप में छपता रहा और जनवरी सन् १९२१ से बख्शीजी सरस्वती के सम्पादक नियुक्त हुए। इस दृष्टि से वे द्विवेदीजी के सहायक एवं उत्तराधिकारी दोनों रहे। उन्हें द्विवेदीजी के कृतित्व एवं व्यक्तित्व की जितनी जानकारी होगी, उतनी बहुत कम लोगों को होगी। अस्तु, बख्शीजी की राय भी पठनीय है—

यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदीजी ने क्या किया तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिन्दी

साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिन्दी-साहित्य गगन में सूर्य, चन्द्रमा और तारा गणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्यकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं, परन्तु मेघ की तरह ज्ञान की जल-राशि देकर साहित्य के उपवन को हरा भरा करने वालों में द्विवेदीजी की ही गणना होगी।"[1]

युग निर्माता द्विवेदीजी के सम्बन्ध में भला इससे अधिक प्रशंसा क्या हो सकती है। प्रकृति का एक नियम है—अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहने वालों की संख्या आज भी अधिक है यत्र-तत्र इसके अपवाद भी हो सकते हैं, पर द्विवेदीजी के युग निर्माता पद को, उनके अखंड नेतृत्व को, उनके आचार्यत्व को हिन्दी के किसी कोने से अब तक चुनौती नहीं मिली है, आगे की राम जानें।

द्विवेदीजी प्राचीनता और नवीनता के केन्द्र बिन्दु थे। एक ओर उन्हें संस्कृत भाषा, उसके विभिन्न छंद और भारतीय संस्कृति के गौरवपूर्ण इतिहास की बातें प्रिय थीं तो दूसरी ओर उन्होंने काव्य में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा, नवीन विषय, राष्ट्रीयता और अंग्रेजी साहित्य के रत्नों को ग्रहण करने की प्रेरणादायक अपील की है। छायावादी कवियों की प्रारम्भिक उछल-कूद को उन्होंने स्वीकार नहीं किया और उनके विरुद्ध जो विषवमन किया उसका एक राष्ट्रीय पक्ष है। आचार्य बाजपेयी के शब्दों में उन्हें गीत गाने की फुरसत नहीं थी। जिस शृंगारिक-अति, ऐन्द्रिक भावनाओं को उभाड़ने वाले काव्य से वे हिन्दी को मुक्त किये थे, पुनः उसे उन्हीं भावों के प्रच्छन्न रूपों से बचाना चाहते थे। दूसरी ओर जातीय उत्थान एवं राष्ट्रीय जागरण में उस प्रकार के काव्य को वे बाधक मानते थे। एक बात और ध्यान देने की है—द्विवेदीजी रवीन्द्रनाथ टैगोर के रहस्यवादी गूढ़ गीतों को स्वीकार कर चुके थे और उनकी मान्यता थी कि उन गीतों के पीछे टैगोर की एक लम्बी साधना है। हिन्दी में भी उस प्रकार की साधना-पद्धति को वे प्रोत्साहित करना चाहते थे, किन्तु दुर्भाग्य तो यह था कि स्कूल कालेज से निकलते ही लोग कवि वेश बना कर ऊट-पटाँग लिखने लगते थे और प्रकाशित कराने का प्रयास करते थे और जब उन्हें अवसर नहीं मिलता था तो चिल्लाते थे। जिस तरह आज के तथा कथित 'नए कवि' इधर-उधर हाथ पैर मारने पर भी जब अपनी कविता की पुस्तकों के लिए प्रकाशक नहीं पाते, तो बौखलाहट प्रकट करते हैं और कहीं-कहीं पर तो उन्होंने अपने पैसों से अथवा अपने मित्रों के निजी पैसों से पुस्तक-प्रकाशन किया है। स्वयं कुछ प्रतियाँ बेंची और शेष रद्दी की ढेर हो गई।

छायावादी कवियों पर कटाक्ष करते हुए द्विवेदीजी ने व्यंगात्मक शैली में स्वयं कहा है—

"..........पर रवि बाबू की गोपनशील कविता ने हिन्दी के कुछ युवक कवियों के दिमाग में कुछ ऐसी हरकत पैदा कर दी है कि वे असम्भव को संभव कर दिखाने की चेष्टा में श्रम, समय और शक्ति का व्यर्थ अपव्यय कर रहे हैं। रवीन्द्र ने जो काम ४०—५० वर्षों के सतत अभ्यास और निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया उसे वे स्कूल छोड़ते ही कर दिखाने के लिए कमर कस कर उतावले हो रहे हैं वे कमल विमल यमल और अरविन्द, मिलिन्द

मकरन्द आदि उपनाम धारण करके अखबारों और सामयिक पुस्तकों का कलेवर भरना शुरू कर देते है।"[1]

द्विवेदीजी युग-प्रवर्तक ही नही महान युग-प्रवर्तक पुरुष तथा नायक थे। सरस्वती में राजा रवि वर्मा और ब्रजभूषण राय चौधरी आदि के चित्रों को रंगीन ब्लाकों में प्रकाशित कर, युवक कवियों से उनपर कवितायें लिखाते थे। उन्हे नए-नए विषय देते थे। खड़ीबोली चित्रों पर काव्य रचना का यह नया प्रयोग काफी सफल सिद्ध हुआ। जिस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना सरल होता है, मूर्ति पूजा के बाद निर्गुण ब्रह्म की कल्पना अपेक्षाकृत आसान लगती है, थोड़ी बहुत भक्ति एवं अध्ययन के बाद गीता का ज्ञान भी पचने लगता है, ठीक इसी प्रकार इन स्थूल चित्रों को सामने रखकर काव्य रचना के बाद उन्हें कल्पना-चित्रों के निर्माण में सफलता मिली। आगे चलकर छायावादी काव्यों में जो बिम्ब-विधान और मूर्तविधान की बहुलता दिखाई पड़ी उसके पीछे द्विवेदीजी का हाथ था। हाँ, यह अप्रत्यक्ष अवश्य रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'बीसवीं शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षों के साहित्यिक विकास और प्रगति के मंत्र-दाता और पुरोहित द्विवेदीजी ही थे। यह युग वास्तव में द्विवेदी-युग था।"[२]

४

सरस्वती के कवि

१९००से १९१० ई० तक 'सरस्वती' में लिखने वाले कवि

'सरस्वती' एक महान संकल्प के साथ प्रकाशित की गई थी। उसके प्रारम्भ में विद्वानो का जो सम्पादक मण्डल था, वह उस सकल्प को मूर्त रूप देने में सक्षम तो था, पर उसके पास समय की कमी थी, उनमे आपस में मत विभिन्नता के लिए भी पर्याप्त अवसर था। जिस लगन, तत्परता, निष्ठा और विश्वास के साथ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी उस कार्य को कर सकते थे, वैसा अन्य कोई नही। इसलिए प्रबन्धकों के आग्रह पर द्विवेदी जी ने उस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरस्वती का सम्पादन सन् १९०३ ई० में अपने हाथ में ले लिया।

यद्यपि सन् १९०० ई० से ही वे सरस्वती में अपनी रचनायें भेजने लगे थे और उनकी सुप्रसिद्ध कविता 'हे कविते' जून सन् १९०१ ई० में प्रकाशित हो चुकी थी और सन् १९०२ ई० में भी उनकी कई रचनाये छप चुकीं थीं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे, परन्तु सम्पादक की आसनी पर बैठते ही उन्होने बहुत से नियम बनाये। अब सरस्वती मे छपने के लिए जो रचनायें आतीं, उन्हें द्विवेदी जी भली-भांति पढ़कर उसकी परख करते कि वह सरस्वती की नीति, स्तर और गौरव के अनुकूल है कि नहीं ? पुन: आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ उसे प्रकाशित किया जाता। यदि किसी लेखक को यह परिवर्तन और व्यवस्था स्वीकार न होती तो उसकी कृति उसके पास लौटा दी जाती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरस्वती में प्रकाशित प्रत्येक रचना पर सम्पादक जी का नियन्त्रण और छाप पड़ने लगी। धीरे-धीरे अधिकांश लेखक और कवि द्विवेदी जी के सुझाये हुए मार्ग का अवलम्बन करने लगे। जो उससे दूर रहे, उनके लिए सरस्वती में कोई स्थान न था। प्रारम्भ में इससे थोड़ी कठिनाई भी हुई, पर कालान्तर में वह दूर हो गई।

जनवरी सन् १९०३ ई० को 'सरस्वती' मे केवल एक ही कविता छपी, जिसका शीर्षक है 'सरस्वती की विनय' और वह भी द्विवेदी जी की थी। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि प्रथम अंक से ही उन्होंने अपना दृष्टिकोण कवियों के सामने स्पष्ट कर दिया था। फरवरी और मार्च दोनों महीनों के लिये एक ही अंक निकला, उस अंक में भी मात्र दो कवितायें निकलीं, जिनमें एक थी जन्म भूमि जिसके लेखक का नाम नहीं छापा गया है पर वह भी द्विवेदी महाराज की

कविता है। उस अंक की दूसरी कविता श्री काशी प्रसाद की कवि कीर्ति है[1] जिसमे कवियो की प्रशंसा की गई है।

इस वर्ष अप्रैल से दिसम्बर तक अनेक कवितायें प्रकाशित हुई, किन्तु उनमें श्रीधर पाठक के (ऋतु संहार का हिन्दी अनुवाद), 'वर्षा-वर्णन', रामचन्द्र शुक्ल की 'रानी दुर्गावती' राय देवी प्रसाद पूर्ण की रचना 'भरत वाक्य' और लोकमणि के 'शरदागमन' के अतिरिक्त कोई कविता उल्लेखनीय नही है। अन्य सभी तुकबन्दियां है। इनमें नीरस, उपदेशात्मक आख्यान भरे पडे हैं। स्वयं द्विवेदी जी की 'सरस्वती की विनय,' 'कवि कीर्ति' 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' श्री हार्नेली-पंचक' (अंग्रेजी से अनूदित) आदि कवितायें भी खड़ी बोली की प्रारम्भिक स्थिति की द्योतक हैं। सभी सप्रयास एवं सोद्देश्य लिखी गई है। काव्य की उत्फुल्लता, सरसता और आनन्द उनमें नही है।

सन् १९०४ ई० तक पहुँचते पहुँचते सरस्वती में प्रकाशित होने वाली कविताओं की सख्या मे वृद्धि तो हुई, किन्तु इस वर्ष भी काव्य-कला की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल की 'वसंत', सत्यशरण रतूड़ी की 'बुलबुल' और कन्हैयालाल पोद्दार की 'कोकिल' कवितायें ही कविता की श्रेणी में आती है और सब वही सप्रयास लिखित तुकबन्दियाँ है।

सन् १९०५ ई० की सरस्वती मे प्रकाशित कविताओं में मैथिलीशरण गुप्त की 'हेमन्त', द्विवेदी जी की 'ग्रंथकारों से विनय,' जनार्दन झा की 'द्वारिका-वर्णन,' रामचन्द्र शुक्ल की 'शिखर पथिक' ३५ पदों की लम्बी निबन्ध-कविता, सनातन शर्मा सकलानी की 'सरस्वती अष्टक' 'वसंत', 'ग्रीष्म', 'निद्रा', 'मेरी चम्पा' और 'पावसराज' द्विवेदी जी की 'रम्भा.' 'कुमुद सुन्दरी' 'महाश्वेता' तथा सत्यशरण रतूड़ी की 'प्रेम-पताका' और 'प्रभात प्रभा' आदि ध्यान देने योग्य हैं।

सन् १९०६ ई० में द्विवेदी जी की 'प्यारे वतन,' हरिऔध की 'बालक-विनोद,' पार्वती देवी की 'काव्य-कुसुमांजलि' नाथूराम शर्मा शंकर की 'हमारा अधः पतन,' सैयद अमीरअली 'मीर' की 'काल की आत्म कहानी' आदि रचनायें उल्लेखनीय हैं।

सन् १९०७ ई० में इस वर्ष की सरस्वती में प्रकाशित रचनाओं में सबसे सुन्दर, प्रवाहमय बाल-काव्य, 'कर्मवीर' है, जिसके रचयिता अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हैं। इसी वर्ष कामता-प्रसाद गुरु की 'शिवा जी' कविता भी प्रकाश में आई। यह कविता लम्बी वर्णनात्मक होते हुए भी शौर्यपूर्ण तथा रसमय है। अन्य रचनाओं मे कोई खास दम नहीं है, यद्यपि कवि हैं—श्री गुप्त जी, शंकर, पूर्ण, गिरिधर शर्मा, लोचन प्रसाद पाण्डेय और जनार्दन झा तथा गोविन्ददास आदि।

सन् १९०८ ई० कविता की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष गुप्त जी की 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा,' 'अर्जुन और सुभद्रा', 'उर्वशी' और 'केशों की कथा' आदि प्रसिद्ध कवितायें काश में आयीं। श्री गिरिधर शर्मा की 'मुरली' और 'वसंत' तथा कामता प्रसाद की 'ग्रीष्म-विलाप' एवं 'परशुराम' कवितायें भी पठनीय हैं। यहाँ तक आते-आते गुप्त जी सरस्वती के सब से लोक प्रिय और शक्तिशाली कवि का स्थान ले लेते हैं। अब उनके गुरु महाराज सम्भवतः अपने उद्देश्य की सिद्धि इन्हीं में देखकर स्वयं कविता लिखने का क्रम कम करने लग जाते हैं।

1. सरस्वती फरवरी–मार्च पृष्ठ ५२, सन् १९०३ ई०

सन् १९०९ में तोष कुमारी (युग की प्रथम स्त्री कवयित्री) की 'प्रार्थना', गुप्त जी की 'नागरी विलाप और हिन्दी भाषा,' 'नकली किला', 'सीता जी का पृथ्वी प्रवेश', 'मक्खीचूस', 'रणनिमंत्रण', 'कीचक की नीचता', 'शकुन्तला को दुर्वासा का अभिशाप', 'उत्तरा का उत्ताप' और 'कारुण्य भारती' आदि रचनायें सुन्दर, सुष्ठु एवं प्रवाहमय हैं। इनमें 'नकली किला' 'रण-निमन्त्रण' और 'उत्तरा का उत्ताप' तो अत्यन्त शक्तिशाली, भाव प्रधान कवितायें हैं। गुप्त जी के प्रथम दो खण्ड काव्यों की ये भूमिकायें है। रंग में भंग और जयद्रथ बध में इनका समावेश है, जिसका विस्तृत मूल्यांकन यथा-स्थान पर किया जायगा। इसी वर्ष द्विवेदी जी की 'शकुन्तला-जन्म', कामता प्रसाद गुरु की 'दासी रानी' कवितायें भी निकलीं जो भावनात्मक दृष्टि से सुन्दर काव्य-निबन्ध हैं।

सन् १९१० ई० तक आकर प्रमुख कवियों ने अपना ढर्रा पकड़ लिया है, और उनके वर्णन की शैली भी निश्चित-सी हो गई है। भाषा भी पूर्वापेक्षा परिमार्जित तथा व्यवस्थित हो चुकी है। बहुत से जोड़ तोड़ करने वाले कवि पीछे छूट गये। अब गुप्त, अरिऔध, पूर्ण, शंकर और कामता प्रसाद गुरु ही प्रमुख रूप से सरस्वती पर छा गए हैं। अब तक गुरु महाराज द्विवेदी जी छाये हुए थे, किन्तु अब वे कविता के क्षेत्र में गुप्त जी में ही अपनी वाणी की सिद्धि नए स्वर में देखकर सन्तुष्ट जान पड़ते हैं। उनके काव्य का स्वर मद जान पड़ गया है। यहाँ यह कहना भी अनुचित न होगा कि आचार्य श्री प्रतिभासम्पन्न लेखक, मार्ग-दर्शक, अनुवादक, आचार्य और पत्रकार थे। उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य को स्वीकार करते हुए हमें कहने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए कि वे मूलतः कवि नहीं थे। उन पर युग की कविता के उद्धार की भावना इतनी प्रबल थी कि उसी जोश में उन्होंने बहुत सी लम्बी लम्बी कवितायें लिख डालीं, वरना वे तो प्रौढ़ गद्य-लेखक, भाषा-सुधारक, युग निर्माता, आचार्य थे। 'नागरी गद्य भाषा को पुष्ट, व्याकरण सिद्ध और अभिव्यंजनशील बनाने का सबसे अधिक श्रेय आचार्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही है।'[1]

सोद्देश्य काव्य रचना में उनका विश्वास था। वे भाषा की शुद्धता के साथ ही साथ नए छदों, बँदों, तुकों, आख्यानों और विषयों को रसात्मक बोध मे बदलने के लिये भूमिका तैयार करने में सतत् प्रयत्नशील रहे। उन्होंने कविता कामिनी को नया चोला तो पहनाया, पर वह पवित्र सन्यासिनी की तरह आकर्षणहीन रही। उसकी शक्ति और विशेपता आन्तरिक भाव-बोध में समायी हुई थी, ऊपरी काव्य-कला में नहीं।

जिन कवियों की कवितायें सरस्वती में सन् १९१० ई० तक प्रकाशित हुई हैं, उनकी एक सूची हम यहाँ दे रहे हैं और इसी प्रकार की एक सूची भाग दो में भी देंगे। इन दोनों सूचियों को मिलाने पर युग के प्रायः सभी कवि जो सरस्वती से सम्बद्ध रहे, आ जाएगे। भाग एक की नामावली देखिए—

(१) सर्वश्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, (२) काशीप्रसाद, (३) राधाकृष्ण दास, (४) वागीश्वर मिश्र, (५) उमाशकर द्विवेदी, (६) श्रीधर पाठक, (७) महेन्द्र लाल गर्ग, (८) रामचन्द्र शुक्ल, (९) शिवचन्द बलदेव भरतिया, (१०) गौरी दत्त वाजपेयी, (११) राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (१२) लोकमणि, (१३) जनार्दन झा, (१४) कमलाकान्तसिंह, (१५) सत्यनारायण, (१६) जैनेन्द्र किशोर, (१७) नानकचंद, (१८) यमुनाप्रसाद पाँडे, (१९) गौरीदत्त वाजपेयी,

१ आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, आचार्य द्विवेदी, पृष्ठ २१

(२०) अनन्तराम पाण्डेय, (२१) सत्यशरण रतूड़ी, (२२) लक्ष्मीनारायण पुरोहित, (२३) कन्हैयालाल पोद्दार, (२४) गंगासहाय, (२५) गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, (२६) मैथिलीशरण गुप्त (२७) कालीशंकर व्यास, (२८) सनातन शर्मा 'सकलानी' (२९) कृष्ण जी सहाय, (३०) श्यामनाथ शर्मा, (३१) गोविन्द शरण त्रिपाठी, (३२) गिरिधर शर्मा, (३३) चंडिकाप्रसाद अवस्थी, (३४) रामरणविजय सिंह, (३५) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (३६) पार्वती देवी, (३७) नाथूराम शर्मा 'शंकर', (३८) रामचरित उपाध्याय (३९) बालचन्द शास्त्री, (४०) सैयद अमीर अली 'मीर', (४१) मुरारी बाजपेयी, (४२) गोविन्ददास, (४३) कमलानद सिंह, (४४) मुन्नीलाल, (४५) पाण्डेय लोचनप्रसाद, (४६) श्यामलाल सारंग गर्ग, (४७) भगवानदास, (४८) कामता प्रसाद गुरु, (४९) शिवप्रसाद कवीश्वर, (५०) 'बी० ए०', (५१) लक्ष्मीधर बाजपेयी, (५२) पद्मसिंह शर्मा, (५३) तोषकुमारी, (५४) विद्यानाथ शर्मा, (५५) श्यामबिहारी मिश्र तथा शुकदेव बिहारी मिश्र, (५६) मन्नीलाल, (५७) अमरसिंह आदि।

उपर्युक्त कवियों की समस्त रचनाओं, उनके विविध शीर्षकों आदि का सम्पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के एक अध्याय के आधे भाग में सम्भव नहीं है। अस्तु, युग के कतिपय प्रतिनिधि कवियों को यहाँ लेकर उनकी रचनाओं के आधार पर इस काल की समग्र काव्य-धारा का निष्कर्ष निकाला जायगा। इस बात का हम अपनी ओर से भरसक प्रयत्न करेंगे कि द्विवेदी-युग की प्रवृत्तियों का विवेचन हो जाए, कवि छूट जाँए तो कोई बात नहीं, पर युग की मूल धारा न छूटे। इस विचार से उपर्युक्त कवियों में से निम्नलिखित व्यक्तियों को चुना जा सकता है—

अ— (१) पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, (२) पं० रामचन्द्र शुक्ल, (३) बाबू मैथिलीशरण गुप्त, (४) पं० कामताप्रसाद गुरु, (५) पाण्डेय लोचनप्रसाद, (६) सैयद अमीर अली मीर, (७) पं० गिरिधर शर्मा।

ब— (१) पं० श्रीधर पाठक, (२) राय देवीप्रसाद पूर्ण, (३) पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर', (४) पं० अयोध्यासिंह 'हरिऔध'।

उपर्युक्त एकादश कवियों के अतिरिक्त जनार्दन झा, कन्हैयालाल पोद्दार, सनातन शर्मा सकलानी, लोकमणि और दो कवयित्रियाँ क्रमशः 'पार्वती देवी' और 'तोष कुमारी' को भी हम इस काल के अप्रमुख कवियों में महत्वपूर्ण मानते हैं। इनके जीवन तथा काव्य का अधिक विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता, फिर भी हम इनकी सरस्वती में प्रकाशित रचनाओं से कुछ पंक्तियाँ यथा स्थान देकर उनका संक्षिप्ततम मूल्यांकन करेंगे। इन कवियों के सम्पूर्ण अध्ययन के बिना द्विवेदी-युग की कविता का आकलन अधूरा ही रहेगा। (सुना है इस युग के अप्रमुख कवियों पर इसी विश्व विद्यालय द्वारा शोध कार्य हो रहा है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

(१) 'नागरी'—नागरी विषय पर चार कविताओं का एक संग्रह है। इसका प्रकाशन जयपुर से वेद विद्या-प्रचारिणी सभा द्वारा सन् १९०० ई० में हुआ है।

(२) 'काव्य-मंजूषा' (प्रथम-भाग)—यह पुस्तक भी सन् १९०३ ई० में जैन वैद्य, जयपुर से ही प्रकाशित है। इसका मुद्रण हरिप्रकाश और तारा यंत्रालय, बनारस से हुआ है।

(३) सन् १९२३ ई० में पुन: काव्य-मंजूषा को ही संशोधित करके 'सुमन' नाम से प्रकाशित किया गया है।

(४) 'कविता-कलाप' नामक एक सचित्र कविताओं का संग्रह इलाहाबाद, इंडियन प्रेस से प्रकाशित किया गया है, जिसके सम्पादक द्विवेदी जी हैं, पर उस संग्रह में श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा 'शंकर', कामताप्रसाद गुरु और मैथिलीशरण गुप्त की कवितायें संग्रहीत हैं।

(५) फुटकल खड़ीबोली की रचनायें जो समय-समय पर द्विवेदी जी ने क्रमश: 'भारतमित्र' 'वेंकटेश्वर समाचार', बम्बई और 'सरस्वती' इलाहाबाद में प्रकाशित कराया।

प्रत्येक व्यक्ति की तीन प्रमुख इच्छायें होती हैं—धन, यश, और पुत्र-प्राप्ति की। द्विवेदीजी के पास जीवन-यापन के लिए पर्याप्त धन था, गाँव में खेती योग्य जमीन, मकान, बाग सब कुछ था और यश की बात तो पूछनी नहीं थी, उनके जीवन काल में ही उन्हें युग-निर्माता, आचार्य, सम्पादक प्रवर मान्य कर लिया गया था। परन्तु वे सन्तान विहीन थे। पुत्र का अभाव उन्हें और उनकी पत्नी को बहुत खटकता था। इस सम्बन्ध में उन्हीं के विचार देखिए—

> 'व्रत बचे कौन जो हम न कीन ? ग्रह दान कौन जो हम न दीन।
> उपदेश कौन जो हम न लीन ? हा हन्त ! तऊ हम सुत-विहीन ॥'[1]

इसमें पुत्रहीन पिता अपनी विवशता प्रकट करता है। यह कविता सामान्य व्यक्ति पर भी लागू होती है। इसकी भाषा पर ब्रज भाषा का प्रभाव है।

द्विवेदी जी की खड़ीबोली की प्रथम रचना 'बली बर्द'[2] बम्बई के वेंकटेश्वर समाचार में प्रकाशित हुई। उसकी कुछ पंक्तियां देखिए—

> 'तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज महराज !
> बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना-दाना को मुहताज।
> तुम्हें खंड कर देते हैं जो महा निर्दयी जन-सिरताज,
> धिक उनको, उनपर हंसता है, बुरी तरह यह सकल समाज।'[3]

आचार्य द्विवेदी दीर्घ दृष्टि वाले विचारक थे। उन्होंने आज से ६५ वर्ष पहले बैल की उपयोगिता, धर्म के नाम पर नहीं शुद्ध खेती के नाम पर, अन्न और भोजन के सन्दर्भ में भली भांति आंकी था। उस समय अंग्रेज शासकों के समय में इस हिन्दी लेखक की बात पर गौर करने वाला भला

---

१. भारत-मित्र, ८ जनवरी, १९०० ई०
२ वेंकटेश्वर , १९ _ , सन १९०० ई०
३ वही।

कौन था ? उन्हे तो भारत को आर्थिक दृष्टि से गुलाम बनाकर इस पर राज्य करना था, किन्तु दुख तो इस बात का है कि आज कांग्रेस की राष्ट्रीय सरकार भी बैलों की रक्षा के सम्बन्ध में कुछ न कर सकी, यद्यपि देश में लोग दाने-दाने के लिए मुहताज हैं और विदेशों से हमारे नेता बार-बार अपमानित हो रहे हैं।

नवम्बर सन् १९०० ई० की सरस्वती में 'द्रौपदी वचन वाणावली' शीर्षक रचना प्रकाशित हुई। वह है तो खड़ीबोली की, किन्तु उस पर भी ब्रज भाषा का कुछ प्रभाव शेष है। देखिए कुछ पंक्तियां—

'धर्मराज से दुर्योधन की इस प्रकार सुन सिद्धि विशाल।
चिन्तन कर अपकार शत्रु-कृत, कृष्णा कोप न सकी संभाल।'[1]

सन् १९०१ ई० से द्विवेदी जी पूर्णतः हिन्दी खड़ीबोली में कवितायें लिखने लगे। सरस्वती के मई अंक में 'विधि विडम्बना' प्रकाशित हुई। उसकी कुछ पंक्तियां यहां द्रष्टव्य हैं—

'भली बुरी बातें सुत की सब पिता सदा सुन लेता है।
अनुचित सुन लेवें तो भी वह उसे क्षमा कर देता है।''[2]

उक्त उदाहरणों से ऐसा लगता है कि कवि पैरों पर खड़ा हो रहा है, उसमें शक्ति या सम्पन्नता, सुरुचि या सुन्दरता का अंश बहुत कम है। इस बात को कवि समझता है, अपनी सीमाओ का उसे ज्ञान है, फिर भी उसके हृदय में खड़ीबोली हिन्दी कविता को व्यवस्थित, रस सिक्त, भावात्मक और आदर्श रूप में देखने की एक अदम्य लालसा छिपी है। प्रयत्न से कार्य की सिद्धि की राह खुलती है, इसे मानकर वह निरन्तर गतिशील है। 'हे कविते' शीर्षक रचना में वह कहता है—

'सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा, रस है मनोहरे।
शरीर तेरा, सब शब्द मात्र है,
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही।।'[3]

इसी प्रकार 'ग्रन्थकार लक्षण' जो अगस्त सन् १९०१ ई० में सरस्वती में छपी, बड़ी व्यंग्यपूर्ण कविता है। उसी वर्ष सितम्बर में 'कोकिल' कविता प्रकाशित हुई। यह सरल, सुबोध तथा बालकोपयोगी है। इसकी शब्दावली उपर्युक्त कविताओं से भिन्न है :—

''कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है, सच कहते हैं अति बढ़िया है।
जिस रंगत के कुंवर कन्हाई, उसने रंगत पाई है।''[4]

'वसंत' और 'ईश्वर की महिमा' आदि कवितायें भी वर्णन प्रधान हैं और उसी वर्ष की सरस्वती में छपी हैं। सन् १९०२ ई० में 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना' तथा 'सेवा वृत्ति की

---

1. सरस्वती नवम्बर १९०० ई०
2. [illegible]

विगर्हणा' प्रकाशित हुई द्विवेदीजी गुलामी को कितनी घृणास्पद मानते थे, उसका पता निम्न लिखित पंक्तियों से चल जाता है—

"चाहे कुटी अति घने वन में बनावे;
चाहे बिना नमक कुत्सित अन्न खावे।
चाहे कभी नए नए पट भी न पावे;
सेवा प्रभो! पर न तू पर की करावे।"[1]

पराधीन सुख सपनेहुं नाहीं।[2] तुलसीदास के इस भाव-विचार का उनके ऊपर पूरा-पूरा असर जान पड़ता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है द्विवेदीजी ने सन् १९०३ ई० में सरस्वती का सम्पादन सभाला। प्रथम अंक में उन्होंने 'सरस्वती' की विनय शीर्षक कविता लिखी। इस कविता में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि वह सरस्वती रूपी बालिका के मार्ग की सारी बाधाओं को दूर करे—

विश्वाधार ! विशाल-विश्व-बाधा-संहारक।
प्रेम-मूर्ति ! परमेश ! अबल-अबला-हितकारक।
सरस्वती बालिका विनय करती है, सुनिए;
सकल मंगलागार ! अमंगल सारे हरिए॥"

यह कविता अपेक्षाकृत नैसर्गिक ढंग पर चली है। शब्दावली और भाव दोनों स्पष्ट हैं। कथ्य समझने के लिए तनिक भी परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। सन् १९०३ ई० में पुनः 'फरवरी मार्च' अंक में बिना नाम दिए उन्होंने 'जन्मभूमि' कविता प्रकाशित की। इस कविता में जन्मभूमि की महिमा वर्णित है। कवि सरस्वती के हितकारी को सम्बोधित करके कहता है—

"देखी वस्तु विश्व की सारी,
जन्म भूमि सम एक न न्यारी।
हे 'सरस्वती' के हितकारी।
सुनिए, सुनिए बात हमारी।[1]

इसी वर्ष 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' और 'हार्नली-पंचक' कवितायें भी प्रकाश में आयीं। प्रथम काव्य-संग्रह 'काव्य-मंजूषा' भी जयपुर से इसी वर्ष निकला। इस संग्रह में सन् १८९७ ई० से सन् १९०२ ई० तक की हिन्दी और संस्कृत की मौलिक रचनायें संग्रहीत हैं। इसमें कुल ३३ कवितायें है और पुस्तक का मुद्रण वाराणसी में हुआ। सन् १९०५ ई० जाकर सरस्वती के माध्यम से कवि ग्रन्थकारों से निवेदन करता है कि वे अपनी भाषा मे ग्रन्थ लिखें।

राजा रवि वर्मा के चित्रों के आधार पर कविता रचने का कार्यक्रम भी सन १९०५ ई०

से ही प्रारम्भ होता है। मार्च, अगस्त और सितम्बर में क्रमशः 'रम्भा' 'कुमुद सुन्दरी' औ 'महाश्वेता' के दर्शन होते हैं। इनके सुन्दर रंगीन चित्र प्रकाशित करके फिर उन्हीं पर कवितायें लिखी गई हैं। निःसन्देह काव्य में चित्रमयता और सरसता लाने का यह एक नूतन ढंग था विचारों की दुनियाँ में एक क्रान्ति थी। उन कविताओं की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"वेश विचित्र बनाया इसने,
मुखमयंक दिखलाया इसने।
भृकुटी धनुषाकार मनोहर,
अरुण दुकूल बहुत ही सुन्दर।' (रम्भा)
"इसके अधर देख जब पाते,
शुष्क गुलाब फूल हो जाते।
कोमल इसकी देह लता है,
मूर्ति मती यह सुन्दरता है।" (कुमुद सुन्दरी)

इन कविताओं में कवि सौन्दर्य-वर्णन करने तो चला, पर नैतिकता के बंधन और कल्पन के अभाव ने रास्ता रोक लिया। कवि की स्थिति यहाँ ठीक वैसी ही जँचती है जैसे कोई गंगा स्नान के लिए एक लम्बी यात्रा करके आये, परन्तु घाट पर पहुँच कर चुल्लू भर पानी मस्तक पर चढ़ा ले और सीढ़ियों पर बैठकर स्नान की क्रिया पूरी कर ले, किन्तु धारा में कूद कर तैरने का साहस न करे।

सन् १९०६ ई० में 'बन्दे मातरम्' का सुन्दर अनुवाद, 'ऊषा स्वप्न' और 'कल्लू अल्हइत' के नाम से 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक आल्हा भी प्रकाशित हुआ। उस वर्ष की कविता 'प्यारे वतन' गीत भावपूर्ण है और इसकी भाषा भी प्रवाहमय है। बच्चों के लिए विशेषकर यह कविता लिखी गई है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"प्यारे वतन हमारे प्यारे,
आजा, आजा, पास हमारे।
या तू अपने पास बुलाकर,
रख छाती से हमें लगा कर[1]।।"

'जम्बुकी न्याय' और 'गौरी' शीर्षक कवितायें भी सरस्वती में इसी वर्ष प्रकाशित हुई। ये सभी सरल एवं बालकोपयोगी हैं। शहर और गांव का सम्वाद भी इसी वर्ष प्रकाश में आया। 'शरीर-रक्षा', 'गंगा भीष्म', 'काम्य कुब्ज अबला विलाप', 'कवि और स्वतन्त्रता', 'कर्तव्य पंचदशी', 'टेसू की टांग', 'ठहरौनी' और 'प्रियंवदा' आदि सब उसी समय की कवितायें हैं। इन कविताओं में विभिन्न प्रकार के विचार, व्यंग्य-विनोद उपदेश, चेतावनी, उद्‌बोधन और आदर्श सभी समाहित हैं। संस्कृत और अंग्रेजी से सुन्दर अनुवाद भी इसी काल में हुए।

सन् १९०७ ई० में लिखित कविता 'कौटिल्य कुठार' को है और काशी नागरी

प्रचारिणी सभा द्वारा सुरक्षित है, उसका भी एक विशेष सन्दर्भ है। 'इन्दिरा' भी उसी व' प्रकाश में आयी।

सन् १९०९ ई० में 'कविता कलाप' नामक सचित्र काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमे द्विवेदीजी के साथ राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा 'शंकर' कामताप्रसाद गुरु और मैथिलीशरण गुप्त की रचनायें संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त भी उन्होने अनेक मौलिक रचनाओं का प्रणयन किया।

'द्विवेदीजी के सम्पूर्ण साहित्य को देखने से विदित होता है कि उनके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों से हुआ। उन्होने लगभग ७ ग्रन्थों का पद्यानुवाद, ८ का गद्यानुवाद किया। अंग्रेजी की ४ पुस्तकों का गद्य में भावानुवाद किया। मौलिक काव्य पुस्तकों की संख्या लगभग ७ और गद्य की लगभग ५० पुस्तकें हैं[1]।"

पं० रामचन्द्र शुक्ल

जन्म : आश्विन पूर्णिमा सं० १९४१ वि०, मृत्यु : २ फरवरी सन् १९४१ ई०

संक्षिप्त जीवन

पं० रामचन्द्र शुक्ल गर्ग गोत्र के सरयूपारी ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज जिला गोरखपुर के 'भेड़ी' गाँव के रहने वाले थे, किन्तु इनकी दादी बस्ती जिले की एक बूढ़ी रानी साहिबा के साथ रहने लगी थी। वहीं 'अगोना' गाँव मे रानी साहिबा ने इनके परिवार के लिए एक मकान बनवा दिया था। इसी 'अगोना' ग्राम जिला बस्ती, उत्तर प्रदेश में आश्विन पूर्णिमा के दिन स० १९४१ विक्रमी को शुक्ल जी का जन्म हुआ। इनके पिता सरकारी नौकरी में थे। उनकी बदली होती रहती थी। जब वे मिर्जापुर में 'सदर कानूनगो' नियुक्त हुए तो पूरा परिवार मिर्जापुर आ गया। मिर्जापुर के रमई पट्टी मुहल्ले में ये लोग बस गए। वहाँ का वातावरण साहित्यिक था। मैट्रिक पास होने के बाद शुक्ल जी उच्च शिक्षा प्राप्त करने इलाहाबाद गए। पहले एफ०ए० मे एक वर्ष फिर कानून की शिक्षा में दो वर्ष लगाये, किन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। पारिवारिक झंझटों से उनके भीतर बड़ा संघर्ष मचा रहता था। वास्तव में उनकी माता जी बचपन में ही मर गई और विमाता से शुक्ल जी की पटती नहीं थी, उधर शुक्ल जी की शादी भी छोटी उम्र में हो गई थी। विवश होकर उन्हें स्कूल में शिक्षक के रूप में कार्य करना पड़ा।

शुक्ल जी का स्वभाव सरल, प्रकृति प्रेमी और उदार था। ऊपर से गम्भीर किन्तु भीतर से नारियल की तरह उनका हृदय कोमल और सरल था। माधुर्य उसकी विशेषता थी। इनकी पहली खड़ीबोली-रचना 'मनोहर छटा' सरस्वती भाग २, संख्या १० में छपी। अनन्तर 'शिशिर-पथिक,' 'बसन्त पथिक', 'भारत और वसन्त', तथा 'दुर्गावती' आदि रचनायें प्रकाशित हुई। उधर 'प्रेमघन' जी की 'आनन्द कादम्बिनी' में बराबर इनकी कवितायें निकलने लगीं।

शुक्ल जी प्रकृति प्रेमी और निसर्गत: कवि थे। उनके भीतर उच्च कोटि का रचनात्मक लेखक बैठा हुआ था। धीरे-धीरे ख्याति बढ़ जाने के बाद वे 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी

१ श्री शिवनारायण खन्ना द्विवेदी साहित्य, आचार्य द्विवेदी पृ० ८३

द्वारा निमन्त्रित हुए और हिन्दी कोश के सहायक सम्पादक नियुक्त हुए। उन्हीं दिनों नागरी प्रचारिणी पत्रिका का भी उन्होंने ८-६ वर्षों तक सम्पादन किया इसके उपरान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। बाबू श्यामसुन्दरदास के निधन के बाद हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए और जीवनपर्यन्त वहीं रहे।

शुक्ल जी मूलतः कवि थे, उनके गद्य पर भी उनके कवि का प्रभाव है। उनकी गहन आलोचना में जो सरलता और रमणीयता है, उनके निबन्धों में जो भावात्मक अभिव्यक्ति और कल्पनाशील बिम्ब है, वे सब भीतर के कवि की ही करामात है। इनकी मौलिक अनूदित अनेक कृतियाँ हैं और हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी में भी इन्होंने कई निबन्ध लिखे हैं, पर इनकी साहित्यिक ख्याति के मूलाधार हैं—हिन्दी सहित्य का इतिहास, चिन्तामणि भाग १, २ निबन्ध सग्रह, तुलसी, सूर और जायसी सम्बन्धी आलोचनायें तथा रसों का विवेचन। शुक्ल जी प्रतिभा के धनी, सशक्त कवि, प्रौढ़ निबन्धकार, अप्रतिम आलोचक और महान इतिहासकार थे। उनके काव्य का विकास उत्तरोत्तर होता गया।

सरस्वती में प्रकाशित इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से 'रानी दुर्गावती' से कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"अरे अधम ! रे नीच !! महा अभिमानी।
दुर्गावती के जियत चहत गढ़ मंडल निजकर॥
म्लेच्छ ! यवन की हरम केर हम अबला नाहीं।
आर्य नारि नहिं कबहुँ शस्त्र धारत सकुचाहीं[1] ॥"

उक्त कविता में दुर्गावती के शौर्य और निर्भयता की सुन्दर झाँकी है। भारतीय आर्य स्त्रियों में दुर्गावती का स्थान ऊँचा है। वह आर्य नारी है। उसकी ललकार स्वाभाविक है। उस काल के कवियों की कविता में इस प्रकार के उदाहरण बहुत कम हैं।

शुक्ल जी प्रकृति प्रेमी कवि थे, जीवन में उन्हें प्रकृति सर्वत्र प्रेरणादायक रूप में दिखी है। 'बसन्त' शीर्षक कविता द्वारा कवि अपने देशवासियों को सावधान कर रहा है। शुक्ल जी की इस कविता में मानवीकरण का प्रयास प्रथम बार देखा जा सकता है—

"करि सिर उच्च कदम्ब रह्यो तू व्यर्थ निहारी,
नही गोपिका कृष्ण कहीं तुव छाँह बिहारी।
रे रे निलज सरोज ! अजहुँ निकसत लखि भानहिं।
देश-दुर्दशा जनित दुख चित नेकु न आनहिं[2]।"

भारत में रहने वाले तथाकथित बड़े लोगों पर जो कदम्ब के वृक्ष की तरह महत्वपूर्ण हैं, उन पर भी इस कविता में व्यंग किया गया है।

---

१ सरस्वती जून १९०३ ई० पृ० २१६

२ वही स० ३, भाग ४ पृ० ८१ ८२

प्रकृति के विविध रूपों को शुक्ल जी ने बड़ी सहृदयतापूर्वक ग्रहण किया है। हरी मर्र छटा और बसन्ती दृश्य को साकार करने वाली ये पंक्तियाँ लीजिए—

"भरी हरी घास आस पास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों की चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रग मिला चला गया पीत पारावार॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि देखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर धार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ मण्डल से,
धुंधली-सी नीली नगमाला उठी धुंआधार।"

प्रकृति सम्बन्धी 'शिशिर पथिक'[1] ३५ पदों की एक लम्बी वर्णनात्मक कविता है इसकी भाषा पूर्वापेक्षा प्रौढ़ और प्रवाहमय है। इस कविता की बहुत प्रभावपूर्ण ढंग से नियोजना की गई है। एक अन्य कविता में गाँवों की 'श्री' का कवि रोचक चित्र खींचता है। उसकी दृष्टि फूली हुई मटर पर जाती है, वह उसे निहारकर आत्मविभोर हो उठता है। नील, रक्त एवं श्वेताभ मटर के फूलों का हृदयस्पर्शी वर्णन द्रष्टव्य है—

"अंकित नीलाभ रक्त और श्वेत सुमनों से
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में।
करती है फलियाँ संकेत जहाँ मुड़ते हैं
और अधिकार का न ज्ञान इस काल में।
बैठते हैं प्रीति-भोज हेतु आस पास सब
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में।
हाँक पर एक साथ पंखों के सराटे भरे
हम मेंड़ पार हुए एक ही उछाल में[2]।"

उपर्युक्त वर्णन में एक साथ खेतों की शस्यश्री, पक्षियों की सशंक प्रकृति और मानव-उमंग का एक रमणीय दृश्य अंकित है। मटर में फलियां लग रही हैं, उधर विविध प्रकार के फूल फूले हुए हैं, गांठ-गांठ और पोर-पोर नई छीमियों से अलंकृत है, पक्षी झुण्ड के झुण्ड प्रीति-भोज की तरह प्रेम से आकर उस पर बैठ जाते हैं, रखवाला या खेत का मालिक अथवा कोई भी व्यक्ति उन्हें उड़ाने के लिए जरा-सी हांक मार देता है, बस सारे पक्षी एक साथ ही पंख फड़फड़ाकर सरसराते हुए उड़ जाते हैं। उधर उड़ाने वाला एक ही उमंग में खेत की मेंड़ उछलकर पार कर लेता है। वैसे तो प्रकृति के आरोपित कल्पनाशील चित्र अनेक मिलेंगे, पर ऐसे मिट्टी की गंध और जीवन का यथार्थ वैभव लिए विरल ही।

गांव में छोटी तलैया, गड्ढे, और पोखरियां जाड़े में सूख जाती हैं और उनके किनारे

---

१. सरस्वती, भाग ६, संख्या ३, पृ० ८९–९१।
२ डा० रामचन्द्र मिश्र श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व ... काव्य पृ० २४७

गांव में छोटी तलैया गड्ढे और पोखरियां जाड़े में सूख जाती हैं और उनके किनारे लाल-लाल काई जम जाती है। वहां की गीली मिट्टी पर चलने से गायों के खुर के निशान धरती पर पड़ जाते हैं। सूखने पर वे कड़े हो जाते हैं। किनारे की नम जमीन पर हरी-हरी घास उग आती है, उन घासों में छोटे-छोटे कीड़े फुदकते हैं और उन कीड़ों को खाने के लिए बगुले उसी घास पर आकर बैठते हैं। उन्हें देखकर शुक्ल जी ने कहा है—

'सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई
लाल-लाल काइयों की भूमि पार करते।
गहरे पड़े गोपद के चिन्हों से अंकित जो
श्वेत बक जहां हरी दूब में बिचरते॥
बैठ कुछ काल एक पास के मधूक तले
मन में सन्नाटे का निराला सुर भरते।
आए 'शरपत्र' के किनारे जहां रूखे खुले
टीले कंटीले हैं हेमन्त में निखरते।

उक्त चित्र में हेमन्त ऋतु साकार खड़ी है। जिसने गांव में विशेषतया उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों के गांवों में कुछ समय बिताया है, उसे यह समझने में सरलता होगी कि शुक्ल जी मिर्जापुर के खेतों, टीलों और झाड़ियों में पग-पग घूमे थे। उन्होंने प्रत्येक ऋतु में होने वाले परिवर्तन को ध्यान से देखा था। भाषा, भाव और शैली सभी प्रकार से तत्कालीन सरस्वती में प्रकाशित कविताओं में शुक्ल जी की ये कवितायें श्रेष्ठ एवं काव्य-गुण सम्पन्न हैं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

जन्म : सन् १८८६ ई० ३ अगस्त मृत्यु : सन् १९६४ ई० ९ दिसम्बर

जीवनी

गुप्त जी का जन्म चिरगांव, जिला झांसी में वैश्य परिवार के एक संस्कारयुक्त कुल में ३ अगस्त सन् १८८६ ई० को हुआ। इनके पिता श्री रामचरण जी मध्य-वित्त गृहस्थ थे। उनकी प्रकृति उदार और राजस थी। वे वैष्णव भक्त थे और उनका अधिकांश समय भजन-पूजन और पाठ में ही व्यतीत होता था। वे एक सत्कवि भी थे, जो भक्ति सम्बन्धी पद लिखते और गाते थे।

गुप्त जी एक समृद्ध, गुणज्ञ, विद्याव्यसनी और भगवद्भक्त परिवार में लालित-पालित हुए। पिता जी का अगाध वात्सल्य उन्हें मिला। प्रारंभिक शिक्षा चिरगांव में हुई। प्रायमरी शिक्षा पूरी करके वे झांसी पढ़ने के लिए गए। पढ़ते समय ही गुप्त जी की मैत्री मुंशी अजमेरी से हुई। झाँसी में गुप्त जी का मन पढ़ने लिखने में न रमा। वहां वे रामलीला, रासलीला, और खेल तमाशों में रुचि रखने लगे। उन्होंने स्वयं अपने संबंध में लिखा है—'मेरे भविष्य के हाथ में तो धरती पर था गेंद-बल्ला, पानी में था ताल-चौपड़ों का तैरना और आकाश में थी उड़ती हुई पतंग की डोर।'[1] अपने बारे में एक जगह इन्होंने कहा है कि जब मैं कुछ न बन सका तो कवि बनने की ठानी।

१ गुप्तजी अपने विषय में हस्तलिखित निबन्ध

झाँसी मे इनकी दिनचर्या बदल गई। स्कूल न जाकर मित्रों के साथ खेल कूद में व्यस्त रहने लगे। खर्च बढ़ गया। रुपयों की पूर्ति के लिए घर से चोरी चोरी रुपये उड़ाये। परीक्षा के समय रामलीला मण्डली के साथ ओरछा गए। कवि के पिता को यह सब देखकर भय हुआ और इन्हें पुनः चिरगांव बुला लिया गया। इन्होंने पढ़ने, विशेषकर अंग्रेजी पढ़ने में अरुचि दिखाई और कहा, 'मै पढ़ने के लिए नही जन्मा हूं। मैंने इसीलिए जन्म लिया है कि लोग मुझे ही पढ़ें।'[1]

घर पर अब इन्होंने स्वाध्याय करना शुरू किया और धीरे-धीरे हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, बंगला और थोड़ा बहुत अंग्रेजी का ज्ञान अर्जित किया। सन् १९०० ई० के पश्चात् पारिवारिक वैभव नष्टप्राय हो गया। लगभग ४० वर्षों तक इन्हें आर्थिक संकट से जूझना पड़ा। राष्ट्रीय आन्दोलन मे १७ अप्रैल सन् १९४१ ई० को कैद करके झांसी जेल में इन्हें बन्द कर दिया गया। १० जून को आगरा सेन्ट्रल जेल भेजा गया। वहां से १४ नवम्बर सन् १९४१ ई० को ये मुक्त कर दिए गए।

काव्य

गुप्तजी की प्रथम कविता 'हेमन्त' सन् १९०५ ई० में सरस्वती में प्रकाशित हुई जिसकी कुछ पंक्तियां ये हैं—

'हेमन्त में महिष—अश्व—बराह—जाति,
होती प्रसन्न अति ही गज—काक—पांति।
पुन्नाग, लोध्र तरु ये नित फूलते है,
भौंरे सदैव इन ऊपर झूलते है।'[2]

डा० कमलाकान्त पाठक ने कवि की विकास-स्थितियों को इस प्रकार रखा है—

(१) प्रथम विकास-स्थिति, सन् १९०१ से १९१० ई० तक 'काव्याभ्यास-काल'।
(२) द्वितीय विकास स्थिति, सन् १९१० ई० से १९२५ ई० तक 'निर्माण-काल', वर्णनात्मक तथा अनेक रूपात्मक काव्य।
(३) तृतीय विकास-स्थिति, सन् १९२५ से १९३७ ई० तक 'उत्कर्ष काल', महाकाव्य तथा चरित्र प्रधान काव्य, वस्तु व्यंजक शिल्प।
(४) चतुर्थ विकास-स्थिति, सन् १९३७ से १९४७ ई० तक 'परिपक्व काल, जीवन-दर्शन की प्रौढ़ि, स्वच्छन्द प्रबंध-काल।[3]

उक्त वर्गीकरण के अनुसार सरस्वती भाग १ के कवि के रूप में गुप्त जी की निर्माण काल की कविताओं का अध्ययन ही हमारे प्रबन्ध के इस अध्याय के इस अंश का विषय है। विकास-स्थिति का अध्ययन इस अध्याय के द्वितीय खण्ड में हम करेंगे।

---

१. डा० कमलाकान्त पाठक, मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, पृष्ठ २१।
२ सरस्वती भाग ६ संख्या १ पृष्ठ १५ ६ सन १९०५ ई०
३ मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य पृष्ठ १३९

सरस्वती का सम्पादन द्विवेदी जी के हाथों में आने के थोड़े दिनों बाद सन् १९०५ ई० से बाबू मैथिलीशरण गुप्त की खड़ीबोली की कवितायें उक्त पत्रिका मे निकलने लगीं और उनके सम्पादन काल तक बराबर निकलती रहीं।[1]

गुप्त जी द्विवेदी-युग के सबसे महत्वपूर्ण कवि है। इन्हें द्विवेदी-युग की सिद्धि कहना ही उचित है। आप राष्ट्र कवि के रूप में भारतीय संसद के सदस्य भी रहे हैं। ७० वीं वर्ष गांठ के अवसर पर इन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया था। इनके सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण मत है साहित्यिक मुख्य मन्त्री श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र का—'गुप्त जी भारतीय संस्कृति और भारतीय राष्ट्रीय जीवन के एक प्रधान गायक रहे है। उनकी कविता ने हिन्दी के आगामी काव्य विकास को नई गति प्रदान की है।'[2]

गुप्त जी की काव्य परम्परा विविध एवं विस्तृत है। इसमें भारतीय संस्कृति धर्म, दर्शन, राष्ट्र प्रेम, एकता और आधुनिक युग बोध तक की बातों का सुरुचिपूर्ण सामंजस्य है। संवाद लेखन के क्षेत्र में, विशेषकर कविता में शायद ही कोई कवि ऐसा सफल हुआ हो। इनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता सरलता और स्वाभाविकता है। प्राचीन और नवीन के समन्वय का गुप्त जी ने अच्छा प्रयत्न किया है। उपेक्षित नारी के उद्धारक के रूप में इस महाकवि को भारतीय समाज कभी भूल नहीं सकता। पिछले ६० वर्षों के लम्बे कवि-कर्म में उन्होंने ४० मौलिक, ६ अनूदित ग्रन्थ रचे और अनेक फुटकल कृतियाँ दी।

सन् १९०९ ई० में इनका 'रग में भग' नामक छोटा-सा प्रबन्ध काव्य प्रकाशित हुआ जिसकी रचना चित्तौड़ और बूंदी के राजघरानों से संबंध रखने वाली राजपूती आन की एक कथा को लेकर हुई थी। तब से गुप्त जी का ध्यान बराबर प्रबन्ध काव्यों की ओर रहा है। वे बीच-बीच में छोटे या बड़े प्रबन्ध काव्य लिखते रहे। सन् १९०८ ई० की सरस्वती के विभिन्न अकों मे इनकी क्रमशः 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा', 'अर्जुन और सुभद्रा', 'अर्जुन और उर्वशी', 'केशों की कथा' आदि रचनायें प्रकाशित हुई। केशों की कथा की कुछ पंक्तियां देखिए—

'घन और भस्म-विमुक्त भानु-कृशानु सम शोभित नए।
अज्ञात-वास समाप्त कर जब प्रकट पाण्डव हो गए।
तब कौरवों से शान्ति-पूर्वक और समुचित रीति से,
मांगा उन्होंने राज्य अपना प्राप्य था जो नीति से ।।''[3]

सन् १९०९ ई० में सरस्वती में 'रण निमंत्रण', 'कीचक की नीचता', 'शकुन्तला को दुर्वासा का अभिशाप', 'उत्तरा का उत्ताप', 'नकली किला', और 'हिन्दी की वर्तमान दशा' आदि रचनायें प्रकाशित हुईं। गुप्त जी के मन मे मातृ भाषा को सम्पन्न, सम्मानित और व्यापक रूप में देखने की अभिलाषा थी। इसलिए उसके विपन्न रूप को देखकर वे कितने दुखी होते थे—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१३।
२. पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य, प्राक्कथन, पृष्ठ ज।
३ सरस्वती भाग ९ सख्या १२ पृ० ५४८

अहो मातृ भाषे दशा देख तेरी
न होती निराशा कभी दूर मेरी,
बड़ा कष्ट है ! तू अभी दीन ही है,
सभी भाँति से हो रही हीन ही है।"[1]

रंग में भंग

गुप्त जी की प्रथम मौलिक पुस्तक 'रंग में भंग' एक ऐतिहासिक खण्डकाव्य है। इसमें राजपूतों का पावन शौर्य प्रदर्शित हुआ है। इसकी कथा-वस्तु मुख्यतः दो घटनाओं से सम्बन्ध रखती है। प्रथम घटना का विषय है चित्तौड़ के महाराणा का विवाहोपरान्त अपने श्वसुर बूँदी नरेश से विग्रह और द्वितीय घटना है चित्तौड़ में नकली बूँदी के किले की रक्षा करते हुए हाड़ा कुम्भा जी की मृत्यु। यह एक वर्णनात्मक लम्बी कविता है, जिसमें कथानक का अनुबन्ध बीच मे ही शिथिल हो गया है।[2]

वर-वधू पक्ष में व्याह के बाद युद्ध होता है। वर राणा खेतल लड़ाई के मैदान में मारा जाता है। बेचारी दुल्हन जो नाम-मात्र को विवाहित है, पति के शव के साथ सती होने को तैयार होती है। नारी की निष्ठा और त्याग पर गुप्त जी के विचार देखिए—

"बात भी अब तक न जिससे थी हुई अनुराग में,
यों उसी के साथ जीवित जल गई वह आग में,
आर्य कन्या मान लेती स्वप्न में भी पति जिसे,
भिन्न उससे फिर जगत में और भज सकती किसे।"[3]

एक दूसरा मार्मिक प्रसंग मातृ-भूमि की सम्मान-रक्षा का है। हाड़ा कुम्भा बूँदी के नकली किले का तोड़ा जाना बर्दाश्त नहीं कर सकता, वह उसकी रक्षा के लिए डट जाता है। उसकी भावना देखिए—

"पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न, नीर, समीर से,
मैं समर्थ हुआ सभी विधि रह निरोग शरीर से।
यद्यपि कृत्रिम रूप में वह मातृ-भूमि समक्ष है,
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है।"[4]

गुप्त जी ने इस आख्यान को मनोवेधक कहा है। यह एक आदर्शवादी रचना है। इसमे जीवन के नैतिक पक्ष की प्रबल वकालत हुई है। सद्‌गुणों को बढ़ावा देना ही इसका उद्देश्य है। भाषा सामान्य है और अलंकारयुक्त पदावली या रसात्मक चित्रण का विधान नहीं है।

जयद्रथ वध

गुप्त जी की द्वितीय काव्य रचना 'जयद्रथ वध' है। यह सन् १९१० ई० में प्रकाश में

---

१. सरस्वती, भाग १०, संख्या ७, पृ० २९२।
२ मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य, पृ० २९२।
३ रंग में भंग पृ० १३।
४ वही पृ० २१

आयी इसकी भाषा अपेक्षाकृत प्रौढ प्रवाहमय और व्यजक है यह एक पौराणिक खण्डका॰ है। कथा का आधार महाभारत का युद्ध है प्राचीन कथा मे आधुनिक युग की नवीनता का पु देकर अभिमन्यु और उत्तरा का सम्वाद मनोहारी ढंग से प्रस्तुत है। इसकी शैली कथात्मक है, पर भाषा में रवानी और ओज के मिश्रण से काव्य में सरसता आ गई है।

काव्य की दृष्टि से और ख्याति के विचार से 'जयद्रथ वध' राष्ट्र कवि की प्रारम्भि रचनाओं मे सर्वश्रेष्ठ है। अभिमन्यु की असामयिक मृत्यु पर 'सुभद्रा' और 'उत्तरा'—क्रमशः मा और पत्नी दोनों के करुण-विलाप में भारतीय नारी के हृदय की विकलता द्रष्टव्य है। चित्रण-कला, चरित्र-निर्माण और घटनाओं के चयन में कवि को सफलता मिली है। जहाँ कहीं अप्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ विचार-प्रवाह और भाव-बोध में अड़चन खड़ी हुई है।

अभिमन्यु की मृत्यु का बदला लेने की भावना से लड़ते हुए वीर अर्जुन का प्रभावपूर्ण स्वरूप निरूपित है—

> "टंकार ही निर्घोष था, शर-वृष्टि ही जल-वृष्टि थी,
> जलती हुई रोषाग्नि ही उद्दीप्त विद्युत दृष्टि थी।
> गांडीव रोहित रूप था, रथ ही सशक्त समीर था,
> उस काल अर्जुन वीर-वर अद्भुत जलद गम्भीर था।"[1]

जयद्रथ वध की वर्णन शैली रसात्मक है। इसमें शृंगार, करुण, वीर और शान्त रस की नियोजना की गई है। कवि ने न्याय, सत्य, शील और आदर्श की स्थापना की है। हरिगीतिका छद में युद्ध की मार्मिक, प्रसंगोद्भावना, ख्यातवृत्त, भावनाशील आख्यान और प्रवाहमय भाषा के कारण यह काव्य जनप्रिय हुआ।

'जयद्रथ वध' के सम्बन्ध में आचार्य वाजपेयी का मत भी पठनीय है—"जयद्रथ वध में उनकी आभा अच्छी निखरी है। वीर-पूजा की निर्विकल्प भावना अभिमन्यु के चरित्र में खिल पड़ी है। जयद्रथ वध के मूल में राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष भारत-भारती से किसी कदर कम नहीं है, अधिक ही है। नवयुवक वीर अभिमन्यु राष्ट्रीय यज्ञ में अपने प्राणो की आहुति चढ़ा देता है। माता और पत्नी का अनुराग उसके मार्ग में बाधक नहीं होता। वह दृढ़ता से किन्तु संयम से उसकी अवहेलना करता हुआ आगे बढ़ता है।"[2]

गुप्त जी के पात्र संस्कृत परिपाटी के भले हों पर उनके क्रिया-कलाप सर्वथा मानवीय है। गुप्त जी दीन-दरिद्र भारत के विनीत, विनयी और नतशिर कवि है। कल्पना की ऊँची उड़ान भरने की उनमे शक्ति नहीं है, किन्तु राष्ट्र की और युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागृति के स्मृति चिन्ह हमे हिन्दी में सर्वप्रथम गुप्त जी के काव्य में ही मिलते हैं।"[3]

---

१. जयद्रथ वध, सर्ग षष्ठ, पृ० ८० ।

२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी, पृ० ३५ ।

३ वही पृ० ४१

सैयद अमीर अली 'मीर'

'मीर' जी द्विवेदी युग के प्रसिद्ध कवि थे। इनका जन्म सन् १८७३ ई० में मध्य प्रदेश के सागर जिले के 'देवरी' नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम मीर रुस्तम अली था। बाल्यावस्था में पिता का स्वर्गवास हो गया। इसलिए सैयद अमीर अली मीर का पालन-पोषण इनके चाचा के यहाँ हुआ। ये पहले पुलिस विभाग में कर्मचारी थे और उर्दू में कविता करते रहे। एक घटना ने इनके जीवन में बड़ा परिवर्तन ला दिया। एक बार 'भानु कवि समाज' की ओर से 'लोभ ते अमी के अहि चढ्यो जात चन्द पै' समस्या पत्र में प्रकाशित हुई। मीर कवि ने उसकी पूर्ति इस प्रकार की—

"सीता-राम व्याह को उछाह अवलोक सब,
जनक समाज बलि जात सुख कद पै।
वेद कुल रीति जैसी आज्ञा वशिष्ठ दीनी,
भांवरी के सुन्दर समय निरद्वन्द पै।
ता समै दुलही मांग भरवे चलायो हाथ,
दूल्हा ने सिन्दूर लै अंगूठा में अमन्द पै।
उपमा तह ऐसी मन भाई कवि मीर मनो,
लोभ ते अमी के अहि चढ़यो जात चंद पै॥"

इस समस्या पूर्ति पर इन्हें बधाई और प्रोत्साहन का पत्र मिला। तभी से ये साहित्य का अध्ययन करने और लिखने लगे। तुलसीदासकृत रामचरितमानस इन्हें बड़ा प्रिय था। मीर कवि हिन्दी को राजभाषा बनाने के पक्षपाती थे। इन्होंने परिमार्जित भाषा में रचनायें की हैं। इन्हें 'साहित्यरत्न', 'काव्य रसाल' आदि उपाधियाँ मिली थीं। इनका देहान्त सन् १९३७ ई० में रात के वक्त रेलगाड़ी की पटरी पार करते समय डब्बे से कटकर हो गया। इनके रचे प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—'बूढ़े का व्याह', 'नीति दर्पण', 'बालक', 'उलाहना पचक' और 'अन्योक्ति शतक' आदि।[१]

सन् १९०६ ई० से इनकी कवितायें 'सरस्वती' में स्थान पाने लगीं। इनकी प्रथम कविता जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"आगे का भी वस्तु विकार।
पावेगा मुझसे संसार॥
सब पर सब मेरा अधिकार।
नमन करे मुझको संसार॥[२]

पं० कामता प्रसाद गुरु

जीवनी

'गुरु' जी के पूर्वज उत्तर प्रदेश के रहने वाले पाण्डेय ब्राह्मण थे। वे लोग वहाँ से

---

१. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, खण्ड २, पृ० १९८।

२ सरस्वती काम की आत्म कहानी भाग ७, अंक ८ पृ० ३१० ३१३

आकर मध्यप्रदेश के सागर जिले के गढपहर नामक स्थान पर बस गए ये लोग दागी (राजपूत) राजाओ की रानियो के गुरु रूप मे नियुक्त हुए। दागियो के पतन के बाद मराठे राजाओं के यहाँ भी योग्यता एवं कार्यकुशलता के कारण इनका वैसा ही आदर सम्मान रहा। इसी वंश के अन्तर्गत सन् १८७५ ई० में पं० कामताप्रसाद गुरु का जन्म सागर नामक स्थान मे हुआ। इनके पिता का नाम गंगाप्रसाद गुरु था।

पं० कामताप्रसाद की शिक्षा सागर में हुई। ये वहीं हाई स्कूल में कार्य करने लगे शिक्षा-क्षेत्र में अनेक पदों पर कार्य करने का इन्हें अवसर मिला। उन्हीं दिनों साहित्य और व्याकरण के क्षेत्र में इन्होंने महत्वपूर्ण योगदान किया। इन्होंने इलाहाबाद में 'सरस्वती' और 'बाल सखा' का वर्षों तक सम्पादन किया। गुरु जी हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत उर्दू, मराठी, बंगला उडिया और फारसी भाषायें जानते थे। इनका हिन्दी व्याकरण आज भी व्याकरण के क्षेत्र मे आदर्श ग्रन्थ माना जाता है। ये अपने समय के अच्छे समालोचक कवि थे। इनकी कविता प्रसाद गुण सम्पन्न, सरल, प्रवाहमय तथा व्यंग्य युक्त होती है। शिवाजी की प्रशंसा में लिखित इनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"जीती जाती हुई जिन्होने भारत बाजी।
निज बल से मलमेंट विधर्मी मुगल कुराजी॥
जिनके आगे ठहर सके जंगी न जहाजी।
हैं जग जाहिर वही छत्रपति भूप शिवाजी॥"[1]

सन् १९०८ ई० की सरस्वती के विभिन्न अंकों मे इन्होने 'ग्रामीण विलाप', 'ईर्षा', 'परशुराम' आदि कवितायें लिखीं। कुछ अनुवाद भी इन्हीं दिनों प्रकाशित हुए और सन् १९०९ ई० के दिसम्बर महीने में इनकी लम्बी निबन्ध कविता 'दासी रानी' सरस्वती में प्रकाशित हुई। उसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

"फिर धीरज धर मधुर सुधा से
बोले भूप नम्र ये बैन—
प्यारी! क्या नृप की कन्या से
अधिक नहीं कोई सुख-दैन?
क्या सिंहासन सदाचार से,
मुकुट धर्म से भारी है?
आर्य-रक्त क्या शुद्ध प्यार से,
कहीं अधिक सुखकारी है।"[2]

श्री कामता प्रसाद गुरु ने 'बालक' शीर्षक कविता में पुत्र को अद्भुत धन माना है। यथार्थ धन का साफ चित्र सीधे सादे ढंग पर प्रस्तुत है

"माता का तन सार पिता का तू सर्वस है ।
दोनों का संसार वंश का विस्तृत यश है ।
माता-पितानुराग प्रगट तेरा यह तन है ।
मूर्तिमान सौभाग्य पुत्र तू अद्भुत धन है[1] ।"

यहीं नेकटाई पर व्यंग्य करता हुआ कवि लिखता है—

"काल चाल से हैं खुले, तेरे भाग्य विचित्र ।
भारत में तू हो गई कंठी तुल्य पवित्र ॥
धज्जी, चिन्दी, चीथड़ा, लत्ता है तू आप ।
पर अनिष्ट सर्वत्र तव, राज्य रहा है व्याप्त ॥"[2]

लोचन प्रसाद पाण्डेय

पाण्डेय लोचनप्रसाद का जन्म सन् १८८७ ई० में विलासपुर के बालकपुर नामक ग्राम में हुआ था । इनके पिता पं० चिन्तामणि पाण्डेय विद्या प्रेमी सज्जन थे । सन् १९०५ ई० में इन्होने कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'एन्ट्रेन्स' पास किया । अनन्तर घर पर हिंदी, उड़िया, बंगला और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया । इन्होंने उड़िया और हिन्दी दोनों में काव्य की रचना की है । इनके छोटे भाई मुकुटधर पाण्डेय भी कविता करते थे । इनकी भाषा सरल, मधुर और प्रवाहपूर्ण है[3] ।

पाण्डेय जी की रचनायें कई ढंग की हैं—कथा प्रबन्ध के रूप में भी और फुटकल प्रसंग के रूप में भी । चित्तौड़ के भीमसिंह के अपूर्व स्वस्वत्याग की कथा नंददास की 'रास पंचाध्यायी' के ढंग पर इन्होंने लिखी है । 'मृगी दुखमोचन' में इन्होने खड़ीबोली के सवैयों में एक मृगी की अत्यन्त दारुण-परिस्थिति का वर्णन सरल भाषा में किया है, जिससे पशुओं तक पहुँचने की इनकी व्यापक और सर्वभूत दयापूर्ण काव्यदृष्टि का पता चलता है । इनका हृदय कहीं कहीं पेड़ पौधों तक की दशा का मार्मिक अनुभव करता पाया जाता है । यह भावुकता इनकी अपनी है ।[1]

सन् १९०७ ई० में 'रे मन' शीर्षक कविता पहले पहल सरस्वती में प्रकाशित हुई । उसी वर्ष 'वर्षा' शीर्षक कविता भी सरस्वती में छपी । 'रे मन' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

"दुर्लभ नर-तनु सुन्दर पाकर,
वृथा जन्म क्यों खोता है ?

---

१ हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास. खण्ड २, पृ० ११९ ।
२ वही
३ [illegible]

रे मन मूस चेतकर झटपट
मोह नींद क्यों सोता है।"[1]

इनकी कविता मे निखार नहीं है। गद्यवत सामान्य भाव की कवितायें ही इन्होंने अधिक लिखी ऐसा लगता है कि जबरदस्ती तुक जोड़ रहे हैं। सन् १८०८ इ० जनवरी को सरस्वती में इनकी 'ईश-विनय' कविता प्रकाशित हुई। उसकी भी चार पंक्तियाँ देखिए—

'हे ईश्वर सुन विनय हमारी।
हरिए भारत का दुख सारा।
नाथ इसे फिर से अपनाओ।
और न इसको अधिक गिराओ।।"[2]

सन् १९०९ ई० में पाण्डेय जी की 'हेमन्त' कविता प्रकाशित हुई। उसमें हेमन्त ऋतु का प्रभाव दिखलाया गया है काव्यगत कोई विशेषता नहीं है जिसका उल्लेख किया जाय।

पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न

संस्कृत के विद्वान पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न झालरा पाटन के निवासी थे। इनकी रचनायें सरस्वती तथा तत्कालीन अन्य पत्र-पत्रिकाओं में बराबर निकलती रहीं। राजस्थान से निकलने वाले 'विद्या-भास्कर' नामक पत्र का इन्होंने कुछ दिन तक सम्पादन भी किया था। मालवा और राजपूताने में हिन्दी प्रचार का बहुत सा काम इन्होने किया। ये संस्कृत के भी कवि थे। इन्होंने 'गोल्डस्मिथ' के 'हरमिट' का संस्कृत में अनुवाद किया था। मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत और बंगला से अनेक अनुवाद प्रस्तुत किए, जिनमे 'शिशुपाल वध' और 'गीतांजलि' के अनुवाद प्रसिद्ध हैं। पहले ये ब्रजभाषा में कवित्त रचते थे। उसी में खड़ीबोली का भी आभास रहता था। सन् १९०५ ई० से इनकी कवितायें सरस्वती में छपने लगी थीं। इनकी 'ईश्वर-स्तुति' की कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

"निर्धन को धनवान करे तू,
मानी का अभिमान हरे तू।
जंगल में मंगल दिखलाता,
शहरों को सुनसान बनाता।।"[3]

इसी प्रकार इनकी 'मुरली'[4] आदि कवितायें भी अभिधात्मक रूप में देखी जाती है। ये लोग श्रमसाध्य कवि थे। इनका महत्व उस समय खड़ीबोली की कविता की नींव भरने में है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त जिन कवियों ने सरस्वती को सन् १९०१ ई० से १९१० ई० तक अपनी रचनाओं से अलकृत किया है, उनमें प्रमुख हैं—पं० श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद

---

१. सरस्वती, भाग ८, सं० ४, पृ० १५०।
२. वही, भाग ९, सं० १, जनवरी।
. सरस्वती, भाग ७ संख्या १ पृ० १३।
४ वही भाग ९ संख्या २, पृ० ७०

पूर्ण, नाथूराम शर्मा शंकर और प० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध। स्वयं आचार्य प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के आग्रह पर इन कवियों ने सरस्वती में प्रकाशनार्थ अपनी रचनायें भेजी, परन्तु मूलत: ये सभी द्विवेदी मण्डल के बाहर के कवि हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में हम इनको सरस्वती से भिन्न कवि के रूप में रख रहे हैं। अध्याय पाँच में क्रमश: पाठक जी, 'शंकर' कवि और हरिऔध का विस्तार से अध्ययन किया गया है। राय देवीप्रसाद पूर्ण के जीवन और कृतित्व का मूल्यांकन अध्याय ७ में ब्रज भाषा के कवियों के साथ हुआ है। अस्तु इस अध्याय में इनके सम्बन्ध में इतना ही संकेत करके पृष्ठपेषण से बचना चाहते हैं।

इस युग के अन्य महत्वपूर्ण कवि जो निरन्तर सरस्वती में लिखते रहे हैं उन्हें हम स्फुट कवि के रूप में यहाँ रख रहे है और उनकी सरस्वती मे प्रकाशित कविताओं में से एक-एक उदाहरण भी यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

जनार्दन झा

जनार्दन झा द्विवेदी युग के बड़े कर्मठ कवि हैं। इनकी प्रथम कविता 'शिक्षा शतक' सरस्वती में सन् १९०३ ई० में प्रकाशित हुई—

"आलस परम पाप का भोर,
इससे सभी बिगड़ता कार।
इसे दूर कर उद्यम ठान,
कारज करके बनो महान ॥"[1]

इनकी अन्य कवितायें जैसे 'द्वरिका वर्णन', 'रसाल पंचक', 'प्रार्थना-शतक' आदि भी इन्हीं दिनों सरस्वती के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुई हैं। इसमें 'द्वारिका वर्णन' १०१ पदों की लम्बी निबन्ध कविता है। इसकी चार पंक्तियाँ देखिए—

"मनु कोमल कर नारि नवेली।
प्रिय गल मेलि करहिं रस केली।
बाग गुलाब प्रफुल्लित ऐसे।
प्रौढ़ा दृग मदमाते जैसे ॥"[2]

कन्हैयालाल पोद्दार

द्विवेदी युग के कवियों में कन्हैयालाल पोद्दार का भी विशेष स्थान है। सरस्वती में सन् १९०४ ई० से ही इनकी कवितायें प्रकाशित होने लगीं थीं। इनकी प्रथम रचना 'कोकिल' सरस्वती के अक्टूबर अंक में छपी थी, जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिए—

"वसंत जाता जब है यहाँ से।
नहीं किसी को ध्वनि तू सुनाती ॥

---

१ सरस्वती भाग ४ संख्या ११ पृ० ३८१ २८

२ वही भाग ६ संख्या ५ पृ० ५५

उत्कठ ह्वाके सब ढूंढते हैं।
नहीं कहीं भी पर तू दिखाती ।।"[1]

सन् १९०५ ई० में 'मित्र पंचक' कविता छपी जिसमे कपटी मित्रों पर व्यंग्य किया गया है—

"आगे विनीत बनते निज कार्य से ही,
निन्दा परोक्ष करते डरते न वे ही।
बातें महा मधुर नित्य नई बनाते,
ऐसे अनेक अब मित्र यहाँ दिखाते।"[2]

सन् १९०६ ई० में बम्बई का समुद्र तट' शीर्षक वर्णनात्मक कविता इन्होंने लिखी। इसके बाद ये सरस्वती के विभिन्न अंकों मे अपनी सरल, अभिधात्मक कवितायें लिखते रहे। ये काव्यशास्त्र तथा छंदशास्त्र के भी पण्डित थे। अस्तु विविध छंदों का इन्होंने प्रयोग किया है। इस कवि की भाषा सरल एवं व्याकरण सम्मत होती थी।

लोकमणि

लोकमणि सरस्वती के लोकप्रिय कवि थे। इन्होने सन् १९०३ ई० से ही लिखना शुरू कर दिया था। ये प्रकृति प्रेमी जीव थे। इनकी कवितायें सरस, प्रवाहमय और स्वच्छ भाषा में लिखित होती थी। इनकी कमल', 'शरदागमन' आदि प्रकृति परक कवितायें सरस्वती' में प्रकाशित हुई है। शरदागमन से कुछ पंक्तियाँ लीजिये—

"गुंजत मधुरकर वृंद, मत्त, सरसीरुह-वन में,
मनहुँ मधुर मकरंद पान करि हर्षित मन में।
धन्यवाद मुख खोलि देत निज मधु दाता कहुँ,
करत प्रशंसा तासु, मधुर स्वर सों जनु हिय महु।"

लोकमणि की कविता तत्कालीन अनेक कवियों की कविताओं से सरस एवं मधुर है। इनका शब्द-चयन, प्रवाह और कथ्य तीनों कल्पनाशील काव्य के लिए उपयोगी है।

श्री सत्यशरण रतूड़ी

श्री सत्यशरण रतूड़ी सरस्वती भाग १ के कवियों में बड़े मनमौजी थे। इन्होने अनेक कवितायें, विभिन्न विषयों और विविध शैलियों में लिखी हैं। इनकी 'बुलबुल' एक सचित्र कविता है—

---

१. सरस्वती, भाग ५, संख्या १०, पृ० ३३७–३८।

२. वही, भाग ६, संख्या ५, पृ० १७१।

३ वही भाग ४ संख्या ११ पृ० ३८०

"प्रभात ही सुन्दर बैन मीठ, सुहावने तू नित बोलती है।
प्रसून शाली-वन-बाग-बीच, सुडालियों में नित डोलती है ॥"[1]

इसी प्रकार 'शान्तिमयी शय्या', 'सभ्यता', 'प्रेम पताका', 'प्रभात प्रभा' आदि कवितायें सरस्वती के विभिन्न अंको में उन्हीं दिनों प्रकाशित हुई रचनायें हैं।

श्री सनातन शर्मा सकलानी

श्री सकलानी जी सरस्वती के बड़े निष्ठावान कवि रहे हैं। इन्होंने प्रारम्भ से ही सरस्वती की बड़ी सेवा की है। शर्मा जी की 'सरस्वती अष्टक', 'वसंत', 'निद्रा', 'मेरी चम्पा', 'पावसराज' आदि लम्बी-लम्बी वर्णनात्मक कवितायें सरस्वती में समय-समय पर प्रकाशित होती रही हैं।

कवयित्रियाँ

स्त्री कवयित्रियों में इस युग में दो नाम आते हैं—एक हैं-'पार्वतीदेवी' और दूसरी हैं—'तोषकुमारी'। दोनों शालीन, नैतिकतावादी और आदर्श विचारों की कविता करती हैं। पार्वती-देवी की 'काव्य-कुसुमांजलि' कविता की कुछ पंक्तियाँ लीजिये—

'पार्वती कहती कर जोर,
इस पर करो पुरुष सब गोर।
बे नारी शिक्षा विस्तार,
देश का न होगा उद्धार ॥"[2]

यहाँ 'तोषकुमारी' की प्रार्थना कविता की कुछ पंक्तियाँ भी देख लें।

"हे हे परम पिता परमेश्वर।
हाथ अनुग्रह का रख मुझ पर।
मुझे रहे नित तेरा ही डर,
सारे पापों से रक्षा कर ॥"[3]

अनुवाद

इस युग में उपर्युक्त मौलिक कविताओं के अतिरिक्त संस्कृत, अंग्रेजी आदि के अनेक अनुवाद भी हुए जिसमें श्रीधर पाठक, पूर्ण, द्विवेदी जी और गुप्त जी के अनुवाद अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। उक्त काल के कुछ अनुवाद तो मौलिक रचनाओं से भी सुन्दर बने हैं। उदाहरण के लिए श्री जैनेन्द्रकिशोर की 'मेरी मैया' रचना देखिए—

"बिलख बिलखकर रोता था जब,
नींद न मुझको आती थी,

१. सरस्वती, भाग ५, संख्या ७, पृ० २२५—२६।
२. वही, भाग ७, संख्या ३।
३ वही, भाग ५, संख्या २, पृ० ४७

आ री निंदिया ! आ री निंदिया।
कहकर कौन सुलाती थी ?
मेरी मैया, मेरी मैया ॥

यह अनुवाद 'जेम्स टेलर' की कविता 'माई मदर' का भावानुवाद है। इसकी भाषा स्वाभाविक सरल, स्पष्ट और प्रवाहमय है।

प्रवृत्तियां

इस युग की मूलतः निम्नलिखित प्रवृत्तियां थीं—

(१) ऋतुओं पर जैसे ग्रीष्म, पावस, शरद, शिशिर, हेमन्त और वसंत पर अनेक लम्बी-लम्बी वर्णात्मक कवितायें लिखी गई है।

(२) राजा रवि वर्मा के सुन्दर रंगीन चित्रों पर कुमुद सुन्दरी, रम्भा, महाश्वेता और बुलबुल आदि कवितायें लिखी गई जिनके द्वारा काव्य में चित्रमयता एवं सरसता लाने का नया प्रयत्न किया गया।

(३) इस युग में संस्कृत और अंग्रेजी से प्रचुर मात्रा में अनुवाद प्रस्तुत किये गये, इन अनुवादों से दो लाभ हुए। एक तो विविध विषयों पर हिन्दी में कविता लिखने की प्रवृत्ति हुई और दूसरे उन भाषाओं की श्री-सम्पन्न कविता से अपनी कविता की तुलना करने का अवसर मिला।

(४) इस युग में बालकोपयोगी अनेक छोटी-छोटी कवितायें लिखी गई। व्यंग्य-विनोद का भी काव्य में प्रचलन शुरू हुआ।

(५) नाथूराम शर्मा 'शंकर' हरिऔध, राय देवीप्रसाद पूर्ण, जनार्दन झा, और गुप्त जी की लम्बी निबन्ध-कवितायें प्रचुर मात्रा में छपीं। कालान्तर में इन्हीं निबन्ध कविताओं ने इस युग में प्रबन्ध काव्य के लिए भूमिका प्रस्तुत की। आगे चलकर खण्ड काव्यों की भरमार हो गई।

सरस्वती भाग १ की अधिकांश कविताएँ वर्णनात्मक, अभिधात्मक और इतिवृत्तात्मक हैं। इन कविताओं के ऊपर दिये गए उदाहरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह खड़ी बोली का अभ्यास काल था। इसमें कवि काव्य-वैभव की अपेक्षा नए नए प्रयोग कर रहे थे। नए-नए विषयों पर, आदर्शवादी भावों की विविध प्रकार की अभिव्यक्ति हो रही थी। कविता अलंकार और लाक्षणिकता से दूर, सादे भावात्मक आधार लेकर चल रही थी। उस समय के कुछ काव्य शीर्षक देखिए—

शीर्षक

सरस्वती की विनय, जन्म-भूमि, कविकीर्ति, रहिमन विलास, प्रच्छन्न-प्रभाकर, पूर्व पुरुषों के प्रति, वर्षा वर्णन, स्वर्ग, ब्याहा भला कि क्वारा ?, रानी दुर्गावती, वसन्त तिलक, स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार, प्रचण्ड मार्तण्ड, आशीर्वाद, अन्योक्ति दशक, गान विद्या, कमल, भरत वाक्य, वर्षा

---

१ सरस्वती, भाग ५ संख्या २ पृ० ४७

ऋतु वर्णन, शरदागमन, शिक्षा शतक, हेमन्त, मेरी मैया, हरिस्मरण, वसन्त, पितृ वियोग, बुलबुल, शान्तिमयी शय्या, कोकिल, तरुणी, ईशवन्दना, सभ्यता, हेमन्त, ग्रन्थकारों से विनय, मित्रता, द्वारका वर्णन, शिशिर पथिक, वसन्त वर्णन, सरस्वती अष्टक, रम्भा, ग्रीष्म, निद्रा, मेरी चम्पा, पावसराज, प्रेम पताका, कुमुद सुन्दरी, क्रोधाष्टक, कोकिल, प्यारा वतन, बालक विनोद, पवनदूत, वर्षा, हमारा अधः पतन, काल की आत्म कहानी, शरद, कर्मवीर, रे मन, वीरांगना काव्य, प्रार्थना शतक, शरद, मुरली, ईश विनय, बसंत, ग्रीष्म, भीष्म, प्रतिज्ञा, सज्जन और दुर्जन, केशों की कथा, प्रार्थना, शकुन्तला जन्म, रण-निमंत्रण, विद्या-विहार, कृष्णजन्म, दासी-रानी आदि।

काव्य—रूप

ऊपर हम देख चुके है कि मुक्तक और प्रबन्ध काव्य दोनों धारायें समानान्तर चल रही थी। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत निबन्ध कविता अर्थात् किसी पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक विषय पर, प्राचीन आख्यानों के वर्तमान रूप या कल्पनाशील नए सन्दर्भो मे लम्बी-लम्बी कहानियाँ वर्णनात्मक ढंग से प्रस्तुत की जा रही थी। दूसरी ओर प्रार्थना, विनय, ऋतु वर्णन, पंचक, अष्टक, रूप या सौन्दर्य चित्रण, प्रकृति निरूपण और बालकोपयोगी मुक्तक कवितायें लिखी जा रही थीं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त के खण्ड काव्यों—रग में भंग और जयद्रथ वध के अतिरिक्त अन्य कोई मौलिक खण्डकाव्य या महाकाव्य इस काल (सन् १९०० से १९१० ई०) मे नहीं लिखे गये। हां, संस्कृत से कई अनुवाद अवश्य हुए। बात वास्तव मे यह थी कि तत्कालीन कवियों को अपने काव्य की भाषा ठीक करने में ही आधी से अधिक शक्ति लगानी पड़ती थी, वे अपनी कविताये पढ़कर स्वयं समझ जाते थे कि वे कवितायें लम्बी दूरी तक विचारों का वहन करने मे असमर्थ हैं। उनकी नीरसता से वे स्वयं भी ऊब जाते थे। किन्तु नया मार्ग बन रहा था, उसपर चलना तो था ही, लोग एक-एक कदम जमा कर रख रहे थे। कविता मे विभिन्न नई शैलियो, छदों, विषयों और शीर्षकों का प्रवेश हो रहा था। मुक्तक और प्रबन्ध काव्य के दोनों रूप प्रवह-मान थे। कविता जीवन की सांसों को अपना रही थी। राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक उत्थान, स्त्री-शिक्षा तथा नैतिकता का प्रबल आग्रह था। जीवन नियन्त्रित था। कविता में अभी क्रान्ति नहीं आयी थी, उसकी भूमिका मात्र तैयार हो रही थी।

विषय

जैसा कि हम पहले कह चुके है कि इस काल की कविता के विषय बदल चुके थे। रीतिकालीन भावना और राधाकृष्ण की आंख-मिचौनी से कवि आगे बढ़ चुके थे। अब उन्हे वीरतापूर्ण प्राचीन आख्यान अपनी ओर खींच रहे थे। समाजसुधार, धार्मिक उदारता और नैतिक आग्रह के भाव काव्य के विषय बन रहे थे। कवि खेतों, घासों, फूलों, ताल-तलैया में पडे गाय के खुरों, बगुलों, कौवों और मटर, सरसों के फूलों को प्यार से देख रहे थे। नयी कविता की दुर्दशा पर भी कभी-कभी कविगण आंसू बहा लेते थे। जीवन में हरियाली और मस्ती का अभाव था आर्थिक दीनता और विदेशी शासन की गुलामी से ऊब चुके थ वे नए नए ढग स

को चाहिए कि वे लिख सकते है तो इनके अतिरिक्त और छद भी लिखा कर हम यह नही कहते कि ये छद नितात परित्यक्त ही कर दिये जाव हमारा अभिप्राय यह है कि इनके साथ साथ संस्कृत काव्यों में प्रयोग किए गए वृत्तों में से दो–चार उत्तमोत्तम वृत्तों का भी हिन्दी में प्रचार किया जाय। इन वृत्तों में से द्रुत विलम्बित, वंशस्थ और वसंततिलका आदि वृत्त ऐसे है जिनका प्रचार भाषा में होने से भाषा-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी। आजकल की बोलचाल की हिन्दी की कविता उर्दू के से एक विशेष प्रकार के छंदों मे अधिक खुलती है। अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होने । चाहिए।

(३) किसी एक छंद में ही काव्य-रचना का विशेष कौशल लाना चाहिए। जैसे तुलसी ने चौपाई और बिहारी ने दोहा लिखकर ही इतनी कीर्ति सम्पादन की है। भारवि का वंशस्थ, रत्नाकर की वसन्त तिलका, भवभूति और जगन्नाथराज की शिखरिणी, कालिदास का मदाक्रान्ता और राजशेखर का शार्दूल विक्रीड़ित इस विषय में प्रमाण हैं।

(४) पादान्त में अनुप्रासहीन छंद भी भाषा में लिखे जाने चाहिये।

द्विवेदी जी के उक्त आग्रह का तत्कालीन कवियों पर अच्छा असर पड़ा। उन्होंने संस्कृत के गणवृत्तों का पुनरुत्थान किया। द्रुत विलम्बित, शिखरिणी, वंशस्थ, वसंततिलका, शार्दूल-विक्रीड़ित और मंदाक्रान्ता आदि छंदों का प्रचलन हुआ।[1] कुछ उर्दू छंदों का भी प्रचलन बढा। हरिऔध और गुप्त जी ने नए छंदों को जन्म दिया।

उस युग के सबसे शक्तिशाली कवि गुप्त जी ने वर्णवृत्तों, गण-वृत्तों और मात्रिक छंदो का इसी समय अभ्यास किया और उन्हें आयत्त भी किया।[2] उनके काव्य से गणवृत्त : तोटक का एक उदाहरण लीजिये—

> "जितने गुण-सागर नागर हैं, कहते यह बात उजागर है।
> अब यद्यपि दुर्बल, आरत हैं, पर भारत के मम भारत हैं॥"[3]

छद अलंकार, रस, शब्द-शक्तियों आदि पर विस्तार से अध्याय ६ में विचार किया गया है। अस्तु, यहाँ सकेत मात्र करके हम आगे बढ़ते हैं।

अलंकार

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक काव्य में विषय की प्रधानता एवं रचना के सप्रयोजन होने से, वे काव्योचित गुण न आ सके जो सहृदय पाठक को आह्लादित करते। अधिकांश कवितायें भावों का वाचन मात्र है, न उनमें शब्द-सौंदर्य है और न अर्थ की रमणीयता[4] फिर भी कहीं-कहीं यमक अनुप्रास उपमा रूपक प्रतीप व्यतिरेक और अर्थान्तरन्यास के दर्शन हो जाते हैं आलोच्य काल में म व वस्स में रूप गण क्रिया आदि

के उत्कर्ष विधायक उपमानों अथवा प्रतीकों की खोज निरर्थक होगी। हां, कहीं-कहीं सानुप्रासिक वर्ण योजना से निश्चय ही पदलालित्य आ गया है। विशेष देखिए अध्याय ६ में काव्य की भाषा, छन्द, अलंकार प्रकरण।

सरस्वती के कवि भाग २ के अन्तर्गत वे सभी कवि आते है, जिन्होंने सन् १९११ ई० से सन् १९२० ई० तक सरस्वती पत्रिका में अपनी रचनायें प्रकाशनार्थ भेजी और जो समय-समय पर छपती रहीं। उन कवियों ने सरस्वती के माध्यम से द्विवेदी-युग की काव्य-परम्परा को आगे बढाया। भाषा का संस्कार किया। उन्होंने नई कविता के लिए भाव-भूमि पैदा की। भाग १ का काव्य प्रयोगात्मक था, किन्तु भाग २ में आकर कविता धीरे-धीरे अपना वास्तविक स्वरूप ग्रहण करने लग गई। अन्तरंग और बहिरंग दोनों दृष्टियों से इस काल का काव्य आगे बढ़ा। इसमें जीवन का स्पन्दन, वस्तुवादी दृष्टिकोण और यथार्थ चित्रण के दर्शन होने लगे। इस काल के कवियों की लम्बी सूची देखकर यह स्पष्ट हो जायगा कि अब कविता लिखने के लिए कवि खोजने या प्रोत्साहन द्वारा सप्रयास कवि बनाने की स्थिति का अन्त हो गया है। इसी काल के भीतर छायावादी काव्य के सुकोमल अंकुर भी निकलने लगे हैं। महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रेमाख्यान, निबन्ध-कविता और मुक्तक तथा प्रगीत हर प्रकार के काव्य-रूप सामने आये। इस काल के सरस्वती में लिखने वाले कवियों की सूची देखिए—

(१) राय देवीप्रसाद पूर्ण, (२) मैथिलीशरण गुप्त, (३) लक्ष्मीधर वाजपेयी, (४) मुकुन्द, (५) नवीन, (६) जनार्दन झा, (७) नाथूराम शर्मा 'शंकर' (८) केशांचितकवीनाम्, (९) लोचनप्रसाद पाण्डेय, (१०) पं० बालगोविन्द, (११) कन्हैयालाल पोद्दार, (१२) मन्नन द्विवेदी, (१३) कामता प्रसाद गुरु, (१४) रामचरित उपाध्याय, (१५) गिरिधर शर्मा, (१६) नित्यानंद, (१७) सैयद अमीर अली मीर, (१८) ब्रजनन्दन सहाय, (१९) सतकविदास, (२०) रूपनारायण पाण्डेय, (२१) पद्मसिंह शर्मा, (२२) महावीरप्रसाद द्विवेदी, (२३) रामनरेश त्रिपाठी, (२४) रामदयालु, (२५) अक्षयवट मिश्र, (२६) मुकुटधर शर्मा, (२७) गोपालशरण सिंह, (२८) जयशंकर प्रसाद, (२९) मधुर, (३०) मधुप, (३१) सनेही, (३२) रामचन्द्र शुक्ल, (३३) पारसनाथ सिंह, (३४) स्वामी दयाल श्रीवास्तव, (३५) जगन्नाथ खन्ना, (३६) मुकुटधर (३७) भारतीय, (३८) हरिऔध, (३९) प्रेमनारायण भट्ट, (४०) द्वारका प्रसाद गुप्त, (४१) पदुमलाल-पुन्नालाल बख्शी, (४२) बदरीनाथ भट्ट, (४३) मोतीलाल, (४४) देवीप्रसाद गुप्त (४५) रामदहिन मिश्र, (४६) विपन्न, (४७) सियारामशरण गुप्त, (४८) कर्ण, (४९) विद्याधर तिवारी, (५०) विश्वनाथसिंह, (५१) हेमनाथ चन्द्रवंशी, (५२) चकबस्त, (५३) पाण्डेय मुकुटधर, (५४) पं० शम्भूनाथ तिवारी, (५५) हरिवंश मिश्र, (५६) नारायण-प्रसाद श्रीवास्तव, (५७) पं० केशवप्रसाद मिश्र, (५८) रायकृष्णदास, (५९) श्री शिवकुमार त्रिपाठी, (६०) राधावल्लभ, (६१) बाबूराम मिश्र, (६२) गोकुलचन्द शर्मा, (६३) द्विरेफ, (६४) मनोहर प्रसाद मिश्र. (३५) मणिराम गुप्त, (६६) श्री कवि (६७) विजयानन्द त्रिपाठी ६८ ज्योतिष चन्द्र घोष ६९ कुमहरी दयाल निगम ७० जगमोहन वर्मा और ७१)

२ की कविता के भी निर्माता हैं। कुछ नये कवि जैसे रूपनारायण पाण्डेय, गोपालशरण सिंह, सनेही, सियाराम शरण गुप्त, मन्नन द्विवेदी, रामचरित उपाध्याय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, मुकुटधर पाण्डेय और श्री शिवकुमार त्रिपाठी ऐसे भी आ गए हैं, जिनके जीवन और काव्य के सम्बन्ध में नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

मैथिलीशरण गुप्त

जिस प्रकार प्रारम्भ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी सरस्वती पर छाये हुए थे, उसी प्रकार सन् १९१० ई० से १९२० ई० तक मैथिलीशरण गुप्त छा गए है। प्रायः प्रत्येक अंक में उनकी रचनायें प्रकाशित होती रही हैं। किन्हीं-किन्हीं अंकों में तो दो-दो कवितायें केवल मैथिलीशरण गुप्त जी की ही प्रकाशित हुई है। कारण यह है कि 'जयद्रथ वध' के बाद उनकी 'भारत-भारती' छपी जो गुप्त जी के लिए अखिल भारतीय सम्मान अर्जित करने वाली कृति सिद्ध हुई। उधर साकेत के प्रारम्भिक कुछ सर्ग भी सरस्वती के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुए जिसका पाठको पर अच्छा प्रभाव पड़ा। साकेत सम्बन्धी प्रकरण में हम अध्याय ९ के अन्तर्गत अधिक विस्तार के साथ इसका विवेचन करेंगे। यहां सरस्वती में प्रकाशित रचनाओं के कुछ उदाहरण पहले ले लें। गुप्त जी मातृभूमि की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

'क्षमामयी, तू दयामयी, तू क्षेममयी है।"
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है ॥'[1]

इसी वर्ष सितम्बर में गुप्त जी की 'ग्राम्य जीवन' कविता प्रकाशित हुई जिसमें गांवों की बड़ाई की गई है। यद्यपि यह कविता एकांगी है क्योकि गांवो की खराबियो तथा कमियों की ओर इसमें तनिक भी संकेत नहीं हैं, केवल अच्छाइयो ही अच्छाइयां दिखाई गईं, फिर भी कविता प्रवाहमय, रुचिकर तथा संगीतात्मक-बालकोपयोगी है—

'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है,
थोड़े में निर्वाह यहां है।
ऐसी सुविधा और कहां है ?
क्यों न इसे सबका मन चाहे।"[2]

अंग्रेजों के भक्तों तथा चापलूस लोगों पर 'खुशामदी टट्टू' के नाम पर खूब बौछार की गई है। देश की दुर्दशा का कारण उन्हें ही मानकर कवि लिखता है—

"भरते है निज पेट अन्य के घर को भर के,
घर पर है पर बने हुए हम पर के घर के।°
जाति हमारी दुखी न हो यदि हाथ पसारे,
पक्षपात का पंक लगे तो माथ हमारे ॥"[3]

---

१. सरस्वती, मार्च सन् १९११ ई०, पृष्ठ १०६।
२. सरस्वती, सितम्बर १९११ ई०, पृ० ४१४–१५।
३ वही जनवरी १९१८ ई० पृ० ३१

यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते गुप्त जी की रचनायें रहस्यवाद की ओर उन्मुख होने लगी थीं। गीत, प्रगीत के माध्यम से उनमें भी छायावाद के कतिपय चिन्ह उगने लगे थे। सन् १९१८ ई० की सरस्वती में प्रकाशित एक गीत का अंश प्रस्तुत है—

"निकल रही है उर से आह,
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है,
सम्पुट खोले सीप खड़ी।
मै अपना घट लिए खड़ा हूँ,
अपनी-अपनी हमें पड़ी।।"[1]

इसी प्रकार की रचनाओं के आधार पर गुप्त जी को भी छायावाद के प्रारम्भिक कवियों मे स्थान दिया जाता है, पर गुप्त जी मूलतः राष्ट्रीयता, धर्म और भारतीय संस्कृति के आख्याता कवि हैं।

भारत-भारती—इस कृति का रचनारम्भ रामनवमी सन् १९१२ ई० को हुआ और समाप्ति जन्माष्टमी सन् १९१३ ई० को की गई। इसकी रचना मे कवि ने 'हाली' और 'कैफी' के मुसद्दसों से लाभ उठाया है। कुर्री सुदौली के राजारामपालसिंह ने गुप्त जी को एक पत्र लिखकर, 'हाली के मुसद्दस' के समान, हिन्दुओं को प्रोत्साहित करने के लिए हिन्दी मे एक काव्य की रचना करने का आग्रह किया। इसी आग्रह की पूर्ति के लिए भारत-भारती की रचना हुई। इसी कारण कुछ आलोचकों ने इसे जातीय काव्य भी कहा है।

भारत-भारती का विषय है देश की स्थिति, अतीत और वर्तमान ! भारत का पुराना इतिहास मुसलमानों से पूर्व कितना गौरवशाली था, इसकी ओर सकेत करके कवि देश की वर्तमान (अंग्रेजी काल) शोचनीय दशा का वर्णन करता है। उसका यह भी सकेत है कि 'हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।'[2] अर्थात् हमारे पतन का अन्त अभी नहीं हुआ है। पता नहीं हमारी दशा और किस हद तक पहुँचेगी। यह कहकर उन्होंने समाज को जगाया, उसमें स्पन्दन पैदा किया। इसके प्रकाशन से हिन्दी में धूम मच गई। आचार्य द्विवेदी ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में इसके सम्बन्ध में लिखा—'ऐसी अच्छी कविता लिखने के लिए हम नहीं जानते, किन शब्दों में हम गुप्त जी का अभिनन्दन करें। ''''यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य मे युगान्तर उपस्थित करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा।''[1] इसके सम्बन्ध में डा० कमलाकान्त पाठक लिखते है—''भारत-भारती हिन्दी की तथा भारतीय नव-जागरण की ऐतिहासिक अनिवार्यता का परिणाम है। अतएव उसका इन दोनों क्षेत्रों मे महत्व है। सामयिकता के विशेष आग्रह के कारण उसका काव्यत्व उन्मेषशील नहीं है। वह उपदेशात्मक काव्य-कृति है। उसमें आत्महीनता की भावना का निराकरण, आत्मगौरव का पर्य-वेक्षण, अवनति का क्षोभ उन्नति की कामना पुरुषार्थ की प्रबोधना इत्यादि का समावेश है

वर्तमान की निराशा, अतीत का उद्बोधक आदर्श और भविष्य का आशा-स्वप्न तीनों उसमें है। वह नव-जागरण की सशक्त अभिव्यक्ति है और विकास का मार्ग-निर्देश करने वाली कृति, पर उसका काव्यत्व सामयिक ही है।"[1]

आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपनी कृति 'हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी' में गुप्त जी की भारत-भारती पर जहाँ अपना मत दिया है, वहाँ वे लिखते हैं—"मैथिलीशरण जी हिन्दी के इस युग के पहले कवि है जिन्होंने कविता की ज्योति समय, समाज और आत्मा के भीतर देखी है, जिन्होने नई काव्य धारा की अबाध गति से हिन्दी समाज को अभिसिंचित किया है। उनकी भाषा सम्बन्धिनी साधना उनके भावयोग के साथ उनकी समस्त कृतियों में व्याप्त दीख पड़ती है, जैसा कि उनके पहले के आधुनिक किसी कवि में नहीं दिखाई देती। एक चेतना-काव्यात्मक अनुभूति के प्रकाश में उनकी रचनायें चमक रही हैं। गुप्त जी जन समाज के प्रथम कृती-कवि कहे जाएँगे।"[2]

"गुप्त जी की आदर्शवादिता के साथ उपदेशक-वृत्ति भी उनकी रचनाओं मे आदि से अन्त तक देखी जाती है। 'भारत-भारती', 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' उपदेश विशिष्ट काव्य हैं।" वास्तविक बात यह है कि 'भारत-भारती' की रचना पूर्ण आर्य समाजी प्रभाव के अन्दर हुई है। 'भारत-भारती' में राष्ट्रीय भावना उतनी प्रबल नहीं है, जितनी साम्प्रदायिक भावना। मैथिलीशरण गुप्त के हिन्दू संस्कार आर्य समाज के दायरे में ही दृढ़ हो रहे थे।"[3]

आचार्य वाजपेयी के उक्त मत पर खीझकर डा० सुधीन्द्र लिखते है—"... राष्ट्रवाद के इसी अजस्र-विकासशील स्वरूप को न पहचानने वाले समालोचको ने उन्हें सकुचित राष्ट्रीय भावना का पोषक या सम्प्रदायवादी कहा है। वस्तुत: समालोचक को काव्य के साथ उस युग में पहुँचकर उसकी भूमिका में कवि की राष्ट्रवादिता पर दृष्टि डालनी चाहिए। हमारा यह राष्ट्रवादी कवि तब भी राष्ट्रीय था और आज भी है और जब तक राष्ट्रवाद विश्व-राष्ट्रवाद के रूप मे पर्यवसित हो जायगा, तब भी रहने वाला है।"[4]

वास्तव मे डा० सुधीन्द्र ने जो वितंडा खड़ा किया है, उसकी आवश्यकता नही है—कारण 'भारत-भारती' के लिखने का आग्रह, उसमे वर्णित विचार स्पष्ट है। हाँ, यहाँ स्वीकार करने की बात यह है कि हिन्दू राष्ट्रीयता जो भारत की मूल राष्ट्रीयता है, वह वर्तमान युग में सम्पूर्ण भारतीयता को आत्मसात् नहीं कर पाती। सम्पूर्ण भारतीयता में हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य लोग भी जो भारत मे पैदा हुए है और इसी के अन्न-जल से पल रहे है, आ जाते है। उन अन्यों के बारे में भारत भारतीकार ने वर्तमान खण्ड और भविष्यत् खण्ड मे मेल-मिलाप की चर्चा तो की है, पर अतीत खण्ड में उसने इनकी ओर ध्यान नही दिया है। कवि ने किसी अन्य सम्प्रदाय के विरुद्ध भी कुछ नहीं कहा है। परन्तु हिन्दुओं की मर्यादा, गुणगान और उनको विशेष उद्बोधन

---

१. डा० कमलाकान्त पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य, पृ० २७८।
२. हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, १९६३, नया संस्करण, पृ० ३१।
३ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी १९६३ का नया संस्करण पृ० ३३ ३५
४ हिन्दी कविता में युगान्तर पृ० २६१, प्रथम १९५० ई०

देने के कारण जिन आलोचकों ने 'भारत भारती' को हिन्दू संस्कार से युक्त 'साम्प्रदायिक' रचना कहा है, उनका मतलब इसे हेय समझने और इसके कवि को लांछित करने का कदापि नहीं है। यहीं लगे हाथ भारत भारती की कुछ पंक्तियाँ देख लें, इससे संशय मिट जाएगा—

"यूरोप भी जो बन रहा है आजकल मार्मिक बना,
यह तो कहे उसके खुदा का पुत्र कब धार्मिक बना ?
था हिन्दुओं का शिष्य ईसा, यह पता भी है चला,
ईसाइयों का धर्म भी तो बौद्ध सांचे मे ढला ॥"[1]

* * *

"हम हिन्दुओं के सामने आदर्श जैसे प्राप्त हैं—
संसार में किस जाति को, किस ठौर वैसे प्राप्त हैं"[2]

पं० रूपनारायण पाण्डेय

रूपनारायण पाण्डेय का जन्म १८८४ ई० में लखनऊ में हुआ था। आपके पिता का नाम प० शिवराम पाण्डेय था। एक वर्ष के अल्प वय में ही पाण्डेय जी पर से पितृ-छाया मिट गई। परन्तु पितामह की गोद में पलकर पाण्डेय जी बढ़े और संस्कृत का अध्ययन किया। पके आम की तरह पितामह कब तक साथ देते। वे भी चल बसे। रूपनारायणजी को परिवार के भरण-पोषण के लिए नौकरी करनी पड़ी। हां, यह सच है कि वेतनभोगी होने पर अध्ययन की ओर से पाण्डेय जी विमुख नहीं हुए। स्वाध्याय ने उन्हें बंगला, मराठी उर्दू और अंग्रेजी भाषाओं का भी रसास्वादन करने का मौका दिया।

लखनऊ में रहकर उन्होंने 'कृति बास रामायण' का बंगला से हिन्दी में अनुवाद किया। उसके उपरान्त 'नागरी-प्रचारक-पत्र' का सात वर्ष तक सम्पादन करते रहे। अनन्तर 'भारत धर्म महामण्डल' की मुख-पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' का भी तीन वर्ष तक सम्पादन किया। काशी के तत्कालीन सुप्रसिद्ध पत्र 'इन्दु' के सम्पादकीय विभाग में भी दो वर्ष तक काम करते रहे। पत्नी के निधन पर लखनऊ वापस आ गए। पुन: प्रयाग में इंडियन प्रेस के प्रकाशन-विभाग मे हिन्दी सेक्शन के ३ वर्ष तक प्रमुख रहे। दो वर्ष तक 'कान्यकुब्ज' पत्र का सम्पादन किया। लखनऊ लौटकर पुन: 'माधुरी' पत्रिका का नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशन कराया। ५ वर्ष तक उसके सम्पादक रहे। किन्हीं द्वन्द्वों के कारण वे माधुरी छोड़कर 'सुधा' के सम्पादन में लग गए और लगभग ३ वर्षो तक उसमें कार्यरत रहे। बीच मे छोड़कर पुन: १९३३ ई० से १९५० ई० तक 'माधुरी' का सम्पादन किया।

पं० रूपनारायण पाण्डेय अध्ययनशील पत्रकार और सुरुचिपूर्ण अनुवादक थे। उन्होने अपने लम्बे सम्पादन कार्य में सैकड़ों छोटी-बड़ी पुस्तकों का अनुवाद किया और अनेक का

---

१ भारत भारती पृ० ३० अट्ठाइसवाँ संस्करण
२ वही पृ० १६१ वही

भावानुवाद तथा पद्यानुवाद भी किया। काव्य की परिभाषा में वे मम्मट के अनुयायी थे और कालिदास की कविता के वे प्रेमी थे। समस्यापूर्ति में उन्हें बड़ा रस मिलता था।

द्विवेदी-युग में पैदा होकर और आचार्य द्विवेदी के अत्यन्त निकट रहकर भी वे द्विवेदी युगीन काव्य-खड़ी बोली की कविता से अधिक प्रभावित नहीं हुए, यह एक विचित्र बात है विषय और अभिव्यंजना दोनों में वे उदार रहे हैं। सरलता तो मानों उनका प्राकृतिक गुण था उन्हें स्वच्छन्दतावादी कवियों की श्रेणी में ही रखना होगा।

पाण्डेय जी मूलतः ब्रजभाषा के ही कवि रहे हैं। बाद में इन्होंने खड़ीबोली में भी रचनाएं की जो रसात्मक बोध लिए हुए हैं। विषयों के चुनाव से ही इनकी रसज्ञता प्रकट होती है। जैसे- 'दलितकुसुम', 'वन-विहंगम' और 'आश्वासन'। इनकी कविताओं का संग्रह 'पराग' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इनकी 'वन-विहंगम' नाम की कविता सहृदयता एवं सरसता का परिचय देती है। 'दलित कुसुम' की अन्योक्ति भी बड़ी हृदयग्राहिणी है। इन्होंने संस्कृत और हिन्दी दोनों के छंदों को खड़ी बोली में सुघड़ाई से ढाला है।[1]

"वन बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में एक कपोत कपोती कहीं?
दिन-रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं।
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रही।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं।"[2]

'दलितकुसुम' इनकी बड़ी दर्द भरी कविता है। इसमें कवि का पर्यवेक्षण बड़ा ही सटीक एवं मार्मिक है—

"अहह, अधम आंधी आ गई तू कहाँ से?
प्रलय घन-घटा-सी छा गई तू कहाँ से?
पर दुख-सुख तूने हा! न देखा भाला,
कुसुम अधखिला ही हाय, यों तोड़ डाला।"[3]

द्विवेदी-युग में रहकर भी इनका काव्य छायावादी युग की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने में प्रवृत्त है, यही इनके काव्य की विशेषता है।

ठाकुर गोपालशरण सिंह

संक्षिप्त परिचय—ठाकुर गोपालशरण सिंह हिन्दी के सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठित कवि हैं। इनकी भाषा प्रांजल और भाव प्रसाद गुण युक्त होते हैं। अपने हृदय के उद्गारों को सरल शैली में व्यक्त करना इसके कवि की विशेषता है।

इनकी रचनाओं का प्रारम्भ सम्वत् १९७१ वि० से होता है। इनके काव्य की विशेष चर्चा 'द्विवेदी युग के काव्य का परवर्ती विकास' शीर्षक अध्याय ९ में की जाएगी। इनकी

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६३५।
२. वन विहंगम, 'पराग', पृ० ६२।
३. दलित कुसुम, पराग पृ० ८८

रचनाओ के कई सग्रह प्रकाशित हो चुके है जिनमे माधवी, मानवी सचिता ज्योतिष्मती अ कादम्बिनी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रारम्भिक रचनायें साधारण है, पर बाद की रचन काफी शक्तिशाली और व्यंजक हैं। इनकी शैली की विशेषता है सरसता, सादगी और ग्रामी चित्र। भक्ति की भावना भी इनमें है। 'मानवी' मे कवि अभागिनी को सम्बोधित कर कहता है—

> "चुकती है नहीं निशा तेरी, है कभी प्रभात नहीं होता।
> तेरे सुहाग का सुख, बाले! आजीवन रहता है सोता।
> हैं फूल फूल जाते मधु में, सुरभित मलयानिल बहती है।
> सब लता बल्लियाँ खिलती हैं, बस तू मुरझाती रहती है॥"[1]

ठाकुर साहब बड़े सज्जन और ईमानदार कवि हैं। इन्होंने स्वयं अपने बारे में लिखा है— "जिस समय काव्य के क्षेत्र में मैंने प्रवेश किया, उस समय बोल-चाल की कविता अपनी रूपरेखा निश्चित नही कर पायी थी। अतएव मुझे अपना मार्ग निर्धारित करने में काफी समय लगा। आरम्भ में मेरा ध्यान भाषा के परिमार्जन की ओर अधिक था। मेरी प्रारम्भिक रचनायें द्विवेदी-युग की काव्य-रुचि का परिचय देती हैं। पुण्य-स्मृति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मुझपर बड़ी कृपा की, पत्र द्वारा प्रोत्साहित करते रहते थे और काव्य सम्बन्धी उपदेश भी दिया करते थे। मेरा अधिकांश जीवन ग्राम मे ही व्यतीत हुआ है। चारों ओर फैली हुई खेतों की हरियाली, स्वच्छ झरनों की मधुर ध्वनि, सघन आम्रकुंज और उसमें छिपी हुई कोकिला की तान सदैव मेरे आमोद-प्रमोद की सामग्रियाँ रही हैं। खेतों में ही मेरा ज्ञान अंकुरित हुआ था और उनमे उगने वाले पौधो से मुझे कितने ही उपदेश प्राप्त हुए थे। इस जीवन में जहाँ प्रकृति की मनोहर छटा मेरे मन को मुग्ध करती है, वहीं ग्रामीण जनता की दुरवस्था देखकर हृदय को ठेस भी लगती है।"[2]

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

'सनेही' जी हिन्दी के बड़े ही भावुक और सरस हृदय कवि हैं। ये पुरानी और नई दोनों चाल की कवितायें लिखते हैं। इनकी बहुत सी कवितायें 'त्रिशूल' के नाम से निकली हैं। ये उर्दू में भी कविता करते रहे। पुराने ढग की इनकी कवितायें 'रसिक मित्र', 'काव्य-सुधानिधि' और 'साहित्य सरोवर' आदि मे बराबर निकलती रहीं। पीछे इनकी प्रवृत्ति खड़ी बोली की ओर हुई। इनकी चार पुस्तकें प्रकाशित हैं—'प्रेम पचीसी', 'कुसुमांजलि', 'कृषक क्रन्दन' और 'करुणा-कादम्बिनी'। इस मैदान में भी इन्होंने अच्छी सफलता पायी है। एक पद्य देखिये—

> "तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ।
> तू है महासागर अगम, मैं एक धारा क्षुद्र हूँ।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६३।
२. आधुनिक कवि, ४, भूमिका, पृ० २।
वही पृष्ठ ११ १२

तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ।
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ॥"[1]

'सनेही' जी कानपुर के मण्डलीक कवियों में से हैं। कवित्त—सवैया छंद को आधुनिक युग मे चमकाने वाली कवि मण्डली के आप गुरु हैं। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में बराबर लिखने वाले कवियों में हैं। उक्ति का अनूठापन, शब्द-प्रयोग का चमत्कार छंद की बंधी हुई गति और कल्पना की रूपसर्जिनी विशेषता इनके काव्य के गुण हैं।

'सनेही' जी का जन्म उन्नाव जिले के हड़हा नामक गाँव में सन् १८८३ ई० में हुआ था। इसके पिता का नाम अवसेरीलाल शुक्ल था। पिता जी इनके बचपन में ही स्वर्गवासी हो गये थे।

इनकी 'कृषक क्रन्दन' नामक रचना पहले प्रताप में छपी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क से सन् १९१४ ई० से ये सरस्वती में भी कवितायें लिखने लगे। कुछ दिन तक स्कूल शिक्षक रहकर इन्होंने काम किया था, फिर साहित्य के क्षेत्र मे आ गए। 'सुकवि' के सम्पादन मे ये बहुत दिनों तक लगे रहे। इस पत्र को इन्होंने बड़ी ख्याति दिलाई। तब ये 'सनेही' और 'त्रिशूल' उपनामों से कविता करते थे।"[2]

सियारामशरण गुप्त

जीवनवृत्त—भाद्र पूर्णिमा, संवत् १९५२ वि० (सन् १८९५) को सियाराम बाबू चिरगांव जिला झांसी में उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम सेठ रामचरण जी था। ये राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में हुई और बाद में इन्होंने घर पर स्वतंत्र रूप से अध्ययन किया। सियारामशरण गुप्त हिन्दी में कवि, निबन्धकार, कथाकार और नाटककार के रूप में प्रसिद्ध है। इनकी रचनाओं की भाषा शुद्ध, सरल और परिमार्जित है। ये बड़े ही संवेदनशील कवि रहे हैं। जीवन और काव्य दोनों में इनकी आन्तरिक पीड़ा मन्दिर के दीपक की भांति मंद-मंद जलती रही।

सियारामशरण गुप्त ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, पर इनके सभी ग्रन्थ लोक प्रचलित नहीं हुए, फिर भी उन ग्रन्थों का ऐतिहासिक महत्व है। इनके काव्य में उल्लास, सरसता, हास, उत्साह, स्फूर्ति और जिन्दादिली का सर्वथा अभाव है। इनकी मूलवृत्ति निबन्धकार की है। इनकी कविताओं में भी विचार और उच्चभाव रहते हैं। इनका चिन्तक निबंधकार इनके भीतर बैठे हुए कोमल कवि पर हावी हो जाता है। इनकी प्रथम कृति 'मौर्य विजय' सन् १९१४ ई० में प्रकाशित हुई। यही आलोच्य काल के अनुशीलन की सामग्री है। इनकी शेष कृतियाँ द्विवेदी-युग के परवर्ती विकास के अ तर्गत आती हैं। अस्तु, उनका विवेचन अध्याय ९ मे किया जाएगा।

मौर्य विजय मौर्य विजय एक ———— है। इसमे सिल्यूकस के भारत पर आक्रमण की कथा है स्वदेश प्र म और अतीत गौरव का प्रदर्शन ही कवि का लक्ष्य है इसकी प्रेरणा उन्हें

मैथिलीशरण गुप्त से मिली थी। यह युगानुकूल कथात्मक काव्य है। इसमें कुल तीन सर्ग हैं। कथा छप्पय छंदो मे कही गई है। चन्द्रगुप्त मौर्य के ऐश्वर्यपूर्ण राज्य का वर्णन, सिल्यूकस का आक्रमण, मंत्री चाणक्य के आप्तवचन, ग्रीक और हिन्दुओं का युद्ध आदि प्रसंग इसमें समाहित है। अन्त में 'एथेना' सिल्यूकस की पुत्री का चन्द्रगुप्त के साथ ब्याह हो जाता है। यह एक राष्ट्रीय गौरव की कथा है—

"जय जय भारतवासी कृती
जय जय जय भारत मही।"[1]

सन् १९१६ ई० से इनकी रचनायें सरस्वती में प्रकाशित होने लगीं। सरस्वती में प्रकाशित इनकी 'सन्तोष' शीर्षक रचना की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

"जिस दिन तुम इस हृदय कुंज पर
अकस्मात छा जाओगे,
करुणा धारायें बरसा कर
सब संतोष बहाओगे ।।"[2]

श्री मन्नन द्विवेदी

द्विवेदी जी का जन्म सन् १८८५ ई० में गोरखपुर जिले के 'गजपुर' गाँव में हुआ था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त करके ये आजमगढ़ जिले में तहसीलदार हो गये थे। इन्हें कविता लिखने का शौक बचपन से ही था। द्विवेदी जी देशभक्त, सरसहृदय और मिलनसार थे। ये उस समय के अच्छे हिन्दी लेखक माने जाते हैं। इनके ग्रन्थ हैं—बन्धु-विनय, धनुष-भंग, आर्य-ललना, रणजीतसिंह का जीवन चरित्र, गोरखपुर विभाग के कवि, भारत के प्रसिद्ध पुरुष, रामलाल (उपन्यास) और मुसलमानी राज्य का इतिहास।

द्विवेदी जी की मान्यता थी कि मातृभूमि का पद जन्म-प्रदायिनी माता से भी बढ़कर है। इस सम्बन्ध में उनके विचार पढ़िये—

"जन्म दिया माता-सा जिसने किया सदा लालन-पालन।
जिसकी मिट्टी जल आदिक से विरचित है हम सबका तन।
गिरिवर गण रक्षा करते हैं उच्च उठा निज शृंग महान।
जिसके लता द्रुमादिक करते हैं हमको निज छाया दान।

* * *

ऐसी मातृ-भूमि मेरी है स्वर्ग लोक से भी न्यारी।
जिसके पद कमलों पर मेरा तन-मन-धन सब बलिहारी।"[3]

---

१. सियारामशरण गुप्त, उनकी कृतियाँ, पृ० ३७।
२ सरस्वती माघ १९१९ ई० पृ० १३९
३ हिन्दी साहित्य उदभव और विकास भाग २ पृ० २०१

इनकी वाणी मे देश के नव निर्माण का संदेश है देश के स्वर्णिम अतीत का यश-गान कर वर्तमान पतनावस्था पर दुख प्रकट करता हुआ कवि पुनः उत्थान की भावना के गीत गाता है। उसकी कुछ पंक्तियाँ 'वीर बोनापार्ट' के अन्तिम दिन से उद्धृत हैं—

"आज दिखाई पड़ते हैं जो सुमन सुभग शोभाशाली.
कल प्रभात ही उन्हें तोड़ने वह देखो, आता माली।"[1]

जीवन का अन्त अनिवार्य है। मानव इस संसार का पाहुना है, वह यहाँ से जाता है, या उसे जाना पड़ता है। वीर 'बोनापार्ट' किसी समय योरोप का सर्वश्रेष्ठ योद्धा, विजेता और सम्राट था। वह मृत्यु के कगार पर बैठा है। मातृभूमि का प्यार उसकी नस-नस में व्याप्त है—

"मर जाने पर मुझे कार्सिका-द्वीप भेज देना होगा।
जिसकी है यह देह उसी में इसे मिला देना होगा॥
अथवा मुझे सुला देना तुम, उस प्यारे झरने के तीर।
जिसका जल पीकर जीता था यह नृप सैनिक बन्दीवीर॥"[2]

द्विवेदी जी की 'चमेली' कविता कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमें कवि का स्वच्छन्द निरीक्षण है। इसकी पंक्तियाँ व्यवस्थित, मधुर एवं गीतात्मक हैं।

"सुन्दरता की रूप राशि तुम, दयालुता की खान चमेली।
तुम सी कन्यायें भारत को कब देगा भगवान चमेली॥
चहक रहे खग वृन्द वनों में, अब न रही है रात चमेली।
अमल कमल कुसुमित होते हैं, देखो हुआ प्रभात चमेली॥"[3]

श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी भाव, भाषा एवं छंद के क्षेत्र में परम्परावादी न होकर स्वच्छन्दतावादी हैं। उनकी भावनायें उन्मुक्त है। द्विवेदी-युग के कवियों में उनका ऊँचा स्थान है।

पं० रामचरित उपाध्याय

उपाध्याय जी का जन्म सं० १९२९ में गाजीपुर में हुआ था, पर पिछले दिनों में आजमगढ के पास एक गाँव में रहने लगे थे। कुछ वर्ष हुए इनका देहान्त हो गया। वे संस्कृत के अच्छे पंडित थे और पहले शुरू में पुराने ढंग की हिंदी कविता की ओर इनकी रुचि थी। सरस्वती की खड़ीबोली कविता प्रणाली से नई भाषा की ओर बढ़े। द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से बराबर सरस्वती में लिखते रहे। 'राष्ट्र-भारती', 'देवदूत', 'देव-सभा', 'देवी द्रौपदी', 'भारत भक्ति', 'विचित्र विवाह' इत्यादि कवितायें उन्होंने खड़ीबोली में लिखी हैं। छोटी कविताओं की भाषा विदग्ध है। 'रामचरित चिन्तामणि' नामक एक बड़ा प्रबन्ध काव्य भी इन्होंने लिखा है जिसके कई प्रसंग सुन्दर बन पड़े हैं, जैसे अंगद-रावण संवाद—

---

१ सरस्वती, जून १९१३ ई०।

कुशल स रहना यदि है तुम्हें, दनुज : तो फिर गर्व न कीजिए ।
शरण में गिरिये रघुनाथ के, निबल के बल केवल राम है ।"[1]

'रामचरित चिन्तामणि' के सम्बन्ध में डा० गोविन्दराम शर्मा लिखते हैं—"यह द्विवेदी युग की देन है । हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' के साहित्य क्षेत्र में आने के पश्चात् इसकी रचना हुई । प्रिय प्रवास की भांति इसमें भी संस्कृत गर्भित खड़ीबोली को स्थान दिया गया है । इसका कथानक २५ सर्गों में विभक्त है । कथानक का आधार वाल्मीकि रामयण तथा रामचरितमानस है । कथा 'मानस' की अपेक्षा 'रामायण' के निकट है ।...संस्कृत के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणों के अनुसरण पर इसकी रचना की गई है । लोक प्रचलित कथा, उसका सर्गों में विभाजन, धीरोदात्त गुण-समन्वित नायक और महाकाव्योचित विविध प्रसंगों एवं प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन आदि महाकाव्य के स्वरूप-विधायक अनेक तत्व इसमें वर्तमान हैं । पर जब महाकाव्य के स्थायी और विशिष्ट सिद्धांतों के आधार पर इस ग्रंथ की समीक्षा करते है, तब हमें इसके महाकाव्यत्व मे सन्देह होता है ।...अनेक दोषों के कारण इसे हम महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान नही देते । इसका कथानक सुगठित नहीं है । राम को कवि ने ईश्वर के रूप में अपनाया है, पर उनके चरित्र का ठीक-ठीक विकास स्वाभाविक ढंग से नही हो सका है ।'[2]

उपाध्याय जी की 'शनैश्चर' कविता सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, उसमें शनि महाराज की कृपा का वर्णन है—

'जिनके जन्म केन्द्र पर पहुंचे हम, तो फिर क्या कहना है ?
मिले सब्ज कदमों से उनका दुस्तर जग में रहना है ।
पल में उनके सोने-रूपे कूड़े करकट बन जाते
गूंगे बनकर उन्हें दैन्य-दुख पड़ता ज्योंत्यों सहना है ।।"[3]

मुकुटधर पाण्डेय

पं० मुकुटधर पाण्डेय प्रकृति परक एवं रहस्यात्मक अनुभूति लेकर चलने वाले द्विवेदी-युगीन कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । आत्माभिव्यंजना में वे युग के कवियो से आगे है । आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने छायावादी प्रारम्भिक कवियों में इनका महत्वपूर्ण स्थान माना है ।

पाण्डेय जी मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ के बिलासपुर जिले में महानदी के किनारे स्थित बालपुर नामक ग्राम के निवासी हैं । इनका जन्म अश्विन, सं० १९५२ वि० में हुआ था । आप सरयूपारीण ब्राह्मण है । आपका वंश प्राचीनता, प्रतिष्ठा और पाण्डित्य में सम्मानित है । आप चार भाई हैं—पाण्डेय पुरुषोत्तम प्रसाद, पांडेय लोचन प्रसाद, पाण्डेय मुरलीधर और पाण्डेय मुकुटधर । संयोगकी बात है कि ये चारों भाई साहित्यिक एवं कवि हैं । इनकी काव्यगत विशेषताओं का

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१९
2. डा० गोविन्दराम शर्मा : हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य पृष्ठ ४५८ ।
3. सरस्वती जुलाई १९२० ई० पृ०

अध्ययन अध्याय आठ में द्विवेदी युग में छायावाद की कतिपय मूल प्रवृत्तियों के अन्तर्गत किय जायगा। यहां इनकी सरस्वती में प्रकाशित दो कविताओं से उद्धरण दिए जा रहे हैं। प्रभुकी सत्त कवि को कहां-कहां मिलती है, उसी की ओर संकेत है—

'सरल स्वभाव कृषक के हल में
पतिव्रता रमणी के बल में,
श्रम-सीकर से सिंचित धन में,
विषयमुक्त हरिजन के मन में
कवि के सत्य पवित्र वचन में,
तेरा मिला प्रमाण।'[1]

पाण्डेय जी की रचनायें प्रवाहमय भाषा एवं सूक्ष्म विचारों से युक्त हैं। इनकी प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावादी है। इनके गीतों में जिज्ञासा, कुतूहल, संगीत और रस विद्यमान है। 'कुररी के प्रति' शीर्षक रचना में एक उदाहरण देखिए—

'बता, मुझे ऐ विहग विदेशी, अपने जी की बात।
पिछड़ा था तू कहां, आ रहा जो कर इतनी रात ?
निद्रा में जा पड़े कभी के, ग्राम्य मनुज स्वच्छन्द।
अन्य विहग भी निज खोतों में सोते हैं सानन्द।
इस नीरव घटिका में उड़ता है तू चिन्तित-गात।
पिछड़ा था तू कहा, हुई क्यों तुझको इतनी रात।'[2]

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

बख्शी जी द्विवेदी-युग के प्रसिद्ध कवियों में से है। इन्होंने द्विवेदी जी के बाद सरस्वती का सम्पादन भी किया था। ये कविजगत् और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नई कविता का संचार चाहते थे। ये प्रकृति के साधारण, असाधारण सब रूपों पर प्रेम-दृष्टि डालकर उसके रहस्य-भरे सच्चे संकेतों को परखकर, भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृत्रिम, स्वच्छन्द मार्ग निकाल रहे थे। भक्ति-क्षेत्र में उपास्य की एकदेशीय या धर्म विशेष में प्रतिष्ठित भावना के स्थान पर सार्वभौम भावना की ओर बढ़ रहे थे। उसमे सुन्दर रहस्यात्मक सकेत भी रहते थे। अतः हिन्दी कविता की नई धारा का प्रवर्त्तक इन्हीं को समझना चाहिए।[3]

इनकी अनेक कवितायें सरस्वती में उन दिनों प्रकाशित होती रहती थीं। अन्य पत्रिकाओ मे भी ये बराबर लिखते रहे। उसी समय गोकुलचन्द शर्मा, हरिऔध और अमीर अली 'मीर', 'द्विरेफ' आदि की कवितायें भी प्रकाशित होती रहीं। द्विरेफ की 'भारत देश' कविता अत्यन्त प्रवाहमय तथा सरल भाषा में लिखित है—

---

१ सरस्वती, दिसम्बर १९१७ ई०,।

२ सरस्वती, जुलाई, १९२० ई० पृष्ठ २७।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६८०

"जय जय प्यारे भारत देश"

* * *

जय जय प्यारे देश हमारे,
तीन लोक मे सबसे न्यारे।
हिमगिरि मुकुट मनोहर धारे।
जय जय सुयश सुवेश।"[1]

इसमें भारतवर्ष की बड़ाई गाई गई है। सचमुच हमारा देश तीनों लोक से न्यारा है। यह राष्ट्रीय भावना जनता के हृदय मे उस समय प्रबल हो गई थी।

पं० शिवकुमार त्रिपाठी

सन् १९१८ ई० की सरस्वती मे एक नए कवि अवतरित हुए, जिनका नाम पं० शिवकुमार त्रिपाठी है। त्रिपाठी जी आजमगढ़ जिले के रहने वाले थे और उनके हृदय में राष्ट्रीयता का प्रबल वेग लहरें ले रहा था। उनकी चार कवितायें उन्हीं दिनों सरस्वती के विभिन्न अंको मे प्रकाशित हुई जिनमें 'आत्मदशा',[2] 'आर्तनाद'[3] और 'आकाक्षा'[4] अधिक विचारणीय हैं। इनकी प्रथम कविता प्रार्थना, सन् १९१८ ई० में प्रकाशित हुई। यहाँ आर्तनाद और आकांक्षा से कुछ पक्तियाँ उद्धृत हैं—

"भव-भय-भ्रम के तुम भेदक हो, कलिकल्मष के काल।
फिर क्यों भारत की निर्धनता, अब तक सके न टाल?
दैन्य-दशा से दुखी देश का, झुका हुआ है भाल।
दया दृष्टि से फिर क्यों इसको करते नहीं निहाल?"[5]

प्रस्तुत 'आर्तनाद' मे कवि ईश्वर से प्रश्न कर रहा है कि हे प्रभु! तुम इस दीन भारत को पुनः निहाल क्यों नहीं कर देते? आज दीनता, पराधीनता और हीनता के कारण इसका मस्तक नत है। कवि की वाणी में ओज है, भाषा मे प्रवाह तथा प्रांजलता है। कविता का मूल स्वर प्रार्थना और उद्बोधन का ही परिमार्जित रूप है। यहीं 'आकांक्षा' से भी एक उदाहरण ले लें—

"यह दीन देश भारत, नित हो रहा है गारत;
भूखों तड़प रहा है, करके कराल क्रन्दन॥"[6]

इन पक्तियों में भी देश की दुर्दशा पर प्रकाश डाला गया है। कवि की आकांक्षा है कि

---

१. सरस्वती, १९२० ई०।
२. वही, जनवरी, १९१९, पृ० १।
३. वही, मई, १९१९।
४. वही, जून, १९१९।
५. वही, आर्तनाद, मई, १९१९।
६. वही जून १९१९ ई०

ईश्वर भारत को इस स्थिति से मुक्ति दे। यह कविता राष्ट्रीय जागरण के उच्च स्वर के रूप में लिखी गई है। ऐसा लगता है कि कवि सप्रयोजन काव्य-रचना में जुटा हुआ है। इस कवि के परवर्ती काव्य की भी खोज होनी चाहिए क्योंकि ये पंक्तियाँ नव-निर्माण में बड़ी सहायक होती हैं। त्रिपाठी जी का सांस्कृतिक एवं धार्मिक पक्ष भी प्रबल जान पड़ता है।

काव्य में परिवर्तन

सन् १९१० ई० तक द्विवेदी-युग के कवि वन्दना-गीत, प्रशस्ति-गीत, वर्तमान चिन्तन, जागरण-गीत, अभियान-गीत गा रहे थे। वे निबन्ध-काव्य और वर्णनात्मक लम्बी कवितायें लिखना प्रारम्भ कर चुके थे। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत खण्डकाव्य की योजना बन रही थी, पर 'जयद्रथ वध' के अतिरिक्त कोई व्यवस्थित खण्डकाव्य नहीं लिखा गया था। महाकाव्य की तो बात अभी बिल्कुल दूर थी। इस युग के कवि 'सूक्ति काव्य', अन्योक्ति और सुभाषित से आगे बढ़ रहे थे। संस्कृत काव्य के अनुसरण, अंग्रेजी के सम्पर्क और वस्तुवादी जीवन की प्रतिक्रिया आदि सभी इतिवृत्तात्मक कविता धारा के माध्यम से चल रहे थे। नीति काव्य, आदर्शवाद, युगधर्म के गीत कवि काफी गा चुके थे। अब वे वीर-पूजा की भावना, मानवीय आदर्श और यथार्थ की ओर बढ़ रहे थे। भाषा में कसाव और मार्दव आ रहा था। 'जयद्रथ वध' की भाषा उस समय की आदर्श भाषा के रूप मे देखी जा सकती है।

सन् १९११ ई० के बाद कई दृष्टियो से काव्य के अन्तरग और बहिरंग में अन्तर आने लगा। यह परिवर्तन का क्रम एकाध वर्ष पहले से प्रारम्भ हो चुका था। अब कविता में व्यक्ति का आदर्श जाति, समाज और देश के लिए उत्सर्ग में माना जाने लगा और उधर राज और समाज का आदर्श गांधी जी के 'रामराज्य' की स्थापना में। आचार्य द्विवेदी ने उसी समय कवियो का ध्यान हिन्दी के अभाव की ओर खीचा। नई भाषा की स्थापना के बाद नूतन विचारों की सृष्टि, नए आदर्शो की स्वीकृति और नवीन काव्य-शैलियों के ग्रहण की आवश्यकता की ओर युग-निर्माता ने इंगित किया—

"भारत में अनन्त नरेश, देशभक्त, वीर शिरोमणि और महात्मा हो गए है। हिन्दी के सुकवि यदि उनपर काव्य करे तो बहुत लाभ हो। 'पलासी युद्ध', 'वृत्त संहार', 'मेघनाथ वध' और 'यशवन्त राव महाकाव्य' की बराबरी का एक भी काव्य लिखकर हिन्दी की श्रीवृद्धि करनी चाहिये।"[1]

आचार्यश्री के आह्वान का सुफल निकला। हरिऔध का प्रिय प्रवास, गुप्त जी की भारत-भारती, साकेत (पूर्वार्द्ध), सियारामशरण गुप्त का मौर्य विजय, प्रसाद का महाराणा का महत्व आदि काव्य प्रकाशित हुए। उधर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी उन्ही दिनों एक निवेदन प्रकाशित कराया—'धार्मिकता, वीरता, धीरता, उदारता, परोपकारिता, न्यायप्रियता, शील सौजन्य से इतिहास आलोकित हो रहा है। उनके ऊपर अनन्त काव्य नाटक आदि लिखे जाते हैं।'

सरस्वती के प्रकाशन और उससे पूर्व नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना ने काव्य में हिन्दी खड़ी बोली को तो प्रतिष्ठित कराया ही, उनकी सत्प्रेरणा से 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', प्रयाग का जन्म हुआ। इस संस्था की स्थापना ने हिन्दी के प्रचार, प्रसार और उसके अखिल भारतीय स्वरूप-विस्तार में बड़ी सहायता पहुँचायी। देश भर के भारतीय भाषा के साहित्यकारों का हिन्दी को समर्थन मिलने लगा। कांग्रेस द्वारा हिन्दी के समर्थन ने, हिन्दी के पक्ष में, एक नया द्वार खोल दिया। इधर पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन और महात्मा गांधी के आशीर्वाद से हिन्दी-कविता में नई शक्ति आयी। अब हिन्दी राष्ट्रीय विचार धारा की अखिल भारतीय पयस्विनी बन गई। अस्तु, इसके कवियों, लेखकों, चिन्तकों और आलोचकों पर नई जिम्मेदारी भी आ गई।

युद्ध का प्रभाव

सन् १९१४ ई० में यूरोप में प्रथम महायुद्ध का बाजा बजा। विश्व के प्रायः सभी देश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उससे प्रभावित हुए। भारत जो उस समय अंग्रेजों के अधीन था, यह भी युद्ध की आग की लपटों से न बच सका। लोकमान्य तिलक आदि प्रखर राष्ट्रीयवादी नेता असहयोग करके, भारत की एक भी सेना या सामग्री विदेशों में लड़ने के लिये नहीं जाने देना चाहते थे, किन्तु गांधी जी राजनीति में पदार्पण कर चुके थे, उन्होंने राष्ट्रीय नेताओं को समझा-बुझाकर युद्ध के समय अंग्रेजों की सहायता की। लेकिन सन् १९१९ ई० में जब युद्ध समाप्त हुआ तो अंग्रेजों ने भारत का स्वराज्य, सहानुभूति, और सुविधा के बदले कठोरता से दमन करना शुरू किया। अंग्रेजों के इस विश्वासघात से देश में घृणा और प्रतिक्रिया पैदा हुई। राष्ट्रीयता की मांग ने जनता को कठोर बना दिया। गरीबी, शोषण और उत्पीड़न के बावजूद भारतीय मध्यमवर्ग सरकार से जूझने और उसे अपदस्थ करने के लिए जी जान से प्रयत्नशील हुआ।

हिन्दी कविता पर इस परिस्थिति का भी गहरा प्रभाव पड़ा। हमारे कवि-लेखक राष्ट्रीयता के पोषण में जी-जान से लग गए। उनका बहुत-सा काव्य प्रचार की सामग्री बन गया। इस युग में न केवल काव्य ग्रन्थों का सृजन हुआ, वरन् हिन्दी-शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान को बढ़ाने वाले शास्त्र तथा विज्ञान के ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे। इस प्रकार यह युग आन्दोलन तथा हिन्दी के भण्डार की श्रीवृद्धि का समय है। गद्य-पद्य, व्याकरण-दर्शन, छंद-अलंकार आदि पर ग्रन्थों की रचना हुई। विविध-साहित्य-सृजन ने कवियों को प्रेरणा दी। इस वातावरण से नई स्फूर्ति एवं चेतना के भाव पैदा हुए।

राष्ट्रीय चेतना का विकास

हम पीछे कह चुके है कि द्विवेदी युग का उत्तरार्द्ध हिन्दी कविता की राष्ट्रीय चेतना का इतिहास है। उसमें जीवन और जाग्रति, बल और बलि, अतीत-वर्तमान-भविष्यत् की सामंजस्यपूर्ण भावनायें लहरें ले रही है। देश का राजनैतिक पक्ष हिन्दी-कविता कामिनी के आंचल से लगकर राष्ट्रीय जीवन का स्पन्दन बन गया है। श्री रामनरेश त्रिपाठी के पथिक, मिलन, गोकुलचन्द शर्मा का गांधी गौरव गुप्त जी के काव्य किसान और अनाथ इसके प्रमाण हैं

इस युग की कविता में राजनीतिक चेतना का गहरा प्रभाव है और कविता स्वतंत्रता आन्दोलन से पूर्णतया सम्बद्ध है। मातृभूमि-प्रेम और स्वदेशी-गौरव तो इस युग की कविता के प्राण हैं। यथार्थ की अनुभूति की व्यापक व्यंजना इस युग के काव्य की विशेषता है। वैचारिक क्रान्ति और युग की मांग ने प्राचीन थोथी मान्यताओं को हिला दिया। नई आस्था, नए विश्वास और सर्वहित कल्याण की भावना ने काव्य में नए मूल्यों की स्थापना की। हिन्दी कविता का आन्तरिक और बाह्य-सौंदर्य एक नई आभा से चमक उठा।

द्विवेदी युग का समाज अगति से प्रगति की ओर और दासता से स्वाधीनता की ओर बढ़ रहा है। व्यक्ति और समूह सभी अपना-अपना दायित्व अनुभव कर रहे हैं। धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक चेतना के विकास से साहित्यिक गगन में नई आभा फैल रही है। डा० सुधीन्द्र के शब्दों में—"सम्पूर्ण हिन्दी-कविता की परम्परा मे यदि किसी काल की कविता पूर्ण समाजदर्शी होने का धर्म पालन करती है, तो वह है द्विवेदी काल की कविता।"[1]

इस युग की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि हमारे कवियों ने प्राचीन संस्कृत साहित्य से लेकर आधुनिकतम पश्चिमी साहित्य का अनुशीलन किया। नये भावबोध के दर्शन किए, किन्तु भारतीय जीवन-दर्शन देश की प्रकृति और मातृभूमि की धरती की गंध, हिन्दी कविता में सर्वत्र मूल सांस की तरह उच्छ्वसित है। अंग्रेजी से ऊपरी स्वरूप भले ग्रहण किया गया हो, पर काव्य की आत्मा सोलह आने देशी है। यहीं हम यह भी कहना चाहेंगे कि इस युग की कविता पर अन्य भारतीय भाषाओं का प्रभाव भी अत्यल्प है। अनजान में अनेक लोगों ने हिन्दी पर बंगला के प्रभाव का जो ढोल पीटा है वह तथ्य नही, कल्पना पर आधारित है।

५

सरस्वती से भिन्न कवि

भिन्नता के कारण

सरस्वती से भिन्न प्रमुख कवियों का नामोल्लेख करने से पूर्व यह स्पष्ट करना अधिक समीचीन होगा कि भिन्नता से हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि ये कवि कभी सरस्वती मे न तो अपनी रचनायें प्रकाशित कराते थे और न तो सम्पादक द्विवेदी जी से इनका कोई सम्बन्ध था। वरन् इनकी भिन्नता के मूल कारण ये हैं—पहली बात तो यह है कि हरिऔध, पाठक और शकर कवि ये तीनों भारतेन्दु-युग से ही ब्रजभाषा में रचनायें कर रहे थे। सरस्वती के जन्म से पूर्व ये कवि अस्तित्व में आ चुके थे। सरस्वती के प्रकाशन के बाद द्विवेदी जी के आग्रह पर इन्होंने ब्रजभाषा का दामन छोड़कर खड़ीबोली में प्रवेश किया, किन्तु इन तीनों कवियों की शैली, पकड़, विषय आदि भिन्न-भिन्न ही रहे। संक्षेप में श्रीधर पाठक स्वच्छन्दतावादी थे, शकर कवि आर्य समाजी विचारों को महत्व देने वाले मनमौजी कवि रहे, तो हरिऔध अति भीरु, शालीन एवं बनी लकीर पर दूर तक चलने वाले परम्परावादी रससिद्ध कवि थे। ये तीनों महान कवि तत्कालीन आचार्य द्विवेदी से कुछ अंशों तक अवश्य ही प्रभावित थे। ये प्राय: सभी द्विवेदी जी के व्यक्तिगत प्रभाव में भी रहे। 'हरिऔध' और कवि शंकर' की अनेक लम्बी-लम्बी वर्णनात्मक रचनायें सरस्वती के विभिन्न अंकों में जिन दिनों द्विवेदी जी उसके सम्पादक थे, देखी जा सकती हैं। पाठक जी ने सरस्वती में कम ही लिखा है, और इनकी रचनायें भी उपर्युक्त कवियों से सर्वथा भिन्न होती थीं। इन कवियों को हम सरस्वती से भिन्न इसलिए मानते हैं कि इन्होंने मैथिलीशरण गुप्त आदि की तरह द्विवेदी जी की डिक्टेशन (विषय, भाषा और शैली में) नहीं लेते थे। वे अपने स्वतंत्र विचारों, मौलिक भावों को स्वतंत्र शैली में कविता का विषय बना रहे थे। इसलिए हमने इन्हें सरस्वती का कवि नहीं माना है।

दूसरी बात है रामनरेश त्रिपाठी और माखनलाल चतुर्वेदी सम्बंधी। इन दोनों कवियो के काव्य का प्रारम्भ सन् १९१० ई० के बाद होता है और इनका विकास छायावादी भूमिका मे हुआ ये दोनों [illegible] वी कवि हैं इनके काव्य में व्यवस्थित राष्ट्रीय चेतना के भाव हैं

इन पर महात्मा गांधी की गहरी छाप है, जो मिलन, पथिक आदि काव्यों द्वारा देखी जा सकती है। सममुच देखा जाय तो इनकी रचनायें प्रारम्भिक छायावादी कवियों के अधिक निकट हैं, अपेक्षाकृत द्विवेदी युगीन कविता के।

द्विवेदी युग को हम सन् १९२० ई० तक मानते हैं, अस्तु ये उस काल के भी कवि हुए। वह युग अपनी प्रबन्ध-योजना के लिए प्रसिद्ध था। उसमें लम्बी-लम्बी वर्णनात्मक रचनायें अधिक मात्रा में प्रकाश में आयीं। रामनरेश जी त्रिपाठी ने भी अपने खण्डकाव्यों में वह शैली कुछ अशो तक अपनायी है। हाँ, वर्णन प्रणाली और विषय अवश्य ही बदल गये। उनकी भाषा की सफाई भी सराहनीय है। 'भारतीयआत्मा' के काव्य की दिशा तो विपत्तियों के 'ग्रहण' में छिप गई थी। आर्थिक पिशाच और क्रान्ति की लहरों में काव्य धूमिल हो गया था किन्तु पत्रकारिता के हल्के दायरे में काव्य का तार नहीं टूटा यही सराहनीय है। इनके सम्बन्ध में इस अध्याय में जो सामग्री दी जा रही है उसके अतिरिक्त अध्याय आठ मे भी बहुत सी बातें देखी जा सकेंगी।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते है—"भारतेन्दु के पीछे और द्वितीय उत्थान के पहले ही हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' नए विषयों की ओर चल पडे थे। खड़ी बोली के लिए उन्होंने पहले उर्दू के छंदों और ठेठ बोली को ही उपयुक्त समझा, क्योकि उर्दू के छंदों में खड़ीबोली अच्छी तरह मंज चुकी थी। संवत् १९५७ के पहले ही वे बहुत सी फुटकल रचनायें इस ढंग पर कर चुके थे।"[1] शुक्ल जी ने द्विवेदी मंडल के बाहर के कवियो की चर्चा करते समय यह संकेत भी किया है कि द्विवेदी जी के समय में हिन्दी कविता अनेक रूपो मे चली। अनेक अच्छे कवि अपने अपने ढंग पर सरस और प्रभावपूर्ण कविता करते रहे, जिसमे रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर', पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' पं० सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी और पं० रूपनारायण पाण्डेय मुख्य हैं।[2]

प्रस्तुत प्रबन्ध में व्रजभाषा काव्य के प्रमुख कवियों के लिए एक अध्याय अलग से जोडा गया है जिसमें राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' रत्नाकर, कविरत्न सत्यनारायण जी और श्री वियोगीहरि के काव्य की विवेचना हुई है। 'हरिऔध', कवि शंकर, पं० रामनरेश त्रिपाठी और माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य का अनुशीलन इस अध्याय का विषय है। सनेही जी, लाला भगवानदीन, प० रामचन्द्र शुक्ल और रूपनारायण के काव्य का संक्षिप्त अनुशीलन अध्याय चार में हम कर चुके है। वास्तव में ये सभी कवि महत्वपूर्ण है, पर इस प्रबन्ध की अपनी सीमा है और उसमें सम्पूर्ण इतिहास को खपाना हमारे लिए सम्भव नही है। अस्तु, यहाँ इनका नामोल्लेख कर दिया गया है।

एक बात और—द्विवेदी-युग को शास्त्रीय एवं परम्परावादी काव्य-प्रगति में द्विवेदी युग का सामन्तीय अनुशासन युग के अधिकांश काव्य को अनुशासित किए था। इससे उनकी शिष्य-परम्परा के कवि केवल उनकी रीतियों और नीतियों पर ही काव्य सर्जना करते रहे। वे द्विवेदी

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६०७ आठवां संस्करण।
२ वही पृष्ठ ६२२।

जी की काव्य प्रवृत्तियो के बाहर जाने का साहस नही कर सके। परम्परावादी प्रवृत्तियो के सा ही साथ समानान्तर रूप से काव्य की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तिया भी प्रवाहित थी। फलस्वरू द्विवेदी जी के आतंक से यदि वे प्रथम प्रवृत्तियों के अन्तर्गत अनुशासित होकर चल रहे थे, त द्वितीय प्रवृत्तियां भी उनको आकर्षण की प्रेरणा दे रही थीं। इस कारण इनके कुछ लक्षण भ उनमें अंकुरित हो उठे थे। इस दृष्टिकोण से ही हम हरिऔध आदि कवियों का यहां अध्ययन करेंगे।[1]

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

संक्षिप्त जीवन-वृत्त

हरिऔध जी के पूर्वज दिल्ली के निवासी थे। जहांगीर बादशाह के शासनकाल में उनके प्रपितामह पं० काशीनाथ मुसलमानी कोप से बचने के लिए दिल्ली से बदायूं और फिर बदायूं से आज़मगढ़ के निज़ामाबाद कस्बे में आए। यहीं हरिऔध जी वैशाख कृष्ण ३ सम्वत् १९२२ (१८६५ ई०)में पैदा हुए। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा निज़ामाबाद कस्बे में ही हुई, जो आजमगढ़ शहर से लगभग ७-८ मील पश्चिम-दक्षिण की ओर टोंस नदी के किनारे बसा हुआ है। इन्होंने १६ जून १८८४ ई० से अध्यापन कार्य शुरू किया। सन् १८८७ ई० में नार्मल स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

बाबू श्याममनोहर दास उपाध्याय के आग्रह पर सन् १८८८ ई० में "वेनिस का बाँका" और "रिपवान विंकल" के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए। कविता के प्रति अनुराग उनके मन मे पहले से ही था, पर जीवन का संघर्ष काव्य के लिए अवसर नही दे रहा था। अत्यन्त परिश्रम तथा धैर्य से प्रयत्न करने पर १८९० ई० में हरिऔध जी को कानूनगो का सरकारी पद मिला। सन् १९०७ ई० तक वे समय-समय पर कानूनगो, गिर्दावर कानूनगो और नायब सदर कानूनगो के रूप में काम करते रहे।[2]

लगभग ३७ वर्ष तक सरकारी नौकरी करने के बाद हरिऔध जी सन् १९२३ ई० के नवम्बर मास में रिटायर (सेवामुक्त) हुए। पं० मदनमोहन जी मालवीय के अनुरोध पर जुलाई १९२४ ई० से वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अवैतनिक प्राध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ ये सन् १९४१ ई० तक रहे और बड़े सफल अध्यापक सिद्ध हुए। इनके अध्यापन के बारे मे विहार राज्य के वर्तमान स्पीकर डा० लक्ष्मीसिंह सुधांशु, जो हरिऔधजी के छात्र भी रहे है, लिखते हैं—"हरिऔधजी पढ़ाने के लिए क्लास में आते तब पूर्ण शान्ति छा जाती। इस प्रकार की शान्ति के मूल में ऐसा भाव छिपा रहता था, जो सर्वत्र प्राप्त नहीं। हम-छात्रगण-उनके क्लास में आते ही डर से चुप नहीं हो जाते थे, बल्कि शान्ति की प्रत्यक्ष तथा जीवित मूर्ति के सामने शान्ति का आ विराजना कौन असम्भव है ?[4]"

---

१. डा० रामचन्द्र मिश्र , श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य, पृष्ठ १७७।
२. डा० मुकुन्ददेव शर्मा , हरिऔध : जीवन और कृतित्व , पृष्ठ २३।
३ वही , पृष्ठ २७।
' डा० लक्ष्मीसिंह सुधांशु हरिऔध ग्रंथ पृष्ठ ४१९।

"उनकी सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वे विषय की सांगोपांग व्याख्या करते थे। कवि ने क्या लिखा है, कैसे लिखा है, कहाँ से इसका सूत्र मिला, हिन्दी को छोड़कर संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं में उसकी कितनी समभावमूलक कवितायें हैं, आदि बातों का बहुत ही सुन्दर विवेचन करते। ...हरिऔधजी का स्वाध्याय विशाल है। उनको जितनी कवितायें याद हैं, उनकी संख्या अगणित है। यही कारण है कि कभी-कभी उनके क्लास में कवि-सम्मेलन का आनन्द आ जाता है। एक पद्य या पंक्ति समझाने के लिए वे कई भाषाओं का कोना-कोना झाँक आते।"[1]

हरिऔध जी आदर्श एवं उदार अध्यापक थे। अपने छात्रों की सहायता में उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था, पर उनके शिष्य कभी-कभी उन्हें धोखा देकर काम ले लेते थे। बाबा सुमेरदास की प्रेरणा से हरिऔध जी काव्य क्षेत्र में आए। प्रारम्भ में 'कृष्ण शतक' 'श्री रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय योग' नामक ग्रंथ क्रमशः, सन् १८८२, १८८५ और १८८६ ई० में प्रकाशित हुए। उसके बाद हरिऔध जी अनुवाद तथा सरकारी काम में लगे रहे। कुछ फुटकल रचनाओं के अतिरिक्त सन् १९०४ ई० में १५ फरवरी के दिन उनके दो काव्य 'प्रेम पुष्पोपहार' तथा 'उद्‌बोधन' प्रकाशित हुए।

६ मार्च सन् १९४७ ई० को सायंकाल लगभग ५ बजे उनका स्वर्गवास हो गया। मृत्यु के समय वे अपने जन्म-स्थान निजामाबाद में ही थे। पर दाहसंस्कार के लिए उनका शरीर काशी पहुचाया गया। रात्रि के ठीक १२ बजे होलिका दहन के समय हरिऔध जी का शव मणिकर्णिका घाट पर जलकर राख हो गया। उनके मित्र एवं साथी प्रो० लौटूसिंह गौतम लिखते हैं—"हरिऔध जी का चरित्र बड़ा उज्ज्वल था। वे आत्मसम्मान के धनी तथा सरलता, सौजन्य और निस्पृहता की मूर्ति थे। दूसरों के प्रति वे बड़े निष्ठावान थे। अहंकार आदि दुर्गुणों से वे कोसों दूर थे।"[2]

वैयक्तिक विशिष्टतायें:

हरिऔध जी समय के बड़े पाबन्द थे। स्वभाव से सतर्क, भयग्रस्त और सन्देहालु व्यक्ति थे। साफ, स्वदेशी, मुलायम, बारीक वस्त्र पहनते ते। पगड़ी बाँधने का उन्हें शौक था और प्रतिदिन उसे संवाँरने में उन्हें १५-२० मिनट का समय लगता था। पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाओं को वे बड़े व्यवस्थित रूप से रखते थे। वे मृत्यु के आतंक से प्रतिक्षण, प्रतिदिन, प्रति मास और प्रति वर्ष आतंकित रहते थे।[3] वे दैनिक जीवन में प्रायः आत्मनिर्भर थे। अपना प्रायः सभी कार्य सदैव अपने ही हाथों से करते थे। दूसरों की तुष्टि का उन्हें बड़ा ध्यान रहता था। वे पूरे निष्ठावान सनातनी विचारों के पुरुष थे। उन्हें विश्वास था कि गलत ढ़ंग की कमाई कभी टिकती नहीं, उल्टे ईश्वर उसके बदले दण्ड देता है। इसलिए सरकारी नौकरी में रहकर खासकर पटवारियों के महकमे मे अफसर होकर भी उन्होंने घूस नहीं लिया, जो बड़ी बात है। एक अंग्रेज कलेक्टर ने उनके सम्बन्ध में लिखा है, "आजमगढ़ ऐसे मरुभूमि में उपाध्याय जी का परिवार प्रकाश स्तम्भ के समान है।"[4]

---

१. डा० लक्ष्मीसिंह सुधांशु—हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ ४३९।
२. प्रो० लौटूसिंह गौतम, हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ ४२९।
३ डा० मुकुन्ददेव शर्मा. हरिऔध जीवन और कृतित्व. पृष्ठ ६५।
४ हरिऔध जीवन और कृतित्व, पृष्ठ ७४

हरिऔध जी के विचार मृत्यु के सम्बन्ध में और लोगों से सर्वथा भिन्न थे। एक स्थान प वे लिखते हैं—"......मृत्यु डाह-जलन का दरवाजा बंद कर देती है, शत्रुता की आग बुझा देती है प्यार की ज्योति जगा देती है और प्रसिद्धि के पेड़ में फल लगा देती है।"[1] सचमुच हरिऔध जी के ये विचार अक्षरशः सत्य है। उदाहरण के लिए देखिए, जब पं० नेहरू की मृत्यु २७ मई सन् १९६४ को अचानक हो गई तब देश के वे नेता और उनके राजनीतिक दल सारी ईर्ष्या छोड़कर शोक के लम्बे लम्बे बयान देने लगे, जो कल तक रुग्ण प्रधानमन्त्री कह कर उन्हें गद्दी से उतारने के लिए एड़ी का पसीना चोटी तक किए रहते थे। वे ही आंसू बहा कर उनका फूल लेने के लिए बेचैन हो उठे। मृत्यु जीवन के कठोर सत्य को उद्घाटित करती है।

कवि कर्म को हरिऔध जी एक महान अनुष्ठान मानते थे। देश सुधार और स्वदेशी आदि का समर्थन वे दबी जबान से ही करते रहे। लोगों में सद्वृत्तियां जगाने और उन्हें उद्बोधन देने का हरिऔध जी का तरीका कुछ और था। आपकी एक रचना लेकर देखिए—

"पोर-पोर में भरी है तोर मोर की ही बान,
मुँह चोर बने आन-बान छोड़ बैठी है।
कैसे भला बार-बार मुँह की न खाते रहें,
सारी मरदानगी ही मुँह मोड़ बैठी है॥
हरिऔध कोई कस कमर सताता क्यों न,
कायरता छोड़ कर नाता जोड़ बैठी है।
छूट चलती है आंख दोनों ही गई फूट,
हिन्दुओं में फूट आज पांव तोड़ बैठी है॥"

हिन्दुओं में व्याप्त फूट के दुष्परिणामों की ओर इंगित करते हुए हरिऔध जी उपर्युक्त विचार प्रकट करते हैं। यह समाज-सुधार का उनका अपना तरीका है। इसकी सराहना भी होनी चाहिए, पर इसे राष्ट्रीयता की संज्ञा देना कुछ जचता नहीं। इसी उदाहरण को डा० मुकुन्ददेव शर्मा हरिऔध का राष्ट्रीयता सम्बन्धी काव्य मानते हैं, पर विचार करने पर हरिऔध जी के काव्य में राष्ट्रीयता के लिए हाथ पैर मारने की इतनी आवश्यकता नहीं है। इसे उनके सामाजिक सुधार सम्बन्धी विचार कह कर यहाँ से हम आगे बढ़ते हैं। प्रियप्रवास के कृष्ण और राधा के प्रसंग में इस सम्बन्ध की अधिक चर्चा होगी। तब तक हमें इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि हरिऔध जी प्रारम्भ से अन्त तक अंग्रेजी शासन, अपनी रोटी और बाद मे पेंशन के भय से राष्ट्रीय आन्दोलनों से अधिकतर तटस्थ ही रहे। हां, देश प्रेम और मानवता के नाते एकान्त में बैठकर रो लिए हों, तो बात दूसरी है।

राष्ट्रीय-रचनाओं में जिस प्रदीप्त हृदय और अदम्य उत्साह तथा बलिदान की आवश्यकता होती है, वह हरिऔध में कहां? जीवन के उत्सर्ग की उत्कट इच्छा, बलिदान की भावना और त्याग के अनुपम मशाल से देश भक्ति तथा राष्ट्रीयता का दीपक जलता है। अस्तु, वह

---

१ हरिऔध इतिवृत्त पृष्ठ ८७

ज्योति सर्वत्र खोजना समय और शक्ति का अपव्यय मात्र होगा । देखिए न, हिन्दू जाति के रस हीन होने, मानापमान से वीतराग होने का एक और चित्र प्रस्तुत करते हैं:—

मन भरा तन में तनिक भी न ताब रही,
धन का न ध्यान बाहु बल का न प्यार है ।
हंसी की न हया परवाह बेबसी की नहीं,
अरमान हित का न मान का सहारा है ।
'हरिऔध' ऐसी ही प्रतीति हो रही है आज,
सुत रहा सुत औ न दारा ही दारा है ।
वीरता रही न गई धीरता धरा में,
हिन्दुओं की रग में रही न रक्त धारा में ।।"[1]

हिन्दुओं की दशा उस समय अवश्य ही दयनीय थी और हरिऔध जी ऐसे सात्विक कवियों की काव्य धारा से सम्भव है लोगों में कुछ चेतना भी आई हो । परन्तु उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वर काफी ऊंचा था । इकबाल और बंकिम की वाणी सारे उत्तर भारत में गूंज चुकी थी । गुप्त और अन्य राष्ट्रीय धारा के कवियों की वाणी काफी ऊर्जेस्वित स्वर में मुखर थी । वैसी स्थिति मे हरिऔध की उपर्युक्त पंक्तियां ऐसी लगती है मानों कोई बड़ा बूढ़ा अपने घर में बैठक में आराम कुर्सी में लेटकर लोगों को उपदेश दे रहा हो । हां, आगे चलकर प्रियप्रवास के कृष्ण ने अवश्य ही एक स्थल पर यह प्रतिज्ञा की है कि स्वजाति और जन्मभूमि के लिए अपने दुर्लभ प्राणों में को हाथों में लेकर बिना किसी डर के कार्य करूंगा—

"अतः करूंगा यह कार्य मैं स्वयं,
स्वहस्त में दुर्लभ प्राण को लिए ।
स्वजाति और जन्म धरा निमित्त मै,
न भीत हूंगा विकराल व्याल से ।"[२]

यहां विचारणीय यह है कि देश में लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य का डंका बज चुका था, जन आन्दोलन व्यवस्थित रूप ले चुका था, 'भारत-भारती' का स्वर भी मुखरित था तब कृष्ण ऐसे चरित्र नायक का यह चरित्र भी दुर्बल ही कहा जायगा । योगेश्वर कृष्ण तो प्रियप्रवास में अपेक्षाकृत उपेपेक्षित ही हैं, जिसका विस्तार से विवेचन आगे किया जायगा, परन्तु राधा के नवीन रूप को कवि ने प्रधानता अवश्य दी है । हरिऔध की राधा पहली बार मानवी के रूप मे लोक कल्याण की कामना से ऊपर उठी हैं । रीतिकालीन कवियों की रति और भोग की दुर्बल नारी से उठकर राधा का यह विकास स्पृहणीय है ।

राजनीतिक राष्ट्रीयता से दूर :

उसी प्रकरण में डा० मुकुन्ददेव ने तर्क प्रस्तुत किया है कि हरिऔध जी राजनीतिक राष्ट्रीयता से दूर ही रहे । लेखक के इस कथन का आशय जो हो, पर इतना तो स्वीकारना ही

---

१. हरिऔध, व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ १०८
२. हरिऔध प्रिय प्रवास

होगा कि राष्ट्रीयता सदैव देश की राजनीति से संपृक्त रहती है। राजनीति आज मानव जीवन का अभिन्न अंग बन गई है। समाज के सुख-दुख को ध्यान में रख कर ही राजनीतिक परिवर्तन आमन्त्रित होते हैं। फिर भी हरिऔधजी के बारे में यह कहना कि ''राजनीति को वे एक गौण विषय समझते थे। सक्रिय राजनीति से उन्होंने अपने को सदा पृथक रखा और समाज को ही अपने जीवन का कार्यक्षेत्र बना रखा था।'' बहुत कुछ ठीक ही है। पर साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि कवि हरिऔध ने अपनी प्रतिभा से राष्ट्रीय-यज्ञ में दिव्य आहुति नहीं दी। यह उनके कवि का दुर्बल पक्ष रहा जिसका दुष्परिणाम भी निकला। उनसे कम प्रतिभा के कवि राष्ट्रीयता के जोश-खरोश के कारण जन मानस पर ऐसे चढ़े कि कुछ पूछिए नहीं। हरिऔध और गुप्त दोनों के काव्य प्राय. साथ-साथ चलते रहे और काव्य के गुण की दृष्टि से प्रियप्रवास गुप्त जी के किसी भी काव्य से अच्छा है, पर जनता में उसके प्रति वह राग नहीं जागा। इसका एक कारण शायद यह भी रहा हो कि हरिऔधका कवि भीरु था और उसका विकास जवानी के बाद हुआ था।

हरिऔध का कवि समाज सुधारक था। वह समाज कल्याण के लिए आदर्श विद्यालय की स्थापना करना चाहता था। अछूतोद्धार की भी लालसा उनके हृदय में विद्यमान थी। उदाहरण के लिए देखिए :—

''है विद्यालय वही जो परम मंगलमय हो
वरविचार आकलित अलौकिक कीर्ति-निलय हो।
उसमें होगी जाति संगठन की शुभ पूजा।
होगा शुचि सहयोग मन्त्र स्वर उसमें गूंजा।''[१]

जातीय भेद भाव मिटाने के विचार से हरिऔधजी अपनी शुभकामना व्यक्त करते हैं। उनकी इच्छा है कि चारों वर्णों के लोग आपस मे भेदभाव छोड़कर मिलें, सामाजिक प्रसन्नता बढ़े—

''ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र भिन्नता तज मिलें।
बढ़े परस्पर प्यार औ कुम्हलाये मानस खिलें।''[२]

इन कविताओं के आधार पर कहना पड़ता है कि हरिऔध का कवि पूरे सोलह आने उपदेशक है। उसको आर्य समाज का एक पुरोहित कहना अधिक उचित होगा। यद्यपि आर्य समाजी समसामयिक कवि शंकर की भांति व्यंग्य का तीखापन भी हरिऔध में नहीं है। वे युग से पीछे थे। उनमें क्रान्तदर्शी विचारों की कमी थी, फिर भी वे हमारी पिछली पीढ़ी के साधु कवि थे। सज्जन व्यक्ति थे। राग-द्वेष से परे एक अच्छे सामाजिक थे। उनमें प्रतिभा थी। जीवन के विभिन्न अनुभवों ने उन्हें काव्य की ओर प्रवृत्त किया। एक तटस्थ कलाकार की भांति उन्होंने रससिद्ध काव्य लिखने का प्रयास किया। हिन्दी के तत्कालीन रिक्त भण्डार को भरने का प्रयत्न किया। यह कम गौरव की बात नहीं है। सम्पूर्ण द्विवेदी-युग में इनके प्रिय प्रवास के टक्कर का

---

१ हरिऔध पद्मप्रसून विद्यालय पृष्ठ २
२ वही पृष्ठ ३०।

यवस्थित काव्य नहीं लिखा गया है। उनकी कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं था। वे दय से समाज सुधारक थे। उनकी प्रकृति साधु थी। वे पण्डित थे। एक आदर्श समाज की चना उनका उद्देश्य था। अपने 'पद्य-प्रसून' में उस समाज की रूप रेखा की ओर उन्होंने संकेत ी किया है —

"गुरु चाहिए हमें ठीक पारस के ऐसा।
जो लोहे की कसर मिटा सोना कर डाले।
+　　　　+　　　　+
हमें चाहिए सरल सुबोध पुरोहित ऐसा।
जो घर-घर में सकल सुखों का स्रोत लसावें॥"[1]

इसी प्रकार उपदेशक, नेता, सभापति, धनी, साधु, प्रचारक और सुधारक आदि की कौन सी किस्म देश के लिए, समाज के लिए आवश्यक है, उन सबकी ओर हरिऔध जी ने संकेत किया है।[2]

कर्मयोगी कैसा होना चाहिए, इसका विवेचन करते हुए हरिऔध जी बड़े प्रेम से लिखते है-

देखकर बाधा विविध, बहु विघ्न घबराते नहीं।
रह भरोसे भाग्य के दुख भोग पछताते नहीं॥
काम कितना ही कठिन हो किन्तु उकताते नहीं।
भीड़ में चंचल बने जो वीर दिखलाते नहीं॥"[3]

हरिऔध जी की इन कविताओं का बालकों के चरित्र निर्माण की दृष्टि से बड़ा मूल्य है। प्रारम्भिक स्कूलों के बच्चों से लेकर हाई स्कूल के छात्रों तक के लिए ये रचनायें बड़ी उपयोगी होगी। यह भी सभी मानते हैं कि देश का उत्थान समाज की उन्नति पर निर्भर है। और समाज का संघटन कर्मवीरों के ऊपर निर्भर है। जिस समाज के सदस्य कर्मवीर हैं, जो विघ्न-बाधाओं से घबराते नहीं, जो भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैठते बल्कि अपने पुरुषार्थ से भाग्य का निर्माण करते हैं, वे ही कर्मवीर लोग समाज की काया पलट कर देते हैं।

नारी सम्बन्धी हरिऔध का मत

समाज में स्त्रियों का सम्मानपूर्ण स्थान हो, ऐसा हरिऔध जी का मत था। वे कहा करते थे कि जिस समाज में नारी का सम्मान नहीं होता है, वह समाज कभी उन्नति नहीं कर सकता। महिलाओं की दीनदशा पर वे आंसू बहाते थे। और उनकी इच्छा थी कि अन्य कवि भी स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए प्रयत्न करें।[4]

नारियों के सम्बन्ध में हरिऔध जी के लिखित विचार देखिए—

---

१. हरिऔध, पद्य प्रसून, पृष्ठ ४५।

२. हरिऔध, पद्य प्रसून, पृष्ठ ४५-५०।

३　वही　पृष्ठ ४६।

४　डा० मुकुन्द देव शर्मा, हरिऔध जीवन और कृतित्व

"आज हमारी हिन्दू जाति का अधःपात प्रखर गति से हो रहा है, आज पद पद पर उसका स्खलन हो रहा है। जातीय सभायें, उसकी संघशक्ति का संहार कर रही है, विधवाओं के करुण क्रन्दन से आज पत्थर का हृदय भी विदीर्ण हो रहा है। ·····आज भी बाल विवाह का आर्तनाद कर्णगत हो रहा है। वृद्ध विवाह भी समाज को विध्वंस कर रहा है।····· हम कन्या विक्रय कर रहे हैं। कहीं धर्म की ओट में सतीत्व हरण हो रहा हैं, कहीं भभूत पर विभूति निछावर हो रही है।"[१]

सम्भवतः इसी नारी-व्यथा से ऊबकर वे रूपवती राधा को श्रृंगार के कीचड़ से निकाल कर स्वयंसेविका बना दिए। 'वैदेही बनवास' में भी उनकी नारी भावना का कुछ आभास मिलता है। भारत को वे भगवान भूतनाथ का स्वरूप मानते थे जिसे उसकी अनेक प्रकार की व्याख्या द्वारा समझाते थे। उनकी शैली व्यास शैली थी, जिसका एक उदाहरण लीजिए—

"जब भगवान शिव को हम भूतनाथ कहते हैं तब उसका अर्थ यह होता है कि वे पंचभूत से लेकर चींटी पर्यंत समस्त जीवों के स्वामी हैं। भारत भी इसी अर्थ में भूतनाथ है।······यदि वे शशिशेखर हैं, तो भारत भी शशिशेखर हैं। उनके ललाट में मयंक विराजमान है, इसके ऊर्ध्व भाग में यदि भगवान शिव के शिर पर पुण्य सलिला भगवती भागीरथी विराजमान हैं तो भारत का शिरोदेश भी उन्हीं की पवित्र धारा से प्लावित है।"[२]

हरिऔध जी प्रवृत्ति मार्ग के उपासक थे। उस समय वे संयास को जीवन से पलायन मानते थे। संसार के द्वन्द्व रूप से घबराकर जो संसार त्याग कर विरागी बनता है, वह अधार्मिक है। हरिऔध जी पाखण्ड के घोर विरोधी थे। वे कहा करते थे, "जिसने मन को नहीं मारा, वासना को नहीं वश में किया, काम-क्रोध को नहीं जीता, भगवद्भजन के मर्म को नहीं समझा, देशसेवा नहीं की, परदुख कातरता, जिसमे नहीं आई, वह आडम्बर द्वारा संसार को ही नहीं, अपनी आत्मा को भी प्रवंचित कर रहा है।"[3]

साहित्यिक व्यक्तित्व

द्विवेदी युग तथा उनसे पूर्ववर्ती कवियों और लेखकों के साहित्यिक व्यक्तित्व से उपाध्याय जी का साहित्यिक व्यक्तित्व पूर्णतः भिन्न है। उनकी रचना शैली, अभिव्यक्ति प्रणाली तथा भाषा शैली का अलग अपना एक रूप है।······आचार्य द्विवेदी के कुछ सिद्धांतों से उपाध्याय जी के सिद्धांतों का भी साम्य है। परन्तु कुछ ऐसे सिद्धांत भी हैं जहाँ भिन्नता स्पष्ट दीख पड़ती है। सर्व प्रथम यह भी स्पष्ट करना अनुपयुक्त न होगा कि इन दो महानुभावों के अतिरिक्त तत्कालीन किसी कवि अथवा लेखक ने भाषा, काव्य, कविकर्म आदि की विशद् व्याख्या नहीं की है। अधिक• लोग आचार्य द्विवेदी के निर्देश पर ही कार्य करते रहे।[४] "जिस समय द्विवेदी जी की शिष्यमण्डली

---

१. हरिऔध, संदर्भ-सर्वस्व, पृ० २१७—१८।
२. वही, भूतनाथ और भारत, पृ० ३—४।
३ वही वेदान्तवाद पृष्ठ ३१
४ डा० मुकुन्ददेव शर्मा हरिऔध जीवनी और कृतित्व पृ० १३०

मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, रामचरित उपाध्याय, सनेही आदि देश की तत्कालीन दशा पर आँसू बहा रहे थे, भारत की प्राचीन संस्कृति का गुणगान कर रहे थे तथा भविष्य में सजग होने का आह्वान कर रहे थे उस समय हरिऔधजी अपनी कविता से नवजीवन का संचार कर रहे थे।"[1]

शर्माजी का उपर्युक्त कथन बड़ा भ्रामक है। यहाँ प्रश्न पूछा जाय कि हरिऔधजी वह कौन-सा नवजीवन संचार कर रहे थे? किस रूप में उनका कार्य गुप्त, सिंह और सनेही से बढ़कर था? हरिऔधजी के मन में कोई बात उठी हो और परिवार के सदस्यों से उन्होंने कुछ कहा हो तो बात और है। गद्य द्वारा भी उनका कोई विशेष संदेश प्रचारित हुआ हो तो मान लिया जाय, किन्तु काव्य के क्षेत्र में, जिस ईमानदारी से समाज सुधार एवं देश प्रेम तथा राष्ट्रीयता का गीत ये तीनों कवि गा रहे थे वैसा हरिऔधजी कभी न गा सके। हरिऔधजी की महत्ता को कायम रखने के लिए उनका 'प्रियप्रवास' महाकाव्य ही पर्याप्त है। वे जो नहीं थे, वह सिद्ध करने के लिए किसी प्रकार के वितंडावाद की आवश्यकता नहीं है। युग निर्माता द्विवेदीजी का व्यक्तित्व महान था, उनसे भी हरिऔधजी की तुलना की अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए। हरिऔध शुद्ध कवि थे। कवि कर्म में वे द्विवेदी तथा अपने समकालीन सभी कवियों से आगे थे, इसमें संदेह नहीं।

रचनाकार का स्वरूप

एक ओर हरिऔधजी ने काव्यों एवं पद्यप्रबन्धों की रचना की, दूसरी हिन्दी भाषा के कलात्मक रूप की अभिव्यक्ति तथा उक्ति वैचित्र्य प्रकट करने के लिए उन्होंने बहुसंख्यक मुक्तकों को जन्म दिया। उपाध्यायजी ने चुभते, चौपदे, चोखे चौपदे और बोलचाल की भाषा में जिन मुक्तकों को रचा, वे उस समय सर्वथा नए थे।......उपाध्यायजी उस युग के सम्भवतः सबसे समर्थ कवि थे। उन्होंने हिन्दी मात्रिक छंदों का, वर्ण वृत्तों एवं उर्दू पदों का सफलतापूर्वक उपयोग किया। अनुप्रास से हिन्दी कविता को मुक्ति देने में भी हरिऔध का योग सराहनीय है। उन्होंने विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग किया। संस्कृत छंदों को सफलता पूर्वक हिन्दी में उतारना उनकी विशेषता थी।

उस समय की परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी लिखते हैं—"उनके सम्मुख कोई बने-बनाये आदर्श या नपे-तुले प्रतिमान न थे, इसलिए जो कुछ भी उन्हें प्राचीन उदाहरणों में अच्छा और उपयोगी दिखाई दिया, उसी को नए सांचे में ढालने लगे। राम और कृष्ण उनके सर्वाधिक समीपी और परिचित नाम थे, अतएव उन्हीं चरित्रों को उन्होंने अपने सामाजिक आदर्शों की अनुरूपता देने की ठानी। यदि वाल्मीकि के राम वीर क्षत्रिय और आदर्श सम्राट थे और यदि मध्यकालीन तुलसी के राम 'कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम' के प्रतीक महामानव थे, तो हमारी पिछली पीढ़ी के इन कवियों के लिए वे एक अच्छे, सुसभ्य, चरित्रवान नेता और व्यवहार कुशल नागरिक बन गए थे। इन कवियों ने पुराने-जीवन-साचे में नए राम कृष्ण को नहीं, नए जीवन-सांचे में पुराने राम-कृष्ण को ढालना चाहा और ढाल भी लिया। यही

१ डा० मुकुन्ददेव शर्मा हरिऔध जीवनी और कृतित्व पृ० १३०

उनकी कर्मण्यता और नया आदर्शवाद था, यद्यपि इस नवनिर्माण में कोई विशद् रूप-योजना या कोई परिपुष्ट साहित्यिक तथ्य नहीं आ सकते थे। उनमें की गई जीवन-योजना भी नई और आरम्भिक थी, नया जीवन-विकास अपनी शैशवावस्था में था।"[1]

हरिऔध की कृतियों का सामान्य परिचय

हरिऔधजी ने हिन्दी साहित्य क्षेत्र में सन् १८८३ ई० में प्रवेश किया। उस समय से मृत्यु पर्यंत, १९४७ ई० तक वे निरंतर लिखते रहे। उन्होंने लगभग ६५ वर्षों तक हिन्दी की सेवा की। इस अवधि में उनकी छोटी बड़ी ४९ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उन सभी रचनाओं का अलग अलग विषय और प्रयोजन है; यहाँ उनका नामोल्लेख करके पृष्ठ भरना हमें अभीष्ट नहीं। हम तो उनकी केवल ५ कृतियों की सूची प्रस्तुत करके उन्हीं का विवेचन करेंगे, कारण इन्हीं का आलोच्य युग से सीधा सम्बन्ध है। द्विवेदी युग से पूर्व तथा छायावाद युग और उसके बाद की रचनाओं को जान बूझ कर हमें छोड़ना पड़ रहा है। हरिऔधजी के साहित्यिक व्यक्तित्व का जन्म विकास एवं उत्कर्ष स्वतन्त्र रूप से हुआ है। परन्तु युग के 'महावीर' आचार्य द्विवेदी के अपराजित क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व ने प्रायः तत्कालीन सभी कवियों को न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उत्साहित एवं प्रभावित किया। इस कथन की सत्यता हरिऔधजी की कृतियों के अनुशीलन से प्रकट हो जाती है।

पुस्तक का नाम	रचना-तिथि	प्रकाशन-तिथि	प्रकाशन-स्थान
१—प्रेम-पुष्पोपहार	१५—२—१९०४ ई०	१९०४ ई०	खंग विलास प्रेस, पटना।
२—काव्योपम	१९०७ ई०	१९०९ ई०	,,
३—पद्यप्रमोद	१९१५—१६ ई०	१९२० ई०	ग्रंथमाला कार्यालय, पटना।
४—ऋतु मुकुर	१८८०—१९०७ ई०	१९१७ ई०	हिन्दी प्रेस, प्रयाग।
५—प्रिय प्रवास	१५—१०—१९०८ ई० २४—२—१९१३ ई० को समाप्त[2]	१९१५ ई०	खंग विलास प्रेस, पटना।[3]

१—प्रेम-पुष्पोहार

हरिऔध जी की ब्रजभाषा की कविताओं का संकलन है। इसमें समस्यापूर्ति सम्बन्धी उनकी कतिपय मौलिक रचनायें भी संग्रहीत है। इस संग्रह में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक परिस्थिति तथा भक्तिपरक कविताओं की प्रधानता है।

२—काव्योपम

यह हरिऔधजी की खड़ीबोली कविता का प्रथम ग्रंथ है। इस ग्रंथ में समसामयिक प्रका-

---

१. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० १२।

२. डा० मुकुन्ददेव शर्मा, हरिऔध जीवन और कृतित्व, पृ० १६०।

३ प्रो० देवेन्द्र शर्मा महाकवि हरिऔध और उनका प्रिय प्रवास पृ० ५२

शत रचनाओं को संग्रह रूप में प्रकाशित किया गया है। प्रयोग की दृष्टि से इस पुस्तक का विशेष महत्व है। इस पुस्तक में कुछ कल्पित छंदों का निर्माण किया गया है। शार्दूल बिक्रीडित छंद की ध्वनि पर उन्होंने मात्रिक छंद की रचना की है। संग्रह की 'मयंक नवक' और 'दिनेश दशक' नामक कविताओं में इसी प्रकार के छंद का प्रयोग हुआ है। ये मात्रिक छंद भी भिन्न तुकांत हैं। इस संग्रह की अधिकांश कवितायें देश, समाज और प्रकृति सम्बन्धी हैं।

३—पद्य प्रमोद

इस संग्रह में उनकी उपदेशमूलक रचनायें संग्रहीत हैं। उस समय पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाली कवितायें, जो प्राचीन गौरव की गाथाएं तथा सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में लिखी गई हैं, उनका संग्रह किया गया है। हिन्दुओं के पर्वों, प्रमुख त्योहारों एवं उत्सवों पर लिखी गई कविताओं का भी इसमें समावेश है। कर्मवीर, धर्मवीर, एक तिनका आदि नीति परक रचनायें जिनकी उस समय बड़ी चर्चा थी, इसी संग्रह में रखी गई हैं।

४—ऋतु मुकुर

'ऋतु मुकुर' में प्राचीन परिपाटी के अनुसार वर्णित षट्ऋतुओं का वर्णन है। ब्रजभाषा के कवित्त एवं सवैया छंदों में इसकी रचना हुई है। सम्पूर्ण पुस्तक में ६७ कवित्त एवं १२ सवैयों का समावेश है।

५—'प्रिय प्रवास' : कवि का कीर्ति स्तम्भ

प्रिय प्रवास हरिऔधजी का सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रशंसित प्रबन्ध काव्य है। इस ग्रंथ को खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य कहलाने का श्रेय प्राप्त है। इस ग्रंथ में संस्कृत के अमित्र छन्दों का तथा संस्कृतगर्भित भाषा का प्रचुर प्रयोग हुआ है। प्रियप्रवास मे कृष्ण और राधा के पूर्वार्ध अंश का सजीव चित्रण हुआ है। कवि ने समयानुकूल राधा और कृष्ण के चरित्रो मे, क्रान्तिकारी परिवर्तन किए हैं। प्रिय प्रवास के कृष्ण एक महान पुरुष तथा राधा एक आदर्श समाज-सेविका के रूप में चित्रित हैं। प्रिय-प्रवास के सम्बन्ध में डा० सुधीन्द्र का मत पठनीय है : वस्तु विन्यास की दृष्टि से प्रिय-प्रवास वस्तुतः प्रबन्ध काव्य से अधिक भाव काव्य है। कथा का सूत्र क्षीण है, परन्तु भाव का चित्रण पृथुल है। कवि की दृष्टि कथा-सूत्र पर नहीं मनोभाव के चित्रण पर केन्द्रित है। यशोदा और राधा के वियोग विलाप सहृदय को रुलाने वाले हैं। उनमे कृष्ण का लोकरंजक रूप खिल उठा है। राधिका एकान्त प्रेमिका है, वह विरहिणी अवश्य है। उसकी पवन-दूती तो मेघदूत की परम्परा है, परन्तु हरिऔध की मौलिकता भी उसमें है, अतः वह अमर सृष्टि है। प्रेम-वियोगिनी राधा अन्त में विरह के मंगलीकरण द्वारा प्रेम योगिनी बन जाती है। उसका प्रेम विश्व-सेवा, विश्व प्रेम में पर्यवसित हो जाता है। उद्धव-प्रसंग भी इसमें है, परन्तु निर्गुण-उपासना के ऊपर सगुण उपासना की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। भक्ति मानव सेवा के ही उदात्त रूप में चित्रित हुई। इस प्रकार इसमें मानववाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।'[1]

प्रिय प्रवास की कथा कृष्ण के मथुरा प्रवास से सम्बन्धित है। इस संक्षिप्त कथानक को महाकाव्य का विषय बनाने में कृष्ण के बाल-जीवन की घटनाओं को स्मृति के रूप में बड़ी सजगता

---

१ डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ १२४

से गुंफित किया गया है। प्रिय-प्रवास ब्रजवासियों के आंसुओं से तर है। सुविधा के विचार से प्रिय प्रवास के कथानक को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम से अष्टम सर्ग तक की कथा पूर्वार्द्ध खण्ड में आती है। इसमें सन्ध्या-वर्णन, ब्रजवासियों का कृष्ण प्रेम अक्रूर आगमन, कंस निमन्त्रण, यशोदा राधा आदि का विलाप, कृष्ण मथुरा गमन, नंद का मथुरा से खाली हाथ लौटना तथा कृष्ण और बलराम के ब्रज न लौटने का शोक समाचार लाना।

उत्तरार्द्ध का सम्बन्ध नवम सर्ग से सप्तदश सर्ग तक वर्णित है। कृष्ण को उदासीन देखकर उनके प्रिय सखा उद्धव ने कारण पूछा और कारण जानने पर उद्धव ब्रज के लिए रवाना हो गए। वहां दुखी नन्द, यशोदा और सभी ग्वाल-बालों को सान्त्वना देकर छ: माह वहाँ निवास करके वे पुन: मथुरा लौट जाते हैं। अन्तिम सर्ग में कृष्ण मथुरा से द्वारिका चले जाते हैं और राधा एक लोकसेविका बन जाती हैं, कथा यहीं समाप्त हो जाती है।[1]

उद्धव-गोपी संवाद का यह प्रसंग प्राचीन होते हुए भी नवीन है। हरिऔध ने इसकी योजना पूर्ववर्ती कवियों से सर्वथा भिन्न रूप में की है। कथा को नवीन रूप देकर कवि ने कृष्ण के अति मानवीय कार्यों को बौद्धिक तुला पर तौलकर मानवीय बनाने का भी प्रयत्न किया है। फिर भी 'प्रिय प्रवास' की कथा वस्तु में रोचकता का अभाव है। वास्तव में शिथिल, अरोचक एवं विशृंखल कथानक के कारण पाठकों में स्पन्दन एवं स्फुरण के वे भाव नहीं उठते, जिनकी अपेक्षा थी।[2] उद्धव का समस्त कथन नवयुग की नवीन विचार धारा से पोषित है। प्रियप्रवास से पूर्व कृष्ण का यह स्वरूप भ्रमरगीत परंपरा में तो असम्भव ही था।

'प्रिय प्रवास प्रत्येक दृष्टि से अपने युग का नवीन परन्तु प्रौढ़तम प्रयोग है। इसमें संस्कृताचार्यों के द्वारा कथित महाकाव्य के सभी लक्षणों का पूरा पूरा निर्वाह ही नहीं बल्कि उनके अलग अलग प्रयोगों में समसामयिकता की युगान्तरदर्शी दिशा है। इसका कथानक भागवत के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के मथुरा गमन से सम्बन्धित है। कथानक और भी ख्यात-विख्यात हो सकते थे, पर कवि की असाधारणता इस बात में है कि उसने अपने युग की ज्वलन्त आवश्यकताओं का संगतिकोण स्थापित करने वाला कथानक चुना है। विदेशी शासन के विरुद्ध आन्दोलन करने वाली भारतीय जनता और जन नेताओं के सामने सबसे बड़ा आदर्श यह था कि वे अपने व्यक्तिगत और मानवोचित रागों को अपने सीने में दबाकर उस कर्तव्यनिष्ठा का परिचय दें, जो देश, जाति और विश्व के हित में मानव की त्याग-तपस्या का सर्वोच्च उदाहरण बन सकें। 'प्रिय प्रवास' में इसी त्याग तपस्या की स्थिति लाने के लिए कृष्ण के मथुरा गमन और गोकुल की विरह की प्रमुख कथा है। और इस त्याग तपस्या की कसौटी पर खरे उतरने वाले प्रधान पात्र कृष्ण और राधा है, जिनके सामने जग-हित का प्रश्न उनके व्यक्तिगत प्रेम की तपन में स्वर्ण की भांति दमक उठा है। उद्देश्य के रूप में यह उतना बड़ा है जितना मानवता का कोई भी ऊर्ध्वमुखी प्रयत्न।'[3]

नायक और नायिका का अभिजात एवं महाकाव्योचित चरित्र उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति में

---

१ डा० स्नेहलता श्रीवास्तव : हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परंपरा, पृष्ठ ४३८।
२. हरिऔध और उनका प्रिय प्रवास : पृष्ठ ४५ कृष्णकुमार सिन्हा।
३ डा० शकरदेव अवतरे हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग, २४ ३५।

ही समर्पित है। भारत में कृष्ण के समान असाधारण चरित्र-नायक कोई दूसरा नहीं है। सम्भव और असम्भव, सम और विषम आसक्ति और त्याग जैसे समस्त विरोधी द्वन्द्वों का एक अविरोधी बिन्दु श्रीकृष्ण का चरित्र है। ऐश्वर्य, शिव, सौन्दर्य, ज्ञान, वैराग्य और यश इन छओं लक्षणों की परिपूर्ति में भगवान की उपाधि के पूर्ण अधिकारी श्रीकृष्ण रहे हैं। उनमें समृद्धयानन्द और शान्त्यानन्द दोनों बराबर है, जबकि श्री रामचन्द्र में केवल शान्त्यानन्द ही है। राज्याभिषेक के लिए बुलाए जाने पर उसी क्षण बनवास की आज्ञा दिए जाने पर भी राम की शान्त आकृति मे कोई विकार लक्षित नहीं हुआ था।[1] शान्त्यानन्द का उदाहरण होते हुए भी समृद्धयानन्द का आदर्श इसमे नही है क्योंकि यहां भोग के साथ भाग्य का संघर्ष हो गया है। कृष्ण प्रारम्भ से ही अनन्त समृद्धि के सात्विक उपभोक्ता हैं और महाभारत में भीष्मपितामह के वाणों से खून में लथ-पथ होकर भी परम शान्ति का परिचय हंसते हुए देते है।[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि विद्यापति से लेकर रत्नाकर तक हिन्दी के किसी भी साहित्य-कार ने कृष्ण के चरित्र का उपर्युक्त आदर्श नही रखा। हरिऔध जी सबसे पहले साहित्य सृष्टा हैं, जिन्होने कृष्ण की दिव्य सीमाओं को मानवोचित सम्भावनाओं में भरकर उपस्थित किया है। वे परम सहृदय और प्रेमी हैं, पर साथ ही घनघोर कर्म और विश्व मानव की सम्भावनाओ के शिरो बिन्दु हैं। उसी प्रकार राधा का चरित्र भी अपनी पिछली परम्परा को दो टूक करके सामने आया है। वह न विद्यापति की अज्ञात यौवन राधा है, न सूरदास की समर्पिता राधा। उसमें देव और बिहारी की वासक सज्जा राधा की गंध भी नहीं है। और न उसमें रत्नाकर की राधा का सिरपड़ाऊ आग्रह है। बात यहां तक है कि हरिऔध जी की राधा आज की वह शिक्षित भारतीय नारी की प्रतिष्ठा है जो देश और मानव जाति की भलाई के लिए अपनी व्यक्तिगत ममता के बादलों से अनन्त सृष्टि को शीतल बना सकी है। देखिए उस राधा की मंगलमय कामना —

"प्यारे आवें सु—बयन कहें प्यार से गोद लेवें मैं,
ठण्डे होवें नयन दुख हों, दूर मैं मोद पाऊं।
ये भी है भाव मम उर के और ये भाव भी है,
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवे॥"[3]

प्रेयसी के प्यार की नूतन झंकार और आधुनिकता के रग का थोड़ा बहुत परिचय तो ऊपर दिया जा चुका है, अब जरा मां की ममता भरी पुकार पर भी ध्यान देना होगा। पुत्र और मुक्ति भारतीय जीवन की विशेष दो चाहें रही हैं। लोगों ने पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक यज्ञ अनुष्ठान किए हैं और उसी तरह मुक्ति के लिए राजा, योगी, ऋषि मुनि, साधु-संत सभी साधना रत रहे है। यशोदा भी पुत्र के अभाव से बड़ी संतप्त थीं, बड़े यज्ञ, तप, दान और देव-पूजा के बाद कृष्ण उन्हे पुत्र रूप में मिले थे। जब वे भी मथुरा चले गए और लौटने का नाम नहीं लिए, तो यशोदा का मातृत्व विह्वल हो उठा। उनकी छाती फटने लगी। बुढ़ापे में पुत्र जो एकमात्र सहारा

---

१. तुलसीदास, अयोध्याकाण्ड, प्रारम्भिक प्रार्थना।
२. हिन्दी काव्य रूपों के प्रयोग, पृष्ठ ३५।
३ हरिऔध प्रिय प्रवास षोडस सर्ग पद संख्या ९८

था वह भी दूर जा बसा भगा श्य वे लेकर धीरज भर नद के मथुरा स खाली हाथ लौ पर तो रही सही आशा भी जाती रही। फिर माता के लिए रोने-धोने के अतिरिक्त चारा क्या था ? जिस प्रकार ग्रीष्म के बाद आषाढ़ के बादल अपनी बूंदों से पत्तों के ऊपर पड़े धूल कणों को धोकर स्वच्छ एवं चिकना बना देते हैं, वैसे ही दुखिया के आंसू ढुलक कर हृदय को शीतलता प्रदान करते है। यशोदा की करुणामय स्थिति का एक चित्र देखिये—

> "प्रिय पति ! वह मेरा प्राण प्यारा कहां है ?
> दुख-जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है ?
> अब तक जिसको मै देख के जी सकी हूं,
> वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहां है ?"1

यशोदा के विलाप में भारतीय मां की ममता भरी टीस है। पुत्र के अपरिमेय स्नेह की मधुर लौ है। जीवन में 'पुत्र प्राणते अधिक है' की उक्ति की सार्थकता है। भला धाय के जिम्मे पुत्र पालन कराने वाली मातायें इसे कैसे समझ सकेंगी ? पश्चिम की तडक-भडक और भौतिकता के अति विकसित रूप से आज जो लोग चकाचौंध हो रहे है, उन्हें यशोदा का यह विलाप भले ही अस्वाभाविक जान पडे, परन्तु भारत की भूमि में सांस्कृतिक चेतना और मानव के शाश्वत मूल्यों मे विश्वास रखने वालों को तो यह अति स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी जान पड़ेगा।

हरिऔध ने 'प्रिय प्रवास' में मेघदूत के तौर पर पवन दूत किंवा दूती की उद्भावना की है। निःसंदेह पवन मेघ से अधिक व्यापक एवं प्रभावशाली दूत का काम करेगा ? उस पवन से राधा जो संदेश कृष्ण के पास भेजती है, वह आधुनिक जीवन का दिव्य संदेश है। आज लोक मगल की कामना, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ रही है। व्यक्ति समाज के लिए, समाज राष्ट्र के लिए और समाज और राष्ट्र मिलकर विश्व हित और त्याग के लिए तत्पर हैं। मानवता के विकास एवं सृष्टि के विलास के लिए यह आदर्श आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। जीवन के इस जीवन्त स्वप्न को हरिऔध जी ने आज से ५० वर्ष अर्थात् अर्ध शताब्दी पूर्व ही देखा था, यह उनकी दूर दर्शिता का परिचायक है। वे रस सिद्ध कवि, भविष्य द्रष्टा और नूतन युग सृष्टा थे। उनकी राधा अपने दुख द्वन्द्व को दबाकर पहले दूसरों के दुख दूर करने की बात सोचती है। राधा समझा कर पवन से कहती है—

> "जाते जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे।
> तो ताके सन्निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना॥
> धीरे धीरे परसकर के ताप उत्ताप खोना।
> सद्ग्रंथों सैं श्रमित जन को हर्षितों—सा बनाना॥"

'प्रिय प्रवास' के श्रीकृष्ण में मानवता का समावेश यथेष्ट मात्रा में हुआ है। जगत हित कार्यो में लगे रहने पर भी वे अपने भूतकालीन ग्रामीण जीवन की ओर स्नेहपूर्ण एवं लालसामय

हरिऔध प्रिय प्रवास सप्तम सर्ग पद संख्या ११
वही षष्ट सर्ग पद संख्या ३९

दृष्टिपात करते हैं उनके हृदय और मस्तिष्क मनोविकारों तथा बुद्धि अनुराग एवं विवेक का संघर्ष बड़ा ही मुग्धकर है ।[1]

प्रिय प्रवास के सम्बन्ध में डा० अवतरे लिखते हैं—' यह है प्रियप्रवास का महाकाव्योचित रूप जो उद्देश्य, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और जीवन दर्शन, किसी भी दृष्टि से हलका नहीं है। विप्रलम्भ शृंगार का एक अतलस्पर्शी वेग आद्यन्त प्रवहमान है। कथा योजना इतनी नाटकीय है कि केवल विरह के फलक पर राधा और कृष्ण का समस्त जीवन एक नोक बनकर ठहर गया है। संस्कृत के छंदों का हिन्दी में प्रयोग, सबसे पहले, हरिऔध जी ने किया और प्रिय प्रवास में इसे अद्भुत सफलता मिली है। संस्कृत शब्दों की समासपूर्ण पदावली और पद योजना के विक्षेप इसी प्रयोग के आग्रह हैं। रस-परिणामी इतिवृत्त और उसकी वर्णन पद्धति के जो स्थूल दोष इस महाकाव्य में है, वे हरिऔध जी की सीमा के साथ उस युग की सीमा है ।"[2]

'प्रियप्रवास' की संस्कृत-परिनिष्ट-पद-योजना-तथा शृंगार वात्सल्य एवं शान्त रस की अजस्र धारा और मानव-मंगल-विधायक-भावना हृदय को बरबस ही अपनी ओर खींच लेती है। मानव का मानव के प्रति जो मानवीय दृष्टिकोण है, उसकी यहाँ पर अद्भुत सृष्टि हुई है। काव्यत्व की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' उस युग की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। अधिकांश काव्य एक करुण प्रसंग में ग्रथित है। करुणा उसकी आत्मा है। वियोग शृंगार उसका हृदय है और वात्सल्य उसका कलेवर है। उससे रस की जो अविरल धारा प्रवाहित हुई है, वह एक हृदयहीन को भी सहृदय बना देती है। काव्य की अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों दृष्टियों से वह एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। द्विवेदीकालीन कविता का वह एक ज्योति-स्तम्भ है ।[3]

प्रिय प्रवास का महाकाव्यत्व

संस्कृत के स्वनामधन्य आचार्य विश्वनाथ ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यदर्पण में महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार गिनाये हैं—

"सर्गबंधो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः ॥
एक वंशोद्भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपिवा ।
शृंगार वीरशान्तानामेकोऽगी रस इष्यते ॥
अंगानि सर्वेपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।
एक—वृत्त—मयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकेः ॥

---

१. श्री गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश', महाकवि हरिऔध, पृ० १८८-१८९।
२. डा० शंकरदेव अवतरे, हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों का प्रयोग, पृ० ३६।
३. डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर पृ० १२५

नातिस्वल्पाः नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनंभवेत् ।
सन्ध्या–सूर्येन्दु–रजनी–प्रदोष-ध्वान्त–वासराः ॥
प्रातर्मध्याह्न–मृगया – शैलर्तु वन – सागराः ।
सम्भोग विप्रलम्भौच मुनि स्वर्ग-पुराध्वराः ॥
रण - प्रयाणेपगम - मंत्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्यवा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ॥"

उपर्युक्त परिभाषा से पूर्व महाकवि दण्डी ने छठीं शताब्दी में महाकाव्य के इसी प्रकार के लक्षण गिनाये थे। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ सभी परवर्ती आचार्यों ने उपर्युक्त लक्षणों को स्वीकार कर लिया है। अब यहाँ पश्चिमी काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य अरस्तू के विचार भी संक्षेप में जान लेने चाहिए—

अरस्तू के अनुसार 'काव्य मानव जीवन का अनुकरण है।' महाकाव्य के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह उदात्त होना चाहिए तथा उसका संघटन नैतिक आदर्शों पर आश्रित होना चाहिए। संस्कृत और पाश्चात्य दोनों मतों को मिलाकर हम कुछ ऐसी रेखाएं खींच सकते हैं। दोनों के समन्वय से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।[1]

१—महाकाव्य को महदुद्देश्य, महत्प्रेरक और काव्य-प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिए।
२—उसमें गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व होना चाहिए।
३—महाकाव्य में 'सुसंघटित जीवन-कथानक' होना चाहिए।
४—महाकाव्य का नायक महान हो।
५—महाकाव्य की शैली गरिमामयी और उदात्त हो।
६—महाकाव्य को तीव्र प्रभावान्वितक और गम्भीर रस-व्यंजना वाला काव्य होना चाहिए।
७—उसमें महत् कार्य और युग जीवन का समग्र चित्र निर्दशित होना चाहिए।

इस कसौटी के आधार पर हम देखते हैं कि 'प्रियप्रवास' की कथा सर्ग बद्ध है। उसमें २७ र्ग हैं। इसके नायक कृष्ण हैं। इन्हें पौराणिक पुरुष भी कह सकते हैं। वे धीरोदात्त नायक हैं। नका चरित्र आदर्श है। संपूर्ण ब्रज में उनका आदर है। उनके गुणों के कारण सारी जनता नकी ओर आकृष्ट है। नायिका राधा भी महान व्यक्तित्व की अधिष्ठात्री देवी है। राधा के रह वर्णन से सारा काव्य अनुप्राणित है। यशोदा का पुत्र प्रेम और गोप-गोपियों का स्नेह भी ममहत्वपूर्ण नहीं। किन्तु सम्पूर्ण जीवन का चित्रण इसमें नहीं हुआ है। प्रारम्भ में किसी देवी ता की प्रार्थना भी नहीं की गई है। इसके अतिरिक्त खलनिन्दा, छन्दपरिवर्तन, प्रकृति वर्णन दि का यथा सम्भव निर्वाह किया गया है। परन्तु यहाँ इन सभी शास्त्रीय विवेचनों से एक

क़दम हटकर हम यह कहना चाहेंगे कि युग बदलता है युग के जीवनादर्श परिवर्तित होते हैं मानव आदर्श नए बनते हैं, आस्थाएँ ढहती हैं। विश्वास अपंग होकर नया रूप धारण करते हैं जीवन का ढांचा बदल जाता है। तब उसी जीवन की अभिव्यक्ति मूल रूप में जैसी वह हजारों वर्ष पूर्व थी, कैसे रह जायगी ? विचार करने पर दण्डी, विश्वनाथ और मम्मट आदि के काव्यादर्शों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। फिर नए युग के नवीन स्पन्दनों एवं नूतन भावनाओं को गति देने के लिए यदि कवि पूर्व पीठिका से हटे तो आश्चर्य ही क्यों ? यहीं एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि काव्यादर्श सदैव काव्य के आधार पर बनते हैं और काव्य जीवन का सजीव चित्रण होता है, अस्तु परिवर्तित जीवन की अभिव्यक्ति नए रूप में प्रकट होगी और मान्य सिद्धांत ध्वस्त होंगे। नये काव्य के आधार पर नए मान्य सिद्धांत स्थिर होंगे। मान्य सिद्धांत के आधार पर काव्य कभी नहीं लिखा जायगा। कवि स्रष्टा होने के साथ ही साथ द्रष्टा भी होता है। वर्तमान में वह जीता है, भूत से अनुभूति ग्रहण करता है और भविष्य के सपने संजोता है। इसलिए शास्त्रीय मान्य सिद्धांतों के अक्षरशः पालन की बात सोचना नियमों के जाल में प्रतिभा को बन्दी बनाना होगा।

प्रकृति चित्रण

सृष्टि की विकासात्मक प्रक्रिया में मानव और प्रकृति का चिरंतन सम्बन्ध रहा है और आज भी है। प्रारम्भ से लेकर मानव ने प्रकृति को अपने जीवन की अंतरंग सहचरी के रूप मे देखने की चेष्टा की है। प्रारम्भ में जब मानव आदिम अवस्था में था तब प्रकृति उसके अधिक निकट थी। वह उससे आनन्द, आह्लाद, भय, आश्चर्य और शत्रुता की भावना ग्रहण करता था। उषा की लाली उसे गुदगुदाती थी, आकाश की नीलिमा सुनसान रजनी में उसे लोरी सुनाकर थपकी देती थी, तब सागर की उत्ताल तरंगें, बादलों की गड़गड़ाहट उसके हृदय में आतंक पैदा करते थे। अगणित तारों को देखकर वह आश्चर्यचकित होकर घण्टों निहारता और प्रभात की किरणें उसमें जीवन के संगीत भरती थीं। वह फूल से लदे वृक्षों, कमल से भरे सरोवरों को देखकर आत्मविभोर हो उठता था। प्रकृति का सबसे बलवान खण्ड मनुपुत्र सामान्य प्राकृतिक अशों को देखकर बोल उठा—"कस्मै देवाय हविषा विधेम।' किन्तु कालान्तर में उसकी जिज्ञासा और उसका कुतूहल क्रमशः मिटने लगे। रीतिकाल तक पहुँचते-पहुँचते प्रकृति कवियों के लिए एक खिलवाड़ बन गई। कामी स्त्री-पुरुषों की रति भावना के उद्दीपन में ही उसकी इतिश्री समझी जाने लगी। भला प्रकृति का इससे बढ़कर और पतन क्या होगा ?

पर युग बदला। युग की सड़ी-गली मान्यतायें बदलीं और नवोदित समाज ने अ पिछली फटी-पुरानी खोल फाड़कर फेंक दी। शुद्ध हवा में सांस लेने के साथ ही उसे प्रकृति पुन. आकर्षक जान पड़ी। फिर नए सिरे से प्रकृति पर कवियों ने दृष्टि डाली। अब उसका क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत हो गया उसने देखा कि प्रकृति उसके काव्य का शृंगार रूप में

हरिऔधजी ने प्रियप्रवास में प्रकृति का स्वतन्त्र रूप देखा है। नैसर्गिक प्राकृतिक छट उनके काव्य भर में यत्र तत्र देखी जा सकती है। काव्य के आरम्भ में सांध्य वर्णन का ए चित्र लीजिए—

"दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥"[१]

यह संध्या वर्णन इस बात का द्योतक है कि जिस तरह सूर्य शीघ्र ही लुप्त होने वाला है वैसे ही ब्रज के सूर्य-श्रीकृष्ण की सारी रागरंजित लीलायें समाप्त हो जाने वाली हैं। इसी प्रकार द्वितीय सर्ग में तमसाछन्न मेदिनी का वर्णन है। तृतीय सर्ग में अर्धरात्रि की निस्तब्धता का चित्रण किया गया है। प्रकृति की यह भयावह नीरवता आगामी कृष्ण-वियोग की दुखद घटना की सूचन देती है। देखिए—

"सकल पादप नीरव थे खड़े, हिल नहीं सकता यक पत्र था।
च्युत हुए पर भी वह मौन ही, पतित था अवनी पर सो रहा॥"[२]

अपने पुत्र के भावी वियोग की काली छाया नंद यशोदा पर पहले ही आ जाती है। अंग्रेजी कहावत के अनुसार आनेवाली दुखद घटनाओं का आभास समय से पूर्व ही हो जाता है।

मनुष्य आने वाले सुख को सम्पूर्ण जगत में फैला हुआ देखता है। उसे उसके दुख में सृष्टि भी बदली में घिरी दिखती है। यशोदा के हृदय की व्याकुलता से प्रभावित प्रकृति का रूप देखिए—

"विकलता उसकी अवलोक के, रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओट के, नयन से गिरता बहु वारि था॥
विपुल नीर बहा कर नेत्र से, मिस कलिन्द-कुमारि प्रवाह के।
परम कातर हो रह मौन ही, रुदन थी करती ब्रज की धरा॥[3]

यशोदा की दयनीय दशा देखकर रजनी भी ओस के बहाने आंसू बहाती है। सारी ब्रज-भूमि रोती हुई दिखाई देती है। यहाँ प्रकृति मानव-हृदय के साथ सहचरी बनकर सहानुभूति प्रकट करती हुई हमारे सामने प्रस्तुत है। आगे बढ़कर हम देखते है कि चतुर्थ सर्ग में कवि ने राधा के रूप-वर्णन में प्रकृति का आलंकारिक चित्र खींचा है। यहाँ भाषा तनिक कठिन हो गई , फिर भी रूपलावण्य का प्रभाव मन्द नहीं पड़ा—

"रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कालिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य-लीलामयी।
श्री राधा-मृदुभाषिणी मृगदृगी-माधुर्य की मूर्ति थीं॥"[४]

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग १, छन्द १।
२. वही, सर्ग ३, छन्द ३।
३. हरिऔध प्रियप्रवास सर्ग ३ छन्द संख्या ८७-८८
४. वही, सर्ग ४ छन्द संख्या ४

इसी प्रकार प्रियप्रवास मे मानव हृदय तथा मानवेतर प्रकृति के भावो के बिम्ब प्रतिबिम्ब दर्शनीय है स्वस्थ प्रकृति विधान के आधार पर उन्हे द्विवेदी युग के प्रकृति चित्रण शिल्प का अग्रदूत कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सचमुच श्रीधर पाठक को छोड़कर हरिऔध का बिम्ब-विधान समकालीन कवियों में सर्वश्रेष्ठ है। यह अंतर गुप्त जी की रचनाओं से तुलना करने पर और अधिक स्पष्ट हो जायगा। प्रियप्रवास का नवम् सर्ग विशेष रूप से स्वच्छन्द और स्वाभाविक वर्णन की दृष्टि से द्रष्टव्य है। इस सर्ग में कवि ने परम्परागत प्रकृति वर्णन का पालन भी किया है।

ऋतुराज वसन्त के आगमन पर जब लतायें पुष्पित एवं पल्लवित हो जाती है और आम्रमजरी की भीनी सुगन्ध फैल जाती है, तब धरती पर रस की वर्षा होने लगती है और मनसिज मानस में मादकता उत्पन्न कर देता है। शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन कलियों के साथ छेड़छाड़ करने लगता है और मस्त कोयल कूक उठती है। इस रससिक्त, तरल, मदमस्त मौसम की महक से व्रजबालायें उद्विग्न हो जाती हैं। गगन में विहार करते हुए किसी पक्षी को देखकर उनके मन मे उड़ने तथा प्रिय दर्शन की कामना उठती है, जो नारी जाति की बड़ी पुरानी इच्छा है। हर देश और हर काल में विरहिणी ने अपने प्रियतम से अलग होने पर पंख की ख्वाहिश की है। यह परम्परामुक्त प्रयोग है—

जो मैं कोई विहंग उठता देखती व्योम में हूं,
तो उत्कण्ठा-विवश चित में आज भी सोचती हूं।
होते मेरे अबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं समुद उड़ती श्याम के पास जाती॥[1]

विरह की विकलता में व्यक्ति मानव जगत से उठकर समस्त जड़-चेतन से अपना संबन्ध जोड़ लेता है। इस प्रकार उसे फूल पत्तों एवं पशु पक्षियों में अपने दुख सुख को समझने और अनुभव करने की शक्ति दिखाई पड़ने लगती है। प्रकृति के इस प्रकार के आत्मीय सम्बन्ध को मानवीय करण की संज्ञा दी गई है। विप्रलम्भ शृंगार में यह परिस्थिति भी आ ही जाती है। मानवीकरण के सदृश्य ही मानवी मनोभावनाओ का आरोप भी प्रकृति मे मिलता है। हरिऔध ने परम्परागत षटऋतुओं का भी वर्णन किया है। सच बात तो यह है कि प्रकृति वर्णन द्वारा ही कवि ने इस छोटी कथा को विस्तार दिया है। इसीलिए कहीं-कही वर्णन केवल भर्ती के हो गये है। उनमें न रस है, न आकर्षण, केवल नाम गिनाकर कवि अपना काम निकालना चाहता है जैसा कि निम्नलिखित वर्णन से प्रकट है—

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आंवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली औ शिशपा इंगुदी।
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणी-बद्ध तमाल ताल कदली और शाल्मली थे खड़े॥[2]

---

१ हरिऔध षोडश सर्ग छन्द संख्या ३४

२ वही नवम् सर्ग छन्द संख्या २५।

परन्तु ऐसे निम्न कोटि क वणन कम ही हैं अधिकाश चित्र सापेक्ष हैं हरिऔध ने कई स्थलों पर कालिदास का भावापहरण भी किया है।[1]

पवन दूती

हरिऔध की पवनदूती, जैसा कि ऊपर संकेत कर आये हैं, कवि कालिदास की परम्परा पर निर्मित है। 'मेघदूत' की भांति 'पवन दूती' की कल्पना की गई है, परन्तु पवनदूती चुनने मे हरिऔध ने बुद्धि का अधिक सहारा लिया है। पवन मे हर जगह, भीतर बाहर पहुंचने की क्षमता है। मेघदूत साकार है, पर पवनदूती निराकार, सूक्ष्म, अदृश्य और अधिक व्यापक ! पवनदूती ही राधा की दशा का ठीक ठीक वर्णन कर सकती है। कवि की यह पवनदूती नारी हृदय की कोमलता, दयार्द्रता और विरह की उत्कण्ठा की प्रतीक बन गई है। पवन के माध्यम से राधा ने जिन धार्मिक भावों को व्यक्त किया है, वह संदेश काव्य-परम्परा में अप्रतिम प्रयोग है। इसीलिए 'प्रियप्रवास' की राधा का चारित्रिक विकास कृष्ण की अपेक्षा अधिक सुनियोजित जान पड़ता है। कृष्ण मे भी आधुनिकता के आरोप की भरपूर चेष्टा की गई है, पर राधा की लोक-सेवा-भावना और त्याग, आत्मनियन्त्रण और कृष्ण के, जहां रहे रत में बन में, कल्याण की कामना भारतीय नारी के हृदय की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। यहां राधा निःसंदेह कृष्ण से एक कदम आगे बढ़ जाती हैं। सम्भवतः तत्कालीन नारी-शिक्षा, स्त्री विकास और महिलाओं को समाज में प्रतिष्ठित स्थान दिलाने के सामाजिक आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा हो। यही कारण है हरिऔध की राधा प्रणयिनी, वियोगिनी और लोकसेविका तीनों रूपों में आदर्श नारी की सृष्टि बन गई है। वह नारी की मंगलमय साधना से अनुप्राणित होकर सृष्टि को झांक रही है।

काव्य कला

अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाते हैं, किन्तु अत्यधिक अलंकारिक प्रयोग से भाषा बोझिल बन जाती है, भाव धूमिल पड़ जाते हैं, प्रभाव की वह स्थिति बदलकर तड़क-भड़क में खो जाती है। हरिऔध जी भारतेन्दु युग में रीतिकालीन श्रृंगारिकता के अवशेष देख चुके हैं। अलंकारों का उन्हें सम्यक ज्ञान भी रहा है, पर 'प्रियप्रवास' में अलंकारप्रियता के कारण उन्होंने भावों की कहीं बलि नहीं दी। इसमें अलंकार अपनी सहज गति से आये हैं और भाषा सौन्दर्य के उत्कर्ष मे सहायक होकर घुलमिल गये हैं। शब्दालंकार के अन्तर्गत श्लेष और यमक आदि के अनेक

---

१. "उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
काल क्षेपं ककुभ-सुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापांगैः सजल नयनैः स्वागतीकृत्य केकाः,
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् मंतुमाशु व्यवस्येत॥"
"ज्यों ही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी,
शोभावाली अमित कितनी कुंज पुंजे मिलेंगी।
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी वे तुझे
तो भी मेरा दुख लख वहां तू न विश्राम लेना

सुन्दर उदाहरण प्रियप्रवास में विद्यमान हैं। अर्थालंकारों का प्रचुर प्रयोग भी इस काव्य की श्री-वृद्धि में सहायक जान पड़ता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, संदेश आदि के बड़े ही सटीक प्रयोग यहाँ मिलते हैं। साँगरूपक के भी कतिपय स्थल आए हैं। ब्रज की एक-एक वस्तु कृष्ण की स्मृति को तीव्रतर बना देती है। भंवरों की गुनगुनाहट, मेघों की श्यामलता आदि को देखकर कृष्ण की याद बरबस ताजी हो जाती है।

भाषा-शैली

प्रियप्रवास की भूमिका में स्वयं हरिऔध जी ने स्वीकार किया है कि संस्कृत वृत्तो का प्रयोग हिन्दी में पहले बहुत कम हुआ है। अतुकान्त कविता के जो उदाहरण उन्हें मिले थे, वे भद्दे और नीरस थे। अतएव उसी अभाव की पूर्ति में अतुकान्त संस्कृत वर्ण वृत्तों को अपना कर इस काव्य की रचना की गई है।[1] संस्कृत छन्द और शैली अपनाने के कारण प्रियप्रवास की भाषा सस्कृत गर्भित हो गई है। संस्कृत वृत्तों द्वारा विश्लेषणात्मक हिन्दी को संश्लेषणात्मक संस्कृत के निकट लाने का प्रयत्न किया गया है। फलत: 'प्रियप्रवास' की भाषा समास प्रधान एवं क्लिष्ट हो गई है।[2] इस सम्बन्ध में डा० मुकुन्ददेव शर्मा का मत भी देखिए—

"भाषा की दृष्टि से भी उपाध्यायजी अपने समकालीन कवियों से भिन्न थे। उनकी क्षमता, उनकी शब्द-शक्ति और अभिव्यक्ति की शैली द्वारा खड़ीबोली में कोमलकान्त पदावली का विकास हुआ है। यही नहीं, उसकी जटिलता, अस्पष्टता, कर्कशता और असमर्थता भी दूर हुई है। वे नहीं चाहते थे कि हिन्दी सिद्धान्तों में संस्कृत, उर्दू अथवा अन्य किसी भाषा की मुखापेक्षी हो। भाषा के सम्बन्ध मे वे समन्वयवादी थे। दूसरी भाषा के शब्दों को वे ग्रहण तो करना चाहते थे, पर उसको पहले हिन्दी की प्रवृत्ति तथा व्याकरण के नियमों पर साधते थे।'[3] भाषा के सम्बन्ध मे हरिऔधजी का दृष्टिकोण व्यावहारिक था। उसमें कहीं न तो दुराग्रह है न अति लचीलापन। भाषा को स्वाभाविक गति से विकासशील बनाने के वे पक्षपाती थे। यही कारण है कि विषयानुकूल भाषा लिखने में उन्हें अद्‌भुत सफलता मिली है।

रस

प्रियप्रवास में प्रमुख रूप से विप्रलम्भ श्रृंगार तथा वात्सल्य रस का प्रयोग हुआ है। प्रधानता विप्रलम्भ श्रृंगार की ही है, परन्तु बीच-बीच में वीर, रौद्र, भयानक, अद्‌भुत तथा शान्त आदि रसो का प्रासंगिक प्रयोग भी इस काव्य में देखा जा सकता है। हरिऔधजी का कवि करुणा से ओतप्रोत है। भवभूति की भांति वे भी कारुण्यपूर्ण भावों की व्यंजना करने में अत्यन्त सफल हुए हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि 'प्रियप्रवास' मे करुण रस प्रधान है। वस्तुत: श्रृंगार और वात्सल्य का वियोग पक्ष दोनों ही करुणा की स्रोतस्विनी में अभिसिक्त होकर प्रसूत हुए हैं।[4]

प्राचीन रसवादी आचार्यों के मतानुसार महाकाव्य में श्रृंगार, वीर और करुण में से

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास की भूमिका, पृष्ठ ५, दूसरा संस्करण।

२. डा० स्नेहलता श्रीवास्तव, हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और परम्परा, ४५५।

३ डा० मुकुन्ददेव शर्मा हरिऔध जीवन और कृतित्व पृष्ठ १३३ १४

४ प्रो० देवेन्द्र शर्मा, महाकवि हरिऔध और उनका प्रियप्रवास पृ० १०२

किसी एक रस की प्रधानता होनी चाहिए। उस शर्त के अनुसार प्रियप्रवास में शृंगार, वियोग, रस की प्रधानता है। प्रियप्रवास के नायक कृष्ण और नायिका राधा है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर वियोगजन्य राधा का दुखी होना स्वाभाविक ही है। उधर माता यशोदा का पुत्र के चले जाने से बुरा हाल है। सभी दुखी हैं। दुख की करुण छाया सर्वत्र विद्यमान है। फिर भी शास्त्रीय विवेचन के आधार पर इसे करुण रस प्रधान काव्य नहीं कहा जा सकता। यहां तर्क और उदाहरण के लिए अवकाश की कमी के कारण हम स्वीकार कर लेते हैं कि 'प्रियप्रवास' में विप्रलम्भ शृगार अंगी रूप में और वात्सल्य, शान्त, वीर और करुण अंगरूप में आए हैं।

प्रियप्रवास का सन्देश

सबसे महत्वपूर्ण है 'प्रियप्रवास' का सन्देश। हरिऔधजी द्विवेदी युगीन मर्यादावादी कवि थे। वे आदर्शवादी सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। कृष्ण और राधा को उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों से सर्वथा भिन्न परिस्थिति में रखकर देखा है। हरिऔध के कृष्ण में न भक्तिकालीन अलौकिकता है न रीतिकालीन विलासिता। कृष्ण बीसवी शताब्दी के एक लोक-कल्याणकारी जन नेता के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हैं। वे सच्चे प्रेमी, आदर्श देशभक्त और सम्बन्धों को मानने वाले कर्तव्यनिष्ठ महापुरुष हैं। वे 'चोर-जार-शिरोमणि' न होकर सामाजिक मर्यादा के संरक्षक है।[१] इसी प्रकार 'प्रियप्रवास' की राधा पूर्ववर्ती सभी दुर्बलताओं से ऊपर उठकर एक मर्यादित नारी के रूप में खड़ी हैं। राधा को अपने समस्त विकारों पर विजयी बनाकर लोक-सेवा-व्रत में दीक्षित करा देना इस युग की मांग की पूर्ति है। इस प्रकार राधा-कृष्ण जो 'टाइप' बनकर सैकड़ों वर्षों तक कवियों की लेखनी के कठपुतली मात्र थे, प्रथम बार व्यक्ति की सामाजिकता से मण्डित होकर 'प्रियप्रवास' में विश्वकल्याण का संदेश सुना रहे हैं। कवि इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ है बल्कि वह विश्वात्मा से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! राधा-कृष्ण सदृश विश्वप्रेमानुरक्त आदर्श नर-नारियों को भारत की इस पावन धरती पर जन्म दो, ताकि लोक कल्याण की सभी दिशायें दीप्त हो जायें। हां, उन पुरुष-स्त्रियों में विरह की वह आग अवश्य ही न जले जो राधा कृष्ण को सहनी पडी। देखिए—

> "सच्चे स्नेही अब निजन के देश के श्याम जैसे।
> राधा जैसी सदय-हृदया विश्व प्रेमानुरक्ता ॥
> हे विश्वात्मा! भरत-भुव के अंक में और आवें।
> ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे ॥[२]

श्रीधर पाठक

पं० श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज कोई ग्यारह सौ वर्ष पहले पंजाब से आकर जोन्धरी ग्राम में, जो आगरा जिले के फिरोजाबाद परगने में है, बसे थे। उनके पास एक बड़ी जमींदारी थी। पाठकजी के प्रपितामह श्री 'कुशलेश' जी हिन्दी के अच्छे कवि थे और पिता-

---

१. डा० गोविन्दराम शर्मा, हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृष्ठ १५८।

२ हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग, छन्द ५४

मह प० धरणीधर शास्त्री धुरन्धर नैयायिक थे पाठकजी के पिता प० लीलाधरजी यद्यपि एक साधारण पण्डित थे, परन्तु सच्चरित्रता, भगवद्भक्ति, और पवित्रता में अद्वितीय थे।[1]

इन्हीं पं० लीलाधरजी के घर ११ जनवरी, सन् १८५८ ई० के शुभ मुहूर्त मे बालक श्रीधर का जन्म हुआ। पाठकजी ने अपनी जीवनी में लिखा है कि उनके पिता न तो कुशल मिश्र के समान विद्वान, कवि और लेखक थे, और न तो शास्त्री धरणीधर के समान नैयायिक थे। वे पूर्ण गृहस्थ थे और परिवार के धर्मपालन में, परिवार की अन्तिम उल्लेखनीय विभूति थे। भिक्षुक कभी उनके द्वार से विमुख नहीं जाते थे। वे शत्रु को भी मित्र बना लेते थे। भगवान कृष्ण के प्रति उनकी अटूट भक्ति थी। उनकी पत्नी, पाठकजी की मां, लाडली देवी भी वैसी ही सरल-हृदया देवी थीं। पति को सहयोग देना उनका स्वभाव था।[2]

एक कथा प्रचलित है कि पं० लीलाधर की सन्तानें बचपन में ही मर जाती थीं। श्रीधर पाठक भी जब बीमार पड़े तो इनके पिता आशंका से विचलित हो गए। अपने गांव के सती मन्दिर के पास पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर रोने लगे। उस दिन संयोग से प्रदोष था। एक साधु उसी क्षण वहां आया और उसने लीलाधर को प्रदोष व्रत रखने का आदेश दिया। उसके बाद श्रीधरजी धीरे धीरे स्वस्थ होने लगे।[3]

कुछ समय के बाद श्रीधर पाठक को वर्णज्ञान कराया गया। कभी घर पर कभी गांव के स्कूल मे उन्हे शिक्षा मिली। अभी वे थोड़ा ही अध्ययन कर सके थे कि घर में पारिवारिक कलह के कारण अपने पिता के साथ जोन्धरी ग्राम छोड़कर 'सोंठिको नगरा' चले गए और वहां बड़ी निर्धनता एवं कष्ट से जीवन बिताया। अध्ययन भी रुक गया। कालान्तर में संस्कृत के अच्छे विद्वान पण्डित के न मिलने पर उन्हे हिन्दी पाठशाला में भर्ती करा दिया गया। वहीं इनका संस्कार व्यवस्थित रूप पाने लगा। प्रकृति निरीक्षण के साथ ही साथ वे चित्रकला में रुचि लेने लगे। सात वर्ष की अवस्था में इनका उपनयन संस्कार हुआ और ११ वर्ष की अल्पवय में इनका व्याह हुआ, पर पत्नी थोड़े ही समय बाद निःसन्तान गोलोकवासी हो गई।

१४ वर्ष की अवस्था मे पुनः इनका भाग्य जगा। अध्ययन जो अनेक बाधाओं के कारण रुक गया था, वह फिर प्रारम्भ हुआ और सन् १८७५ ई० में तहसीली स्कूल से हिन्दी प्रवेशिका परीक्षा पास की। इस परीक्षा में उनका स्थान प्रांत भर में सर्व प्रथम था।[4]

अपने शुभचिन्तक अध्यापक पं० जयराम की प्रेरणा से वे फिरोजाबाद के तहसीली स्कूल मे प्रविष्ठ हुए। सन् १८७९ ई० मे आगरा कालेज से 'अंग्रेजी मिडिल' और १८८०-८१ ई० मे कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'एण्ट्रेन्स' की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उसके बाद प्रथम वर्ष कला में नाम लिखाया, पर प्रिन्सिपल से झगड़ा होने के कारण कालेज छोड़ दिया। नियमित अध्ययन फिर छूट गया। हां, यह बात दूसरी है कि जब पाठक जी इलाहाबाद में लाट साहब की

---

१. डा० श्यामसुन्दरदास, पं० श्रीधर पाठक, कोविद रत्न माला, भाग १, पृष्ठ ८४।
२. श्रीधर पाठक, स्वजीवनी, पृष्ठ २-३।
३ पं० श्रीधर पाठक के जीवनी सूत्र एवं उनका व्यक्तित्व—पृष्ठ २०८
४ डा० दास प० श्रीधर पाठक, कोविद रत्न माला

नौकरी में थे, तब उन्होंने कानून का अध्ययन भी दो वर्ष तक किया। परन्तु सरकारी कार्य वश उनको नैनीताल जाना पड़ा और परीक्षा में बैठने का अवसर नहीं मिला।

काव्य—पाठकजी की प्रतिभा बहुमुखी थी, इसी से जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वह सफलतापूर्वक सक्रिय रहे। उनके काव्य के प्रभावोत्पादक उत्कर्ष को देखकर ही 'भारत-धर्म-महामण्डल' ने उन्हें 'कवि भूषण' की उपाधि से विभूषित किया था। उनके महामहिम व्यक्तित्व और हिन्दी के प्रमुख कर्णधार के रूप में उनका उचित अभिनन्दन न हो सका।[1]

काव्य में उनके विश्वव्यापी स्वरूप को देखकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें हिन्दी का अभिनव जयदेव कहा था। द्विवेदी जी के शब्दों में ही देखिए—

"बाला-वधू-अधर-अद्भुत स्वादुताई
द्रक्षाहु की मधुरिमा, मधु की मिठाई।
एकत्र जो चहहु पेखन प्रेम-पागी
तो श्रीधरोक्त-कविता पढ़ियेऽनुरागी।

+ + +

जाकी कवित्व-पद-कोमलताऽधिकाई,
आबाल-वृद्ध-जनचित्त लियो चुराई।
सोई कवीन्द्र विजयी जयदेव आई,
लीन्ह्यो वतो कह श्रीधर देह पाई।"[2]

कविवर पाठक के निधन पर शोक प्रकट करते हुए श्री रामनारायण चतुर्वेदी कहते हैं—

"रामनारायण कहत श्रीधर की रचना शुचि
हिय उमगावति सुधाधार-सी सदा नई।
सांचहु बुझावेगी आग उर अंतर की,
पाठक प्रयान सुनि मन जो व्यथा भई॥"[3]

अभ्युदय के उसी अंक में, जिसमें उपर्युक्त पद प्रकाशित हुआ है। 'रसाल' जी शोक व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

"भारत-भू जननी के नीके गीत गाते गाते
पाते मोद मां की गोद में सशान्ति सो गया।
मंजुल निज मानस की काव्य-सुधा-धारा से,
आरती उतार भारती के पद धो गया॥
काव्य-कला-कोकिल-किशोर कवि श्रीधर हां,
वाणी में बटोही देव बाटिका का हो गया।

---

१. स्व० श्री रामदास गौड़, विशालभारत, जनवरी, १९२९।

२. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर सप्तक, भारतमित्र, २५ दिसम्ब. १८८९ ई०।

३ अभ्युदय २२ सितम्बर, १९२८ ई०

सुकवि 'रसाल' कहै हिंदी को धनी करके
आज निधनी करके हाय लाल खो गया ।।[1]

श्रीधर पाठक के व्यक्तित्व सम्बन्धी अध्याय का समाहार करते हुए पं० रामचन्द्र मिश्र लिखते हैं—"उनहत्तर वर्ष के जीवन में 'भारतेन्दु युग' में पल्लवित होकर 'द्विवेदी युग' की परंपरा मूलक प्रवृत्तियों को चुनौती तथा छायावादी-युग के लिए सुदृढ़ शिलान्यास करते हुए पाठकजी ने अपने स्वच्छन्दतावादी गरिमामय व्यक्तित्व से हिन्दी काव्य को चिर आभारी किया। आलोकित भारतेन्दु को अकाल ग्रहण लग गया, महावीर का वीरत्व विश्व के यथार्थ झोंकों से पंगु कर डाला गया। किन्तु श्रीधर अपनी वैयक्तिकता की अमर श्री की विभा से हिन्दी-जननी के भव्य मंदिर को युगों-युगों के लिए आभासित कर गए। उनका भौतिक शरीर इस नश्वर विश्व से अवश्य तिरोहित हो गया, किन्तु उनका साध्य इतना महामहिम रहा कि हिन्दी-जननी अपने उस लाल को विस्मृत नहीं कर सकती। इससे वह हमारे गौरव है, वरेण्य है और वन्दनीय है।"[2]

भारतेन्दु-युग से छायावाद युग तक पाठकजी मां भारती की आरती उतारते रहे। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कवितायें की, ब्रजभाषा की कविताओं मे उनकी प्रकृति खूब रमी थी। इस सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल का मत है कि पाठकजी की खडीबोली की कविताओं की अपेक्षा ब्रजभाषा की कवितायें ही अधिक सरस, हृदयहारिणी और उनकी मधुर स्मृति को, चिर काल तक बनाये रखने वाली है। यद्यपि उन्होंने समस्यापूर्ति नहीं की, पर जैसी मधुर और रसभरी ब्रजभाषा उनके ऋतुसंहार के अनुवाद में हैं, वैसी पुराने कवियों के काव्य में किसी-किसी की ही मिलती है। उनके सवैयो मे हम ब्रजभाषा का जीता जागता रूप पाते हैं। देखिये वर्षा ऋतु वर्णन का एक सवैया—

"बारि-फुहार-भरे बदरा, सोई सोहत कुंजर-से मतवारे।
बीजुरी-ज्योति धुजा फहरे, घन-गर्जन-शब्द सोई है नगारे।
रोर को घोर को ओर न छोर, नरेसन की-सी छटा छवि धारे।
कामिनि के मन को प्रिय पावस, आयो, प्रिये नवमोहिनी डारे।।"[3]

इन्ही की खड़ीबोली की तत्कालीन कविता से उपर्युक्त पंक्तियों की तुलना करने पर सत्यासत्य का पता चल जाता है। बोलचाल की खड़ीबोली भाषा में पाठकजी ने 'एकान्तवासी योगी' का अनुवाद प्रस्तुत किया है उसकी कुछ पंक्तियां उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है—

"आज रात इससे परदेशी चल कीजै विश्राम यहीं।
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण, संकोच नहीं।।
तृण-शय्या औ अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद।
पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आशीर्वाद

* * *

प्रान पियारे की गुन गाथा साधु ! कहाँ तक मैं जाऊँ ?
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ ॥"[1]

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति

पाठकजी युग के घेरे में कभी नहीं बँधे। वे स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के साथ निरंतर बढ़ते रहे। एक प्रकार से देखा जाय तो वे हिन्दी के सर्व प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि थे। वैसे प्रकृति वर्णन को, जिसमें 'काश्मीर सुषमा' तथा 'सहारनपुर' का वर्णन ही शामिल है, छोड़कर पाठक जी ने मौलिक कवितायें कम लिखी है और जो शोक गीत, श्रद्धांजलि और व्यक्तिपरक कवितायें उन्होंने लिखी भी, वे काव्य की शुद्ध कसौटी पर कम खरी उतरेंगी। उनके बल पर पाठक जी साहित्य क्षेत्र में जीवित नहीं रह सकेंगे। एक बात यहाँ और कहनी है वह यह कि पाठक जी ने अंग्रेजी और संस्कृत से बहुत-सा अनुवाद भी किया है और उनका अनुवाद सुन्दर भी बन पड़ा है, किन्तु रूपान्तर चाहे किसी भाषा से हो, किसी कृति का हो, कितना भी सुन्दर एवं सरस हो, उसे हम प्रथम श्रेणी का काव्य नहीं मान सकते। वह अनुकृति है। मौलिक कृति का आग्रह सदैव इसीलिए बना हुआ है कि वह कवि की आत्मा की, प्रतिभा की, लगन एवं पसीने की बूँदों से अभिसिक्त रहती है, उसमें प्राण एवं मन, कल्पना तथा बुद्धि सबका संयोग है। अनुवाद की सीमा निहित है, पर मौलिक काव्य असीम, अनन्त एवं अनिर्वचनीय हो सकता है। उदाहरण के लिए कवि की 'काश्मीर सुषमा' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

धन्य नगर श्री नगर वितस्ता कूलन सोहै,
पुलिन भवन प्रतिबिम्ब निरख जासों मन मोहै,
* * *
या सम दूजो ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै।
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुर कानन सुन्दर।
यहि अमरन को लोक यहीं कहुं बसत पुरन्दर ॥"[2]

कवि भारत के स्वर्ग काश्मीर का कितना सटीक वर्णन कर रहा है, यह प्रकृति की उपासना का अनुपम उदाहरण है। पाठक जी के इस वर्णन में उनकी स्वच्छन्द प्रकृति का आभास मिलता है। पाठक जी की रुचि अत्यन्त परिष्कृत थी। शब्द-शोधन में तो वे अद्वितीय थे। जैसी चलती इनकी ब्रज-भाषा होती थी, वैसे ही कोमल और मधुर संस्कृत पद-विन्यास भी। वास्तव में ये प्रतिभाशाली, भावुक एवं सुरुचि सम्पन्न कवि थे। 'भद्दापन इनमें न था—न रूप रंग में, न भाषा मे, न भाव में, न चाल में, न भाषण में।'[3]

इनकी प्रतिभा बराबर रचना के नए मार्ग निकाला करती थी। छन्द पदविन्यास, वाक्य विन्यास आदि की नई नई बन्दिशें इन्हें सूझा करती थीं। अपनी रुचि के अनुसार इन्होंने नये छन्द नए ढांचे के निकाले, जो पढ़ने में मधुर लय पर आगे बढ़ते हैं। यह छन्द देखिए—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५९२, आठवाँ संस्करण।
२ श्रीधर पाठक काश्मीर सुषमा सन १९०४ ई०।
. आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०१

छिन छिन पर जोर मरोर दिखावत पल-पल पर आकृति कोर झुकावत
यह मोर नचावत, सोर मचावत, स्वेत-स्वेत बक पांति उड़ावत ।।"[1]

छन्द-विधान में पाठक जी ने अनेक प्रयोग किए हैं। 'श्रान्त पथिक' की रचना उन्होंने रोला मे की। 'सांध्या अटन' का यह छन्द देखिए—

"विजन वन-प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था ।।
प्रसव के काल की ललिमा में लसा
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा ।।"[2]

कविता के लिए पाठक जी प्रायः हर एक विषय को अनुकूल बना देते थे। वह युग ऐसा था कि देश में समाज सुधार के आकांक्षी लोग थे। विधवाओं की वेदना, शिक्षा-प्रचार ऐसे ऐसे विषय भी उनकी कलम के नीचे आया करते थे। विषयों को काव्य का पूर्ण स्वरूप देने मे वे चाहे सफल न हुए हों, अभिव्यंजना के वाग्वैचित्र्य की ओर उनका ध्यान चाहे न रहा हो, गम्भीर, नूतन विचार-धारा चाहे उनकी कविताओं के भीतर कम मिलती हो, पर उनकी वाणी मे कुछ ऐसा प्रसाद था जो उनकी वाणी को सरसता अवश्य प्रदान कर देता था।

प्रकृति वर्णन

अपने समय के कवियों में श्रीधर पाठक ने प्रकृति वर्णन सबसे अधिक किया है। उन्हे हिन्दी जनता प्रकृति उपासक के नाम से जानती है। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि उनकी प्रकृति उपासना प्रकृति के रम्य रूप तक ही सीमित रही। जीवन में घुलमिल कर खेलने का अवसर प्रकृति को उन्होंने कभी नहीं दिया। अर्थात् प्रकृति को प्रकृति रूप से ग्रहण करने मे वे असफल रहे। ऐसा कहने के लिए हमारे पास पर्याप्त तर्क हैं; जैसे काश्मीर सुषमा, वितस्ता की धारा, सहारनपुर की वनश्री ने तो उन्हें आत्म विभोर बनाया, परन्तु वर्षों इलाहाबाद में रहने पर भी त्रिवेणी संगम, नगर के आस पास खेतों में फूलने वाली सरसों, तीसी, गुलाब, गेंदा के फूलों और गेहूं की बालों ने जरा भी आकृष्ट नहीं किया। मानव की ओर से भी ये उदासीन ही रहे। यद्यपि 'गुनवन्त हेमन्त' में वे गांवों में उपजने वाली मूली-मटर को प्रेम से सामने लाए हैं।[3] फिर प्रकृति के विकराल और भयंकर रूप की तो इन्होंने कल्पना भी नहीं की। पाठक जी को संगीत का चाव था। उनके गीतों में पत्तों की मर्मर और बाँसों की मधुर ध्वनि नहीं है, फिर भी ग्रामीण स्वर और धुनि के वे गायक थे, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। 'स्वर्गीय वीणा' मे विश्व संचालक परोक्ष सत्ता की परोक्ष संगीत-ध्वनि की ओर उनका संकेत पढ़िये:—

"कोई पुरन्दर की किन्नरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है।
वियोगतप्ता-सी भोगमुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है ।।

---

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०५।
२. आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल, हि० सा० का इतिहास, पृ० ६०५।
३ वही पृ० ६०३

कभी नई तान प्रेममय है कभी प्रकोपन कभी विनय है ।
दया है, दाक्षिण्य का उदय है अनेकों बानक बना रही है ।।"[1]

पं० श्रीधर पाठक की कृतियां और द्विवेदी युग की कविता से उनका सम्बन्ध

क्रमांक	काव्य का नाम	विधा	कब से कब तक की रचना	विशेष
१–	मनोविनोद	कविता	१८७७ ई० से १९१७ ई० तक	इसमें उनकी प्रायः सभी रचनायें संग्रहीत हैं ।
२–	बाल भूगोल	,,	१८८५ ई०	
३–	एकान्तवासी योगी	अनुवाद	१८८६ ई०	रोमांटिक भावना का प्रथम परिचय ।
४–	जगत सचाई सार	,,	१८८७ ई०	
५–	ऊजड़ ग्राम	,,	१८८९ ई०	
६–	श्रान्त पथिक	,,	१९०२ ई०	जीवन के यथार्थ का रूप एवं स्वच्छन्तावादी काव्य का प्रारम्भिक रूप ।
७–	काश्मीर सुषमा	कविता मौलिक	१९०४ ई०	सुन्दर प्रकृति वर्णन ।
८–	आराध्य शोकांजलि	,,	१९०३ ई०	स्मृति काव्य ।
९–	जार्ज वंदना	,,	१९११-१२ ई०	व्यक्ति-पूजा, राज-भक्ति ।
१०–	भक्ति विभा	,,	१९१३ ई०	पित भक्ति और प्रेम ।
११–	श्रीगोखले प्रशस्ति	,,	१९१५ ई०	गोखले की मृत्यु पर उनका गुणगान ।
१२–	श्रीगोखले गुणाष्टक	,,	१९१५ ई०	गोखले के जीवन की मुख्य बातें ।
१३–	देहरादून	,,	१९१५ ई०	सचित्र प्रकृति वर्णन ।
१४–	भारत गीत	,,	१९२८ ई०	समस्त राष्ट्रीय रचनाओं का संग्रह ।
१५–	श्रीगोपिका गीत	अनुवाद	१९१६ ई०	

आलोच्य काल की दृष्टि से पाठक जी की समस्त कृतियों का मूल्यांकन न तो अभीष्ट है और न वे सभी काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण ही हैं । वस्तु स्थिति तो यह है कि पाठक जी की कीर्ति-पताका 'काश्मीर सुषमा' और 'भारत गीत' तथा 'देहरादून वर्णन' पर अवलम्बित है । उनकी अनूदित रचनायें भी उस समय लोकप्रिय हुई अवश्य, पर अनुवाद को, जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, द्वितीय श्रेणी का साहित्य मानते हैं । अस्तु, संस्कृत और अंग्रेजी से किए गए अनुवाद

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास आठवा संस्करण, पृ० ६०३

संस्कृत रचनायें, व्यक्ति पूजा, जार्ज प्रार्थना, पिता की स्मृति और गोखले गुणाष्टक आदि को हम अधिक महत्व नहीं दे सकते। पाठक जी को हिन्दी और हिन्द से प्रेम था वह उनकी रचनाओ द्वारा देखा जा सकता है।

"हरि हिन्दी अरु हिन्द को जिन्हैं अटल अनुराग।
सो सपूत भारत-सुअन सारथ जिअन, सुभाग॥
धनि हिन्दी, धनि हिन्द मुंह, धनि हिन्दू हरि-भक्त।
धनि आरज-जीवन-जनम, पर स्वारथ अनुरक्त॥
मेरे हिय-सर में सदा विकसहु द्वै अरविन्द।
हरि पद-रति-सुरभित-सुभग, एक हिन्दी एक हिंद॥"1

प्रान्तीय भाषा की जो बातें आज राजनीतिक दृष्टि से कही जा रही हैं वे बहुत पहले ही पाठक जी ने अनुभव की थीं—

'निज भाषा उन्नति बिना निज उन्नति नहिं होय।
जतन आनि अजुगत परहि करहिं कोटि किन होय॥
* * *
निज भाषा बोलहु लिखहु पढ़हु गुनहु सब लोग।
करहु सकल बिपपान विष निज भाषा उपजोग॥"

कविवर पाठक का अटल विश्वास था कि जो लोग अपने देश की रहन-सहन, भाषा, सस्कृति के प्रेमी नहीं हैं, उनकी जाति सदा कमजोर तथा परमुखापेक्षी रहेगी। इस सम्बन्ध मे पाठक जी के विचार पढ़िये—

"जिनको अपने देश, भेस, भाषा से प्रीति नहिं।
जिनके जीवन की कोई निर्दिष्ट नीति नहिं।
उनमें आत्मिक अनुरक्तता आ सकती क्यों कर कभी?
उनकी जातीय अशक्यता जा सकती क्यों कर कभी?"2

पाठक जी प्रकृति के अनन्य प्रेमी थी। उनकी लेखनी से प्रकृति साकार हो उठती थी। सचमुच उनके कवि का विकास तो प्रकृति-वर्णन में ही देखा जा सकता है। 'काश्मीर सुषमा' और 'देहरादून' इन रचनाओं में उनका कवि अपने वास्तविक रूप में सम्मुख आया है। हिमालय के वर्णन का कवि को अत्यन्त अनुराग था। सन् १९०० ई० में ३० अगस्त को पाठक जी ने अंग्रेजी में 'मेघाच्छन्न हिमालय' 'दी क्लाउडी हिमालियाज' का मोहक वर्णन किया था। उसी को उन्होंने कालान्तर में हिन्दी में अनूदित किया, उसकी कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

'उत्तर दिशि नगराज अटल छविमहित विराजत
लसत स्वेत सिर मुकुट झलक हिम-शोभा-भ्राजत
बदन-देश सविसेस कनक-आभा आभासत

---

१ श्रीधर पाठक. भारत भाषा-महत्व. १ अप्रैल १९२० ई०
२ श्रीधर पाठक जातीय १० जनवरी १९१६ ई०

अधाभाग की स्याम वरन छवि हृदय हुलासत
स्वत पीत सग स्यामवार अनुगत समअतर
सोहत त्रिगुन, त्रिदेव, त्रिजग प्रति माम निरन्तर
विलसत सो तिहुं काल त्रिविध सुठि देख अनूपम
भारतवर्ष विशाल भाल भूषित त्रिपुण्ड सम ।[1]

पं० नाथूराम शंकर शर्मा

जीवनी

कवि शंकर का जन्म चैत्र सुक्ल ५, संवत् १९१६ वि०, १८५९ ई०, को हरदुआगज अलीगढ़ के गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनका जन्म का नाम कृष्णचन्द्र था। परन्तु इनके पैदा होने के पूर्व इनके कई भाई बहन अल्पायु में ही मर चुके थे, इसलिए उस समय की अन्ध परम्परानुसार माता पिता ने इनकी नाक छिदवाकर 'नथुआ' नाथूराम, नाम रख दिया। बड़े होने पर इन्होंने अपने नाम के साथ 'शकर' स्वयं जोड़ लिया। यही 'शकर' आगे चल कर कविता का उपनाम भी प्रचलित हुआ। इनके पिता का नाम पण्डित रूपराम शर्मा और माता का नाम जीवनीदेवी था। पं० रूपराम शर्मा देवी के परम उपासक थे। 'शंकर' जब डेढ़ वर्ष के बालक ही थे कि इनकी माता चल बसीं। मातृ-सुख-वंचित शंकर का लालन-पालन नानी और बूआ ने किया। प्रारम्भ में इन्हें हिन्दी-उर्दू पढ़ाई गई, फिर फारसी का भी इन्होंने अच्छा अभ्यास किया। बचपन से ही कविता और तुकबन्दियों का चाव था। स्कूली इतिहास और भूगोल सम्बन्धी बाते प्रायः कविता में लिख कर याद किया करते थे। इनके बाल्यकाल के तीन मुख्य मित्र थे—रामजी, बल्ली और गोविन्द। एक दिन अपने मित्र रामजी को सावधान करने के लिए शंकर ने एक तुक-बन्दी की जो उनकी प्रथम रचना है—

'अरे यार सुन रामजी, लोभी तेरी जात,
तनक-तनक-से दूध पै, मा को पकरे हाथ ॥'[2]

इस प्रकार १३ वर्ष की उम्र से ही शंकरजी ने कविता करनी शुरू कर दी। बचपन में उर्दू में लिखने का शौक बढ़ा और धड़ल्ले से उसमे भी लिखने लगे। तत्कालीन उर्दू कविता का एक उदाहरण देखिए—

'नकाब उलटे जो अपने बामें वहीं पै वह खुश जमाल आया।
तो बहरे ताजीम सर झुकाए, नजर फलक पर हिलाल आया।'[3]

हरदुआगंज में पढ़ लिखकर शंकर कवि, जीविका की खोज में कानपुर पहुंचे। वहां इनके मौसा रहते थे। मौसाजी ने इन्हें नक्शानवीसी और पैमाइश का काम सिखाकर वही नहर के दफ्तर में नौकरी दिला दिया। कुछ दिन नक्शानवीसी का काम करने के बाद ये सब ओवरसियर

---

१ मनोविनोद- प्रथम आवृत्ति- पृष्ठ ५३।
२ डा० हरिशकर शर्मा शकर सर्वस्व पृष्ठ १९, प्रथम संस्करण

हो गए और बड़ी कुशलता से काम करने लगे। नहर के कई अंग्रेज अफसरों को इन्होंने हिन्दी पढ़ाई क्योंकि उस समय उस दफ्तर में 'मुंशी नाथूराम' के सिवा और कोई अच्छी हिन्दी नहीं जानता था। कानपुर में इन्हें पं० देवदत्त शास्त्री और पं० प्रतापनारायण मिश्र की संगति का भी पूरा पूरा लाभ मिला। 'ब्राह्मण' पत्र के लिए लेखादि वहीं लिखने लगे। शंकर सरकारी नौकरी मे लगभग ७ वर्ष रहे।

कवि का हृदय कोमल होता है, उसे तनिक भी आघात पहुंचा कि वह कुम्हला जाता है। सरकारी नौकरी में एक दिन कुछ ऐसी घटना घटी, जिसको शंकर ने अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध समझा। बस, उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और आप अनूप शहर आ गए। जीवन को स्वतन्त्रतापूर्वक बिताने के विचार से इन्होंने आयुर्वेद का दो वर्ष तक अध्ययन किया। इसके पश्चात हरदुआगंज जाकर चिकित्सा का कार्य आरम्भ किया। नहर वालों ने आपको पुनः बुलाया, पर आप थूक कर चाटने वालों में से न थे। इधर चिकित्सक के रूप में कवि शंकर की लोकप्रियता बढ़ गई। चिकित्सा और कविता दोनों ही आपके प्रिय कार्य बन गये।

काव्य

कवि शंकर ने प्रायः सभी प्रचलित विषयों पर कवितायें की हैं। उन्होंने अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। रसों पर भी आपका पूरा अधिकार था। समस्यापूर्ति में आप समकालीन कवियों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। आपकी प्रकाशित कृतियों के नाम हैं—१—अनुराग रत्न २—शंकर सरोज, ३—गर्भरण्डा-रहस्य और ४—लोकमान्य तिलक। इसके अतिरिक्त 'भारत भट्ट भणन्त' नामक व्यंग्य-साहित्य की पुस्तक भी आपने लिखी थी, जो प्रकाशित नहीं हुई। शंकर कवि स्वतन्त्र लेखन की भांति अनुवाद भी बड़ी बारीकी से करते थे। उदाहरण के लिए देखिए—

'इश्क अव्वल दरदिले माशूक पैदा मी शवद।
तान सोजद शमअ के परवाना शैदा मी शवद॥'[1]

इस शेर को पढ़कर आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने कवि शंकर से निवेदन किया कि वे इसका हिन्दी में सटीक अनुवाद कर दें। शंकर जी ने तत्काल उसका अनुवाद इस प्रकार प्रस्तुत किया—

'पहले तिय के हीय में उपजत प्रेम-उमंग।
आगे बाती बरत है पीछे जरत पतंग॥'[2]

उर्दू में कवि शंकर की कुछ रुबाइयाँ बड़ी अच्छी बनी है। उन्होंने देश को जगाते हुए कहा है—

'ऐ अहले हिन्द अब तो उठो खूब सो चुके,
कर प्यार तनज्जुल पै तरक्की को खो चुके।
शंकर जला जो जल्द गुलामी के जाल को,
राहत रही न, तुख्म मुसीबत के बो चुके॥'[3]

१ शंकर सर्वस्व, पृष्ठ २१, प्रथम संस्करण
२ वही।

कवि शकर ग्दू के सुप्रसिद्ध गायर अकबर के बड भक्त थे । उनकी कविताओ को बार ब र पढ़ते थ और सराहत थ उनकी मत्यु पर इ ्होन गहरी सहानभूति प्रकट की थी बुढ पा जीवन की ढलान है । जिन्दगी के सारे रग धीरे-धीरे उड़ने लगते है और आंखों के देखते देखते स्थिति कितनी बदल जाती है, जरा देखिए शंकर कवि की रुबाई—

'बुढ़ापा नातवानी ला रहा है,
जमाना जिन्दगी का जा रहा है ।
किया क्या और आगे क्या करेगा,
अखीरी वक्त दौड़ा आ रहा है ।'[1]

शकर कवि श्रृंगारपूर्ण अतिशयोक्तियों के अमर शिल्पी थे । उनकी उक्तियों में से ऐसा लगता है मानों श्रृंगार परक कविताओं में ही उनकी रुचि अधिक रमी है । जब कहीं किसी श्रृंगारिक वर्णन को वे उठाते है तो उनकी लेखनी ही बदल जाती है । भीतर का सारा रस छलक पड़ता है और उक्ति अलंकारिक चमत्कार से दीप्त हो जाती है । देखिए—

'बाल, युवा औ' वृद्ध को सुधा, सुरा विष देन,
काढ़े कंचन कलश कुच रूप-सिन्धु मथि मैन ।'[2]

उपर्युक्त दोहे में शंकर कवि का कमाल देखिए । काम देव ने के रूप-सिन्धु को मथकर कैसे विचित्र कंचन कलश निकाले हैं, जिनमें बालकों के लिए अमृत, युवकों के लिए शराब और वृद्धों के लिए जहर रस भरा है । इसी प्रकार 'अटकत हैं' समस्या की पूर्ति में शंकरजी ने जो निम्नलिखित छन्द रचना की, उसे पढ़कर तो सहृदय पाठक आत्मविभोर हो जाते है । बेचारी सुन्दरी अकेली बन में निकल पड़ी है, उस पर मोर, चकोर, भौंरे और राजहंस सभी एक साथ टूट पड़ते है । बेचारी को जान बचाना भारी पड़ रहा है । पर समस्या तो यह है कि जिसके रूप के प्रभाव से पशु-पक्षियों की यह दशा हो गई है उसे बचाने जाकर किसी पुरुष का क्या हाल होगा ?

'आनन की ओर चले आवत चकोर मोर
दौर दौर बार-बार बेनी झटकत हैं ।
बैठ-बैठ शंकर उरोजन पै राजहंस—
मोतिन के हार तोर तोर पटकत हैं
झूम झूम चाखन को चूम-चूम चंचरीक
लटकी लटन में लिपट लटकत हैं ।
आज इन बैरिन सों बन में बचावे कौन
अबला अकेली में अनेक अटकत हैं ।'[3]

शंकर कवि की अतिशयोक्ति का कमाल देखिए । किसी वियोगिनी की आह निकलने पर

. शंकर सर्वस्व पृष्ठ २३ प्रथम
२ वही

कैसे कैसे भयकर उत्पात होने की सम्भावना है उसकी आशंका मात्र से ही हृदय कापने लगता है जरा निम्नलिखित कवित्त पर गौर कीजिए—

शंकर नदी नद-नदीसन के नीरन की,
भाप बन अम्बर ते ऊँची चढ़ि जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लों पल में पिघल कर,
घूम-घूम धरनी धुरी-सी बढ़ जायगी।
झारेंगे अंगारे ये तरनि, तारे, तारापति,
सारे व्योम मण्डल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि, विधि की बनावट बचेगी नाहिं,
जो पै वा वियोगिनि की आह कढ़ जायगी।'[1]

इस प्रकार की उक्तियों में रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रारम्भ में कवि शकर ने ब्रजभाषा की श्रृंगारिक रचनायें भी की थी जो बिल्कुल द्विवेदी युगीन मर्यादा से परे थी। पर आचार्य द्विवेदी की सहृदयता और आकर्षण से खिचकर शंकर कवि ने खड़ीबोली में लिखना शुरु किया। इस सम्बन्ध में कहा तो यहां तक जाता है कि द्विवेदीजी की प्रार्थना पर 'सरस्वती' की लाज रखने के विचार से इन्होंने खड़ीबोली में पदार्पण किया।[2] इसमें तो दो मत नही हो सकते कि कवि शंकर प्रतिभा सम्पन्न वाणीपुत्र थे। मुंशी प्रेमचन्द ने एक शोक सभा में शकर की मृत्यु के तत्काल बाद दिल्ली में कहा था—मगर यह नोहा अभी समाप्त नहीं हुआ, तीसरा मिसरा कविरत्न शंकरजी का निर्वाण हैं, जिसके शोक के आंसू अभी हमारी आंखों से नहीं सूखने पाये। शायद कोई जमाना आए कि हरदुआगंज हमारा तीर्थ स्थान बन जाय।'[3]

कवि शंकर के सम्बन्ध में नवीनजी के विचार भी पठनीय हैं—

"स्वर्ग निवासी पं० नाथूराम शंकर शर्मा हमारे साहित्य के उन निर्माताओं में थे, जिन्होने हमारी साहित्यिक गतानुगति के आडम्बर को छिन्न-भिन्न करने की दशा में पहले पहल कदम उठाया था। वे शब्दों के स्वामी, भाषा के अधीश्वर, मुहावरों के सिरजनहार और साहित्य के अखाड़े के अक्खड़ पहलवान थे। पूज्य शकरजी में शब्द निर्माण की क्षमता असाधारण रूप से विद्यमान थी।"[4] सचमुच राष्ट्र के उस नेत्रोन्मीलन के युग में प्रभात की उस बेला में प्रथम रवि-रश्मि-स्नात उस घाटिका मे जिन विहगों ने अपने विभास, भैरव, भैरवी आसावरी के नवजीवन प्रद स्वरों में हमें उद्‌बोधन के, जागरण के, विनाश और नवनिर्माण के गीत सुनाये उनमें प० नाथूराम शर्मा भी एक थे।

महाकवि शकर छन्द शास्त्र के उद्‌भट विद्वान थे। वे अपनी कविता के मात्रिक छन्दों मे भी बराबर वर्ण रखते थे। इस कठिन कार्य को, उन्होंने अपनी पुस्तक 'अनुराग रत्न' में पूरा पूरा

१　शंकर सर्वस्व, पृष्ठ २४ प्रथम
२　वही।

निभाया है कवि शकर का हृदय देशप्रेम और मानव कल्याण की भावना से भरा हुआ था बग भग के समय से कवि शकर स्वदेशी की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए और लोकमान्य तिलक तथा पंजाब केसरी लाला लाजपतराय से बहुत प्रभावित थे। असहयोग छिड़ने पर वे गाधीजी के भी भक्त बन गए। गांधीजी की प्रशंसा में उन्होंने भरी सभा में कविता पढ़ी थी वैसे, शंकर कवि आत्मसम्मान के बडे धनी थे। कभी किसी राजा, महाराजा के सम्बन्ध में न उन्होंने कुछ लिखा, न किसी के सामने खड़े हुए। इस प्रसंग में उनके चरित्र की दृढ़ता की एक छोटी सी कहानी इस प्रकार है—अपनी एक पुस्तक 'अनुराग रत्न' को उन्होंने पद्मसिंह शर्मा को समर्पित किया, इसे एक राजा सहब अपने नाम पर समर्पित कराना चाहते थे, जिसके बदले में वे उस पुस्तक के लिए ५,००० पाँच हजार रुपया देना चाहते थे। आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने कवि शकर को बहुत समझाया पर वे न माने और प्रेम से बिलख कर बोले—

'मैं तो अपनी किताब सम्पादकजी, (पं० पद्मसिंह शर्मा), कूँई समर्पित करूँगो, जो काव्य के मर्मज्ञ एँ। धन के पीछे भैय्या ! मोकूँ दबाओ मत, विचारो राजा कविता कूँ कहा जाने।"[1]

कवि शंकर अपनी धुन के पक्के थे। 'कलित कलेवर' नामक उन्होंने एक श्रृंगारिक पुस्तक लिखी थी जिसे स्वयं नष्ट कर दिया और कहा कि मेरे नाम से इसका न छपना ही श्रेयस्कर होगा।

कवि शकर पूरे प्रगतिवादी थे। उन्होंने रिश्वतखोर अफसरों, सूदखोर बनियों, झूठे गवाहों और पूंजीपतियों को बुरी तरह फटकारा है। उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध उस समय लिखना ही महत्वपूर्ण था। वे बड़े सहृदय कवि थे। अपनी जीविका चिकित्सा द्वारा चलाते रहे और साहित्य की निष्प्रयोजन सेवा करते रहे। गरीबों को दवाइयां भी मुफ्त बाँटते थे।

हिन्दी में कितने ही छन्द बिना नाम के थे, उनका उन्होंने नामकरण किया जिसमें मिलिंद पाद, राजगीत और शंकर-छन्द मुख्य हैं। जब वे २२–२३ वर्ष के थे, उन्होंने 'बहारे चमन' और 'हरिश्चन्द्र' दो नाटक भी लिखे थे जिनको अभिनीत भी किया गया था और लोगों ने खूब सराहा था।

कवि शंकर रामचरित मानस के बड़े भक्त थे। उन्होंने मानस और सत्यार्थ प्रकाश का चौदह बार पारायण किया था। कविता करना और ऋषि दयानन्द के दर्शन को वे जीवन का फल मानते थे। बुढ़ापे में उन्हें पारिवारिक लोगों की अचानक मृत्यु से बड़ा धक्का लगा था और वे मृत्यु के पहले समझ गये थे। मृत्यु के पांच माह पूर्व अपनी वर्ष गाँठ के अवसर पर उन्होने लिखा था—

"आयु तिहत्तर हाय न भोगी,
वर्षगाँठ अब और न होगी।"[2]

कवि की भविष्यवाणी सफल हुई। भाद्रपद कृष्ण ५ संवत् १९८९ वि० तदनुसार २१ अगस्त

---

१ शकर सर्वस्व पृष्ठ ३४ प्रथम
२ शकर सर्वस्व पृ० ३७ प्रथम

सन् १९३२ ई० को अपनी जन्मभूमि हरदुआगंज में आपका देहान्त हो गया। आपकी मृत्यु से सारे हिन्दी जगत में शोक छा गया।

द्विवेदीजी के आग्रह से कवि शंकर ने सरस्वती में लिखना आरम्भ किया था, किन्तु अपनी प्रतिभा और अभिव्यंजना शक्ति के बल पर वे शीघ्र ही सरस्वती के प्रमुख लेखकों में अपना स्थान बना लिए थे। मई, सन् १९०६ ई० की सरस्वती में कवि शंकर की प्रथम रचना 'हमारा अधःपतन'[1] प्रकाशित हुई। इसकी आरम्भिक चार पंक्तियाँ देखिए। कवि शंकर शिव से देश की दुर्दशा देख कर सुधार की प्रार्थना करते हैं—

"शंकर सुखमूल शोक हमारी।
हे रुद्र त्रिशूल शक्ति धारी॥
टुक देख दयालु न्यायकारी।
गत गौरव दुर्दशा हमारी॥"[2]

'केरल की तारा' जो शंकर कवि की प्रसिद्ध रचना है, अक्टूबर सन् १९०६ ई० मे सरस्वती में प्रकाशित हुई। सुप्रसिद्ध चित्रकार रवि वर्मा के चित्र के आधार पर यह रचना की गई थी। इसकी कुछ पंक्तियाँ पढ़िये—

"मांग देकर पाटियों मे
पीठ पर चोटी पड़ी।
फाड़ मुँह फैलाय फन
छवि राशि पै नागिन अड़ी।
भाल पर चाहक चकोरों
का बड़ा अनुराग था।
क्यों न होता चंद का वह
ठीक आधा भाग था॥"[3]

वसंत सेना

"वसन्त सेना का वर्णन संस्कृत के मृच्छकटिक नाटक में आया है। उसके आधार पर सुप्रसिद्ध चित्रकार राजा रवि वर्मा ने एक भावपूर्ण चित्र अंकित किया था। उसी चित्र पर सरस्वती-सम्पादक आचार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी की इच्छानुसार श्री शंकरजी ने यह 'वसत सेना' शीर्षक कविता लिखी थी। दूसरी कविता 'केरल की तारा' भी स्व० रवि वर्मा के चित्र पर है। यह भी आचार्य द्विवेदीजी के ही अनुरोध से लिखी गई थी। दोनों कवितायें १९०६ ई० की सरस्वती में प्रकाशित हुई थीं।"[4]

---

१ सरस्वती, मई, १९०६ ई०।

२. प्रथम पद, हमारा अधःपतन, सरस्वती, मई, १९०९ ई०।

३ केरल की तारा अक्टूबर १९०६ पृ० ३८०।

४ शंकर सर्वस्व पृ० १७५

'पूरण', 'सुधाकर' के अंक में कलंक बस,
लागी जल-कोप 'रत्नाकर' ने पाया है।
'भानु' भगवान चव्वों से चब्बीले रहें,
स्वामी 'श्यामसुन्दर' के संग योगमाया है।
सुन्दरी बसंत सेना बाई का विशुद्ध मन,
पालक महीपति के साले का सताया है।
शंकर की रचना में ठीक इसी भांति हाय,
भद्दापन दूषण बनारसी समाया है।"[1]

अ—इससे सिद्ध होता है कि कवि शंकर पूरे अखाड़ेबाज थे। वे द्विवेदीजी के बड़े भक्त भी थे।

ब—जहाँ सभा के समर्थकों पर उनका व्यंग्य है, वहीं बनारसी शब्द पर उनका कटाक्ष भी पठनीय है।

आचार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल में 'सरस्वती' और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के मध्य कुछ झड़प-सी हो गई थी। सभा के तत्कालीन प्रधान मन्त्री ने दलबन्दी की भावना से प्रेरित होकर लिखा था कि सरस्वती में भद्दी कवितायें निकलती है। द्विवेदीजी ने उसके विरुद्ध कई लेख लिखे। सभा के पक्ष-पोषक थे—राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', सुधाकर द्विवेदी, कविवर रत्नाकरजी, श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु, बाबू श्यामसुन्दर दास आदि। अतः इन्हीं लोगों को लक्ष्य करके यह छंद लिखा गया था। उन दिनों इस छद की बड़ी चर्चा थी।[2]

वियोग वज्रपात और वियोग वज्राघात आदि रचनायें क्रमशः पं० कुन्दनलाल शर्मा और पं० अम्बिकादत्त व्यास के मरने पर लिखी गई शोक-कवितायें है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी

जीवन-वृत्त

जौनपुर जिले के कोइरीपुर गाँव में फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी सं० १९४६ वि० (सन् १८८९ ई०) के दिन बालक रामनरेश का जन्म हुआ। इनके पिता पं० रामदत्त त्रिपाठी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनका परिवार एक साधारण किसान परिवार था। बालक रामनरेश की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही हुई। और वहीं से इन्होने मिडिल स्कूल पास किया। तदनन्तर अंग्रेजी पढ़ने के विचार से ये जौनपुर आये। किसी प्रकार ९ वी कक्षा तक अभ्यास किया, पर पिता के अंग्रेजी शिक्षा विरोध और अर्थाभाव के कारण त्रिपाठी जी को पढ़ाई छोड़नी पड़ी।

बालक रामनरेश पर आजीविका खोजने की चिन्ता लगी। उम्र १८ वर्ष की थी और अल्हड़ता भी खूब रही। कुश्ती लड़ने के शौकीन तथा तैराकी में अभ्यस्त रामनरेश जी जीवन के

---

१ बसन्त सेना- पद ४, शंकर सर्वस्व, पृ० १७६।

२ फुटनोट शंकर सर्वस्व पृ० १७६।

संघर्ष में विश्वास करने लगे । एक दिन अचानक घर से भाग कर कलकत्ते चले गए । कलकत्ते मे उनके जीवन को गति देने वाला वातावरण मिला । हिन्दी में रुचि तो बचपन से ही थी, पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने, भाषण आदि सुनने से उसे पल्लवित होने का मौका मिला । उन्हीं दिनों ये एक आर्य समाजी सेठ के सम्पर्क में आए । बैठक में उनके सात सौ रुपये के भूले हुए बटुए को ले जाकर रामनरेश जी ने उन्हें जैसा का तैसा ही लौटा दिया । सेठ सहृदयी थे । उन्हें रामनरेश पर विश्वास हो गया । सेठ जी ने इन्हें अपनी कम्पनी में ट्रैवलिंग सेल्समैन बना दिया ।[1]

रामनरेश जी 'ट्रैवलिंग सेल्समैन' के रूप में इधर-उधर घूमने लगे, पर भाग्य में तो कुछ और ही बदा था । उन्हें भोजनादि की गड़बड़ी से संग्रहणी रोग हो गया । विवश होकर वे कलकत्ते लौट आए । रोग छूटने की आशा न रही । निराश होकर एक वृद्ध मारवाड़ी सज्जन की राय से राजस्थान के फतेहपुर(शेखावटी नामक स्थान)पहुंचे । संयोग से मरणासन्न त्रिपाठी जी नेवटिया परिवार का आश्रय मिला । ईश्वर को इनसे बड़े-बड़े काम लेने थे, इसलिए सांस चलती रही और धीरे-धीरे छाछ और बाजरे की रोटी खाकर रामनरेश जी की असाध्य बीमारी छूट गई । वहीं नेवटिया परिवार के बच्चों को पढ़ाने लगे। सम्पर्क मित्रता में बदल गया ।

समय बदला । परिस्थितियाँ बदलीं । प्रकृति के रम्य मनोरम वातावरण में काव्य सृजन के भाव जागे । खड़ी बोली में छोटी-छोटी रचनायें लिखने लगे । ये कवितायें 'प्रभा' और 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित भी होने लगीं । त्रिपाठी जी के सुधारवादी विचारों के कारण लोग इन्हे आर्य समाजी समझने लगे थे और इसीलिए बिना किसी राग द्वेष के विरोध भी करते रहे ।

'बालक सुधार शिक्षा' इनकी प्रथम कविता पुस्तक है। सन् १९११ ई० में यह लिखी गई और रामकुमार नेवटिया के सद्प्रयत्नों से प्रकाशित हुई । यहीं से व्यवस्थित कविकर्म आरम्भ हुआ । इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रीगणेश भी यही से हुआ । 'मेरा कवित्व' शीर्षक अंश जो त्रिपाठी जी के अप्रकाशित जीवन चरित्र का एक अंश है, उसमें वे लिखते हैं:--

"चौदह-पन्द्रह वर्ष की उम्र में, जब गांव के मदरसे में पढ़ता था, मेरे प्रधान अध्यापक ब्रजभाषा के कवि थे । वे सन्ध्या समय कविता प्रेमी जनों के बीच में बैठकर बड़े उल्लास से अपनी कविता सुनाया करते थे । छुट्टी होने पर मैं भी घर न जाकर उनकी कविता सुनने मे लग जाता था । सुनते-सुनते मुझमें कविता सुनाने की लालसा आप से आप उमड़ आई और मैं भी लुक छिप कर छंद बनाने लगा ।"[2] उन्हीं दिनों की बात है ब्रजभाषा की एक समस्या पूर्ति "पेटी न दिखाओ कोउ पेट भार भरि है" निकली थी । बालक रामनरेश ने अपनी पाठ्य पुस्तक के अंतिम सादे पृष्ठ पर इसकी पूर्ति कर डाली । उन्हें क्या मालूम था कि पेटी क्या होती है और पेटभार भरने का सांकेतिक अर्थ कितना लक्षणिक है । संयोग से पुस्तक अध्यापक महोदय के हाथ लग गई । फिर क्या था, खूब पिटाई हुई ।[3]

खड़ीबोली में लिखने की प्रेरणा इन्हें 'भारत भारती' के प्रकाशन से मिली । उसी के ताल

---

१. श्रीगोपाल नेवटिया, श्रद्धांजलि विशेषांक, सम्मेलन पत्रिका ।

२ रामनरेश त्रिपाठी मेरा कवित्व श्रद्धांजलि विशेषांक सम्मेलन पत्रिका, पृष्ठ २५४

३ वही

पर 'हिन्दुओं की हीनता' शीर्षक प्रथम रचना 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी। आचार्य द्विवेदी ने उसे सुधारकर सरस्वती मे प्रकाशित कर दिया। इससे थोड़ा और बल मिला। उधर मारवाड़ियो के सहयोग से इन्होंने फतेहपुर में एक पुस्तकालय की स्थापना भी की थी। पत्र-पत्रिकाओं तथा सगति अध्ययन से इन्होंने बंगला, राजस्थानी और गुजराती सीख ली थी। लगभग २५ वर्ष की उम्र में पहुंचते-पहुंचते इन्हें हिन्दी जगत राष्ट्रीय भावनाओं तथा देशहित और एकता सम्बन्धी रचनाओं के लेखक के रूप में स्वीकार कर चुका था। सन् १९१५ ई० में पिता जी की मृत्यु के बाद इन पर घर की पूरी जिम्मेदारी आ पड़ी। बस, राजस्थान छोड़कर इन्हें गांव वापस आना पड़ा, परन्तु साहित्य सृजन का कार्य अनवरत रूप से जारी रहा। साहित्य सेवा के व्रत से प्रेरित होकर ये इलाहाबाद में आ गये और वहीं साहित्यिकों एवं साहित्य सम्मेलन की सहायता से आगे बढ़े। नेवटिया परिवार से ४०० सौ रुपये उधार लेकर इन्होंने एक प्रेस का काम शुरू किया और आगे चलकर यह प्रेस खूब फला-फूला। 'कविता कौमुदी' के प्रकाशन द्वारा इन्होने अन्य भाषाओ की भी सेवा की। बाल साहित्य लिखकर तथा 'बानर' पत्र के सम्पादन द्वारा बच्चो की सेवा की।

सन् १९१८ ई० में ये हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के प्रचार मन्त्री नियुक्त हुए और १९२१ ई० तक उसी पद पर कार्य करते रहे। सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन में डेढ़ वर्ष के लिए जेल में गए। उस समय १०० रुपये जुर्माना भी देना पड़ा। 'कविता कौमुदी' नामक सचित्र हिन्दी मासिक पत्रिका प्रकाशन प्रारम्भ किया, किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण शीघ्र ही उसे बन्द कर देना पड़ा। सम्मेलन पत्रिका के सम्पादन द्वारा भी इन्होंने हिन्दी की अच्छी सेवा की। बालकों के लिए कहानियां, नाटक और अनेक प्रहसन लिखे। अशोक, चन्द्रगुप्त, बुद्ध आदि के चरित्रों की रोचक कथाएं हिन्दी में तैयार की। उम्र बढ़ने और शक्ति घटने के कारण सन् १९४१ ई० में इन्होंने अपना प्रेस बेंच दिया। इलाहाबाद से सुल्तानपुर जाकर नया मकान बनवाकर रहने लगे।

सन् १९५१-५२ में सारे भारत का तीन बार दौरा किया और लगभग ८ हजार रुपये खर्च करके 'ग्राम गीतों' का संग्रह किया। वे तीन भागों में प्रकाशित हुये। मानस सम्पादन, टीका लेखन और तुलसी के काव्य विवेचन से भी इन्हें काफी कीर्ति मिली। ईश्वर में इनका अटल विश्वास था। संस्कार से निर्मल, आत्मनियन्त्रण के प्रबल पक्षपाती और स्वभाव से कर्मवीर थे। इनके व्यक्तित्व में भाग्य और पौरुष का अद्भुत समन्वय था। प्रकृति से विनोदी, अध्ययनशील, अध्यवसायी, स्पष्टवादी, विनयशील, परमदयालु और राष्ट्रीयता आदि आप के चरित्र के गुण थे। अपने जीवन में ७२ वसंत और पतझड़ देख चुके थे। इस लम्बे अर्से में इन्होंने बहुत कुछ पाया और बहुत कुछ खोया भी। सुख-दुख इनकी जीवन-चादर के ताने बाने थे। अतीत के कोरे गीत गाने की अपेक्षा त्रिपाठी जी वर्तमान के गीत गाना अधिक पसन्द करते थे। उनके मिलन, पथिक और स्वप्न तीनों खण्ड काव्यों से पता चलता है कि उनके नायक प्रसिद्ध महापुरुष न होकर साधारण व्यक्ति हैं।

त्रिपाठी जी वादों के बलदल से परे, ——— विचारों के सत्कवि थे। उनके काव्य में प्रकृति के मनोरम चित्र स्पष्ट देखे जा सकते हैं उन्होंने स्त्री-पुरुष आबाल वृद्ध सभी के लिए

काव्य लिखा। साहित्य के सभी अंगों पर लेखनी चलाई। इनके सभी ग्रन्थों की संख्या १०० है, जिसमें ८५ स्वयं रचित, १५ सम्पादित और ८ अनूदित। युग और राष्ट्र के अनुकूल प्रचुर साहित्य लिखकर उनका कवि १६ जनवरी १९६२ ई०, मंगलवार ६॥ बजे प्रातःकाल ७२ वर्ष की उम्र में अमरलोक की ओर प्रस्थान कर गया।

काव्य

प० रामनरेश त्रिपाठी ने काव्यारम्भ तो ब्रजभाषा की समस्या पूर्तियों से किया था जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, पर वे 'बालक सुधार शिक्षा' नामक पुस्तक (सन् १९११ ई०) लिखकर कृतिकार के रूप में माँ भारती के चरणों में झुके। सन् १९१४ ई० में उनकी 'जन्मभूमि भारत' रचना सरस्वती में प्रकाशित हुई, जिसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

> "जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है।
> उत्तर मे हिम राशि रूप सर्वोच्च शिखर है।
> जिसमें प्रकृति विकास रम्य सुन्दर उत्तम है।
> जीव जन्तु फल फूल शस्य अद्भुत अनुपम है।[1]

इसी रचना में आगे चलकर कवि देश अभिमान के भाव व्यक्त करता है। उसकी देशभक्ति का यह एक उत्तम प्रमाण है।

> "पृथ्वी पर कोई देश भी इसके नहीं समान है।
> इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है॥"[2]

तनिक और आगे बढ़कर वह एकता और उद्बोधन के राग अलापता है। यद्यपि इस रचना में काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से विशेष प्राण नही है, पर युग और काल की दृष्टि मे इसका महत्व अक्षुण्ण है। देखिए—

> "उठो त्याग दें द्वेष, एक ही सबके मत हों।
> सीख ज्ञान विज्ञान, कला कौशल उन्नत हों॥
> भारत की उन्नति सिद्धि से, हम सबका कल्याण है।
> दृढ़ समझो इस सिद्धान्त को, हम शरीर यह प्राण है॥"[3]

सन् १९१७ ई० में त्रिपाठी जी का प्रथम खण्ड काव्य 'मिलन' प्रकाशित हुआ। इसका नायक 'आनन्द' और नायिका 'विजया' दोनों ही राष्ट्रीय भावना, देशभक्ति से ओत प्रोत हैं। देश की दयनीय स्थिति से दोनों ही दुखी हैं। देश के शत्रुओं के विरुद्ध युवक आनन्द के विचार देखिए—

> "किया जिन्होंने स्वर्णभूमि को
> कौड़ी का मुहताज।

---

१ सरस्वती भाग १५ संख्या १ सन १९१४ ई०
२ वही

किया पद दलित हाय ! हमारा
देव समर्पित ताज ।।"[1]

अंग्रेजी शासन तथा शोषण के विरुद्ध इतने साफ शब्दों में विद्रोह की आग बहुत कम कवि भड़का सकते थे। उस समय साधारण सी बात के लिए दमन आसान बात थी।

त्रिपाठीजी के काव्य में प्रेम के दो रूप गंगा यमुना की भांति चलते हैं। उनका सामाजिक प्रेम, देश प्रेम के साथ मिलकर एक हो जाता है, फिर देश के लिए व्यक्ति अपने प्रेम को बलि करके राष्ट्रीयता का बाना धारण कर लेता है। सरसता का वातावरण उनके काव्य में आद्यन्त बना रहता है। विक्षिप्त विजया को जब मुनि कुटी में रख कर उसे चेतनावस्था मे लाते है तो विजया अपने पति के लिए व्याकुल हो जाती है। विह्वल विजया के मुख से निकल पड़ता है—

'प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है,
प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है,
प्रेम हृदय आलोक ।।'[2]

पथिक

पं० रामनरेश की कीर्तिकौमुदी का उद्घाटक काव्य है पथिक। इसका प्रकाशन सन् १९२० ई० में हुआ। इस खंड काव्य में प्रकृति और प्रेम का मणिकांचन संयोग है। इसकी पृष्ठ-भूमि की कथा भी कम रोचक नहीं है। त्रिपाठी जी स्वयं लिखते हैं—'१९२० ई० में मैं रामेश्वरम् की यात्रा पर गया था। वहां पहली बार समुद्र देखा। उसकी छवि देखकर आत्मविभोर हो उठा। मारे प्रसन्नता के दोनों पैर सागर के पानी में कर एक शिला पर बैठ गया और मुंह से अपने आप एक पद निकल गया। वही पथिक का प्रथम पद है—'[3]

'राग-रथी, रवि-राग-पथी अविराग-विनोद-बसेरा।
प्रकृति-भवन के सब विभवों से सुन्दर सरस सवेरा।
एक दिवस अति मुदित उदधि के बीचि-विचुम्बित तीरे।
सुख की भांति मिला प्राची से आकर धीरे-धीरे ।।'[4]

रामेश्वरम् के सागर तट का बड़ा ही रोचक वर्णन इसमें मुखरित है। पथिक काव्य का दुखान्त स्वरूप अत्यन्त करुण है। जननी की मृत्यु पर अबोध बालक का हृदय किस प्रकार छटपटाता है, इसकी सटीक अभिव्यक्ति पथिक में है। यह काव्य एक स्मृति-काव्य भी है। इसमें रामकुमार नेवटिया की स्मृति है। इसीलिए इसकी रचना में उनका नाम रखा गया है। हर सर्ग का पहला अक्षर जोड़ने से 'रामकुमार' बनता है। इस काव्य की बहुत दिनों तक सारे देश मे धूम मची रही। इसके अब तक चालीस संस्करण हो चुके हैं।

---

१. मिलन, सर्ग १, पद, ८ पृष्ठ १२, बारहवांसंस्करण।
२. मिलन, दूसरा सर्ग, पृष्ठ २६, बारहवां संस्करण।
३ श्रद्धांजलि विशेषांक- सम्मेलन पत्रिका- पृष्ठ २५४–५५।
४ पथिक, प्रथम सर्ग, पद १

प० रामनरेश को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कवि तथा सुप्रसिद्ध नाटककार प० लक्ष्मी नारायण मिश्र लिखते हैं—

'.. कवि की पंक्तियां जो हृदय में कम्पन और देह में रोमांच उत्पन्न करें, मुझे स्वर्गीय त्रिपाठी के पथिक में बहुत मिलीं। शब्द के माध्यम से जीवन की मार्मिक परिस्थितियों और भावों को रूप देने वाले कवि रामनरेश त्रिपाठी से मेरा परिचय नहीं हुआ था, पर उनके पथिक ने मुझे उनके पास पहुंचा दिया।···समर्थ कवि, अधिकारी पण्डित और व्यवहार कुशल व्यवसायी एक ही साथ वे तीनों बने। इतना ही नहीं हमारे स्वतन्त्रता संग्राम में भी उन्होने भाग लिया, मृत्युंजय गांधी के साथ देश के अन्य नेताओं के सम्पर्क में बराबर बने रहे। देहाती मदरसे का शिक्षक, जिसकी शिक्षा किसी विश्वविद्यालय में या कहीं भी नियमित नही चली थी, स्वाध्याय और कुछ बैठने की धुन में कहां से कहां पहुंच सकता है, दिवंगत त्रिपाठी इसके प्रमाण हैं। वे प्रकृति से भावुक एवं रससिद्ध कवि थे।'1

पथिक की भाँति ही त्रिपाठीजी की दो फुटकल कवितायें भी उन्हीं दिनों बड़ी लोकप्रिय हुई थीं, जिनमें एक थी 'अन्वेषण' जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार है—

'मैं ढूंढ़ता तुझे था जब कुंज और वन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के सदन में।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में॥
मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥'

उनकी दूसरी फुटकल कविता थी बच्चों के लिए प्रार्थना, जो उन दिनों सभी स्कूलों में सामूहिक रूप में गाई जाती थी। उत्तर प्रदेश के हिन्दी स्कूलों में वह राष्ट्रीय गीत 'वंदे मातरम्' की तरह बड़ी लोकप्रिय थी। उसकी कुछ पंक्तियां देखिए—

'हे प्रभो आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए।
शीघ्र सारे दुर्गुणों से दूर हमको कीजिए॥
लीजिए हमको शरण में हम सदाचारी बनें।
ब्रह्मचारी धर्म रक्षक वीर व्रतधारी बनें॥'3

सन् १९२७ ई० में त्रिपाठीजी की समस्त फुटकल रचनाओं को श्री गोपाल नेवटिया ने 'मानसी' नामक संग्रह में सम्पादित किया। इस संग्रह में विविध प्रकार की रचनायें हैं। इनमें से एक रचना का उदाहरण लीजिए। इसका शीर्षक है 'आंखों का आकर्षण'। इसकी कुछ पंक्तियां देखिए—

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र- श्रद्धांजलि विशेषांक- सम्मेलन पत्रिका पृ० ३०८।

२ माधुरी भाग १ खण्ड १ संख्या १

अपने दिन रात हुए उनके क्षण ही भर मे छवि देख यहा
सुलगी अनुराग की आग यहा जल से भरपूर तड़ाग जहा
किससे कहिए अपनी सुधि को मन है न यहां तन है न वहां।
अब आंख नहीं लगती पल भी जब आंख लगी तब नींद कहां ॥'

स्वप्न

इसके बाद सन् १९२८ ई० में त्रिपाठीजी काश्मीर की यात्रा पर गए। वहां के प्राकृतिक दृश्यों ने पुनः इन्हें आकृष्ट किया। नेवटिया जी ने भी आग्रह किया कि 'पथिक' जैसा ही एक काव्य और लिखिए। बस त्रिपाठी जी उसमें जुट गये। सच पूछा जाय तो स्वप्न त्रिपाठीजी की उत्तर यात्रा का स्मृति-चिह्न है। इस खंड काव्य में एक ओर देश का दुख-जन्य-जीवन और दूसरी ओर सौन्दर्य, प्रकृति और भोग। इस काव्य में नवयुवकों को सौन्दर्य और करुणा के बीच से अपना मार्ग बनाना पड़ा है। इसी समस्या के आधार पर स्वप्न की रचना हुई है। समस्या का हल भी संदेश के रूप में विद्यमान है। 'स्वप्न' के अनेक पदों में कश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन है। जीवन की अनिश्चित परिस्थितियों मे 'सुमना' ने पति को सहयोग देकर भारतीय नारी का आदर्श पूरा किया है। उसके सहयोग से दोनों के जीवन धन्य हो गए।

यद्यपि मानसी और स्वप्न द्विवेदी युग के बाहर की कृतियां है, पर इसी सन्दर्भ में इनकी चर्चा इसलिए कर दी गई है कि द्विवेदी युग के परवर्ती विकास में इनका मूल्यांकन कोई अर्थ नही रखता। प्रत्येक दृष्टि से ये द्विवेदी युगीन धारा की रचनाओं की-सी लगती हैं। इनके आदर्श, इनकी भाषा, अभिव्यंजना और उद्देश्य सब कुछ नीति परक एवं देशभक्ति से परिपूर्ण हैं।

पं० रामनरेश त्रिपाठी के काव्य के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने इतिहास मे लिखते हैं—'काव्य के क्षेत्र में जिस स्वाभाविक स्वच्छन्दता का आभास पं० श्रीधर पाठक ने दिया था, उसके पथ पर चलने वाले द्वितीय उत्थान में त्रिपाठीजी ही दिखाई पड़े। 'मिलन' 'पथिक' और 'स्वप्न' नामक इनके तीनों खंड काव्यों में इनकी कल्पना ऐसे मर्म पथ पर चली है जिस पर मनुष्य मात्र का हृदय स्वभावतः ढलता आया है। ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं के भीतर न बवकर अपनी भावना के अनुकूल स्वच्छन्द संचरण के लिए कवि ने नूतन कथाओं की उद्भावना की है। कल्पित आख्यानों की ओर यह विशेष झुकाव स्वच्छन्द मार्ग की अभिलाषा सूचित करता है। इन प्रबन्धों में नर जीवन जिन रूपों में ढालकर सामने लाया गया है, वे मनुष्य मात्र का मर्म स्पर्श करने वाले हैं तथा प्रकृति के स्वच्छन्द और रमणीय प्रसार के बीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न नहीं प्रतीत होते।

स्वदेश भक्ति की जो भावना भारतेन्दु के समय से चली आती थी, उसे सुन्दर कल्पना द्वारा रमणीय और आकर्षक रूप त्रिपाठीजी ने ही प्रदान किया। त्रिपाठी जी के उपर्युक्त तीनो काव्य देशभक्ति के भाव से प्रेरित है। देशभक्ति का यह भाव उनके मुख्य पात्रों को जीवन के कई क्षेत्रो में सौन्दर्य प्रदान करता दिखायी पड़ता है।—कर्म के क्षेत्र में भी, प्रेम के क्षेत्र में भी। वे पात्र कई तरफ से देखने में सुन्दर लगते हैं। देशभक्ति को रसात्मक रूप त्रिपाठीजी से ही प्राप्त हुआ, इसमे सन्देह नही।'[1]

---

१ शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६२८-२९

इनके 'पथिक' में दक्षिण भारत के रम्य प्राकृतिक चित्रों का बहुत विस्तृत समावेश है तो 'स्वप्न' में उत्तराखण्ड और काश्मीर की सुषमा का अनुपम रूप। प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण की प्रतिभा इनमें अच्छी है। देखिए—दोनों में से एक एक खंड—

'प्रति क्षण नूतन वेष बनाकर रंग-बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरूं, यही चाहता मन है।।'[1]
सिन्धु-विहंग तरंग पंख को फड़काकर प्रति क्षण में।
है निमग्न नित भूमि-खण्ड के सेवन में, रक्षण में।।[2]

इसी प्रकार के मनोहर प्रकृति वर्णन स्वप्न में भी स्थान स्थान पर आए हैं। उसमें भाषा की सफाई और बढ़ गई है। अलंकारिक प्रयोग प्रकृति को कितना मोहक बना देते हैं। प्रकृति का यह अंश अपनी स्वाभाविक सुषमा के कारण बरबस ही हमारा ध्यान अपनी ओर खींच लेता है। देखिए—

'चारु चन्द्रिका से आलोकित विमलोदक सरसी के तट पर।
बौर-गंध से शिथिल पवन में कोकिल का आलाप श्रवण कर।
और सरक आती समीप है प्रमदा करती हुई प्रतिध्वनि।
हृदय द्रवित होता है सुनकर शशिकर छूकर यथा चन्द्रमणि।'[3]

अभिव्यंजना शैली

द्विवेदीजी के उत्तरार्द्ध में खड़ीबोली की कर्णकटुता धीरे-धीरे मिट रही थी। भाषा अब व्याकरण सम्मत होकर नादबोध एवं स्वाभाविकता की ओर बढ़ रही थी। उसी समय त्रिपाठी जी भी हिन्दी काव्य क्षेत्र में मिलन के 'माध्यम' से उतरे। उन्होंने भाषा की आत्मा को परखने की चेष्टा की। त्रिपाठीजी ने यह भली भाँति समझ लिया कि हिन्दी संस्कृत-तत्सम-प्रधान भाषा की पर्यायवाची नहीं है। उसका अपना स्वतन्त्र एवं नैसर्गिक रूप है। उसकी अपनी प्रकृति और परम्परा है, अपना व्याकरण है। अतएव तत्सम शब्दों के प्रयोग के प्रति उन्होंने पक्षपात तो किया, किन्तु उसका अतिचार सतर्कता के साथ बचाया। हां, युग के प्रभाव से वे भी पूरा पूरा बच नहीं सके। इनकी भाषा में भी निरर्थक प्रत्यय लगाने का आग्रह मौजूद है जैसे—विचुम्बित, विनिद्रित, विताड़ित, प्रलम्ब, परितोषक, विमोह, विमोहित, परिदर्शन, विभासित, प्रश्वसित, प्रकस्मित तथा विनिन्दित आदि।

कदाचित कविता में उच्चारण सुकरता और श्रवण-सुखदता लाने के लिए वर्ण अथवा शब्द-शैली पर विशेष बल दिया गया हो। उदाहरणस्वरूप देखिए—'विरह-विताड़ित, कल्पना-कलाप, समुद्रसमीरण सुषमा-सौंदर्य, सौंदर्य-स्रोत, बीचि-विचुम्बित, विरावविहीन, चन्द्रचुम्बन

१. पथिक, पहला सर्ग, गीत, पद १५, पृष्ठ १९, ३२ वां संस्करण।
२. पथिक, दूसरा सर्ग, पद १७ पृष्ठ ३१, ३२ वां संस्करण।
३ स्वप्न पहला सर्ग पद संख्या ६ पृष्ठ ११, आठवां

और कुत्सित कुरूप जैसे प्रयोगों द्वारा त्रिपाठीजी के काव्य में निश्चय मार्दव आ गया है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने कहीं-कहीं पर संयुक्ताक्षरों को वियुक्त एवं परुष वर्णों को कोमल कर दिया है। फलतः सद्गुन, थिर, परमारथ, स्वारथ, सनेही, पूरन, सरबस, प्रान, प्रन, छीन, आदि प्रयोग उपलब्ध होते है।[1]

कहीं-कहीं त्रिपाठीजी ने जोश में आकर शब्द-निर्माण, शब्द-सन्धि आदि में स्वच्छन्द प्रवृत्ति का आभास दिया है, जो भाषा की दृष्टि से असंयत प्रतीत होते है। देखिए—'पर प्रेम पागलिनी बिजया भरती आह उसास।'[2] क्षमा, शान्ति, करुणा उदारता, श्रद्धा भक्ति विनीयता।'[3]

इसी प्रकार त्रिपाठीजी के काव्य में देशज शब्दों की अधिक घुसपैठ भी खटकती है। जैसे सेऊँगी, ठौर, तनक, अठिलाती, प्रौढ़ और पौन आदि के प्रयोग भाषा के प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ लीजिए यह पंक्ति—

"आँखें विष में बूड़ रही थीं तब रस हीन सजल हो।"[4]

* * *

"ऊँचे स्वर से हुक्म निरंकुश उसने बांच सुनाय।"[5]

इसी प्रकार ढिग, असवारी, बूड़, जुड़ाते, माती, पाती, पठाऊँ, बांच, अरुझा आदि शब्द अनुपयुक्त है। ये सामान्य हिन्दी पाठक को खटकते हैं। हां यह बात और है कि जो लोग अवधी और भोजपुरी की प्रकृति से परिचित हैं, इसे पढ़ कर झूम भी उठें तो आश्चर्य नहीं। किन्तु राष्ट्र के विकासशील स्वभाव में आंचलिकता कुतूहल, हलचल और चमत्कार पैदा कर सकती है, एक-रूपता और निश्चिंतता के भाव कदाचित नहीं आ सकते। अस्तु समान धर्मों, शब्दों की ही पंक्ति बनानी उचित होगी। अन्यथा काशी के शुद्ध वैष्णव की पंक्ति में अहंकारवश बैठे अछूत ग्रामीण को जो दण्ड भोगना पड़ेगा, ठीक वही दशा उर्दू या देशज शब्दों की तत्सम संस्कृत शब्दों के बीच आने पर होगी। जैसे—

"रही उड़ीक द्वार पर मैं हूं अंत घड़ी जीवन की।"[6] ('उड़ीक-प्रतीक्षा')

भोजपुरी प्रदेश में जन्म लेने और कालान्तर में भोजपुरी प्रान्त तथा अवधी के मिलन बिन्दु प्रयाग को कार्य-क्षेत्र बनाने के कारण त्रिपाठीजी के काव्य पर स्थानीय प्रभाव भी कुछ कम नहीं है। उस प्रभाव को भी कुछ समीक्षक दोषयुक्त मानते हैं, पर उन शब्दों की अभिव्यंजना की तीव्रता का ठीक ठीक अनुमान न होने के कारण ही वे लोग ऐसा मत निर्धारित करते हैं। जैसे 'चुचके-चुचके' गात में 'चुचके' का 'चुचुकना' तो लोग किसी प्रकार ग्रहण करते हैं, पर 'पुचके' का

---

१. डा० आशा गुप्ता, खड़ीबोली काव्य में अभिव्यंजना, पृ० ४०७—८।
२. मिलन, पृ० ३४।
३. पथिक, पृ० ३२।
४. पथिक, पृ० ४१।
५. वही पृ० ५८।

पिचकना जो बिम्ब बनाता है वह उन आलोचको एव पाठको की बुद्धि में नही समाता तो इसके लिए दोषी कौन है विचारणीय है भोजपुरी का तनिक भी ज्ञान रखने वाला चुचकना और 'पिचकला' का अन्तर आत्मसात् कर लेगा।

त्रिपाठीजी सरल और संस्कृतनिष्ठ दोनों प्रकार की भाषा लिखने में सिद्धहस्त है। देखिए स्वदेश गीत—

"हम प्राण होम देंगे, हंसते हुए जलेंगे,
हर एक सांस पर हम आगे बढ़े चलेंगे।
जब तक पहुँच न लेंगे, तब तक न सांस लेंगे,
वह लक्ष्य सामने है, पीछे नहीं टलेंगे।"[1]

अप्रस्तुत विधान

द्विवेदी-युग के मध्य तक खड़ीबोली काव्य का विषय स्थूल वर्णन प्रधानतया उपदेशात्मक होने के कारण प्रायः नीरस रहा। अधिकांश कवियों ने नई भाषा को मांजने सवांरने मे ही अपनी शक्ति व्यय कर डाली। फलतः भाषा तो परिनिष्ठित एवं परिष्कृत हो गई किन्तु भावों की अभिव्यक्ति सीधी शैली में ही होती रही। इस युग के अन्तिम चरण मे जिस प्रकार विषय में भावुकता एवं कल्पना का रंग चढ़ाने की चेष्टा हुई उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति के लिए कलात्मक चित्रण की विविध विधाओं का उपयोग भी प्रारम्भ हुआ।[2] 'मिलन' एवं 'पथिक' की सृष्टि करके पं० रामनरेश त्रिपाठी ने स्वदेश भक्ति की मधुर एवं उदात्त भावना को सरसता का जामा पहनाया। उन्होंने अप्रस्तुत योजना के समर्थ प्रयोगों द्वारा हिन्दी को रंगबिरंगे चित्रों से अलकृत किया। शब्द की व्यंजक शक्ति को परख कर उसके सुष्ठु प्रयोगों द्वारा आगे आने वाली चित्रात्मक लाक्षणिक छायावादी शैली की सूचना दी।

शब्दशक्ति एवं अलंकार

यद्यपि इनके काव्य में अभिव्यजित-कला का सौष्ठव खण्ड काव्यो मे अधिक निखरा है। खण्डकाव्यों की कल्पित कथा, घटना वैचित्र्य, विविध नाटकीय प्रसग, संवाद शैली में कवि ने अपनी शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। प्रकृति चित्रण, उक्ति वैचित्र्य एवं चरित्र गांभीर्य की दृष्टि से पथिक सराहनीय है।[3] पर कुल मिलाकर त्रिपाठीजी के काव्य मे लक्षणा एवं व्यंजना की अपेक्षा अभिधा का प्रयोग ही प्रधान है। हां, अलंकारो के प्रयोग में वे अवश्य सराहनीय हे। उनके काव्य में सादृश्य, साधर्म, प्रभावमूलक आदि सभी अलंकारों का प्रयोग मिलता है। परन्तु उसमें उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा मुख्य है। इन प्रयोगों की विशेषता यह है कि उपमान प्रायः नवीन हैं और उनके वाचक शब्द भी काव्य के संगीत और लय में योग देने वाले हैं दूसरे

उपमेय के रूप, गुण और क्रिया साम्य के अतिरिक्त उपमान के प्रभाव-साम्य पर भी विशिष्ट बल दिया गया है ।[१]

नायिका के साम्य के 'स्वर्गीया किरन', 'कवि स्वप्न', 'विश्व का विस्मय' सिन्धु-लय से पूर्व तरगित सरिता, आदि उपमानों के प्रयोग से भाषा चित्रमयी एवं भावसंश्लिष्ट बन गए हैं ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण तीनों का सन्निवेश भी त्रिपाठीजी की भाषा में यथोचित मात्रा मे हुआ है ।

त्रिपाठी जी तथा उनके काव्य के सम्बन्ध में डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का मत भी पठनीय है—"... पं० रामनरेश त्रिपाठी के समय की हेतु वादी और मानववादी प्रवृत्तियों के साथ आदर्शवाद का घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसलिए उन्होंने अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट और उदात्त रूप की स्थापना कर जीवन को एक नैतिक धरातल प्रदान करने की पुनीत चेष्टा की । जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना उनकी वाणी को अनुरंजित किए हुए है । पराधीन भारत के जीवन गत अभाव, उनके सामने स्पष्ट थे । उनकी लघुता और कुरूपता उनका हृदय स्पर्श कर चुकी थी । उन्होंने लघुता के भीतर भी महत्व देखा और विश्व के अविचल नियमो की खोजकर भारतीय आत्मा की खोज की । युग की वास्तविकता के अनुभव और दिग्दर्शन के साथ विशालता की अनुभूति के आधार पर उन्होंने जिस पूर्णता का सर्जन करना चाहा, उसके मूल मे नवोदित आदर्शवाद ही था । उनका आदर्शवाद भारतीय सस्कृति के गुणों पर मोहित था । आदर्श की स्वाभाविक गति-सीमा का अतिक्रमण तो उनके साहित्य में है, किन्तु उसमें आत्म-प्रकाश और विश्वप्रकाश के समन्वय द्वारा जीवन के विराटत्व को देखने की चेष्टा भी है ।"[२]

त्रिपाठीजी के हेतुवाद, मानववाद और आदर्शवाद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उनके राष्ट्रवाद से है जो सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दोनों रूपों में प्रस्फुटित हुआ है । उनके खण्ड काव्यों में देश के प्रति मगल भावना ओत प्रोत है ।

स्वच्छन्दतावाद

वास्तव में हमें त्रिपाठी-साहित्य में जीवन की मौलिक उद्भावना, नवनिर्माण की व्यापक प्रक्रिया के रूप में मिलती है । सम्भवत: जीवन की प्रत्येक गति को वे इसी प्रक्रिया द्वारा निर्धारित करना चाहते थे । अत: उन्होंने नूतन, मौलिक और स्वतन्त्र परीक्षण को प्रश्रय दिया । नव निर्माण का उनमें उत्साह था । यही उत्साह साहित्यिक दृष्टि से उनका स्वच्छन्दतावाद है ।

साहित्य शैलीगत, विषयगत रूढ़ियों मे जकड़ रहा था, तब त्रिपाठी जी ने यह बन्धन स्वीकार नही किया । वे स्वयं मुक्त रहकर साहित्य को भी मुक्त करना चाहते थे । प्रकृति के अनेक रूपो, पशु पक्षियों, वृक्षों, लताओं व खण्डों, पर्वतों आदि को समेट कर सामान्य जीवन को आधार बनाया और अपनी भावनागत सजीवता एवं चेतना का प्रसार किया । उनकी यह भावधारा देश के तत्कालीन स्वरूप के साथ सम्बद्ध है । त्रिपाठी जी ने उसकी अन्तर्भूमियों को परखकर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विचार करना चाहा, और वह भी सामंजस्य के रूप में ।[3]

---

१. खड़ीबोली काव्य में अभिव्यंजना, पृ० ४१८ ।

२. श्रद्धांजलि विशेषांक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पृष्ठ १७७ ।

३. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय श्रद्धांजलि विशेषांक पृष्ठ १७७

मानव जीवन की मूल वृत्ति प्रेम का तो अत्यन्त उदात्त रूप त्रिपाठी जी की रचनाओं में मिलता है—विशेषत: 'मिलन' और 'पथिक' में। इनका साहित्य राष्ट्र की नवोदित आकाक्षाओं का अनुसंधान करता है। अस्तु इन्हें जागरण युग का वरेण्य दूत कहना समीचीन होगा।

डॉ० माखनलाल चतुर्वेदी

पं० माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म ४ अप्रैल सन् १८८९ ई० तदनुसार चैत्र शुक्ल, एकादशी सम्वत् १९४५ को दिन के ११ बजे बाबई, मध्यप्रदेश में हुआ। इनके पिता का नाम पं० नन्दलाल चतुर्वेदी और माता का नाम श्रीमती सुन्दरबाई चतुर्वेदी था। माखन लाल जी बचपन से ही स्वभाव के खटखट थे। इनके बारे में अनेक मजेदार किस्से प्रचलित हैं। स्कूल और घर दोनों जगह इन्हें खूब पिटाई का स्वाद मिला, परन्तु स्वभाव पर उस शारीरिक दण्ड का कोई विशेष फल नहीं हुआ। इनकी पढ़ाई के पीछे इनका पाजीपन, नटखट, स्वभाव और शरारती व्यवहार रहा है। जबलपुर में खाट पर खाट रखकर ऊपर से एक विद्यार्थी को गिराने के अपराध में इन्हे कठोर दण्ड मिला था। उसी प्रकार एक गरीब बुढ़िया के चूल्हे बिकवाने के लिए भी बेंत का स्वाद चखना पड़ा। इन सभी बातों के पीछे उनका साहसी, निर्भीक और जीवन्त व्यक्तित्व था जो संघर्षों के आघात सहने के लिए तैयार हो रहा था। यदि वे बचपन से ही अभ्यस्त न रहे होते तो वयस्क जीवन की आंधियों में उड़ जाते या तो तूफान से टकरा कर चूर-चूर हो जाते, पर ऐसा नहीं हुआ।

माखनलाल जी यात्रा प्रिय थे। समस्त कठिनाइयों के बावजूद उन्हें यात्रा का एक विशेष आकर्षण रहा। पहाड़, नदियाँ, निर्झर तथा निर्जन वनों में अपना भय खोकर जब ये जबलपुर आए और वहीं क्रान्तिकारियों के गिरोह से इनका सम्बन्ध हुआ। वहीं से इन्हें काशी आने का आमंत्रण मिला और फरवरी सन् १९०५ ई० में 'असितबाबू' नामक एक बगाली सज्जन इन्हें वाराणसी ले आए। वहीं देवस्करजी से इनका साक्षात्कार हुआ। 'गीता' और 'आनन्द मठ' का अध्ययन माखनलाल जी ने काशी में ही किया। 'गीता' ने इन्हें कर्म की भाषा और वाणी दी और आनन्द मठ ने उस वाणी और कर्म को दिशा दिखाने का काम किया।

काव्य-साधना

खण्डवा में जाकर उन्होंने प्राइमरी शिक्षक का जीवन शुरू किया। यहीं आगे चल कर इनकी प्रतिभा का विकास हुआ। प्रथम नाटक जो उन्होंने लिखा उसका नाम था 'विद्या विलासी बालक'। इसी के साथ बिहंसती उषा का साहित्यिक क्षितिज पर उदय हुआ। 'वेंकटेश्वर समाचार,' 'भारत मित्र', 'केरल कोकिल,' 'विविध ज्ञान विस्तार', 'मासिक मनोरंजन', 'तथा केसरी' और 'सरस्वती' का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। उसी समय इनका पहला लेख हिन्दी केसरी में प्रकाशित हुआ और पुरस्कृत भी हुआ।

७ अप्रैल सन् १९१३ ई० को खण्डवा से 'प्रभा' प्रकाशित हुई। पं० माखनलाल जी इसके सहायक　　　　नियुक्त हुए　चतुर्वेदी जी ने अनेक कष्टों कठिनाइयो असगतियों विरोधों और अभावों के बावजद पत्र आगे बढ़ाया　　　　　　ने इस पत्र मे अनेक कल्पित नामों मे

लिखना प्रारम्भ किया जिस प्रकार प्रसाद के कवि के विकास में इन्दु और निराला के विकास मे 'मतवाला' का हाथ रहा, उसी प्रकार 'भारतीय आत्मा' के विकास में 'प्रभा' का हाथ था।

'प्रभा' के छ: अंक लगातार निकलने पर माखन लाल चतुर्वेदी ने २६ दिसम्बर १९१३ ई० को अध्यापक की नौकरी को सदा के लिये नमस्कार कर लिया और एक भारतीय आत्मा बनकर शुद्ध रूप से साहित्य के क्षेत्र में आए। धीरे-धीरे इनका व्यक्तित्व अब प्रान्तीय क्षितिज पर लोकप्रिय बनकर छा गया।

'प्रभा' के माध्यम से माखन लाल जी पं० माधवराव सप्रे, गणेशशंकर विद्यार्थी, कामता प्रसाद गुरु, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि महानुभावों के सम्पर्क में आये। धीरे धीरे सप्रेजो के प्रभाव से ये उनके प्रिय पात्र बन गये और गुरु की श्रद्धा से उन्हें देखते रहे। दुर्भाग्य से १९१५ ई० के प्रारम्भ में ही इनकी धर्मपत्नी ग्यारसीबाई का स्वर्गवास हो गया। उधर 'प्रभा' पहले ही बन्द हो चुकी थी। कवि पर निर्धनता, निराशा, अवसाद एवं विपत्तियों का बादल छा गया। पत्नी के मरने पर उसे जलाने के लिये भी इनके पास लकड़ी के पैसे नहीं थे। पत्नी के वियोग से कातर होकर कवि बिलख पड़ा--

> "भाई छेड़ो नहीं मुझे, खुलकर रो लेने दो।
> यह पत्थर-सा हृदय आंसुओं से धो लेने दो।।
> रहो चैन से तुम्हीं मौज के मंजु महल में।
> मुझे दुखों की इसी झोपड़ी में सोने दो ... ।।"

इस रुदन के साथ उन्होंने आजीवन पुनर्विवाह न करने का संकल्प कर लिया। कवि की उम्र उस समय केवल २५ वर्ष थी। उसके एक लड़की उत्पन्न हुई थी, जो ग्यारसीबाई से पूर्व ही स्वर्गवासी हो चुकी थी। बस सांसारिक सभी बन्धनों से मुक्त, पारिवारिक निराशायुक्त कवि ने देश प्रेम एवं राष्ट्र को वरण किया।

सन् १९१५ ई० में पुन: 'प्रभा' मार्च अंक के साथ उदित हुई। उसके माध्यम से माखन-लाल जी ने सामाजिक चेतना की घायल सांसों में जीवन भरने की चेष्टा की। राजनीतिक चेतना, जो जनजीवन का अधिक से अधिक सहारा चाहती थी, उसकी शंख ध्वनि 'प्रभा' ने भर-पूर बजाई। परन्तु अर्थाभाव से पुन: प्रभा छिप गई। मनुष्य को शक्ति चाहिए, शक्ति को जीवन। अभाव मानव की रागात्मक प्रवृत्तियों के जागरण का प्रभात काल है।

प्रथम साहित्यिक कृति

'कृष्णार्जुन युद्ध' नामक नाटक, जो सन् १९१६ ई० में जबलपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन पर खेला गया था, कवि भारतीय आत्मा की प्रथम साहित्यिक कृति है। इस नाटक की विशेषता यह है कि इसमें 'नारद' को महत्व दिया गया है। माखन लाल चतुर्वेदी के कवि और विचारक को कभी कभी अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए पढ़िए

"एक शब्द में कह दिया जाय, जिस सीमा रेखा तक महावीरप्रसाद जी द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त के संयुक्त हाथ अपनी सशक्त व युग निर्माणकारी-सामर्थ्य पहुंचा सके हैं, उसी सीमा रेखा से आगे अकेले माखन लाल की दीर्घ बाहे नए तरुण भारत की भद्र संस्कृति का मानस क्षेत्र चिनती चलती हैं। और अपने शब्दो की पराकाष्ठा को न स्वयं छूती हैं बल्कि समूचा हिन्दी-साहित्य उसी तरह उसे छूने लगता है। मैं कहूंगा, यदि आधुनिक हिन्दी काव्य के प्रथम नीर भरे श्यामल घन के रूप में मैथिलीशरण गुप्त है, तो इस बरसने वाले बादलों की, प्यासे अतृप्त प्राणियो मे हर्ष की लहर फैला देने वाली घन गर्जना, माखनलाल चतुर्वेदी हैं ।।"[1]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त पंक्तियाँ भावना के प्रभाव में अत्युक्ति का स्वर अलाप रही है। लेखक ने गुप्त, द्विवेदी और भारतीय आत्मा को एक पंक्ति मे रखकर अपनी तुलनात्मक प्रतिभा का खोखला परिचय भर दिया है। तात्पर्य यह है—गुप्त जी भारतीय संस्कृति के अतीत के स्वर्णिम खण्डहरों में नवीन जीवन के स्वर खोजने वाले, उपेक्षित नारी के प्रबल आख्याता और जनता की भाषा में विविध विषयों में अलकृत खड़ीबोली काव्य को लोकप्रिय बनाने वाले प्रथम हिन्दी कवि है। उनका प्रदेय प्रचुर एवं दिशा स्पष्ट है। इनके सम्बन्ध मे अधिक विवरण के लिए अध्याय चार और अध्याय २ का भी अध्ययन किया जा सकता है।

और आचार्य द्विवेदी, युगनिर्माता, व्यवस्थापक, भाषा के क्षेत्र में सुधारक, नैतिकता के पक्षपाती, साहित्यिक विभिन्न प्रकार के अभावों का दूर करने वाले, कवि एवं आचार्य हैं। भारतीय आत्मा का ओजस्वी व्यक्तित्व सन् १९२० के बाद कविता की अपेक्षा गद्य में अधिक निखरा। कविता के क्षेत्र में आलोच्य काल में तो वे पैरोडी आदि लिखकर रह गये। हाँ, कालान्तर मे हिमकिरीटनी और हिमतरंगिनी नामक काव्य संग्रहों में उनका कवि अधिक व्यवस्थित रूप में प्रकट हुआ। माखन लाल जी की राष्ट्रीय फुटकल रचनायें जैसे 'पुष्प की अभिलाषा' आदि अधिक प्रभावपूर्ण हैं जैसे—

> "चाह नही है सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊं।
> चाह नहीं है प्रिय माला में बिंध प्यारी को ललचाऊं ।।
> मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर देना फेंक।
> जिस पथ जावें शीश चढ़ाने मातृभूमि हित वीर अनेक ।।"[2]

लेकिन हमें यह स्वीकारने में जरा भी झिचक नही होगी कि भारतीय आत्मा न तो 'भारत भारती' का उद्बोधन गीत दे सके, न पंचवटी का प्रकृति-चित्रण। 'साकेत' की प्रबन्ध पटुता, गम्भीरता और उर्मिला की व्याकुलता माखनलाल में कहाँ है? फिर गौतम-पत्नी 'यशोधरा' के मानवीय विचार भारतीय आत्मा की किस रचना में खोजे जायं? माखनलालजी पहाड़ी नदी नाले की तरह प्रखर तीव्र गति से बह रहे हैं उनके काव्य का प्रवाह अवश्य ही अ [illegible] है, पर

गुप्तजी मदाकिनी की धारा हैं, जिसमें सब कुछ लय हो जाता है। माखनलाल कवि की अपेक्षा पत्रकार एवं देशसेवक, नेता अधिक हैं। उन्होंने परतन्त्रता की बेड़ियों को तोड़ने में महान योग दिया है, उसके फलस्वरूप भारत सरकार ने उन्हे 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलकृत किया है मध्यप्रदेश की सबसे पुरानी युनिवर्सिटी सागर ने माखनलाल की समस्त गद्य-पद्य रचनाओ को ध्यान में रखकर, उनके सारे साहित्यिक प्रयास को आधार मानकर उन्हें 'डी० लिट्०' की महत्वपूर्ण डिग्री से विभूषित किया है। 'माता' में संग्रहीत इनकी रचनायें अधिक विचारपूर्ण हैं।

आजकल एक और तत्व 'दीनता' आलोचना के क्षेत्र में अकारण सहानुभूति बटोरने के लिए प्रयुक्त होने लगा है। पता नही इसमें प्रगति और प्रयोग की कौन सी दृष्टि काम कर रही है? परन्तु हम कहना चाहेंगे कि गरीबी में राह बनाना जहाँ कठिन है, वहीं अमीरी और भोग में से रास्ता निकालना और मुश्किल। यदि ऐसा न होता तो बाल्मीकि, कालिदास, तुलसी और सूरदास तथा प्रेमचन्द की जगह कोई टाटा, बिरला एवं मूंदड़ा होते।

जीवन के प्रारम्भिक दिनों में किसी की पत्नी मर गई, किसी कवि के पुत्र या पुत्री का असमय अवसान हो गया तो उसे यह कहना कि अमुक ने अपने आत्मीय जनों की बलि दे दी, उचित नहीं जँचता। हमारे कतिपय साहित्यकार जीवन में उचित भरण-पोषण नही पाते इसकी जिम्मेदारी समाज पर अवश्य है, किन्तु कभी कभी साहित्यकार अपनी असामाजिकता के कारण भी अनेक दुखों का शिकार बन जाता है, इसकी भी अब छानबीन होनी चाहिए।

कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने पुनर्विवाह नहीं किया, वह साहित्यिक दृष्टि से नही, सामाजिक दृष्टि से अवश्य ही सराहनीय था। लेकिन कई पत्नियों, प्रेयसियों वाला अथवा अविवाहित कवि भी यदि प्रथम श्रेणी का काव्य लिखे तो क्या उसकी अवमानना होगी? शायद नही। अस्तु, काव्य पर कवि की वाह्य परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, उस सन्दर्भ में काव्य का मूल्यांकन होना चाहिए. फिर भी कवि के प्रदेय, काव्यशक्ति, अभिव्यंजना प्रणाली और उसकी सम्पूर्ण कृति को समीक्षा का आधार बनाना अधिक समीचीन होगा।

२५ फरवरी सन् १९१४ ई० में 'प्रभा' में प्रकाशित 'पुष्पांजलि' कविता में माखनलालजी ने बड़ी ईमानदारी से गुप्तजी को प्रणाम किया है। इस कविता को मूल रूप में यहाँ दिया जा रहा है—

"जो वीर मनि, गम्भीर गति धारी, सुकवि सन्मान्य हों,
जो ज्ञान में, ध्रुव ध्यान में, यश गान में भी मान्य हों।
गुणगान में जगदीश के जिनको सदा पाते सदा,
यह चपल मन जिनको हृदय में ढूंढ़ते अभिराम हैं,
उन वीरपुंगव, राष्ट्रकवि को यह अनन्त प्रणाम हैं॥"[1]

सम्भवतः इसी श्रद्धाभिव्यक्ति के कारण कतिपय आलोचक भारतीय आत्मा को गुप्तजी का शिष्य कहने की भूल कर बैठते हैं। गुप्त और भारतीय आत्मा के काव्य का अन्तर देखने पर यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। दोनों के स्वर राष्ट्रीय हैं, पर गांधी और सुभाष की राष्ट्रीयता

1. माखनलाल चतुर्वेदी प्रभा संख्या १२ २५ फरवरी १९१४ ई०

की भांति गुप्त और भारतीय आत्मा की भावना भिन्न है। दोनों वैष्णव हैं अवश्य, पर गुप्तजी की वैष्णव भावना परंपरागत है, केवल श्रद्धा पर आधारित है और भारतीय आत्मा क्रान्तिकारी विचारों के दार्शनिक आध्यात्मवाद के साथ वैष्णव मत को नवीन सन्दर्भों में स्वीकार करते हैं। साहित्य में जहां गुप्तजी प्रबन्ध काव्य के भक्त हैं, वहां माखनलालजी मुक्तक गीतों के कवि हैं। भाषा, अभिव्यंजना प्रणाली और काव्य विषय की दृष्टि से भी वे दोनों भिन्न हैं।

सन् १९१७-१८ ई० में भारतीय आत्मा बीमार पड़े और असाध्य हो गए। 'प्रताप' परिवार एवं गणेशशंकरजी विद्यार्थी से इन्हें काफी सहायता मिली। ये इन्दौर लाये गये और वहीं पं० बनारसीदास चतुर्वेदी तथा डा० सम्पूर्णानन्द से इनका परिचय हुआ। सन् १९१९ ई० में पूज्य महात्मा गांधी ने काशी विश्वविद्यालय में क्रांतिकारी वीरों को अपनी बात मानने के लिए आह्वान किया। उस समय माखनलाल पर इसकी उचित प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने सशस्त्र क्रांति के विचारों की सक्रियता से विश्राम लेकर गांधी जी के विचारों के अनुयायी बने।

जबलपुर से ११ जनवरी सन् १९२० ई० को 'कर्मवीर' साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ। 'कर्मवीर' का नामकरण भी गांधीजी के नाम पर प्रतीकात्मक रूप में हुआ। अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी यह पत्र निकला और आज भी माखनलालजी के सम्पादन में खण्डवा से प्रकाशित हो रहा है।

६

रूपगत अध्ययन

पूर्ववर्ती भाषा और उसकी अनगढ़ स्थिति

भाषा अभिव्यक्ति का सहज एवं सर्वश्रेष्ठ माध्यम है, चाहे वह ईश्वरप्रदत्त हो या व्यक्तिकृत, निश्चय ही वह सबल और निर्भ्रांत अभिव्यंजना का अनिवार्य साधन है। भाषा के आविष्कार से पहले मनुष्य किस प्रकार विचार-विनिमय करते रहे होंगे, आज उसकी कल्पना भी हमारे लिए असह्य एवं असम्भव है। हमारी खड़ीबोली हिन्दी को ही लीजिये। आज यह काफी समृद्ध और समर्थ है—इसमें कोमलता और मसृणता, पौरुष और तेज तथा कान्ति और माधुर्य ये सभी गुण उपलब्ध हैं। पर शुरू-शुरू में इसकी शब्द-संख्या सीमित थी। विस्तृत देश की बृहत् योजनाओं एवं हृदय के गहनतर गह्वरों की सूक्ष्म भाववीचियों की अभिव्यक्ति में सक्षम खड़ीबोली द्विवेदी-युग से पूर्व निर्धन तथा अपुष्ट थी। मार्दव एवं कान्ति का तो उसमें सर्वथा अभाव था ही। ऐसी क्षीणकोशा और अपरिमार्जित भाषा युग-निर्माता द्विवेदीजी तथा उनके सहयोगी कवियों को उत्तराधिकार में मिली थी।[1]

भारतेन्दु-युग की रचनाओं में खड़ीबोली का प्रयोग तो क्रमशः हुआ, किन्तु अव्यवस्था बराबर बढ़ती रही। उनकी मृत्यु के बाद लगभग १५ वर्षों तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। तत्कालीन कवियों की अपनी डफली अपना राग की बात चलती रही। खड़ीबोली कविता में कहीं संस्कृत का आधिक्य रहा तो कहीं ब्रजभाषा का प्राधान्य, कहीं उर्दू की खिचड़ी थी। कुछ कवि लोग विभक्तियों को सर्वनामों के साथ मिलाकर लिखना श्रेयस्कर समझते थे और ब्रजभाषा के कृदन्त-अवयवों आदि का प्रयोग कर लेते थे। तात्पर्य यह है कि भाषा का कोई स्थिर रूप न था, उसका कोई निश्चित व्याकरण नहीं था। कवि और लेखक शब्द की मात्राओं को आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा देना अथवा दीर्घ का लघु कर देना विशेष अपराध न समझते थे।

प्रमुख काव्य-भाषा के पद पर आसीन होने पर भी खड़ीबोली का रूप अनिश्चित और अस्थिर था। यद्यपि भारतेन्दु-युग से ही वह गद्य की एकमात्र भाषा बनकर चली आ रही थी,

१ डा० उमाकान्त मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय संस्कृति के । पृ० २८३।

फिर भी उनमें वाक्य विन्यास और व्याकरण सम्बन्धी अनेक त्रुटियां बनी हुई थीं। ईसा की बीसवीं शताब्दी के इन प्रारम्भिक वर्षों में खड़ीबोली की अपरिपक्वता, अपरिमार्जन, शक्तिहीनता और शब्द-कोश क्षीणता का सभी विद्वानों ने एक स्वर से उल्लेख किया है। उससे पूर्व भारतेन्दु-युग की खड़ीबोली कविता तो और भी अपरिष्कृत थी। उदाहरण स्वरूप कुछ पक्तियां देखिए—

बरसा रितु सखि सिर पर आई पिय विदेश छाये।
हमैं अकेली छोड़ आप कुबरी सों बिलमाये॥
संदेश भी नहीं भेजवाये।
वादे पर वादा झूठा कर अब तक नहिं आए।
बिथा सो कही नहीं जाती।
पिया बिना मैं व्याकुल तड़पूं नीद नहीं आती॥[1]

इन पंक्तियों में खड़ीबोली के साथ सों और बिलमाए आदि ब्रजभाषा के प्रयोग भाषा के स्वरूप को अनगढ़ एवं भद्दा बना देते हैं। आज की परिमार्जित खड़ीबोली के सामान्य कवियों की कविता के साथ इसे रखकर तुलनात्मक ढंग पर विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि ये प्रयोगावस्था की रचनाएं हैं। इनमें शब्द-शक्ति का अभिधामूलक सामान्य स्वरूप ही परिलक्षित होता है। इस प्रकार किसी समर्थ पद-निर्देश के अभाव मे खड़ीबोली अपना सुनिश्चित मार्ग बनाने में असमर्थ रही। ऐसी ही विषम परिस्थितियों मे सन् १९०० ई० में सरस्वती पत्रिका का प्रकाशन हुआ और सन् १९०३ ई० मे द्विवेदीजी उसके सम्पादक नियुक्त हुए।[2]

द्विवेदीजी की काव्य-भाषा

आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने सामने खड़ीबोली हिन्दी काव्य-भाषा का अशुद्ध, अपरिष्कृत, परिमार्जित तथा संकर, काव्य का रूप देखा और उसे विशुद्ध, परिमार्जित एवं पूर्ण व्याकरण सम्मत, बनाने का संकल्प किया। सरस्वती, नवम्बर १९०५ इ० के अंक में उन्होने भाषा और व्याकरण नामक लेख लिखा, जिसके बाद भाषा की शुद्धि की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस व्याकरण सम्बन्धी चर्चा ने आगे चलकर उग्र रूप धारण किया।[3]

धीरे-धीरे युग के सभी कवियों, पाठकों और आलोचकों का ध्यान नव-स्वीकृत पद्य-भाषा की त्रुटियों की ओर गया। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों और साहित्य-सभाओं के अध्यक्षीय भाषणों में खड़ीबोली की खिचड़ी, तुकबन्दी की अतिशयता और व्याकरण सम्बन्धी दोषों की कटु आलोचना हुई।

आचार्य द्विवेदी में एक ओर सम्पादक का वर्चस्व, समीक्षक का अनुशासन तथा युगनिर्माता का दायित्व था, तो दूसरी ओर ईश्वरप्रदत्त कवि की मौलिक प्रतिभा भी रही। उन्होंने विभिन्न अवसरों पर, विविध प्रकार की रचनाये कीं। यद्यपि यह सच है कि उनका सम्पादक, उनके

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, सम्पादक ब्रजरत्नदास पृष्ठ ५०६।
२ डा० आशा गुप्ता खड़ीबोली काव्य में अभिव्यंजना पृष्ठ ६७।
३ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ५३२

आचार्यत्व के साथ जुड़कर इतना सशक्त हो गया था कि उसके सामने उनका काव्य दब गया। इसके बावजूद उन्होंने जो कविताएं लिखी या अनुवादित कीं, उनका भी ऐतिहासिक महत्व है।

१६ अक्टूबर, सन् १९०० ई० के 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' (बम्बई से प्रकाशित) में उन्होंने अपनी प्रथम खड़ीबोली-कविता 'बलीवर्द' प्रकाशित करायी। यह रचना विषय और भाषा दोनों दृष्टियों से नवीन थी। उनकी प्रारंभिक काव्य-रचनाओं की भाषा में और बाद की कविताओं की भाषा में पर्याप्त अन्तर है। बलीवर्द, विधि-विडम्बना और हे कविते! आदि प्रारंभिक कृतियों में पूर्ण प्रयास के उपरान्त उस युग के अन्य कवियों की भांति भाषा-संकरता मिलती है। कवि द्विवेदी की भाषा में स्थल-स्थल पर यदपि, तदपि, बिथ, थिर, थान, सिख, सामत, पठाया, उपजैहो, चहते हो, लौ, देवे, मिटाय, होय, सुभाय, अकुलानी, जलानी, समानी, बिकानी, घबरानी आदि प्रान्तीय प्रयोग मिलते हैं। इसी प्रकार शब्द संधि, सर्वनाम, क्रियापद, संज्ञा-प्रयोग आदि में भी कवि द्विवेदी ने स्वच्छन्दता बरती है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है :—

भाववाचक संज्ञा—   मद पर भी निज उन्मदता से विजय बड़ाई पाते हो।   (बलीवर्द)
                    अद्भुत मेरी सुन्दरताई, मूर्ति मनोहर मैंने पाई।   (जम्बुकी न्याय)

सर्वनाम—   हुआ जिन्होंने को, यह तत्वज्ञान
            वही वशीभूत तुझे करेंगे।   (हे कविते)

शब्द-संधि—   देख देखकर उसे मनोमन फूले नहीं समाते हो।   (बलीवर्द)
              विकास तेरा कविते! कल्हौ हुआ।   (हे कविते)

क्रिया-पद   नहीं कहीं भी भुवनान्तराल में,
             दिखा पड़े है नव रम्य-रूपता!   (हे कविते)
             किसी न किसी काम में सब दिन,
             जब देखो तब जोते हो।   (बलीवर्द)
             जिनकी कीर्ति-ध्वजा अभी तक
             सतत फिरे है फहरानी।   (विधि विडम्बना)

ऊपर दिए गए उद्धरणों से यह भ्रम नहीं फैलना चाहिए कि द्विवेदीजी स्वयं काव्य-भाषा का शुद्ध रूप नहीं लिखते थे और दूसरों से आग्रह करते थे। बात दर असल यह है कि साहित्य में कोई प्रयास १-२ वर्षों में पूर्णता को नहीं पहुंचता। उसका विकास क्रमिक होता है। अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के समान खड़ीबोली में भी संयुक्त-क्रियाओं का प्रयोग बहुत मात्रा में पाया जाता है। संयुक्त-क्रिया विशेष अर्थ के लिए विशिष्ट कृदन्त, संज्ञा या विशेषण के साथ सहायक क्रिया जोड़ने से बनायी जाती है। यथा निर्माण करना, अनुमान लगाना, प्रकट होना, स्वीकार करना, आरंभ होना, आदि-आदि। द्विवेदीजी के काव्य के अनुशीलन से विदित होता है कि उन्हें नाम धातु क्रिया की संयुक्तता पद्य में पसन्द नहीं थी। इसलिए कुछ तोतुक मिलाने के आग्रह से और कुछ भाषा में कसावट लाने के लिए उन्होंने संज्ञाओं को ही क्रिया-रूप में प्रयुक्त कर दिया

सुषमा मर उसने अवरू हा [1]   (उषा-स्वप्न)
सुरसरि ने इनको स्वीकारा ।[2]   (गंगा-भीष्म)
जनसमूह-उर-बीच-प्रति मेरी प्रकटावो ।[3]   (सरस्वती-विनय)

इन प्रयोगों के अतिरिक्त पधारा, प्रकटा, पूजा, अराधी, शायक संधाना, सुयश विस्तारा आदि प्रयोग भी इनकी प्रारंभिक रचनाओं में मिलते है, परन्तु इनका ज्ञान द्विवेदीजी को शीघ्र ही हो गया और उन्होंने अपनी भाषा में से ऐसे प्रयोगों को हटा दिया। प्रारम्भिक रचनाओं में क्रिया की पुनरावृत्ति का निरर्थक मोह भी उन्हे घेरे हुए था, यथा––

अवश्य श्रीहर्ष शरीर गोद ले,
सहर्ष तू साथ गई, गई, गई।   (हे कविते !)
अत: उन्हीं से चुन एक आध को,
कृपाधिकारी अपना बना, बना।   (हे कविते !)

वास्तव में कवि द्विवेदी के हृदय में भाषा की शक्ति बढ़ाने, उच्च कोटि की नए विषयों पर लिखी कविता लाने और हिन्दी को अन्य भारतीय भाषाओं के सामने गौरवपूर्ण आसन दिलाकर इसे विश्व की एक समृद्ध, उत्तम और प्रभावपूर्ण भाषा बनाने की उत्कट अभिलाषा थी। वे इन्ही कार्यों की सिद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। समयाभाव के कारण भी उनकी भाषा में कभी-कभी त्रुटियाँ रह जाती थीं। वे कभी-कभी भाषा में लाघव लाने के विचार से एक ही पूर्ण अथवा सहायक क्रिया से तीन-चार वाक्य शृंखलित कर देते थे।[4] उनकी भाषा में एकाध स्थलों पर दूरु पदान्वय दोष भी मिल जाता है। इसके अतिरिक्त बोलचाल के शब्द, प्रान्तीय प्रयोग और समस्त संस्कृत पदावली का प्रवाह भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता है।

भाषा की यह अव्यवस्था एवं अनिश्चितता द्विवेदी-काव्य से शीघ्र ही समाप्त हो गयी, परन्तु अधिक व्याकरणनिष्ठ होने से उसमें गद्यात्मकता आ गयी। 'आदर्श भाषा' में यह दोष यहां तक बढ़ा कि वाक्य रचना में उद्देश्य और विधेय का पद्य के अनुकूल स्थान परिवर्तन भी न किया जाता। यथा :––

कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है, सच कहते है अति बढ़िया है।
जिस रंगत के कुंवर कन्हाई, उसने भी वह रंगत पाई ॥[5]

देखो यहां सकल बालक ये खड़े है, छोटे अनेक, दस पाँच कहीं बड़े है।
हे हे दयालु, इनका कर थाम लीजै, कीजै कृपा, अब इन्हें मत छोड़ दीजै।[6]

'द्विवेदीजी के काव्य के वाक्यगत शैथिल्य का दूसरा कारण है,' उसमें तुक का दुराग्रह। यहा यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि द्विवेदी-काव्य में संस्कृत शब्दों का प्राधान्य तदनुकूल

---

१ से ३ तक. द्विवेदी काव्य-माला।
४. द्विवेदी काव्यमाला–पृष्ठ ४४१।
५. 'कोकिल' वही, पृष्ठ ३५७।
६ 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना' वही पृष्ठ ३६२

द्वित्व वर्ण योजना आदि का उपयोग आर्यभूमि कर्तव्यपचदर्शी देशोपालम्भ शरीर रक्षा जैसे गिनी-चुनी रचनाओं में ही उपलब्ध होता है। वस्तुत: पद्य भाषा की इस तत्सम निष्ठता का मूल कारण कवि पर मराठी भाषा का प्रभाव और संस्कृत वृत्तों का उपयोग ही है, अन्यथा अधिकांश कविताओं में खड़ीबोली के प्रांजल एवं प्रकृत रूप का उपयोग हुआ है। कारण यह है कि स्वयं द्विवेदी जी कविता के लिए बोलचाल की सरल भाषा को ही उपयोगी मानते थे।"[1]

अपनी भाषा के साथ ही काव्य भाषा के सम्बन्ध में उनका मत था, 'कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए, जिसे सब कोई सहज में समझ लें।...क्लिष्ट की अपेक्षा सरल लिखना ही वांछनीय है। जो काव्य सर्वसाधारण की समझ के बाहर होता है, वह बहुत लोकमान्य नहीं होता।' अन्य कवियों के समक्ष काव्य भाषा की उपर्युक्त व्यवस्था देकर निश्चय ही वे स्वयं उसका कोई दूसरा रूपग्रहण नहीं कर सकते थे।

द्विवेदी जी के काव्य में सामान्य तथा बोलचाल का रूप प्रधान होने से कहावतों और मुहावरों का पर्याप्त मात्रा में हुआ है। ऐसी अवस्था में जबकि खड़ीबोली कविता के लिए अशक्त तथा अपरिपक्व थी और उसमें गंभीर विषय का पद्यबद्ध निरूपण नहीं हो सकता था, तब किसी साधारण विषय पर मात्र मुहावरों की सहायता से चुभती अथवा मार्मिक बातें कहकर कवि ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है। जैसे—

> पैदा जहाँ हुई हम घर में सन्नाटा छा जाता है।
> बड़े-बड़े कुलवानों का तो मुंह फीका पड़ जाता है।
> कन्या नहीं बला यह कोई, यही चित्त में आता है।
> किसी किसी के ऊपर मानों वज्रपात हो जाता है।।2

ऊपर कविता में प्रयुक्त मुहावरों की भांति दाने दाने को मुहताज होना, आँखें उठाना, फूले न समाना, सिर घिसना, तूल करना, दखल जमाना, बात तोलना, वक्रचाल, अलग खिचड़ी पकाना, दिल टूटना, गारत होना, खाक छानना, दिल खिलना, बातें बनाना, गुन गाना, सब्ज बाग दिखाना, खोटीचाल चलना, चाट लगाना, हा-हा खाना, मुंह फीका पड़ना, नाम पर धब्बा लगाना, कलंक धोना आदि अनेक मुहावरों का द्विवेदी जी ने धड़ल्ले से प्रयोग किया है। इससे भाषा में सजीवता आ गयी है। नीचे कान्यकुब्ज अबला की मनोव्यथा का एक मार्मिक चित्र पुन. देखिए—

> अपनी दशा याद करते ही फटा कलेजा जाता है।
> निकट पेट के भीतर वह मुंह में आ-आ जाता है ।।3

उक्त पद में 'कलेजा फटना' और उसका पेट से निकलकर मुंह को आना, हृदय की दारुण वेदना और तज्जन्य मानसिक क्लेश का प्रदर्शन करता है। सहृदय पाठक इससे कान्यकुब्ज-

१. डा० आशा गुप्ता, खड़ीबोली में अभिव्यंजना, पृष्ठ २४७।
२ कान्यकुब्ज अबला विलाप पृ० ४२५
३ वही

अवला की स्थिति का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। वैज्ञानिक युग की प्रगति और स्वाधीनता के बावजूद उसकी स्थिति आज भी शोचनीय ही है।

भाषा में मुहावरों के प्रयोग के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का स्पष्ट मत था, "मुहावरा ही भाषा का प्राण है। उसे जिसने नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना। उसकी भाषा कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।"[3] आधुनिक युग के हिन्दी कवियों में इस प्रकार की धारणा का प्रतिपादन करने का श्रेय उन्हें ही दिया जायगा। काव्य में मुहावरों के प्रयोग की सार्थकता असंदिग्ध है। वे भाषा के लिए उपकरण ही नहीं होते, अपितु उनसे काव्यगत भावनाओं को भी दीप्ति मिलती है।[1] भाव सम्बन्धी समृद्धि में उनके योग को लक्षित करके मौलाना हाली ने लिखा है,'मुहावरा अगर उम्दा तौर से बांधा जाये तो बिला शुबहा पस्त शेर को बुलन्द और बुलन्द को बुलन्दतर कर देता है।"[1]

अतः यह स्पष्ट है कि द्विवेदीजी काव्य की भाव-विभवता के समान ही उसकीशिल्प-समृद्धि को भी कवि के लिए काव्य मानते थे। इसीलिए उन्होंने शब्द-सौन्दर्य की कल्पना को काव्य के लिए विधातक मानकर यह उल्लेख किया है, "रसायन सिद्ध करने में आंच के न्यूनाधिक होने से काव्यरूपी रस भी बिगड़ जाता है।"[4] यह दृष्टिकोण राजशेखर द्वारा कथित शब्द पाक और वाक्य-पाक का समन्वित आलेखन है।5

अलंकार

द्विवेदी-काव्य में विषय की प्रधानता है। उनकी अधिकांश रचनाएं सप्रयोजन लिखी गयी हैं। शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-रमणीयता के लिए उनमें अवसर कम हैं। अलंकारों के प्रयोग के संबंध में वे उदासीन-से रहे। उनका मत है, "कविता करने में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।"[6] यह धारणा लेखक की अन्तरंग दृष्टि की परिचायक है, क्योंकि अलंकारों के सप्रयास संघटन से काव्य 'अधम' बन जाता है। वे काव्य में प्राचीन अलंकारों के साथ नये अलकारों की नूतन उद्भावना पर भी जोर देते थे। इससे यह पता चलता है कि वे काव्य के अतरंग की भांति उसके बहिरंग की व्यवस्था के प्रति भी सजग थे। उन्हें केवल परम्परा से संतोष नहीं था, वरन वे काव्य-वस्तु और काव्य-कला, दोनों को समयानुकूल रूप प्रदान करने के पक्ष-पाती थे। यही कारण है कि वे विधिविडम्बना, वन्दे मातरम्, स्वदेशी-वस्त्र का स्वीकार, महिला-परिषद् आदि गेय रचनाओं में लावनी, बहर, आदि लोक-प्रचलित छन्द अपनाकर भी वर्ण-विन्यास की ओर यथेष्ट ध्यान न दे सके। हाँ, अनायास ही, उनके वाक्यों में वर्ण अथवा पदावृत्ति हुई है। वहां यमक और अनुप्रास सहज ही उभर आए हैं—जैसे—

---

१. डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त, पृ० ११४।
२. मुकद्दमें शेर व शायरी, पृ० १६७।
३. रसज्ञ-रंजन, पृ० १८।
४. 'काव्य मीमांसा' पृ१ ५०।
५ रसज्ञ रंजन पृ० २०।
६ वही पृ० १८

नाभि नवल नीरज दिखलाती,
स्तन-तट को पट से खिसकाती ।[1]

वृत्यानुप्रास— सुविचार शशि है रत्न रुचिरताधारी,
है सुन्दर वर्ण-सुवर्ण, वर्ण सुखकारी ।

यमक— गौरी-गौरी शिखर सुधारी ।
चाहे कभी नर नरपट भी न पावें,
सेवा प्रभो ! पर न तू पर की करावें ।

द्विवेदी जी की उद्बोधनात्मक कविताओं में भाषा, अपेक्षाकृत अच्छी है। उनमें भावानुसार गति, लय, ओज आदि गुण भी विद्यमान हैं, यथा—

सुरम्य रूपे ! रसराशि रंजिते !
विचित्र वर्णाभरणे कहाँ गई ?
अलौकिकानंद विधायिनी महा !
कवीन्द्र-कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?[2] (हे कविते)

विश्वाधार ! विशाल विश्व-बाधा-संहारक।
प्रेम मूर्ति ! परमेश ! अबल अबला हित कारक ।। (सरस्वती की विनय)
कहाँ पूर्वजों की वह करनी ? कहाँ हमारा वैसा काम ?
निपट निन्द्य, निर्दय, अति निष्ठुर न्यायहीन दोषों का धाम।

उपर्युक्त पंक्तियों में सानुप्रासिक वर्ण योजना से निश्चय ही पद लालित्य आ गया है। भाव के साथ भाषा भी कभी ओजमयी और कभी करुण स्वर में कुछ उपालम्भ और अनुनय विनय सी करती प्रतीत होती है। साथ ही प्रथम पद में कान्तारूपिणी कविता के लिए सुरम्यरूपा, रस-राशि-रंजिता, विचित्रवर्ण-भरणा, अलौकिकानंददायिनी आदि शिलष्ट विशेषण प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों पक्षों में चरितार्थ हो जाते हैं। यहाँ द्विवेदी जी की भाषा की 'शब्द-मैत्री' का भी उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। उन्होंने अपनी काव्य भाषा के समस्त पदों को अनुप्रासिक रखने का जागरूक प्रयत्न किया है, जैसे—लीलाललित, महीमयंक, वाचक-वृन्द, पाप-पुण्य-पचड़ा, सौजन्य सिन्धु, नाभि-नवल-नीरज, और काम-कामिनी इत्यादि। इस प्रकार की समस्त पदावली से उनकी भाषा में रुकावट आ गयी है।

शब्द-शक्ति

द्विवेदी जी की काव्य-भाषा सरल एवं प्रकृत होने के कारण स्पष्ट है। हास्य-मिश्रित व्यंग्य प्रधान कविताओं में वाच्यार्थ का चमत्कार उन्हें रसपूर्ण बनाने में अत्यन्त सहायक हुआ है। अतएव उसमें सुन्दर अभिधा-वैचित्र्य मिलता है अपनी 'विधि कविता में कवि कहता है कि

विधाता ने सृष्टि-रचना में निपट अपटुता का परिचय दिया है। उसने रचते समय विभिन्न उपकरणों में गुण अवगुणानुसार रूपभेद नहीं किया है। ब्रह्मा की यह मूर्खता मानव-बुद्धि को प्रतिक्षण चुनौती देती है। कवि के विचारानुसार—

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं।
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े-बड़े उग आते हैं।
घोर घमण्डी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लंक ?
चिन्ह देख उसमें सब उनको पहचानते निशंक ॥[१]
उपलपात, जलपात, भयंकर वज्रपात भी सहते हैं,
देहपात तक भी सहने में कोई कुछ नहीं कहते हैं।
किन्तु असह्य उरोजपात का करते ही कुविचार,
तेरी विषयबुद्धि पर बुधवर हंसते है शतबार ॥[२]

उक्त दोनों पदों में कवि कल्पना निःसंदेह चमत्कारिणी है। वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को दबाये बैठा है। पाठक के समक्ष इस विडम्बना पूर्ण सृष्टि का ऐसा चित्र अंकित है, जो इसका मनोरंजन किए बिना नहीं रहता। इस प्रकार द्विवेदी काव्य में सर्वत्र वाच्यार्थ का ही साम्राज्य है। क्योंकि कवि का ध्यान सामान्यतया वर्ण्य-वस्तु पर ही केन्द्रित रहा है। अतएव अलंकार, मुहावरों आदि मे अभिधेयार्थ व्याहृत करके लक्षणा अथवा व्यंजना जहाँ अर्थान्तर में संक्रमित होती भी है, वहां केवल विषय ही स्पष्ट हो पाया है, अभिव्यंजना शैली में विशेष चमत्कार नहीं दृष्टिगत होता। उदाहरण के लिए कुछ स्थल देखिये—

किसी समालोचक के द्वार, सिर घिस घिस कर बारम्बार,
निज पुस्तक की समालोचना जो सविनय लिखवाते हैं।[3]   (रूढ़ि लक्षणा)

शुद्धा, उपादानमूला, अजहत्स्वार्था, अगूढ़व्यंग्यालक्षणा का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

विदेशी धोबियों तक ने हमारी,
समझ पर है कलप की ईंट मारी।[४]

यहाँ लक्षणलक्षणा का भी स्वरूप देखिए—

पुरुषों में भी जाना इसने,
मन्द-मन्द मुस्काना इसने,
सुधा सलिल बरसाना इसने।[5]

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० २९० ।
२. वही पृ० २९९ ।
३. वही, पृ० ४२२ ।
४ वही पृ० ३६९
५ वही पृ० ४४१

गौणी, सारोपा, पदगता, अगूढ़व्यंग्यालक्षणा का एक और नमूना द्रष्टव्य है—

दुर्वाक्यबाण सह जो न करे विचार।
धिक्कार क्यों न उनको दशलाख बार॥

इनके अतिरिक्त विवाह सम्बन्धी कविताओं में द्विवेदीजी का भावुक हृदय मुखर हो उठा है। विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ प्रायः सुहाग, घोड़ियाँ, मंगल, गाली आदि गाकर अपना और अभ्यागतों का मनोरंजन करती है। कवि उनके मधुर गीत सुनकर गुनगुनाने लगता है—

उन कोकिलकंठी कामिनियों ने जो मधुर गीत गाये।
सुधा-सदृश कानों से पीकर वे मुझको अति ही भाये॥
इनका यह गाली गाना भी चित्त में जब यों चुभ जाता है।
यदि ये कहीं और कुछ गाती, बिना मोल मैं बिक जाता॥[1]

कोकिलकंठी कामिनियों, सुधासदृश आदि पदांशों में अनुप्रास का लालित्य है। 'कानों से पीकर' मे सहर्ष सुनने की व्यंजना के लिए प्रयोजनवती लक्षणा से काम लिया गया है। मधुर गीतो को सुधाकी उपमा देकर, 'कानों से पीने' की उक्ति द्वारा उसका उचित समय पर तिरस्कार भी कर दिया। यदि ये नारियाँ गालियाँ न गाकर प्रणय-निवेदन के गीत गाती, तो कवि आत्म-समर्पण ही कर देता। विवाहोत्सव के तीसरे दिन तक वे गीत कानों में गूँजते ही रहते हैं, अतएव वे कहते हैं—

परसों जो मधुमय गीतों का रस-समुद्र भर आया था,
मैंने तो उसमे परसों ही गोता खूब लगाया था।

आज उसी का बढ़ा हुआ जो बहा वेग से निर्मल नीर,
मन मेरा बह गया उसी में यहाँ रह गया सिर्फ शरीर॥[2]

द्विवेदीजी ने मधुमय गीत, रससमुद्र में गोता खाना, निर्मल नीर में मन बहना आदि अंशो मे अपनी आत्मविभोरता का परिचय दिया है यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है। द्विवेदीजी की भाषा सरल, प्रांजल एवं प्रवाहयुक्त होने से प्रसादगुण सम्पन्न है। कवि हास्य, व्यंग्य आदि के विधान मे पर्याप्त सफल हुआ है। विषयानुकूल जहाँ खीझ और उपालम्भ का स्वर प्रखर है, वहाँ भाषा में ओज गुण भी आ गया है, किन्तु इनमें काव्य सौन्दर्य की उल्लेखनीय रमणीयता नहीं मिलती। अतएव यह कहना अत्युक्ति न होगी कि द्विवेदीजी की कवितायें अभिव्यजना सौंदर्य की दृष्टि से प्रायः श्रीहीन ही रही है। डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में, 'अधिकांश में शब्दों का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतो गुण की संयासिनी प्रतिमा है—उसमें काव्य-कला का वास्तविक जीवन-स्पन्दन कहीं नहीं मिलता।'[3]

काव्य में छंदविधान

द्विवेदीजी ने काव्य में छंद प्रयोग की सामान्य रूपरेखा निर्धारित करते हुए अतुकान्त काव्य

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ४५१।
२. वही, पृ० ४५२।
३ सरस्वती माघ १९११, मातृभूमि

का विशेष विवेचन किया है उन्होंने छन्द योजना को काव्य का वाह्य अंग मानकर उसमें भाव सौंदर्य को स्थान देने पर अधिक बल दिया है उनके मतानुसार 'यदि कविता सरस और मनोहारिणी है, तो चाहे वह एक ही अथवा बुरे से बुरे छन्द में क्यों न हो, उससे आनन्द अवश्य ही मिलता है।"[1] यहाँ काव्य में छन्दों की विविधता का निषेध नहीं किया गया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि वे उनकी अनावश्यक बहुलता के विरोधी हैं। यह उचित भी है, क्योंकि शुद्ध-स्वाभाविक छन्द योजना भावप्रसाधन में सहायक होती है और असंतुलित छन्द-संगठन काव्यश्री के उन्नयन में बाधक होता है।[2]

छन्द को काव्य-गति और कवि की रुचि के अनुकूल होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि जो सिद्ध कवि हैं, वे चाहें जिस छन्द का प्रयोग करें, उनका पद्य अच्छा ही होता है, परन्तु सामान्य कवियों को विषय के अनुकूल छन्द-योजना करनी चाहिए।[3]

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि द्विवेदीजी छन्द-शास्त्र के मर्म से अवगत थे। इस दिशा मे अपने दृष्टिकोण की गम्भीरता के फलस्वरूप ही वे अतुकान्त काव्य के समर्थक रहे। हिन्दी-कवियों को उद्बोधन देते हुए उन्होंने स्वयं कहा था, "पादान्त में अनुप्रासहीन छंद भी हिन्दी मे लिखे जाने चाहिए। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्यहीन संस्कृत का प्रायः सारा पद्यसमूह बिना तुकबन्दी का है।"[4]

अतः सर्वांशतः दृष्टिपात से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदीजी ने काव्य में भाषा तथा छन्द-विधान के विषय में अनेक मौलिक, तर्कसम्मत, सबल तथा महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। जिस प्रकार उन्होंने भाव-क्षेत्र में हिन्दी कविता के लिए नवीन प्रतिमान निश्चित किये, उसी प्रकार कला के क्षेत्र में भी अपने समकालीन कवियों को नवीन दिशा देने का गौरव उन्हें उपलब्ध है।[5]

द्विवेदीजी के प्रभाव से निष्पन्न काव्य-भाषा

आचार्य पं० महावीर के सद्प्रयत्नों से खड़ीबोली हिन्दी का स्वरूप निखरा और स्थिर हुआ। भाषा में मनमानी प्रवृत्ति, जो भारतेन्दु युग से चली आ रही थी, समाप्त हुई। कवियो ने समझ लिया कि कविता के नाम पर भाषा का तोड़-मरोड़ अब नही चल सकता। काव्य भाषा मे प्रचलित खिचड़ी भी रुक गई। सरल, प्रवाहमय, व्याकरण सम्मत भाषा का आग्रह चारों ओर से बढ गया। युग के प्रायः सभी कवियों ने इस परिवर्तन को सहर्ष स्वीकार किया। ब्रजभाषा मे प्रचलित काव्य-प्रणाली का भी धीरे-धीरे प्रभाव क्षीण हो गया। गद्य और पद्य दोनों में खड़ी-बोली एक रूप होकर चलने लगी। दिनोंदिन प्रयोग बढ़ने लगा, जिससे भाषा की शक्ति बढने लगी। आवश्यकतानुसार शब्द-राशियाँ भी बढ़ीं। कालान्तर में छायावादी कवियों ने नये प्रतीकों,

---

१. रसज्ञ-रंजन, पृ० १६।
२ डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धांत, पृ० ११५।
३. वही, पृ० ११६।
४. सरस्वती, जुलाई, १९०७ ई०, पृ० २८०।
५ डा० सुरेशचन्द्र गुप्त आधुनिक कवियों के काव्य सिद्धान्त पृ० ११७

नूतन उपमानों तथा बिम्बविधानों द्वारा भाषा के कलापक्ष को खूब संवारा । द्विवेदीजी के प्रभाव मे काम करने वाले कवियों ने भी शुद्ध, सरल भाषा के माध्यम से विविध विषयों पर सुन्दर काव्य लिखे । भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति बढ़ गयी । पूर्ववर्ती खरखराहट मिट गयी और उसकी जगह भाषा में मधुरता, ओज, तथा प्रसाद गुणों का समावेश हुआ ।

काव्य का जीवन से, जितना ही सम्बन्ध बढ़ने लगा, भाषा उतनी ही अधिक प्राणवान बनती गयी । इस सम्बन्ध में तत्कालीन कवियों की रचनाओं में से दो उदाहरण पर्याप्त होंगे मातृभूमि की बड़ाई गाते हुए गुप्तजी लिखते हैं—

> नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है ।
> सूर्य चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है ।
> नदियाँ प्रेम प्रवाह सूर्य-तारे मण्डन है ।
> वन्दी विविध विहंग-शेषफन सिंहासन है ।[1]

पं० रामनरेश त्रिपाठी अपने 'मिलन' खण्ड-काव्य के नायक का रूप-गुण वर्णन करते हुए लिखते हैं—

> सिकुड़न-रहित ललाट-ललित अति उन्नत-कला निधान ।
> पौरुष-पूर्ण विशद वक्षस्थल वृषभ-कंध बलवान ।।
> परिधि समान प्रलम्ब-युगल-भुज पृथुल कठिन भुजदण्ड ।
> अग अंग से छलक रही थी, शोभा, शक्ति प्रचण्ड ।।[2]

कुछ प्रमुख कवियों की भाषा का अनुशीलन

द्विवेदी-युग के कवियों मे पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, रायदेवी प्रसाद पूर्ण, पं० रामचरित उपाध्याय और पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि के नाम विशेष उल्लेख्य हैं । अस्तु, इस युग की भाषा के अनुशीलन के लिए हम इन्हीं कवियों में से प्रथम दो को चुनेंगे । इसका कारण यह भी है कि द्विवेदी युग के काव्य में इन दोनों कवियों ने सबसे अधिक योगदान किया है । भाषा को प्रौढ़ता देने मे इनका स्थान सर्वोपरि है । विविध प्रकार के काव्य-प्रयोगों, विभिन्न विषयों के समावेश और मुक्त, खण्ड-काव्य तथा महाकाव्य के सृजन द्वारा इन दोनों महाकवियों ने खड़ीबोली के तत्कालीन रिक्त भण्डार को खूब भरा । इतना ही नहीं, द्विवेदी-युग के अन्त हो जाने पर बहुत दिनों तक ये दोनों महाकवि युग की ढाल लेकर चलते रहे, जिसका जिक्र हम आगे चलकर 'द्विवेदी-युग के कवियों का परवर्ती विकास' शीर्षक अध्याय में करेंगे । इन दोनों कवियों के चुनाव में हमारा यह भी अभिप्राय है कि युग की सम्पूर्ण काव्य-धारा की विभिन्न शैलियों एवं विविध काव्य-रूपों का अनुशीलन किया जा सके ।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, मातृभूमि, सरस्वती, मार्च सन् १९११ ई० ।

२ रामनरेश त्रिपाठी मिलन पृ० ४५

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हरिऔधजी ने अपना कवि-कर्म भारतेन्दु युग के अन्तिम वर्षों में ही प्रारम्भ कर दिया था। वे तत्कालीन भक्ति भावना तथा रीतिकालीन कलाचातुर्य लेकर ब्रजभाषा में कवित्त-सवैये लिखते रहे, जो प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेमाम्बुप्रस्रवण, प्रेमाम्बुप्रवाह तथा प्रेमप्रपंच आदि नामों से ग्रंथ रूप में प्रकाशित हुए। फारसी के 'बाबगुलिस्तां' तथा 'गुलजार दबिस्तां' के पद्यानुवाद और उपदेशकुसुम तथा विनोद वाटिका का भाषा-माध्यम ब्रजभाषा ही रहा। हां, जब उन्होंने भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के संधिस्थल पर खड़े होकर खड़ीबोली का बढ़ता हुआ प्रचार देखा, तो वे भी उर्दू छन्दों के सहारे बोलचाल की खड़ीबोली में पद-रचना की ओर अग्रसर हुए। इस ढंग की भाषा में सर्वप्रथम एक कविता उन्होंने सन् १९०० ई० में नागरी प्रचारिणी सभा के गृह प्रवेशोत्सव के अवसर पर पढ़ी, जो १९०४ ई० में प्रेमपुष्पोहार के नाम से स्वतन्त्र पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई थी।[1] उस कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

> चार डग हमने भरे तो क्या हुआ
> है पड़ा मैदान कोसों का अभी।
> मौलवी कोई न ऐसा होयगा
> जो न उर्दू खूब होये जानता ॥[2]

इस कविता को पढ़ने पर दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि हरिऔध जी खड़ीबोली के स्वरूप को सर्वजनीन एवं पुष्ट बनाना चाहते थे और दूसरी बात है उनकी लड़खड़ाती हुई प्रारंभिक खड़ीबोली। इस तुकबन्दी ने स्पष्ट कर दिया कि कवि नवभाषा के प्रति विशेष आग्रह रखता है, उसके विकास की अदम्य लालसा उसके हृदय में तरंगित हो रही है।

सन् १९०६ ई० में हरिऔधजी ने एक पद्य-निबन्ध 'उद्बोधन' शीर्षक लिखा। उसी वर्ष देश के नौनिहालों के विनोदार्थ सरस्वती में कुछ रचनाएं प्रकाशित हुईं। सन् १९०७ ई० में 'अधखिला फूल' उपन्यास प्रकाशित हुआ, उसमें कुछ चौपदे भी ठेठ खड़ीबोली में फारसी छन्दों के सहारे लिखे गये। तदनन्तर उनकी खड़ीबोली की कविताएं सरस्वती, मर्यादा, प्रभा, श्रीशारदा, प्रतिभा और विद्यार्थी आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर निकलने लगीं।[3]

हरिऔधजी शब्दों के सफल-सजग प्रयोग को काव्य का जीवन मानते थे। शब्दविन्यास, भाषा में सरलता, लचक और बोलचाल की शब्दावली को वे महत्व देते थे।

विषय-वस्तु

हरिऔधजी ने प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य का सृजन किया है। प्रबंध काव्य मे उनकी अमर रचना 'प्रिय प्रवास' है, जो अपने समय का सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जाता है। गीता के कर्मयोगी कृष्ण और देश सेविका राधा इसके नायक-नायिका हैं। वाह्य-रूप से प्रियप्रवास संस्कृत-वृत्तों में रचित एक महाकाव्य है।

---

१. डा० आशा गुप्ता, खड़ीबोली काव्य में अभिव्यंजना, पृष्ठ २८०।

२ हरिऔध प्रेम पुष्पोहार १९०४ ई०।

३ डा० आशा गुप्ता खड़ी बोली में अभिव्यंजना पृष्ठ २८१

फुटकल मुक्तक काव्य के अंतर्गत उनकी धर्मवीर कर्मवीर जीवनमुक्त हम चाहिए अविद्या कुलीनता नाक झाक आदि उपदेशात्मक कविताए आती है उपाध्यायजी सयमी सज्जन एवं सहृदय व्यक्ति थे। उन्होंने अच्छे समाज तथा उच्च आदर्शों की सर्वत्र कल्पना की है। समाजसेवा और लोक कल्याण के वे महान पक्षपाती थे। इसीलिए सामाजिक दुर्बलताओ पर खीझ प्रकट करते हुए उन्होंने मनोव्यथा, आरंभशूरता, चेतावनी, दिल के फफोले, जी की कचट, दुखिया के आसू, दीन की आह, मतलब की दुनिया, जी टटोलो आदि चौपदे, छपदे, चौतुके, दोतुके लिखे हैं। उपाध्यायजी नारी को समाज की कल्याणी-शक्ति मानते थे। उसकी दुर्दशा देखकर वे विचलित हो जाते और खिन्न मन से उनकी हीन दशा का वर्णन करते थे। बेवायें, नापाकपन, बेटियां, घर देखो भालो आदि कविताओं में बड़े विशद रूप से उनकी दशा पर आंसू बहाये गये हैं। कवि के चौपदे भूल-भुलैयों में फसी हुई हिन्दू जाति को देखकर चोट खाए हुए दिल के फफोले है, जो स्वयं उन्हीं के शब्दों में चौपदों की सूरत में फूटे है, जिससे इन्हें पढ़कर हिन्दू जाति की आंखें खुले।[1] शिक्षा-साहित्य और जातीय जीवन के निर्माण को ध्यान में रखकर उन्होंने कुछ अन्य पदों की रचना की है, जैसा कि विद्या, विद्यालय, प्रेमपुष्पोहार और इस प्रकार की अन्य रचनाओ से विदित होता है। इन सबका प्रतिपाद्य स्थूलतः शिक्षा अथवा साहित्य ही है।

काव्य-भाषा के स्वरूप और अभिव्यंजना-सौष्ठव-विधायक अन्य उपादानों की दृष्टि से हरिऔधजी के प्रबन्ध काव्य प्रियप्रवास और फुटकर काव्य में बहुत अंतर है, अतएव उनकी पृथक-पृथक मीमांसा ही समीचीन होगी।

प्रियप्रवास : अभिव्यंजना-पक्ष

भाषा, शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि।

प्रियप्रवास की भाषा सामान्यतया संस्कृत-गर्भित एवं समासयुक्त खड़ीबोली है। वस्तुतः द्विवेदी-युगीन कविता की तत्सम प्रधान भाषा का यह ग्रंथ एक आदर्श उदाहरण है। तत्सम शब्दो का प्राचुर्य इस काव्य का सहज गुण है। संस्कृत के वे शब्द जो हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं, उनका भी धड़ल्ले से प्रियप्रवास में प्रयोग हुआ है, जैसे उपेत, कियत, प्रथति, क्षरण, काम, तल्प, वपुष, मुहुर्मुहुः और घोटक आदि। ये संस्कृत पदविन्यास प्रायः उपसर्गों से बोझिल हैं। इनके कुछ और उदाहरण लीजिए–समुत्सुक, समुत्तम, समुन्नत, विमोहक, विनिमज्जित, विवर्द्धक, प्रसुप्त, प्रशोभी, प्रलुब्ध, प्रवीर और संपोषिका आदि। कवि ने खड़ीबोली में संस्कृत की संश्लेषणात्मक, उपसर्ग-प्रत्यय विभूषित समस्तता लाने के लिए संधि-प्रधान-पदावली का भी उपयोग किया है। पलायनेच्छु, प्रज्वलिताग्नि, उचिताभिलाषी, तुहिनाभिभूत, अलौकिका लोकमयी, अनन्तराघात, पुष्पोप्रशोभी, कुंजातिरम्या ऐसे अनेक समस्तपद प्रियप्रवास में प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिए भाषा कहीं-कही ऐसी बोझिल संस्कृतनिष्ठ हो गयी है कि शुक्लजी ऐसे विशुद्ध भाषा के पक्षपाती आचार्य को भी कहना पडा था––'है, था, किया, दिया ऐसी दो–एक खड़ीबोली की क्रियाओं के भीतर भाषा को सिमटकर रह जाना पड़ा है।'[2] निम्नलिखित दो पदों की भाषा को गौर से देखने पर शुक्लजी के कथन की सत्यता प्रमाणित हो जायगी।

---

१ हरिऔध, दो दो बातें चुभते चौपदे पृष्ठ ६

२ आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्यका इतिहास पृ० ६०८

१ नाना भाव विभाव हाव कुशला आमोद आपूरिता ।
लीला-लोल कटाक्ष-पात निपुणा भ्रू-भंगिमा-पंडिता ।।
वादित्रादि समोदवादन-परा आभूषण-भूषिता ।
राधा थी सुमना प्रसन्न वदना स्त्री जाति रत्नोपमा ।।[१]

*   *   *

२. सद्वस्त्रा-सरलंकृता गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता ।
रोगी-वृद्धजनोपकारनिरता सच्छास्त्र-चिन्तापरा ।।
सद्भावातिरता अनन्यहृदया सत्प्रेम-संपोषिका ।
राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्री जाति रत्नोपमा ।।[२]

उपर्युक्त दोनों पदों में मात्र 'थी' को छोड़कर खड़ीबोली का कहीं पता नहीं है। समस्त पद संस्कृतमय हैं। यह ठीक है कि सारा महाकाव्य ऐसा ही नहीं है, फिर भी इसकी बहुलता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि इस महाकाव्य को सामान्य जन ग्रहण नही कर सके। संस्कृत भाषा के विद्वान आचार्यों की बात छोड़िए, पर हिन्दी का सामान्य पाठक प्रियप्रवास का रसास्वादन करने में विफल रहा है। हां, यह भी सही है कि इस नये प्रयोग से खड़ी-बोली काव्य-भाषा में कसावट और प्रवाह के साथ संस्कृत की कोमलता और कान्ति भी सन्निविष्ट हुई। कवि द्वारा आयोजित सानुप्रास शब्द-मैत्री ने द्विगुणित आभा से कविता का श्रृंगार किया है।

तरणिजा-तट, वनव्यापित-वीथिका, धवल-धूसर, गोकुल-ग्राम, मुकुर-मंजुल, कलकेलि, मानस-मोहिनी, विटप-वेलि, सर्वसुकक्ष, कुलकामिनी, मंद-मृदंग, प्रमोद-प्रवाह, विवशता-वश, वादक-वृंद, तम-तोम, विपुल-व्याकुल, दीपक दीप्ति, नितान्त-निरीह, लीला-लोल, भ्रू-भंगिमा, कल-क्रीड़न जैसे युगल शब्दों ने भाषा की गेयता में निश्चय ही अभिवृद्धि की है। पदावली को श्रुति-मधुर बनाने के लिए 'ता' प्रत्यय का बहुल मात्रा में प्रयोग हुआ है। उसे कहीं पर हिन्दी व्याकरण के अनुसार और कहीं संस्कृत व्याकरण के अनुकूल बनाया गया है। नीचे दिए हुए उद्धरणों में सुन्दर संगीत लहरी में अनुस्यूत 'ता' का विधान द्रष्टव्य है :—[३]

सबुद्बुदा-फेनयुता-सुशब्दिता अनन्त-आवर्तमयी प्रफुल्लिता,
अपूर्वता अंकित थी प्रवाहिता, तरंगमाला, कलिता-कलिन्दजा।।[४]

*   *   *

अति जरा-विजिता बहुचिन्तिता विकलता-ग्रसिता सुरवंचिता ।
सदन में कुछ थीं परिचारिका, अधिकृता-कृशता अवसन्नता ।।
मुकुर उज्ज्वल मंजु निकेत में, मलिनता अति थी प्रतिबिम्बिता ।
परम-नीरसता सहआवृता, सरसता, शुचिता युत वस्तु थी ।।[५]

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, अध्याय, सर्ग ४, पद ६ ।
२. वही पद १८ ।
३. डा० आशा गुप्ता, खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना, पृष्ठ २८३ ।
४ हरिऔध प्रियप्रवास सर्ग ९- पद ७६ ।
५ वही सर्ग १० पद ७—८ ।

उक्त सरस-सुन्दर उदाहरणा के अतिरिक्त हरिऔधजी ने अनेक ऐसे प्रयोग भी किए हैं ज खडीबोली की प्रकृति से मेल नहीं खाते। इन अप्रचलित, कृत्रिम प्रयोगों से भाषा की शक्ति अस्त-व्यस्त होती हुई नजर आती है। संस्कृत के मोह में उपाध्याय जी ने अनेक अवसरों पर ऐसे तत्सम-बाहुल्य पदों की रचना की है, जो सहज ग्राह्य नहीं होने के कारण खटकते हैं, ऐसे स्थल पर भाषा कहीं-कहीं अशुद्ध भी हो गयी है। उदाहरणार्थ देखिए—

प्रफुल्ल बैठे दिवसैक श्याम थे,
तले इसी पादप के समण्डली।[1]

है कल्प-पादप मनोहराटवी का।[2]

उदक में घुस तो करते रहे,
वह कहीं जल-बाहर मग्न हो।[3]

काव्य में वाक्य-रचना-दोष भी कहीं-कहीं पर दिखलायी पड़ता है। न्यून पदत्व, दूरान्वय दोष, च्युत संस्कृति दोष आदि भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं, जिनसे अर्थ-विवक्षा में निश्चय ही बडी कठिनाई पड़ती है। इसी को देखकर डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने लिखा है, "प्रियप्रवास से ऐसे सैकड़ों पद उद्धृत किये जा सकते हैं, जिसमें यदि धारा प्रवाहिकता है, तो उसकी वेदी पर हिन्दी की नैसर्गिक प्रतिभा की बलि दी गयी है।[4]

हां, यह अवश्य है कि काव्य-भाषा जहाँ इन दोषों से मुक्त है, वहाँ पद रचना विलष्ट हो, सश्लिष्ट हो अथवा सरल हो, उसमें प्रवाह और प्रांजलता भी है। प्रियप्रवास की क्लिष्टता में कोमलता और माधुर्य है तथा सरलता में उर्दू की सजीवता एवं गतिशीलता। नीचे दिये हुए अवतरण में छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा यशोदा की मार्मिक उक्ति का रसास्वादन कीजिए:—

कोई भी है न सुन सकता, जा किसे मैं सुनाऊँ।
मैं हूं, मेरा हृदयतल है, हैं व्यथाएँ अनेकों॥
बेटा, तेरा सरल मुखड़ा, शान्ति देता मुझे है।
क्यों जीऊँगी कुंवर, बतला जो चला जाएगा तू॥[5]

भाषा में कसावट लाने के विचार से कहीं-कहीं अनेक उद्देश्यों को एक विधेय के साथ अन्वित कर दिया गया है, जिससे पदलाघव और संक्षिप्तता के साथ सौष्ठव का विधान भी स्वत: हो गया है। अलंकारवादी इस प्रकार की पद-योजना को देहलीदीपक कहते हैं—

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग १३, पद ४६।
२. वही, सर्ग १४—पद १३६।
३. वही, सर्ग, १२—पद ५३।
४. डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, पृ० ९८।
५. हरिऔध f सर्ग ५ पद १४।

आवासों में सुपरिसर में द्वार में बैठकों में
बाजारों में, विपणि सबमें, मंदिरों में, मठों में ॥
आने ही की न ब्रज-धन के बात फैली हुई थी।
कुंजों में औ पथ-अपथ में, बाग में औ बनों में ॥[१]

उपाध्यायजी ने प्रसंग और भाव के अनुकूल, उपयुक्त शब्दावली में, सुष्ठ-पद-योजना द्वारा प्रियप्रवास में काव्योचित गुणों का भी समावेश किया है। अधोलिखित उद्धरणों में माधुर्य, प्रसाद एवं गुण का विधान द्रष्टव्य है—

फूली फैली लसित लतिका,
वायु में मन्द डोली।
प्यारी-प्यारी ललित लहरें,
भानुजा में बिराजीं।

माधुर्यगुण

सोने की सी कलित किरणें,
मेदिनी ओर फूटी,
कूलों कुंजों कुसिमित वनों में,
जगी ज्योति फैली ॥[२]

प्रसाद गुण

प्रसाद गुण के दो उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। एक में बोलचाल की भाषा का विधान है, तो दूसरे में साहित्यिक भाषा का आदर्श—

कब टल सकता था श्याम के टालने से,
मुख पर मंडलाता था स्वयं मत्त हो के।

यक दिन वह था औ एक है आज का भी, (बोलचाल की भाषा)
जब भ्रमर न मेरी ओर तू ताकता है।
कब पर-दुख कोई है कभी बाँट लेता,
सब परिचय वाले प्यारे ही है दिखते ॥[३]

होता निर्झर का प्रवाह जब था सावर्त उद्भिन्न हो,
तो होती उसमें अपूर्व ध्वनि भी उन्मादिनी कर्ण की।
मानो यों वह था सहर्ष कहता सत्कीर्ति शैलेश की,
या गाता गुण था अचिन्त्य गति का सानन्द सत्कण्ठ से ॥[४] (साहित्यिक भाषा)

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग ६—पद ५।
२. वही, सर्ग १, पद २।
३ वही, सर्ग १५ पद ७७।
४ वही सर्ग ९ पद १८ १९।

ओज गुण का एक और उदाहरण लेकर अब इस प्रसंग को समाप्त करना होगा। कारण अधिक विस्तार से हरिऔध काव्य पर अन्य अध्यायों में विचार किया गया है यहां तो भाषा के अध्ययन में ये प्रसंग आये हैं।

> भयंकरी-प्रज्वलिताग्नि की शिखा,
> दिवान्धता-कारिणी राशि धूम की।
> वनस्थली में बहु-दूर व्याप्त थी,
> नितान्त घोरा ध्वनि-त्रासवर्धिनी ॥[1]

लोकक्ति-मुहावरे

महाकवि हरिऔध की भाषा विविध रूपों में प्रवाहित हुई है। एक ओर शुद्ध संस्कृत-पदावली का उसमें ठाट है, तो दूसरी ओर सुबोध, सरल भाषा का विधान और तीसरी ओर मुहावरों एवं लोकोक्तियों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। जैसे बाल बांका न होना, बात बनाना, फूले न समाना, रंग जमाना, कान फोड़ना, मुँह सूखना, कलेजा थामना, जाल बिछाना, कलेजा पत्थर होना, आंखें लाल करना आदि अनेक मुहावरे काव्य में बिखरे पड़े हैं।

वस्तुत: उपाध्यायजी मुहावरेदार भाषा लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे। उनके 'बोलचाल', 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अत: यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उन्होंने अनभिज्ञता के कारण मुहावरों के दोषपूर्ण प्रयोग किये हैं।

अलंकार-योजना

हरिऔध के महाकाव्य प्रियप्रवास की सबसे बड़ी विशेषता उसमें रसोचित माधुर्य गुण का निर्वाह है। वर्णित वृत्तों के आग्रह से अथवा संस्कृत की हृदयहारिणी कोमलता सन्निविष्ट करने के लिए कवि ने काव्य के वर्ण तथा पद-विन्यास पर विशेष ध्यान दिया है। इन छन्द-बन्धों के सबसे बड़े सहायक शब्दालंकार ही हैं। स्वभावत: काव्य में अनुप्रास की छटा द्वारा नाद-सौन्दर्य एवं श्रुति-सुखदता का समावेश किया गया है। अनुप्रास का यह सौष्ठव कहीं युगल शब्द-मैत्री तक सीमित हैं और कहीं यह वर्णवृत्ति पद अथवा वाक्य तक फैली हुई मिलती है। काव्य में इस प्रकार की अनुप्रास-योजना से श्रुति-सुखदता और नाद सौन्दर्य के अतिरिक्त चित्रमयता भी आ गयी है।[2]

वृत्यानुप्रास

> लीलाकारी, ललित-गलियाँ, लोपनीयालयों में।
> क्रीड़ाकारा, कलित कितने केलिवाले थलों में।
> कैसे भूला ब्रज-अवनि को कूल को भानुजा को।
> क्या थोड़ा भी हृदय मलता लाड़ले का न होगा ॥[3]

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग पद ८१।

२. डा० आशा गुप्ता, खड़ीबोली में अभिव्यंजना पृ० २९५।

३ हरिऔध [illegible] सर्ग ८ पद ६२

यहीं लगे हाथ छेकानुप्रास अलंकार का एक उदाहरण से लें

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला-वापिका थी ।
नाना चाहें कलित कलियाँ थीं लतायें उमंगें ॥
धीरे-धीरे मधुर हिलती वासना बेलियां थीं ।
सद्वांछा के विहग उसके मंजुभाषी बड़े थे ॥ [1]

इसी प्रकार वर्ण अथवा शब्दावृत्ति के कारण यमक अलंकार की योजना भी अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होती है । वह कहीं-कहीं सार्थक एवं भिन्नार्थक और कहीं निरर्थक हुई है, यथाः—

वह भी करता रससैक था
दे न सके जिससे (सरसा-रसा) ।[2] (रसपूर्ण पृथ्वी)
विनय से (वय से) वय से भरा,
कथन ऊधव का मधु में पगा । (नम्रता नीति)
श्रवण थीं करती बन उत्सुका,
कलपती-कंपती ब्रजपांगना ॥[3]

कवि हरिऔध खड़ीबोली को संस्कृत वृत्तों एवं संस्कृत भाषा ही के ढांचे पर ढालने की धुन में लीन थे । अनुप्रासाधिक्य के कारण उनकी काव्य भाषा कृत्रिम हो गयी । अन्त्यानुप्रास का एक पद इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त होगा:–

अति-जरा-विजिता बहु-चिन्तिता ।
विकलता-ग्रसिता सुख-वंचिता ॥
सदन में कुछ थीं परिचारिका ।
अधिकृता कृशता अवसन्नता ॥[4]

ध्यान दीजिये तो इसमे कोरा शब्दजाल ही दिखेगा । कवि का भाव समासयुक्त पदावली एवं भाव वाचक संज्ञाओं तथा विशेषणों के बीच उलझ गया है । आधुनिक काव्य में अर्थालंकार की कल्पना, भाव और विचार वैभव की तुलना में कम महत्वपूर्ण है, परन्तु हरिऔध जी ब्रज भाषा की भांति प्रियप्रवास में भी सभी प्रकार के अलंकारों को ले आये हैं । उन्होंने कथा प्रवाह मे वर्णनात्मक स्थलों के लिए प्रायः ब्रजभाषा के प्रचलित तथा रूढ़ उपमानों का उपयोग किया है, यथा:–

दसन थे रस के युग बीज से,
सरसधार सुधा-सम थी हंसी ॥

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग १० पद ४९ ।
२. वही, सर्ग १२ पद ५ ।
३. वही सर्ग १० पद १० ।
४. वही सर्ग १० पद ७

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, उल्लेख्य, प्रतीप, अपन्हुति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टांत आदि अलंकारो के सुन्दर उदाहरण प्रियप्रवास में से आसानी से चुने जा सकते है। सच पूछा जाय तो प्रियप्रवास अलकारों की खान है। उपमेय और उपमान का सुन्दर नियोजन इस ग्रन्थ में दर्शनीय है। 'तिमिर की तरल धारा' का मानवीकरण और 'बिराम की प्रतिमूर्ति' बनाने में 'अंधकार की गहनता' को जिस रूप में व्यंजित किया है, वह अप्रस्तुत-विधान का सुन्दर निदर्शन है। राधा की करुण दशाकी व्यापकता दिखाने के लिए पवनदूती का रूप प्रस्तुत करना, फिर उसमें गुणों का आरोप करके उसका मानवीकरण करना, उत्तम कल्पना है। कुल मिलाकर उपाध्याय जी ने इस कृति में एक सच्चे एवं कुशल कलाकार का परिचय दिया है। भावों की कोमलता या कर्कशता के अनुसार भाषा भी कोमल या परुष हो गई है। काव्य-भाषा में चित्रमयता इतनी अधिक विद्यमान है कि कवि जिस भाव, पदार्थ या प्राकृतिक व्यापार का चित्र प्रस्तुत करना चाहता है, वह सौन्दर्य विधायक तत्वो द्वारा सहज ही बन जाता है।[1]

छन्द विधान

इसे हरिऔध जी कवि की क्षमता पर आधारित मानते थे। उनका दृढ़ मत था, "सहृदय और प्रतिभावान पुरुष जिस छन्द को हाथ मे लेगा, उसी में चमत्कार दिखला सकता है।"[2] छन्द और भावना को उन्होंने परस्पर सहज-सम्बद्ध माना है। छन्द केवल भावना का अनुवर्ती नहीं है, अपितु वह उसका पोषक भी है। इसीलिए हरिऔध जी रसानुकूल छन्द विधान के पक्षपाती थे। वे गणवृत्त और मात्रावृत्त दोनों में भिन्न तुकान्त कविता को अनुकूल मानते थे। हिन्दी और उर्दू पिंगल दोनों के ज्ञाता होने के कारण उन्होंने दोनों का सामंजस्य बैठाया है। वे हिन्दी के पूर्ण पक्ष-पाती थे, इसीलिये उर्दू छदों को भी उन्होंने हिन्दी प्रवृत्ति के अनुकूल बनाया है।

शब्द-शक्ति

प्रियप्रवास विप्रलभ श्रृंगार से ओत-प्रोत महाकाव्य है। इसमें भावपूर्ण तथा मार्मिक स्थलों का प्राचुर्य है। रस निर्वाह के लिए प्राय: वाच्यार्थ का सहारा लिया गया है। शब्दों के सुप्रयोग को ध्यान में रखकर वाच्यार्थ की जननी अभिधा के बल पर अनेकानेक रमणीय चित्र उपस्थित किये हैं, यथा–

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल-छल से लाल ले ले किसी का॥
पूंजी कोई जनम भर की गांठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का॥[3]

उक्त पद में अनेक दृष्टान्तों द्वारा यशोदा अपना वात्सल्य प्रकट करती हैं। जिस प्रकार वृद्ध की लाठी छिन जाने से वह बे-सहारा हो जाता है, उसी प्रकार वह मां भी पुत्ररत्न खोकर

---

१. डा० आशा गुप्ता, खड़ी बोली में अभिव्यंजना, पृष्ठ ३०३।
२. इन्दु, जुलाई १९१५, पृ० ३७।
३ हरिऔध प्रियप्रवास सर्ग १० पद ६७

निराश और अंकिचन हो गयी है। जनम भर की पूंजी गाँठ से छूट कर यदि गिर जाय, तो भला उस व्यक्ति की क्या दशा होगी ? वह तड़प-तड़प कर दिन बितायेगा। उसे एक पल भी चैन नहीं पड सकता। उसी प्रकार यशोदा के कृष्ण, उसके लिए जन्म भर की पूंजी हैं, और वह कृष्ण गोकुल से कस के बुलावा पर मथुरा गये है। यशोदा माता का हृदय तड़प रहा है। वह कृष्ण को देखने के लिए उनके दुख दर्द को जानने के लिए बेचैन है। सोने मे चमक है, वह वैभव का प्रतीक है किन्तु सोने के महल में भी रात के अंधकार मे एक मिट्टी के छोटे सलोने मधुर प्रकाश करने वाले दीपक की जरूरत होती है। उस दीपक के बिना सोने का महल उदास, निराश एवं अंधकार-मय लगता है। ठीक उसी प्रकार पुत्र रूपी दीपक के बिना यशोदा नन्द का सारा वैभव व्यर्थ लग रहा है।

इधर कृष्ण के वियोग से राधा का हाल बेहाल है। उन्हें कोई वस्तु अच्छी नही लगती। शीतल वायु बेधती है, पर पवन की व्यापकता देखकर वे, उसे दूती बनाकर कृष्ण के पास भेज देती हैं।सामान्य दूती कंस के कुशासन में पहुच भी कैसे सकेगी ? उसे रोक कर बन्दी बना लिया जायगा, पर हवा को कश भी नही रोक सकता। अस्तु पवन दूती बनाने में निःसंदेह कवि ने बुद्धि से काम लिया है। उस दूती से राधा जो मार्मिक संदेश भेजती है, वह भी पठनीय है—

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
तो पावों के निकट उसको श्याम के ला गिराना ।।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलिन औ सूखते नित्य जाना ।।
कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो।
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे ही ।।
धीरे-धीरे संभल रखना औ' उन्हें यों बताना।
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता-सा हमारा ।।[1]

ऊपर के अवतरण में वाच्यार्थ में प्रेषणीयता की पूरी शक्ति विद्यमान है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ मे ही मानते है। उनका मत है, "...प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किस में रहती है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ में या व्यंगार्थ में ? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ मे, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न ।"[2] यद्यपि प्रियप्रवास अभिधान काव्य है, फिर भी यत्र-तत्र लक्षणा-शक्ति के उदाहरण भी उसमें मिल जाते हैं, यथा :—

विवशता किससे अपनी कहूं,
जननि ! क्यों न बनूं बहु-कातरा।
प्रबल हिंसक-जतु-समूह मे,
विवश हो मृग-शावक है चला ।।[3]

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग ६, पद ७५–७६।
२ आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ १९६।
३ प्रियप्रवास सर्ग ३, पद ६९

यशोदा अपनी व्यथा को मन मसोसकर सह रही है कंस और उसके संगी साथियों का नामोल्लेख न करके 'प्रबल हिंसक-जन्तु-समूह' के लक्ष्यार्थ से उसे ध्वनित करती है और 'मृग-शावक' के रूप में श्रीकृष्ण का आरोप्यमान कथन है। कंस और हिंसक जंतु में गुण और धर्म की समानता है, अस्तु, यहां गौणी लक्षणा है। आरोप के विषय का कथन न होने से 'साध्य वसाना' है। हिंसक जंतु एवं मृगशावक क्रम से अपना मुख्यार्थ छोड़कर अन्य अर्थ में संक्रमित कर जाते हैं, इसलिए लक्षण-लक्षणा है।[1] इसी प्रकार प्रियप्रवास में शुद्धा-लक्षण, सारोपा, प्रयोजनवती लक्षणा, लक्षण-लक्षणा और रूढ़िलक्षणा के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं।

हरिऔधजी के स्फुट काव्य का अभिव्यंजना पक्ष

हरिऔधजी का काव्य विस्तृत, विविध एवं एक दूसरे से इतना अंतर देकर खड़ा है कि उसे एक जगह रखने पर पाठकों के मन में संदेह उत्पन्न हो जाता है कि क्या यह सब एक ही कृती की कृतियां है? संक्षेप में हम कहना यह चाहते हैं कि प्रियप्रवास की भाषा और उनके फुटकर पदों, रचनाओं की अभिव्यंजना-प्रणाली में बहुत अंतर है, अतएव उसे अलग से समझना होगा और ठेठ हिन्दी तथा संस्कृत पदावली का अन्तर भी तभी स्पष्ट होगा।

भाषा :

'शब्द, काव्य-रचना[1] व्याकरणादि: जिस समय उपाध्यायजी अपने महाकाव्य प्रियप्रवास के निर्माण में व्यस्त थे, उस समय भी बीच-बीच में उनकी कर्मवीर, प्रभुप्रताप और विद्या (१९०७ ई०), धर्मवीर, रुक्मिणी संदेश, चित्तौड़ की शारद रजनी तथा राज प्रशंसा (१९१२ ई०) आदि रचनायें सरस्वती, मर्यादा आदि पत्रिकाओं में बराबर प्रकाशित हो रही थीं। इन रचनाओं की भाषा प्रियप्रवास की भाषा से भिन्न, हिन्दी की प्रकृति के अधिक निकट, साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित हो रही थी।

प्रियप्रवास अपने समय का खड़ी बोली हिन्दी का प्रथम महाकाव्य था, जो शैली तथा वर्ण्य-वस्तु के अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उसमें प्रयुक्त संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ठ भाषा की बड़ी आलोचनाएं हुईं। इसका एक उदाहरण लीजिए, "जहां संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग छन्दों के आग्रहवश किया जाता है, वहां भाषा समासबद्ध क्लिष्ट संस्कृत के शब्दों से अवश्य बोझिल हो गयी है और खड़ीबोली वहां खो-सी गयी है। जब कोई भाषा अन्य भाषा पर अधिक अवलम्बित हो जाती है, तब उसका प्रकृति-रूप तो छिप ही जाता है, उसका स्वाभाविक विकास भी रुक जाता है"[2]

सुप्रसिद्ध आलोचक मिश्र बन्धुओं ने तो यहां तक कह डाला, "एक तो खड़ीबोली में बिना खास प्रयत्न के श्रुति-कटुत्व आ ही जाता है और दूसरे ये लोग संस्कृत शब्दावली के अनुरागी होने से और भी सम्मिलित वर्णों की भरमार रखते हैं, जिससे खड़ीबोली के छन्दों में श्रुति माधुर्य का लोप हुआ जाता है।"[3]

---

१. डा० आशा गुप्ता, खड़ी बोली में अभिव्यंजना, पृ० ३०१।
२ मर्यादा मई सन १९१२ पृष्ट 'समालोचक'।
३ प० शुकदेव विहारी मिश्र पुष्पांजलि, प्रथम भाग १९१५ ई० पृ० ३६२ ६३

कहा जाता है कि हरिऔध जी के एक मौलवी मित्र जो उर्दू और फारसी के पण्डित थे, जब कभी उनसे मिलते, हिन्दी की कड़ी टीका-टिप्पणी करते और हिन्दी मे चुलबुलेपन की कमी बताते। इन आलोचनाओं का हरिऔध जी पर काफी असर पड़ा। इससे प्रभावित होकर उन्होंने जन साहित्य के लिए सरल, मुहावरेदार भाषा मे विचार व्यक्त करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार प्रियप्रवास के प्रणयन के बाद की प्रायः सभी रचनाओं में भाषा की सुबोधता आयी। बोल-चाल प्रधान भाषा में मुहावरों से सजीवता और चुस्ती आयी। यहाँ तक कि कवि ने बाल, सिर और सेहरा, माथा, तिलक और आंसू आदि को इस प्रकार पद्यबद्ध किया कि बोलचाल में प्रयुक्त तत्सम्बन्धी सब मुहावरे आ गये हैं।

सन् १९२० ई० तक प्रकाशित प्रकीर्णक-काव्य में हम दो प्रकार की भाषा का प्रयोग पाते हैं। पौराणिक विषय, प्रकृति एवं चरित्र-चित्रण आदि प्रसगों के वर्णन में खड़ीबोली का शुद्ध, साहित्यिक एवं निखरा रूप दृष्टिगत होता है। तथा देश, समाज, जाति आदि से सम्बद्ध भिन्न विषयों पर रचना करते समय कवि मुहावरेदार भाषा में मीठी चुटकियाँ लेता दृष्टिगत होता है। खड़ीबोली के शुद्ध स्वरूप पर कवि का व्रजभाषा माधुर्य-सम्मोहन बराबर बना रहा, इसलिए एक ओर तत्सम-प्रधान खड़ीबोली में 'परब', देस, ईस, जामिनी, परस, दसा, जवानतन, आसा, बिथा, बिवस, भरम, सदन, नसा, सोग, सुकीरत, अगिन, लदना, लौ, कढ़े, नखत, छन जैसे संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप मिलते है और दूसरी ओर जनप्रचलित बोलचाल की भाषा मे कमाल, बेवा, आबाद बरबाद, आबरू, बेगुनाह, रंज, नापाक, जवानी, अजब, हमदर्द, चन्द, सितम, अरमान, नागहानी, बदनाम जैसे आमफहम उर्दू शब्दों की बानगी मिलती है। साहित्यिक भाषा में कवि का झुकाव जिस प्रकार तत्सम शब्दों के बाहुल्य और समस्त पदावली की ओर दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार द्विपदों, चौपदों, छपदों आदि की भाषा में तद्भव शब्दों तथा समासहीन पदावली का प्राधान्य मिलता है। दोनों प्रकार की भाषा का एक-एक उदाहरण लेकर इस अन्तर को भली भांति समझा जा सकता है—

१— विविध कौतुक-केलि-कलावती
मुद निकेत महोत्सव-मोदिता :
बहु विनोदपगी जनतामयी,
रमणि-कान्त-अलाप-विभूषिता । (संस्कृत प्रधान)
अतुल—मंजुल-भाव - विबोधिनी,
अति अलौकिक गौरव अंकिता- (समस्त पदावली)
दशहरा अवनीतल में लसी ।
सरसता शुचिता-समलंकृता ॥"[2]

१—पालने वाला धरम का है कहाता धर्मवीर। (बोलचाल की
सब लकीरों में उसी कवि की बड़ी सुन्दर लकीर। भाषा तद्भवप्रधान)

---

१ खड़ीबोली में अभिव्यंजनावाद पृ० ३०८।
२ मर्यादा सन् १९१२ ई० भाग ४ संख्या ५ ६

है सुर रत्नो से भरी संसार में उसकी कुटीर ।
वह अलग करके दिखाता है जगत को छीर-नीर।
है उसी से आज तक मरजाद की सीमा बची ।
सीढ़ियाँ सुख की उसी के हाथ की ही हैं रची ।।[1]

यहां कुटीर शब्द को स्त्रीलिंग में रखकर हरिऔध जी ने भाषा सम्बन्धी भूल की है कुटीर पुल्लिग शब्द है । उसे स्त्रीलिंग बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी, एक प्रश्न है। यहाँ 'आंख का आंसू' में से उर्दू-प्रधान भाषा का भी एक उदाहरण लेना तुलनात्मक दृष्टि से आवश्यक होगा

हम कहेंगे, औ कहेगे यह सभी,
आंख के आसू न ये होते अगर,
बावले हम हो गए होते कभी,
सैकड़ों टुकड़े हुआ होता जिगर । (उर्दू प्रधान भाषा)
है सगों पर रंग का इतना असर,
जब कड़े सदमें कलेजे ने सहे,
सब तरह का भेद अपना भूलकर,
आंख के आंसू लहू बनकर बहे ।।

साधारणत: शब्द-विकृति से दोनों प्रकार की भाषाएं मुक्त है । हाँ, संस्कृतनिष्ठ-खड़ीबोली में उर्दू, व्रजभाषा अथवा ठेठ बोलचाल के शब्द जब कभी मिलते हैं, अवश्य खटकते हैं । उपाध्याय जी ने छद या लय के आग्रह से कहीं-कहीं शब्दों की मात्राओं को घटा-बढ़ा दिया है, जिससे शब्द विकृत हो गया है और व्याकरण दोषयुक्त बन गया है । कुछ पंक्तियां देखिए—

यह लगे उनके लिए करने यतन,
आज भी साहस है इनका वैसही ।[2] (वैसा ही)

* * *

हैं बहुत गहरे धरम के भाव सब,
उठ गया है संसकीरत का चलन ।[3] (संस्कृत)

* * *

देवतों के ध्यान में भी जो नहीं आता कभी ।[4] (देवताओं)

उक्त सामान्य त्रुटियों के बावजूद उनकी भाषा में सजीवता एवं मार्मिकता सर्वत्र विद्यमान है । शब्द-योजना विषयानुकूल है । वाक्य-रचना में कसावट और अभिव्यक्ति में नया पन है । उपाध्याय जी की भाषा के विविध स्वरूपों को देखकर एक विद्वान ने लिखा है, 'सब प्रकार की भाषा पर इनका सर्वाधिकार देखकर दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है ।...भाषा इनके हाथ की कठपुतली मालूम होती है । वह जो नाच उसे नचाना चाहते हैं वह नाच भाषा बड़े नाज और अदा के

१. मर्यादा, सन् १९१२ भाग १, संख्या ३ ।
२. प्रेम-पुष्पोहार, सन् १९०४ ई० में प्रकाशित, नागरी प्रचारिणी सभा-काशी ।
३. सरस्वती. १९०७. भाग ८. संख्या ५ ।
४ वही

साथ नाचती है।...सरल से सरल और क्लिष्ट से क्लिष्ट भाषा लिखने में वे सिद्धहस्त है। देखो लड़को बन्दर आया, एक मदारी उसको लाया' 'से लेकर 'रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।' 'सरीखी भाषा लिखना हरिऔध जी का ही काम है।'[1] सचमुच प्रसंगानुकूल भाषा लिखने में उपाध्यायजी परम पटु हैं। उक्ति में वैचित्र्य अथवा गाम्भीर्य लाने के लिए कहीं छोटे-छोटे प्रसादपूर्ण सरल वाक्य है, तो कहीं मिश्रित वाक्य, किन्तु भाषा में प्रवाह, सहजता एवं प्रसाद गुण का ठाट सर्वत्र सुलभ है।

लोकोक्ति-मुहावरे

आधुनिक हिन्दी कवियों में हरिऔध जी मुहावरे दानी के क्षेत्र में अपना सानी नहीं रखते। देश की गरीबी पर आंसू बहाने, समाज पर फबतियां कसने, जाति के सुधारकों को दाद देने, कपूतों पर बौछार करने और भारतीय नारी की सामाजिक दुर्दशा प्रकट करने के लिए, इस कवि ने मुहावरों के प्रयोग से भाषा को शक्तिशाली बना दिया है। हँसाने, रुलाने, फड़काने, तड़पाने और खून खौलाने, के प्रसंगों की अवतारणा में मुहावरे बड़े सहायक सिद्ध हुये है। कर्मवीर, धर्मवीर, उर्मिला, दिल के फफोले, दीन की आह, दुखिया के आंसू, मतलब की दुनिया, दिल टटोला, नोक-झोंक, जी की कचट, बेवायें, बेटियां, चेतावनी, सच्चे काम करने वाले आदि शीर्षक की फुटकर कविताओं की भाषा में वाग्वैदग्ध्य एवं जीवंत प्रवाह और प्रासादिकता द्रष्टव्य है—

> काम क्या निकला हुए बदनाम भर,
> जो नहीं होना था वह भी हो लिया।
> हाथ से अपना कलेजा थामकर,
> आँसुओं से मुँह भले ही धो लिया॥[2]

इसके अतिरिक्त बाल, सिर और सेहरा, मात्रा, तिलक, टीका आदि कविताओं में विषय से सम्बन्ध रखने वाले मुहावरे पद्यबद्ध किए गए है। इन्हें देखकर लगता है मानो ये रचनाएं मुहावरों की शिक्षा हेतु रची गयी थीं, अन्यभाव तो प्रयोजनवश आ गए हैं. किन्तु साध्य होने पर भी मुहावरों की सजीवता और मार्मिकता में किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ी है। अधिकांश प्रयोग सुष्ठु, सुन्दर तथा चित्ताकर्षक हैं। उनमें उक्ति वैचित्र्य एवं अर्थ गाम्भीर्य भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।

अलंकार-योजना

अपने फुटकल काव्य में अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से कवि को दो प्रकार की रुचि दृष्टिगत होती है। पौराणिक प्रसंग अथवा उनकी परिचयात्मक रचनाओं पर रीतिकालीन आलंकारिक वृत्ति का प्रभाव है। जीवन-मुक्त, सती सीता, विद्या, मनोव्यथा, वेद हैं, कुलीनता, आर्यबाला, सुतबतीसी, शिशु स्नेह आदि पद्य अनुप्रास युक्त है। इनमें सादृश्य-विधायक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकार परंपरागत एवं रूढ़ हैं, जैसे—

---

१ हरिऔध अभिनन्दनोत्सव ग्रंथ पृष्ठ ४५४ आरा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित।
२ आस का आसू मर्यादा १९१२ ई० भाग १ संख्या ३

कालिका की कालिन्द नंदिनी है
पाप के पुंज की निकन्दिनी है। (अनुप्रास)
है कलित कंठ-कोकिला ऐसी,
गुणमयी है मरालिका जैसी ॥[1]

यहीं उपमा और रूपक अलंकार का भी एक एक उदाहरण देख लिया जाय ताकि अनुप्रास के साथ रखकर उनकी तुलना की जा सके—

कामधेनु-सी कामद उनकी रुचिर-कचा है,
उनका पूत प्रसंग निराली सुधा-सिंचा है।
वे हैं चिन्तामणि समान चिन्तित फल दाता (उपमा)
उनसे सब कुछ जगत कल्पतरु-सौ है पाता ॥[2]

जहां परस्पर प्रेम पताका नहीं फहराती,
वहां ध्वजा है कलह-कपट की नित फहराती। (रूपक)
प्रणय-कुसुम में कीट स्वार्थ का जहां समाया,
वहां हुई सुख और शांति की कलुषित काया ॥[3]

हरिऔधजी ने फुटकल काव्य के अन्तर्गत देश की तत्कालीन दशा का जीता जागता चित्र अंकित किया है। उनकी चोखी-चुभती उक्तियां, देशभक्ति, समाजोन्नति तथा जाति सेवा की भावना से ओत-प्रोत हैं। बोलचाल की खड़ी बोली के माध्यम से, जनसाधारण की भावनाओं को अभिव्यक्ति देने का उन्होंने स्तुत्य प्रयत्न किया है। मुहावरों, अलंकारों और सरस उद्गारों ने उनकी उक्तियों को विदग्धता एवं प्रगल्भता प्रदान कर दिया है। अलंकार उनकी भाषा में मात्र अलंकरण नहीं है, वरन वे वाग्वैदग्ध्य तथा अर्थ-गांभीर्य के लिए स्वाभाविकता का जामा पहनकर आए हैं। सादृश उपमान सुन्दर हों अथवा असुन्दर, प्रभावोत्पादकता ही उनका विशेष गुण बन गया है। कवि ने पाठक की चित्तवृत्ति को उद्बुद्ध करने के लिये विरोधमूलक अलंकारों का और अपने तर्क के समर्थन में लोक प्रसिद्ध उदाहरण, दृष्टान्त आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है। इन प्रयोगों से उक्तियों में इतना प्रखर दंश आ गया है कि पाठक इन्हें पढ़ते ही तड़प उठता है, यथा—

उपमा-श्लेष

जो बहक बेवा निकलने लग गई,
पड़ गया तो बछलियों का काल भी।
आबरू जैसा रतन जाता रहा,
खो गए कितने निराले लाल भी ॥

---

१. विद्या, सरस्वती, १९०७ ई०, भाग ८, संख्या ९।
२ वेद हैं सरस्वती १९१७ ई० भाग १८, संख्या ४।
३ रुक्मिणी संदेश मर्यादा १९११ ई० मई भाग २, संख्या ४।

उक्त पद में बेवा स्त्रियों के निकल जाने के दुष्परिणाम की ओर कवि ने लक्ष्य किया है उनके साथ ही अनेक पुत्र-रत्न भी खो जाते है, आबरू जैसा रत्न भी चला जाता है। कवि ने काव्य में प्रभावोत्पादकला का प्रवेश कराने के लिए अमूर्त भावों को मूर्तमत बनाया है। 'मानवी-करण' की इस रीति से उक्ति मे सौन्दर्य आ गया है, यथा :—

बार बार अपने उर को मथ कर अकुलाती,
अमित ताप परिताप भरी होठों पर आती।
फिर सहती अपमान शून्य में लय होती है,
दीन जनों की आह नहीं कुछ भी कर पाती ॥[1]

*   *   *

दिल टटोला उदारता का लिया,
रंगतें सारी दया की देख ली ।
साधुता के पेट की बातें सुनी,
मतलबों को साथ लेकर सब चलीं ॥[2]

उपर्युक्त उदाहरणों से कवि की क्षमता एवं रचना-चातुर्य, देश की सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिक दशा का आभास मिलता है। प्राचीन तथा नूतन उपमानों पर आधारित वाणी का ऐसा विलास विरले कवियों में मिलता है। हरिऔधजी प्रकृति से भीरु थे, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, इसी लिये वे विद्रोही भाव की कविताएँ नहीं कर सके। राष्ट्रीयता के प्रखर पोषक तत्वों से इनकी कविता कुछ सूनी-सूनी-सी लगती है, जो मैथिलीशरण गुप्त, पं० माखनलाल चतुर्वेदी और रामनरेश त्रिपाठी आदि द्विवेदी युगीन कवियों की वाणी में लहरें लेती चलती हैं। सामाजिक चेतना का सुधारवादी अनमोल पक्ष उपाध्याय जी की रचनाओं में पुष्ट एवं प्रबल है। हा, युग की राष्ट्रीयता और सामयिक मांग के प्रति उनकी उदासीनता अवश्य ही खटकती है।

शब्द-शक्ति

हरिऔध जी की भाषा में मुहावरेदानी का अद्‌भुत ठाट है। सामाजिक बुराइयों पर कटाक्ष करने और अभावों की ओर ध्यान आकृष्ट करने के अनेक सद्प्रयत्नों ने काव्य में लक्षणा और व्यंजनाशक्तियों का वैचित्र्य भर दिया है। दिन प्रतिदिन बोल-चाल में आने वाले मुहावरों से रूढ़ि लक्षणा के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्ति वाग्वैदग्ध्य बनाए रखने के लिए कवि ने चेष्टापूर्वक विलक्षण रीति से भाव नियोजित किए हैं। अतएव लक्षणा के बहुत प्रकार इनकी कविता में उपलब्ध हो जाते हैं। उद्यमी-पुरुषार्थी मनुष्य की परिभाषा करते हुए हरिऔध जी लिखते हैं :—

जो सदुद्यम का मरम हैं जानते, टूटता जिनका नहीं साहस कभी,
जो न इतना भाग को हैं मानते, कर दिखाते हैं वही कारज सभी।

---

१. दीन की आह, मर्यादा, १९१५ ई०, जून—जुलाई, भाग ९, संख्या ३।
२ मतलब की दुनिया सरस्वती १९१३, भाग १७, संख्या २।

ऊसरों में वह खिलाते हैं कमल, फूल होता है कुलिश उनके लिए,
आपदा उनकी सभी जाती है टल, कितने ही उनके जिलाये है जिए ॥[1]

'ऊसरों में कमल' नही खिल सकते, इसी प्रकार कुलिश को 'फूल' नहीं समझा जा सकता है। यहाँ मुख्यार्थ की बाधा है। कवि का उद्देश्य यहाँ असम्भव कार्य को सम्भव बनाने वाली शक्ति की ओर लक्ष्य करना है। पद यहाँ अपना वाच्यार्थ छोड़कर अन्य अर्थ ग्रहण करता है, इसलिए यहाँ पर लक्षण-लक्षणा है। लगभग ऐसी ही कार्यक्षमता-शक्ति कवि ने धर्मवीर में भी देखी है—

ये चुड़ैलें चाह की उसको नहीं सकती सता,
प्यार वह निज वासनाओं से नहीं सकता जता।
मोह की जी में नहीं उसके उमड़ती है लता,
है कलेजे में न कोई का कहीं मिलता पता।
रोसकी जी में कभी उठती नहीं उसके लपट,
छल नहीं करता किसी से वह नही करता कपट ॥[2]

'चाह' पर 'चुड़लों' का तथा 'मोह' पर 'लता' के आरोप में गुण-धर्म-साम्य में उपमेय और उपमान का पृथक-पृथक कथन होने से गौणी लक्षणा है। 'चुड़ैल' एवं 'लता' के मुख्यार्थका ह्रास होने पर भी तत्सम्बद्ध 'दुष्टा' तथा 'सर्वत्र' छा जाना दोनों अर्थ निकलते है, अत: यहां उपादान मूला लक्षणा हुई। कवि दोनों की अनिष्टकारी शक्तियाँ बताना चाहता है, इसलिए प्रयोजनवती लक्षणा भी विद्यमान है। मुहावरो के चमत्कार में लक्षणा का ही अधिवास रहता है जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है। हरिऔध के काव्य-कौशल का एक नमूना देखिए—

आप ही जब कि तन गए मुझसे,
तब भला किस तरह भवें न तनें,
जब हुई लाल-लाल आँखें तब,
गाल कैसे न लाल-लाल बनें ।[3]

तन जाना, भवें तनना, आँखें लाल होना, गाल लाल होना क्रमश: ऐंठ जाना, क्रुद्ध होना तथा लज्जित होना अर्थ देते हैं। ऐसी अनेक उक्तियों में मीठी चुटकी के साथ-साथ भाषा का चमत्कार भी पर्याप्त मात्रा में भरा हुआ है। कवि की यह चमत्कारपूर्ण वाणी लक्षणा की सहायता से अतर्गूढ़ भाव की सरसता से पाठक का हृदय आह्लादित करती है

काव्य-गुण

उपाध्यायजी की इन प्रकीर्णक रचनाओं का सबसे बड़ा गुण इनका प्रसादत्व है। दुरूह से दुरूह विचार जन-सामान्य के बोध के लिए सरल एवं सजीव भाषा में प्रस्तुत किए गए हैं,

---

१. प्रेम पुष्पोहार, नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित।
२ धर्मवीर मर्यादा- सं० १९६८- भाग १—सं० ३।
३ नोक झोंक प्रतिभा, सम्वत् १९७७ भाग ४ संख्या १० ।

कदाचित् इसीलिए कवि द्विवेदी कालीन उपदेशात्मक प्रवृत्ति को इतने सुन्दर रूप में अभिव्यक्त कर पाया है। उसने सामाजिक दुर्दशा को प्रकट करने वाली करारी से करारी और तीखी से तीखी उक्ति को ग्राह्य बनाने के लिए अन्योक्ति का सहारा लेकर उसमें माधुर्य सन्निविष्ट करने का सफल प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप मार्मिक आघात करके भी ये उक्तियाँ बाह्य रूप से सरस एवं मधुर ही बनी रहीं। इनमें काव्य के सभी गुण मिल जाते है। प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुण से सम्बन्धित एक एक उदाहरण लीजिए—

प्रसाद गुण

वह भला है, यह बुरा है, वह समझता है सभी,
भूसियों में, छोड़कर चावल नहीं फँसता कभी।
जब ठिकाना है पहुँचता मोद पाता है तभी,
बात थोथी है नहीं मुँह से निकलती एक भी।
है जहाँ पर चूक उसकी आंख पड़ती है वहीं,
जड़ पकड़ता है, उलझता पत्तियों में वह नहीं॥[1]

माधुर्य गुण

न तब भी किसी ने गले आ लगाया,
न पोंछा सलिल जो दृगों ने बहाया।
न कर तक उसे बाँधने को बढ़ाया,
दिखाई पड़ी तक किसी की न छाया।
न सोचा किसी ने कभी आंख भर,
गई बीत क्या इस सरल बालिका पर॥[2]

उपेक्षिता उर्मिला की दशा पर उपाध्यायजी ने बोल चाल की भाषा में प्रकाश डाला है। आदि से अन्त तक उर्मिला को आँसू बहाने पड़े है। इस चित्र को मीठी शब्दावली में सीधे-सादे ढंग से रखकर कवि ने माधुर्य गुण की सटीक अवतारणा की है।

ओज गुण

तोपों का लख अग्निकाण्ड आकुल न दिखाना,
न कांपना लख सिर पर से गोलों का जाना।
भिड़ना मत्त गयंद संग केहरि से लड़ना,
कर द्वारा अति क्रुद्ध व्याल को दौड़ पकड़ना।
लख काल वदन विकराल भी त्याग देना न धीरता,
अकेले भिड़ना भट विपुल से यद्यपि है बड़ी वीरता।[3]

---

१. धर्मवीर, मर्यादा, सं० १९६८, भाग १, संख्या ३।
२ उर्मिला सरस्वती १९१४ ई० भाग १५ संख्या ६
३ वीरवर सौमित्र मर्यादा १९१४ ई० भाग ८, संख्या १।

प्रस्तुत काव्य के संक्षिप्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हरिऔधजी खड़ी बोली के पोषक, संरक्षक एवं संवर्द्धक के रूप में काव्य-क्षेत्र में आए। हिन्दी विरोधी, जिस समय, खड़ीबोली मे सरसता के अभाव की दुहाई देकर इसका मजाक उड़ाते थे, उस समय उन्होंने इसकी श्रीवृद्धि की।[1] उन्होंने खड़ीबोली को प्रथम महाकाव्य देकर उसकी कर्कशता एवं न्यूनता को दूर करके जनता के सामने बोलचाल की सरल भाषा का आदर्श उदाहरण रखा। उन्होंने विद्वानों के लिए तत्सम, प्रसाद, ओजपूर्ण भाषा शैली में पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन किया तो दूसरी ओर मुहावरेदार सरस तथा सजीव भाषा का उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने भाषा सम्बन्धी विविध प्रयोग किए। खड़ीबोली कविता की रूप-रेखा को परिष्कृत, परिवर्द्धित और प्रशस्त करने वालों मे हरिऔध जी का नाम प्रथम पंक्ति में लिखा जायगा और उसमें उनका स्थान आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद निश्चित ही प्रथम होगा।[2]

मैथिलीशरण गुप्त

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की छत्र-छाया मे जिन कवियों की काव्य-प्रतिभा को प्रोत्साहन एवं विकास के लिए अवसर मिला उनमें मैथिलीशरण गुप्त का नाम सबसे प्रमुख है। गुप्त जी ने सन् १९०४–५ में सरस्वती मे प्रकाशनार्थ एक छोटी सी रचना भेजी थी। सम्पादक द्विवेदीजी ने कुछ निर्देशों के साथ कविता लेखक के पास भेज दी। यही संशोधित कविता 'हेमन्त' नाम से सरस्वती जनवरी १९०५ में प्रकाशित हुई। यही गुप्त जी की सर्व प्रथम खड़ीबोली की रचना मानी जाती है। इसकी चार पंक्तियाँ देखिए—

"ओढ़ें दुशाले अति उष्ण अंग,
धारें गरू वस्त्र हिए उमंग।
तो भी करे हैं सब लोग सी सी,
हेमन्त में हाय कँपती बत्तीसी।"[3]

यह तो गुप्त जी की कविता का मूल रूप है, परन्तु द्विवेदी जी के संशोधित रूप को भी देखें—

अच्छे दुशाले, सित पीत, काले,
है ओढ़ते, जो बहुवित्त वाले।
तो भी नहीं बंद अमन्द सी-सी,
हेमन्त में है कँपती बत्तीसी।[4]

इस रचना के प्रकाशित होने के बाद सरस्वती के सम्पादक और कवि मैथिलीशरण गुप्त में वर्षों तक पत्र-व्यवहार होता रहा। द्विवेदीजी को जब किसी विशेष विषय पर खड़ीबोली मे कविता लिखानी होती तो गुप्त जी ही आगे आते। द्विवेदी जी की भाषा-सम्बन्धी मान्यताओं को

---

१ हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ पृ० ४

ध्यान में रखकर अपेक्षित विषय को गुप्त जी छन्दबद्ध कर देते थे। इस अनुशासनबद्धता का एक सुफल यह निकला कि कवि की भाषा धीरे-धीरे परिमार्जित होने लगी और कालान्तर में वह एक प्रौढ़ भाषा का स्वरूप धारण कर गयी।

भाषा ही वह साधन है, जिसके द्वारा काव्याभिव्यक्ति संभव और सम्पन्न होती है। अभ्यास से उसे भाव-प्रेरणा समर्थ भी बनाया जाता है। कवि की अनुभूतियाँ जितनी सुगठित होंगी, भाषा उतनी ही मूर्तिमती होगी। भाषा पर जहाँ कवि का पूर्ण अधिकार अपेक्षित होता है, वहाँ स्वयं भाषा की समृद्धि आवश्यक समझी जाती है। गुप्त जी ने खड़ीबोली को काव्योपयोगी भाषा के रूप में विकसित करने का ऐतिहासिक कार्य किया है। स्पष्ट है कि उन्हें समृद्ध भाषा और विकासशील परम्परा उपलब्ध नहीं हुई थी। उन्हें स्वयं अपनी काव्योचित पदावली का निर्माण करना पड़ा। उसे शुद्ध, परिष्कृत तथा शक्ति सम्पन्न बनाने में इन्हें पर्याप्त श्रम उठाना पड़ा। अतएव यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि गुप्तजी ने अपनी कृतियों द्वारा काव्य-भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की, किसी समृद्ध भाषा को परिमार्जित नहीं किया। उन्हें इस क्षेत्र में प्रवर्तक का कार्य करना पड़ा।[1]

गुप्त जी की भाषा का विकास क्रमशः हुआ है। साकेत की रचना से पूर्व की भाषा शुद्ध व्यावहारिक है उसमें यथा तथ्यता का गुण विद्यमान है। किन्तु साकेत, यशोधरा और द्वापर की काव्य भाषा वैभवपूर्ण है। उसमें लाक्षणिकता, चित्रोपमयता, पदसौष्ठव तथा प्रयोग-कौशल स्पष्ट झलकता है। इन काव्य कृतियों में गुप्त जी की पदावली का प्रौढ़ और परिष्कृत स्वरूप उपलब्ध होता है। परवर्ती काव्य की पदावली में संयम की प्रवृत्ति बढ़ गयी है। अतएव उसमें वाग्वैभव और प्रसाधन की न्यूनता दृष्टिगत होती है। कवि भ व गाम्भीर्य और द [illegible] मन्तव्यों को [illegible] सरल और साधुपदावली में प्रयुक्त करने लगा है। गुप्त जी ने प्रकृति से [illegible] की अपेक्षा विवरणात्मक व्यास शैली को ही मुख्यतः व्यवहृत किया है। आशय यह है कि गुप्त जी की आरम्भिक पदावली में शुद्धता और यथातथ्यता का आग्रह है। उत्कर्षकाल की पदावली में शक्ति और सौन्दर्य का अर्जन हुआ है। परवर्ती काव्य की पदावली में गाम्भीर्य और आर्जवका विधान किया गया है। वह मुख्यतः साधु और सरल तथा स्पष्ट और साभिप्राय है। भावाभिव्यक्ति के कार्य में वह प्रायः सक्षम है और सार्थक दिखायी पड़ती है।

संस्कृत प्रयोग

गुप्त जी की काव्य भाषा यद्यपि खड़ीबोली है, पर वह बोलचाल की आम फहम भाषा नहीं है। संस्कृत के शब्द-कोश की सहायता से उन्होंने अपनी भाषा को काव्योपयोगी बनाया है। निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

> भूलोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ ?[2]
> फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
> सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
> उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।।3

1 डा० कमलाकान्त पाठक मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य पृ० ६७१

प्रान्तीय शब्द प्रयोग

गुप्त जी ने प्रभाववृद्धि के उद्देश्य से अपनी पदावली में जहाँ तहाँ प्रान्तीय शब्दों के प्रयोग भी किये हैं, जैसे बिरछे झीमना, रई रत्तो, ताई तर्ती, बन्नी बन्ना आदि बुन्देलखण्डी प्रयोग आये हैं। प्रान्तीय प्रयोगों से भाषा में आंचलिकता का बोध जहाँ बढ़ता है, वहीं उसका व्यापक स्वरूप घटता है। गुप्त जी ऐसे राष्ट्र कवि के लिए निश्चय ही अधिक व्यापक राष्ट्रीय स्तर पर भाषा का निर्माण करना था। उसमें जहां कहीं भी त्रुटि है, उसे स्वीकार करना ही श्रेयस्कर होगा।

शुद्धि

डा० नगेन्द्र का कथन है, 'गुप्त जी व्याकरण की दृष्टि से गद्य और पद्य की भाषा में भेद नहीं करते।'[1] वस्तुतः कवि को खड़ी बोली के मर्म का उसकी प्रवृत्ति और गति का सम्यक ज्ञान था इसीलिए उसकी भाषा सर्वत्र व्याकरण सम्मत है। जहाँ कोई गड़बड़ी दिखायी पड़ती है वह प्रायः संस्कृत के व्याकरण से बाधित होने के कारण, यथाः-

१—'मेरी देवता भी और ऊँचो उठे मेरे साथ।' (नहुष) यहां देवता का प्रयोग स्त्रीलिंग में संस्कृत के अनुसार होने के कारण हुआ है। इसी प्रकार अन्य एक दो उदाहरण और देखिए—

२—'शरण किसे छलता है।' (साकेत)

३—'जैसा वायु बहा वैसा ही।' (झंकार)

गुप्त जी परम्परावादी कवि थे। उन्होंने अपने गुरुजनों से जो कुछ सीखा, उसे सहर्ष स्वीकार किया। इसका एक उदाहरण यह है कि असमर्थ एवं अनुपयुक्त क्रियाओं के प्रयोग पर द्विवेदी जी ने गुप्त जी को खूब फटकार पिलायी थी, परन्तु गुप्त जी ने द्विवेदी जी के सुझावों को मानकर अपना परिष्कार किया, साथ साथ हिन्दी को भी गौरवान्वित किया। उदाहरणार्थ उनके क्रोधाष्टक के निम्नलिखित पद्य देखें—

> होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया।
> जानें न वे तनिक भी अपना पराया।
> होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी।
> रे क्रोध, जो जन करें तुझको कदापि।

उपर्युक्त पद की क्रियाओं को पढ़कर ऐसा लगता है मानो गुप्त जी क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं। इसलिए द्विवेदी जी ने इसका संस्कार करके इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया—

> होती तुरत उनकी दलहीन काया,
> वे जानते न कुछ भी अपना पराया।
> होते अचेत वरबुद्धि-विहीन पापी,
> रे क्रोध! जो जन तुझे करते कदापि ।।2

ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द तक आचार्य द्विवेदी कृत संशोधन के पश्चात

---

१. डा० नगेन्द्र, साकेतः एक अध्ययन।

२ पद्य प्रबन्ध पृ० ८९

प्रकाशन का यही क्रम चलता रहा। सन् १९०९ ई० में मैथिलीशरण गुप्त की प्रथम पुस्तिका 'रंग में भंग' प्रकाशित हुई। भाषा अब पूर्वापेक्षा सुधर चुकी थी, इसका प्रमाण 'रंग में भंग' की भाषा की कोषाष्टक आदि की पूर्वोद्धृत भाषा से तुलना करने पर स्पष्ट हो जायगा —

लोक शिक्षा के लिये अवतार जिसने था लिया,
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका सर्व मंगल धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है ॥[1]

उक्त पद की भाषा पूर्णतः निर्दोष तो नहीं है, पर पहले के उदाहरण से यह अवश्य ही परिमार्जित एवं प्रवाहमय है। 'रंग में भंग' की भाषा में भी एक ओर 'अपारार्णव', 'वीरोचित', त्वेष, 'मातृ-भूमि तिरस्क्रिया' आदि दुष्पाच्य संस्कृत-शब्द है तो दूसरी ओर ठौर, नेह, गेह, निहोर, निहोर के, निरा, अंखियाँ दीजै, थिरता आदि ऐसे ब्रजभाषा तथा देशज शब्द हैं जो खड़ीबोली के लिए त्याज्य हैं।[2]

इसके एक वर्ष बाद 'जयद्रथ वध' प्रकाशित हुआ। उसमें खड़ीबोली भाषा का वास्तविक रूप दिखायी पड़ा। जयद्रथ वध की भाषा में ओज की मात्रा भी भरपूर है। इसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

अपराध सौ-सौ सर्वदा जिसके क्षमा करते रहे।
हंस कर सदा सस्नेह जिसके हृदय को हरते रहे।
हा, आज उस मुझ किंकरी को कौन से अपराध में।
हे नाथ तजते हो यहाँ तुम शोक-सिन्धु अगाध में ?[3]

उपर्युक्त पद्य में न तो संस्कृत के सन्धि—समासयुक्त शब्दों की भरमार है, न अनगढ़ देशज शब्दों की भरमार या उर्दू की मुहावरेदानी। भाषा की सरलता सुबोधता और स्वच्छन्दता 'भारत-भारती' में और भी निखरी है। उदाहरणार्थ देखिए—

उन पूर्वजों की कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है,
गाते नहीं उनके हमीं गुण गा रहा संसार है।
वे धर्म पर करते निछावर तृण-समान शरीर थे,
उन से वही गम्भीर थे, वर वीर थे, ध्रुवधीर थे ॥[4]

उक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि गुप्त जी ने 'भारत भारती' तक पहुंचते पहुंचते खड़ी बोली का सहज स्वरूप ग्रहण कर लिया था। हाँ इसमें भी कहीं कहीं किन्हीं स्थलों पर अपवाद रूप में संस्कृत के अप्रचलित पंडिताऊ प्रयोग आये हैं। वास्तव में गुप्त जी की भाषा क्रमशः

---

१. गुप्त जी, 'रंग में भंग' पृ० ५।
२. डा० उमाकान्त मैथिली शरण गुप्त, कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता पृ० २९२।
३. गुप्त जी, जयद्रथ वध, सत्ताइसवाँ संस्करण, पृ० २२।
४. वही भारत भारती १८ वा संस्करण पृ० ५

विकसित होती गई है । उस विकास-पथ के कई संस्थान हैं [1] उनकी सम्पूर्ण भाषा को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. आरम्भिक काल—रंग में भंग से पंचवटी तक

२. मध्य काल—पंचवटी से साकेत तथा यशोधरा तक ।

३. उत्तर काल—साकेत, यशोधरा के पश्चात की भाषा ।

आरम्भिक काल उनकी भाषा का प्रयोगकाल है । मध्यकाल उसकी दीप्ति और समृद्धि का समय है और उत्तर काल में वह प्रौढ़ता को प्राप्त हुई है ।[2]

डा० उमाकान्त के वर्गीकरण को यथारूप स्वीकार करना जरा मुश्किल है । हमारा विश्वास है कि पंचवटी ही गुप्त जी की भाषा का श्रेष्ठ उदाहरण है । उसके प्रारम्भ में प्रकृति वर्णन के जो अंश हैं, वे गुप्त जी के गौरव को बढ़ाने वाले हैं । सच पूछा जाय तो उस प्रकृति वर्णन में कवि की आत्मा खूब रमी है । उसके सामने साकेत, द्वापर, यशोधरा और नहुष की भाषा कृत्रिम लगती हैं । जहां तक सम्पूर्ण काव्य-वैभव का प्रश्न है, पंचवटी को मैं साकेत या यशोधरा के सम्मुख नही रख रहा हूं । मुझे केवल प्रकृत स्वरूपा सरल भाषा की दृष्टि से ही पंचवटी की वकालत करनी है । महाकाव्य के सम्पूर्ण परिवेश में साकेत के मूल्य को कोई भी अस्वीकार नही कर सकता । यही यह भी संकेत करना होगा कि सिद्धराज अथवा उसके बाद की कृतियों मे गुप्त जी की भाषा का शैथिल्य ही नजर आता है । यशोधरा और साकेत की मार्मिक कथा तथा उसके संवाद एवं विस्तृत भूमिका ने उन्हें उच्च स्थान प्रदान किया है । यही इस सम्बन्ध में डा० रामरतन भटनागर का एक कथन द्रष्टव्य है—

'१९०१ ई० से पहले गुप्त जी का खड़ीबोली का प्रयोग बडा अटपटा था । दूसरे दशक के अन्त तक वह स्वाभाविक भूमिपर प्रतिष्ठित हो चुका था । 'पंचवटी' (१९२५ ई०) भाषा शैली और छन्द निर्वाह की दृष्टि से इस युग की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचना है । इसके बाद भाषा मे तो विशेष अंतर नही पड़ा, परन्तु रचनाओं में साहित्यिकता की मात्रा बढ़ गयी और भाषा शैली के कलात्मक प्रयोग होने लगे ।"[3]

पंचवटी का प्रथम पद द्रष्टव्य है—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही है जल थल में
स्वच्छ चांदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बर तल में

एक बात और; गुप्त जी काव्य में संवाद लेखक के रूप में सिद्धहस्त हैं । साकेत, यशोधरा आदि में यह संवाद प्रक्रिया पंचवटी से अधिक व्यवस्थित है । साकेत आदि प्रबन्ध काव्यों पर अध्याय ९ में विस्तार से प्रकाश डाला जायगा, इसलिए यहां उनका नामोल्लेख ही पर्याप्त है ।

१-२. डा० उमाकान्त, मैथिलीशरण गुप्त, भारतीय संस्कृति के आख्याता पृ० २९४ ।

३. गुप्त जी के काव्य का साहित्यिक मूल्यांकन, पृ० ११६ ।

४ गुप्त जी पंचवटी प्रथम सर्ग पृ० १

शब्दालंकार

गुप्तजी की काव्य-कृतियों को देखने से पता चलता है कि वे अलंकारों के प्रति विशेष आग्रही नहीं थे। वे बलात् अलंकार का विधान नहीं करते थे। हां, स्वाभाविक गति से आगत अलंकारों का उन्होंने अवश्य ही स्वागत किया है। अनुप्रास, यमक, श्लेष का संयत तथा सुष्ठु प्रयोग उनकी भाषा को दीप्ति प्रदान करते है। वे इनके प्रयोग खूब जानते थे।

> झांकन झझा के झोंके में
> झुककर खुले झरोखे से।[1] (अनुप्रास)
> रात बीतने पर है अब तो मीठे बोल बोल दो तुम।[2] (यमक)
> यह सीताफल जब फले तुम्हारा चाहा,
> मेरा विनोद तो सफल-हंसी तुम आहा।[3] (श्लेष)
> यमुना बहा ले गई, पानी उतर गया सुरराज का।[4] (श्लेष)

अर्थ-गौरव को शाब्दिक चमत्कार से अधिक महत्व देकर गुप्तजी ने अपनी अंतर्दृष्टि का प्रशंसनीय परिचय दिया है। गुप्तजी ने दण्डी की भांति अलंकार को काव्य के शोभा-कर धर्म के रूप में ग्रहण किया है।

अर्थ-ध्वनन

अपने अर्थ को ध्वनित कर देना शब्द की शक्ति और सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष है। और ऐसे शब्दों का प्रयोग कवि की भाषा की चरम परिणति है। अनादि काल से कवि गण जाने-अनजाने अर्थ-ध्वनन मे समर्थ शब्दों का व्यवहार करते आ रहे हैं। पाश्चात्य शास्त्र में तो 'आनोमेटोपाइया' के नाम से इसे अलग एक अलंकार भी मान लिया गया है। हिन्दी कवियों में तुलसी, पद्माकर, पंत और निराला में यह प्रवृत्ति प्रबल है।[5] गुप्तजी ने भी इसके कई सशक्त चित्र दिए हैं। साकेत से एक चित्र यहां अवतरित है—

> सखि निरख नदी की धारा।
> ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल-झलमल तारा।
> निर्मल जल अंतस्तल भर के, उछल-उछल कर छलछल करके।
> थल थल करके, कल कल करके, बिखराता है पारा।
> सखि निरख नदी की धारा।।[6]

शब्द-शक्ति

मैथिलीशरण गुप्त मुख्यतया अभिधा के कवि हैं। भाव की सहज अभिव्यक्ति ही उनका

---

१. गुप्त जी, पंचवटी, पृष्ठ २६।
२. साकेत पृष्ठ २५
३. द्वापर पृष्ठ १६३।
४. द्वापर पृष्ठ ६८।
५. डा० उमाकान्त, मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृष्ठ ३०२।
६. गुप्तजी साकेत नवम सर्ग, पृष्ठ २११।

उद्देश्य रहता है, शिल्प विधान नहीं। किन्तु ज्यों ज्यों कवि प्रौढ़ता की ओर बढ़ा है, उसकी भाषा बिना किसी प्रयास के समृद्ध, विदग्ध और वक्रतापूर्ण होती चली गयी है। यहीं लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार है। गुप्त जी के परवर्ती काव्य में 'मानवीकरण' आदि के अन्तर्गत उपस्थित अधिकांश उदाहरण लक्षणा के हैं, देखिए—

खिला सलिल का हृदय-कमल खिल हंसों की कलकल में।[1]

कमल को सलिल का हृदय मानना और फिर हंसों की कलकल ध्वनि में उसका खिलना, कितनी मनोरम कल्पना है।

लक्षणा की अपेक्षा गुप्तजी ने व्यंजना का प्रयोग कम किया है। व्यंजना का मूल है वक्रता और वक्रता में कविवर गुप्त का कभी विश्वास ही नहीं रहा। वे जीवन और काव्य में सरलता, स्पष्टता एवं ईमानदारी के प्रतीक रहे। मन-वचन और कर्म किसी की भी वक्रता इन्हें प्रिय नही रही, फिर भी उनके विस्तृत काव्य में से व्यंजना के एकाध उदाहरण तो खोजे ही जा सकते हैं—

१. आंखों का कारुण्य आंसुओं का भूखा है।[2]

२ मैं अबला ! पर वे विश्रुत वीर-बली थे मेरे।[3]

मैदान छोड़कर प्रायः कमजोर ही भागता है, बलवान नहीं। लेकिन यशोधरा का करारा व्यंग्य देखिए तो, वे कहती है कि हे गौतम ! मैं नारी हूं, अबला हुं, फिर भी नहीं भागी, किन्तु तुम—मेरे पति पुरुष होकर विश्रुत वीर होकर भी मुझे छोड़कर भाग गयें। संसार से पलायन करने के नाते तुम कायर हो।

ऊपर किए गए समस्त काव्य-विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गुप्तजी महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रसाद जी की भाषा के बीच सेतु का काम करते हैं। गुप्त जी की काव्य-भाषा का महत्व अक्षुण्ण है। खड़ी बोली हिन्दी को उनकी देन अविस्मरणीय है।

जनवरी सन् १६०५ ई० से सन् १६६४ ई० तक लगातार खड़ीबोली हिन्दी का श्रृंगार करने वाले इस कवि ने भाषा की जो सेवा की है, वह स्वाधीन भारत के नए इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिपिबद्ध होगा। कवि की सरलता, सहृदयता और भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा ने उसे मनमाने प्रवाह में बहने, उछल-कूद करने और वासनामय चित्रों के निर्माण की ओर जाने से रोका है। गुप्तजी की भाषा के सम्बन्ध में वर्तमान समीक्षकों के मत भी पठनीय है—

डा० सत्येन्द्र लिखते हैं, 'पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को सबसे अधिक सफलता मिली है, गुप्त जी को चुन लेने में तथा उनको प्रोत्साहित करने में।...उनके जयद्रथ वध ने ब्रजभाषा के मोह का बध कर दिया और भारत-भारती में तो जैसे सुनिश्चित भारती भाषा का सजीव रूप ही खड़ा हो गया।'[4]

आचार्य वाजपेयी ने 'बीसवी शताब्दी' में एक स्थान पर गुप्तजी सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए कहा है, 'उनकी भाषा सम्बन्धी साधना, उनके भावयोग के साथ उनकी समस्त कृतियों

. ,, यशोधरा, पृष्ठ ४२।
. काबा और कर्बला, पृष्ठ ९७।
. यशोधरा, पृष्ठ ३८।
डा० सत्येन्द्र, गुप्तजी की कला, तृतीय , पृष्ठ ४, ७।

में व्याप्त देख पड़ती है। जैसा कि उनके पहले के (साथ के भी) आधुनिक किसी कवि में नहीं देख पड़ती।'[1]

जयद्रथ वध और भारत-भारती की भाषा की आलोचना करते हुए डा० सुधीन्द्र लिखते है, 'उनकी (गुप्तजी की) लेखनी से जयद्रथ वध और भारत-भारती की सृष्टि हुई तो वर्षों तक इन दोनों काव्यों की ही भाषा का सौष्ठव अनुकरणीय हो गया। उसमे खड़ीबोली की जो गरिमा, जो सुषमा प्रस्तुत हुई वह एक मानदण्ड बन गई...।'[2]

मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी शक्ति से हिन्दी-साहित्य एवं भाषा का जो संस्कार, परिष्कार एवं वैभव विकास किया उस सम्बन्ध में पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के संक्षिप्त विचार भी पठनीय हैं— 'किसी माला मे प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन मे प्रथम नक्षत्र का जो महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है, वही वर्तमान हिन्दी कविता मे गुप्त जी का है।'[3]

छन्द:—

गुप्तजी काव्य को छन्द का बन्दी नहीं मानते थे। वे तुक को काव्य के लिए कृत्रिमता समझते थे जैसा कि उनके इस कथन से स्पष्ट है, "सच तो यह है कि तुक एक कृत्रिमता है।"[4] आगे उन्होंने इसी को और स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मैं बेतुकी कविता का भी उतना ही आदर करने को प्रस्तुत हूँ जितना तुकवालो का।"[5] उन्होंने रूढ़ि सम्मति को स्वीकार करने के अतिरिक्त नवीन युग की परिवर्तित विचार-धारा के अनुकूल नवीनताओं का भी स्वागत किया है। यद्यपि उनसे पूर्व भी अतुकान्त काव्य-रचना का समर्थन किया गया था, फिर भी उनकी मान्यता का अपना महत्व है।

"छन्द पद्य रचना मात्र ही नहीं हैं, वे मनोभावों को मार्मिक रूप मे और उपयुक्ततम स्थान पर प्रकट करते हैं। छन्द शब्द में गोपन प्रक्रिया का अंतर्भाव है। गोपन का लक्ष्य यही है कि भावव्यंजना अधिक से अधिक मर्मस्पर्शी हो सके। उसे यथा स्थान ही प्रकट किया जाय। यह कार्य स्फुट पद्य-बन्धों में तो सम्भव है, पर प्रबन्ध काव्यों के अनुरूप कदाचित नहीं है। वहाँ गोपन ही नहीं, प्रवाहपूर्ण प्राकट्य की आवश्यकता होती है। छन्द के कार्य से, उसके तत्व से उसका सम्बन्ध स्थिर रहता है। छन्द का मूल तत्व या आधार लय है। छन्द में वह नियमित होती है और साहित्य में संगीत-तत्व का सन्निवेश करती है। लयबद्ध रचना मुक्त वृत्त मे भी रची जा सकती है, पर वहाँ वह प्रतिबंधित नहीं होती। छंद में वर्णों या मात्राओं के सुनिश्चित क्रम की व्यवस्था होती है। उसकी गति को आयत्त कर लेने पर कवि को पद्य-रचना करने मे सुविधा होने

१. आ० पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य, बीसवी शताब्दी, पृ० ३१।
२. डा० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ४०४।
३. पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी, हमारे साहित्य निर्माता, पृष्ठ ७१।
४. मेघनाद वध, निवेदन, पृ० १२।
५. इन्दु, जुलाई १९१५, पृ ३९।

लगती है और श्रोताओं तथा पाठकों को भी वह ज्ञात रहती है। ऐसे पद्य सरलतापूर्वक याद हो जाते हैं। पदावली का संगीत लयबद्ध अथवा छंदोबद्ध रचना में ही प्रस्फुटित होता है। गुप्त जी ने ही खड़ीबोली संगीत को सर्वप्रथम हरिगीतिका छन्द में नियोजित किया। मनोवेग में गतिशीलता होती है और उसकी अभिव्यक्ति के लिए छंदोगति की संगति का विधान किया जाता है। मनोगतियों का छन्दों की लयों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। संक्षेप में छन्द भाव प्रकाशन के सौंदर्यवर्धक माध्यम हैं। अभिव्यक्ति को प्रभावपूर्ण और पदावली को श्रुति-सुखद बनाते हैं।"[1]

सिद्धि

गुप्तजी ने अपनी समस्त काव्य-रचना छंदोबद्ध शैली में ही की है। उन्होंने मुक्त-काव्य-व्यवहार कभी नहीं किया। वे वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों में काव्य-रचना करते रहे, पर उन्होने मात्रिक छन्दों का ही अधिक व्यवहार किया है। छंद रचना के कार्य मे वे विशेष रूप से सफल हुए हैं। उन्होने नए-पुराने, संस्कृत और हिन्दी के, गण-वृत्त और मात्रिक छन्दों के अनेक भेदों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। उनकी रचना में गति-भंग आदि छंद-दोष नहीं आने पाये हैं। उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण काव्य-रचना ही छन्दों में नियोजित की है। विविध छन्दों की गतियों पर उनका असाधारण अधिकार है। उनकी छंद सृष्टि का यह एक दोष है कि वे तुकान्तता के आग्रह के कारण विचित्र शब्द-योजना भी करते रहे हैं। फलतः क्लिष्टत्व, अप्रयुक्तत्व आदि दोष अनायास ही दिखायी पड़ते है। गुप्तजी ने छंद बंधन अवश्य स्वीकार किया है, पर घनाक्षरी के उत्तर चरणार्द्ध में रची गयी अपनी कृतियों में अन्त्यानुप्रास आवश्यक नहीं माना है। 'नहुष' में उसका तुकान्त रूप है तथा 'विष्णु प्रिया', 'सिद्धराज', 'हिडिम्बा' में उसका अतुकान्त रूप। उन्होंने रूबाई और त्रिपदी के छन्द-शिल्प का हिन्दी के ही छंदों में प्रयोग किया है। गण वृत्तों की रचना में गुप्तजी ने 'प्रियप्रवास' की अतुकान्त पद्धति से भिन्न प्रकार की तुकान्त-पद्धति अपनायी है।[2]

प्रयोग

गुप्तजी छंद की गति तथा उसके आवर्त्त-विवर्त्त से भली भांति परिचित हैं। फलतः वे घनाक्षरी के उत्तर चरणार्द्ध को स्वतन्त्र छन्द के रूप में सफलतापूर्वक व्यवहृत कर सके हैं। मूल रूप में यह बंगला के 'पयार' छंद का हिन्दीकरण समझा जायगा। वे अनेक अप्रचलित छंदों का भी प्रयोग करते रहे हैं, यथा 'अनघ' और 'साकेत' के छोटे-छोटे छंद अपने प्रगीतों के अन्तर्गत उन्होने सफल रूप से स्वच्छन्द छंद प्रयुक्त किये हैं, अर्थात् दो-दो, तीन तीन छंदों को मिलाकर उन्होने प्रगीत रचना की है। अवश्य ही ऐसे स्थानों पर लय-साम्य का ध्यान रखा गया है। इसी प्रवृत्ति के कारण साकेत के सप्तम सर्ग में एक नये मात्रिक छंद का आविष्कार कर सके हैं, यथा—
"छिन्न भी है भिन्न भी है हाय !"

यह 'सरस' छन्द के अन्त मे एक त्रिकल या गुरु-लघु-वर्णो के योग से निर्मित छंद है। इसे

---

1 डा० कमलाकान्त पाठक मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य पृ० ६९३।
2. डा० कमलाकान्त पाठक मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य पृ० २९४।

'चन्द्र' छंद का नव्य रूप भी कह सकते हैं। जो हो, यह कवि का नवीन प्रयोग अवश्य है। इसी प्रकार मराठी मे लोकप्रिय आर्या छंद के विविध भेदों का गुप्तजी ने प्रयोग किया है। अपभ्रंश काल के 'घत्ता' और 'प्लवंगम' छंदों में उन्होंने पद्य रचे हैं तथा लोकगीतों की गेय-शैली को अपनाया है। आशय यह है कि गुप्तजी केवल प्रचलित शैली में, छन्दों में ही सफल काव्य-रचना नहीं करते थे वरन् वे उस क्षेत्र में नवीन उद्भावनाएँ करते रहे हैं और अनेक अप्रयुक्त छन्दो का उन्होंने नया प्रयोग किया है।[1]

वैविध्य

गुप्तजी की छंद रचना वैविध्यमयी है। उसका क्षेत्र भी व्यापक है। उसका समग्रतः विश्लेषण करना हमारे लिए असम्भव है। यहाँ हम साकेत की छंदो-रचना का संकेत करके शेष का नामोल्लेख ही करेंगे। गुप्तजी अपने रचना-काल की सभी अवस्थाओं में हिन्दी के प्रचलित छन्दों का व्यवहार करते आये हैं, यथा अरिल्ल, आल्हा, आर्या, उल्लाला, ककुभ, गीतिका, घनाक्षरी, चौपाई, छप्पय, झूलना, ताटंक, तोटक, दिग्पाल, दोहा, पद्धरि, पद-पाद-कुलक, पीयूष वर्ष, सवैया, मधुमालती, हरिगीतिका, राधिका, रूपमाला, रोला, शृंगार, सार, सरसी और चौपैया आदि। गुप्तजी को प्रारम्भ में हरिगीतिका छंद विशेष प्रिय था। बीच में रोला, सार, लावनी और वीर आदि छंद तथा उनके प्रस्तार-भेद अधिक आकर्षक ज्ञात हुए। उत्तर काल में उन्हें घनाक्षरी का उत्तर चरणार्द्ध सर्वाधिक उपयुक्त जान पड़ा।

गणवृत्तों में वे प्रायः स्फुट रूप से ही रचना करते रहे हैं। धारावाहिक रूप मे उन्होंने 'शकुन्तला', 'जयभारत', तथा 'साकेत' के कतिपय अंश ही, गण-वृत्तों में रचे है। इनके अतिरिक्त उनके प्रायः सभी काव्य दो-तीन छंदों के द्वारा संपादित हुए हैं। अनघ में छोटे-छोटे मात्रिक छंदों का ही प्रयोग किया गया है। यशोधरा में भी छंदों का वैविध्य है। हाँ, उसमें गीतिका, हरिगीतिका, ताटंक, रोला, वीर, आर्या, घनाक्षरी उत्तर-चरणार्द्ध, कवित्त, सवैया आदि की ही योजना की गई है।[2]

साकेत की छंद-रचना

१. समर्पण—दोहा, मंगलकामना—मधुमालती का स्वच्छन्द प्रयोग, राम-विषयक पद्य—घनाक्षरी का उत्तरार्द्ध, मंगलाचरण—मनहरण कवित्त।
२. प्रथम सर्ग—पीयूषवर्ष छंद, सर्गान्त में चौपाई और रूपमाला छंद।
३. द्वितीय सर्ग—शृंगार छंद। सर्गान्त में प्लवंगम और हालकि छंद।
४. तृतीय सर्ग—सुमेरु छंद। सर्गान्त में सरसी और राम छंद।
५. चतुर्थ सर्ग—मानव या हालकि छंद। सर्गान्त में सार और तोमर।
६. पंचम सर्ग—प्लवंगम छंद। सर्गान्त में घनाक्षरी और दोहा।
७. षष्ठ सर्ग—पद पादा कुलक छंद। सर्गान्त में गीतिका और मधुमालती छंद।

---

१. डा० कमलाकांत पाठक, मैथिलीशरणगुप्त, व्यक्ति और काव्य, ६९५।
२. वही पृ० ६९४

८ सप्तम सर्ग चद्र छद या सरस छद का विस्तार सर्गान्त में मनाहरी और समानिका वत्त

९. अष्टम सर्ग—राधिका छद। सर्गान्त में वीर और अरिल्ल छद।

१०. नवम् सर्ग-मंदाक्रांता, द्रुत-विलंबित, आर्या, दोहा, गीतिका, उपेन्द्रवज्रा, भुजंग-प्रयात, स्रग धरा, हरिगीतिका, शिखरिणी, चौपाई, सार, मालिनी, पृथ्वी, रास, इन्द्रवज्रा हरिणी, सारछंद के अंत में एक गुरु-वर्ण के योग से नव्य छंद सृष्टि, (जिसक शास्त्रीय नाम 'प्रियलोचना' है), सोरठा, कुलक, अरिल्ल, सरसी, वीर, छद व गुरुवर्णमयी तुकान्तता, दुमिल सवैया, वसंततिलका, विजया, चौपाई, हालकि उपमान, मनहरण कवित्त, समान सवैया, सुभद्रिका और मालती छंद का योग अनुष्टुप, भुजंगी, उपचित्रा, कुण्डलिया, चंडालिनी, निल, शोकहर, दिग्पाल, तोमर सुन्दरी सेव्या, शृंगार, पद्धरि, पीयूषवर्ष, शोभन, प्रतिभाक्षरा, उपजाति और इन्दिरा।[1]

११. दशम सर्ग—वियोगिनी वृत्त, सर्गान्त में मालिनी और अनुष्टुप वृत्त।

१२. एकादश सर्ग—वीर और ताटक छद तथा सर्गान्त में मनहरण-कवित्त और दोहा।

१३. द्वादश सर्ग—रोला छद और सर्गान्त में उल्लाला तथा उपजाति वृत्ति।

सारांश

उपर्युक्त विवरण से गुप्तजी की छंद शक्ति का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। स्पष्ट है कि उन्होंने गण, वर्ण और मात्रा के द्वारा नियमित एवं नियंत्रित अनेक प्रकार वृत्तों में छद-सृष्टि या पद्य-रचना की है। उनके छन्दों में कहीं भी गतिहीनता नहीं आने पायी है। प्रायः भाव और प्रसग के अनुकूल छोटे या बड़े छंदों का उन्होंने चयन किया है। जिस प्रकार गुप्तजी ने खडीबोली को काव्योपयोगी भाषा बनाया, उसी प्रकार उन्होंने उसकी पदावली के संगीत को विविध प्रकार की छंद गतियों में बांधा है। उनका छंद-शिल्प अवश्य ही हिन्दी की प्रकृति को लिए हुए है। उन्होंने अन्य भाषाओं के छन्दों को प्रायः व्यवहृत नहीं किया है। उनके शिल्प को ही हिन्दी में प्रयुक्त किया है। किसी आधुनिक कवि ने कदाचित हिन्दी की परम्परा में स्वीकृत इतनी अनेक रूपात्मक छंद-सृष्टि नहीं की है।[2]

निष्कर्ष

गुप्तजी के काव्य का क्रियाकल्प, शैली, छंद, अलंकार, भाषा, आदि के समृद्धि-साधन का परिचायक है। विस्तार और विविधता ही नहीं, उसमें गुप्तजी के कवित्व का गाम्भीर्य और वैशिष्ट्य भी प्रकट होता है। गुप्तजी के काव्यों के क्रिया-कल्प पर उनके व्यक्तित्व की ऐसी छाप सुस्पष्ट है कि उनकी किसी भी रचना के साथ उसके रचनाकार का नामोल्लेख करने की आवश्यकता नहीं होती। व्यक्तित्व और कवित्व की ऐसी एकरूपता काव्य-सिद्धि की विज्ञापना करती है जो कवि-कर्म का असामान्य गुण है। किसी कवि का अपनी रचनाओं में ऐसा अंतर्भाव, हो पाना, उसके क्रियाकल्प की सार्थकता को प्रमाणित करता है। गुप्तजी की रचना में हिन्दी की परम्परा, प्रकृति, शुद्धि और शक्ति प्रकट होती है। उनका काव्य और क्रियाकल्प स्वदेशी उपकरणों

---

१ २ डा० कमलाकान्त पाठक- मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य. पृ० ६९५–६९६।

निर्मित हुआ है। उसमें विदेशी और विजातीय तत्वों का सन्निवेश नहीं दिखायी पड़ता। उनका काव्य आधुनिक काव्य की प्रबंध शैली का प्रतिनिधित्व करता है। गुप्तजी के काव्य में हिन्दी-काव्य का सौन्दर्य-प्रसाधन अवश्य ही कम किया गया है, पर समृद्धि-साधन में उसका योगदान महान है।[1]

भाषा के अंग

भाषा भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है। इसके आश्रय से मनुष्य अपने अनुभवों और अनुभूतियों की व्यंजना करता है। मानव-प्रकृति स्वभाव-गोपन में अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक पटु होती है। अपना उद्देश्य प्रकट न करके, उसकी व्यंजना के माध्यम-भाषा—को वह ऐसा सुन्दर, संगठित, कोमल, मधुर और आकर्षक रूप प्रदान करता है कि मनुष्य का सहज सौन्दर्य-प्रेम उसकी ओर स्वतः आकृष्ट हो जाता है।[2]

यों तो शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियां, उनका लाक्षणिक, व्यंजनामूलक तथा आलंकारिक प्रयोग, वाक्यों का संगठन, विन्यास, समीकरण, प्रवाह आदि सभी विषयों का सम्बन्ध भाषा के अध्ययन से है, तथापि स्थूल रूप में भाषा के दो अंग हैं—(क) शब्द और (ख) अर्थ।[3] भाषा के इन दोनों अंगों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों का सार्थक तथा उपयुक्त व्यवहार ही मनुष्य की सामाजिक शिष्टता और श्रेष्ठता का मूल कारण होता है।[4]

(क) शब्द

शब्द की महिमा प्रकट करने वाली एक प्राचीन उक्ति का भावार्थ यह है कि आदि अन्त से रहित ब्रह्म जिस प्रकार अपने को जगरूप में व्यक्त करता है, उसी प्रकार शब्द भी अनेक अर्थों में अपने को प्रकाशित करता है तथा ज्ञान जिस तरह ज्ञेय रूप अनेक पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही शब्द भी स्वरूप और अर्थ को प्रकाश में लाता है। शब्द का धातुगत तात्पर्य आविष्कार करना है और शब्द करना भी। एक दूसरे विद्वान के मतानुसार शब्द का अर्थ अक्षर, वाक्य, ध्वनि और श्रवण भी है।[5] महर्षि पतंजलि ने (लोक में) पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि को ही शब्द माना है।[6]

उक्त परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि शब्द में ध्वनि के साथ-साथ पदार्थ बोधकता (अर्थ) का गुण भी रहता है। किसी शब्द का उच्चारण होते ही उसका सांकेतिक अर्थ ज्ञाता पर तत्काल प्रकट हो जाता है, परन्तु साहित्य या काव्य में शब्द के साधारण रूप या अर्थ से काम नहीं चलता। इस क्षेत्र में तो शब्द (वाचक) की प्रमुख विशेषता यह है कि वह कवि के अभीष्ट अर्थ को स्पष्टता और विशेषता के साथ प्रकट करने में समर्थ हो। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक शब्द एक सार्थक

---

१. डा० कमलाकान्त पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य ६६६—६९७।
२. डा० प्रेमनारायण टंडन, भाषा-अध्ययन के आधार, पृष्ठ ५६।
३. कविहिं अरथ-आखर बलु सांचा-तुलसीदास, रामचरित मानस।
४. डा० प्रेमनारायण टंडन, भाषा-अध्ययन के आधार, पृष्ठ ५७।
५. 'शब्दो क्षरे यशोगीत्योर्वाक्ये रवे श्रवणे ध्वनौ—हेमः।'
६. प्रतीति पदार्थको लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते महाभाष्य

ध्वनि है, जिसका निर्माण अक्षरों के योग मे होता है। भाषा को समर्थ और अभीप्सितार्थ साधन बनाने के लिए शब्दों और वाक्यों के संगठन और विन्यास का निरन्तर संस्कार और परिमार्जन करते रहने की आवश्यकता होती है।

(ख) अर्थ

शब्द और अर्थ का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसका ज्ञान व्याकरण, उपमान, कोश आप्तवाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निद्ध वाक्य शेष आदि के द्वारा होता है। शब्द का उच्चारण होते ही सांकेतिक अर्थ का बोध सहज ही हो जाता है। इसी प्रकार सभी तरह के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए उनके द्योतक शब्दो का निर्माण बराबर होता है। दैनिक जीवन में अर्थ शब्द के स्वयं कई अर्थ है, परन्तु साहित्य शास्त्र मे किसी शब्द-शक्ति के ग्रहण अथवा ज्ञान से संकेतित; लक्षित या द्योतित जिस व्यक्ति की उपस्थिति होती है, उसे अर्थ कहते है। यहाँ व्यक्ति शब्द से केवल मनुष्य प्राणी का अर्थ नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत इससे आशय उन सभी मूर्त अमूर्त द्रव्यो से है, जो व्यक्ति, जाति या आकृति के द्वारा अपनी पृथक सत्ता रखते हैं।[1] और, अर्थ से प० रामचन्द्र शुक्ल का अभिप्राय वस्तु या विषय से ही है।[2]

साधारणतः अर्थ किसी विषय को हृदयंगम कराने मे सहायक होता है, परन्तु काव्य में उसका ध्येय कुछ और भी है। साहित्य शास्त्रियों की सम्मति में, अर्थ वह है जो हृदयों को आनन्द प्रदान करे तथा स्वस्पन्दन (आत्मभाव) से सुन्दर हो। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि अर्थ और भाव एक दूसरे के पर्याय न होकर सहचर हैं। किसी वस्तु या विषय का साधारण बोधगम्य रूप अर्थ होता है, परन्तु उसके सम्बन्ध में कवि की रागात्मकता 'भाव' कहलाती है, जिसका उदय कवि के अन्तः प्रदेश में होता है। अर्थ में वस्तु की बाह्यता की प्रधानता होती है, भाव में आन्तरिकता की व्यजना तत्सम्बन्धी स्मृतियों और अनुभूति से ओतप्रोत रहती है। काव्य मे दोनों का समावेश होता है, परन्तु समान पद के अधिकारी दोनो नहीं होते। किसी रचना मे एक दूसरे के पोषक होकर ही आते हैं, क्योंकि एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व भी संकट में पड़ जाता है। अतएव काव्य या साहित्य में एक प्रधान और दूसरा गौण रहता है। प्रसिद्ध आलोचक रिचार्ड्स की मान्यता है—

"पाठक अर्थ से भाव की ओर उन्मुख हो चाहे भाव से अर्थ की ओर अथवा दोनों को साथ ही ग्रहण करे—जैसा कि प्रायः करना पड़ता है, तथापि अंततः दोनों का अंतर अर्थात् अर्थ और भाव की स्वतन्त्र स्थिति का ज्ञान हो ही जाता है।"[3]

शब्द और अर्थ तादात्मकता

चित्र का चित्रपट और प्रतिबिम्बका मुकुर से जैसा सम्बन्ध होता है ठीक वैसा ही सम्बन्ध अर्थ का शब्द से है। चित्रपट और मुकुर की असमानता और अस्वच्छता जिस प्रकार चित्र अथवा प्रतिबिम्ब की सुन्दरता और स्पष्टता में बाधक होती है, उसी प्रकार शब्द की अर्थ से असगति और

---

१. पं० रामदहिन मिश्र—काव्यदर्पण, भूमिका, पृष्ठ ५०।

२. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, इन्दौर वाला भाषण।

३. आई० ए० रिचार्ड्स प्रैक्टिकल क्रीटिसिज्म अपेन्डिक्स ६

अनुपयुक्तता उसको सुबोधता में। भावाभिव्यजन की सफलता उपयुक्त शब्द चयन पर निर्भर है। सागर की लहरियों में समय और आकार का अंतर होने पर भी जिस प्रकार मूलतः आंतरिक एकता रहती है, उसी प्रकार कवि की विविध भावधाराओं की उर्मियाँ भी पारस्परिकअविच्छिन्नता से रहित नहीं होतीं। उनकी अखण्डता का सफलतापूर्वक प्रतिपादन करने के लिए जो शब्द समूह अपनाया जाता है, उसमें भी अटूट सम्बध का रहना स्वभावतः वांछनीय है। अतएव किसी रचना की श्रेष्ठता के लिए शब्द और अर्थ की तादात्मकता अनिवार्य है। जिस कवि की भाषा भाव की, यथार्थ रूप से, अनुवर्तिनी होती है, वही अपने प्रयत्न में सफल होता है।[1]

शब्द के भेद

भारतीय आचार्यों ने शब्दों को तीन प्रकार का बताया है—

१—वाचक—लक्षक—व्यंजक।

प्रथम प्रकार के अंतर्गत वे शब्द आते हैं जो कोशों में दिये हुए किसी शब्द के 'साक्षात संकेतित अर्थ'[2] अर्थ को सीधे सादे ढंग से प्रकट करते हैं। ऐसे शब्दों के उच्चारण होते ही श्रोता इनका और प्रयोक्ता का तात्पर्य समझ लेता है।

दूसरे भेद में वे शब्द रहते है जो सीधे-सादे अर्थ से होते हुए स्थिति या सम्बन्ध के अनुसार किसी प्रचलित रूढ़ि या प्रयोजन के कारण विशेष अभिप्रेत अर्थ को लक्षित करे।

तीसरे प्रकार के शब्द वाचक और लक्षक वर्ग के शब्दो के सांकेतिक अर्थ से आगे बढ़कर देश, काल और प्रकरण या प्रसंग के अनुसार पाठक या श्रोता के मर्मस्थल को छूने वाली एक विलक्षण ध्वनि का बोध कराते हैं। तुलसीदास जी के शब्दों में भरत का यह कथन, जो आत्म-ग्लानि से पीड़ित होकर उन्होने व्यक्त किया है, पढ़िए—

> हंस-बंस दसरथ जनक राम-लखन से भाइ।
> जननी तू जननी भई, विधि सन कहा बसाइ ॥[3]

कुल की उच्चता, पिता की श्रेष्ठता उसमें मां कैकेई की तुच्छता की ओर संकेत है। इसी प्रकार की ध्वनि व्यंजक शब्दो में रहती है।

अर्थ के प्रकार

अर्थ के चार प्रकार है—१-प्रत्यक्ष २—अनुमति ३—आप्तोपलब्ध और ४—कल्पित।[4] भाव या चमत्कार से निःसंग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन विज्ञान है। आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है। कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते है। यह अवश्य है कि अनुमति और आप्तोपलब्ध अर्थ के साथ काव्य भूमि में कल्पित अर्थ का योग थोड़ा बहुत रहा है,

---

१. डा० प्रेमनारायण टण्डन, भाषा अध्ययन के आधार, पृ० ६२।
२. काव्य प्रकाश,
३. रामचरित मानस, अयोध्या काण्ड, दोहा १६१।
४ आचार्य प० शुक्ल, इन्दौरवाला भाषण।

जैसे दार्शनिक कविताओं में, रामायण, पद्मावत आदि महाकाव्यों में। गंभीर भाव-प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाये मार्ग पर काम करती है। भाषा का असल काम यह है कि वह प्रयुक्त शब्दों के अर्थ योग या तात्पर्य वृत्ति द्वारा ही पूर्वोक्त चार प्रकार के अर्थों मे से किसी एक का बोध करावे। जहाँ इस रूप में कार्य न करके वह ऐसे अर्थ का बोध कराता है जो बाधित, असंभव, असंयत या असम्बद्ध होते हैं, वहां भाषा केवल भाव या चमत्कार का साधन मात्र होती है।[1]

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने अर्थ के दो भेद और माने हैं। क्रमशः १—उपमित और २—अर्थापन्न हैं। उपमित का अर्थ है एक के सदृश दूसरा। काव्य में उपमित अर्थ की बहुलता है। बहुत से अलकारों की जड़ तो यही सादृश्य मूलक उपमित अर्थ ही है। अर्थापन्न अर्थ भी काव्य में आता है। 'आपत्ति' का अर्थ है आ पड़ना। अतएव अर्थापन्न का अर्थ हुआ—'आ पड़ा हुआ अर्थ, जैसे—

प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा।
रोदन जल से सविनोद उन्हें फिर सींचा।
उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जनकर जननी ही जान न पाई जिसको॥[2]

गुप्त जी के इस पद में यह अर्थ ध्वनित होता है कि 'भरत' के पावन, सुष्ठु हृदय को जन्म देने वाली माता कैकेयी भी जब नहीं समझ सकी तो भला और कौन समझेगा। अर्थात् राम के अतिरिक्त भरत की भावनाओं को कोई नहीं समझ सका।

शब्द-शक्ति

प्रत्येक सार्थक शब्द एक अर्थ प्रकट करता है। शब्द और उसके अर्थ में जो सम्बन्ध होता है, उसी को शक्ति कहते हैं—'शब्दार्थ सम्बन्धः शक्तिः'। यही सम्बन्ध या शक्ति ही शब्द की सार्थकता की द्योतक होती है और इसी के अभाव में शब्द निरर्थक होता है, किसी अर्थ का बोध कराने में असमर्थ हो जाता है। रचना में शाब्दिक अर्थ की पूर्णता लाने के लिए सम्यक् ज्ञान होना चाहिए शब्द की व्युत्पत्ति, रचना या निर्माण, प्रकृत-प्रत्ययका अर्थ और पूरे रूप का सांकेतिक अभिप्राय तथा उसका इतिहास, इन विविध विषयों का जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही अपने शब्दों को सशक्त बनाने में समर्थ हो सकता है।[3]

वाक्यों मे शब्दों का प्रयोग होने पर ही उनकी शक्ति प्रत्यक्ष होती है और प्रयोग की विशेषता उसकी सुष्ठुता में है। सुष्ठु प्रयोग के लिए शब्द और उसके पर्यायों की समानार्थकता, एकार्थता, अनेकार्थता, विशेषार्थता, आदि का विधिवत अध्ययन अपेक्षित है। यह आशय या भाव को व्यक्त करने वाले अनेक शब्द सदैव प्रचलित रहते हैं, परन्तु उनकी उपयुक्त व्यंजना विशिष्ट प्रयोग से ही सम्भव है।

---

१. पं० रामदहिन मिश्र, काव्यालोक, पृ० २२ और काव्यदर्पण पृ० ५३।
२. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० १७८।
३ डा० प्रेमनारायण टण्डन, भाषा अध्ययन के आधार पृष्ठ ६६।
  वही,

काव्य में केवल अभीप्सित अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि भावों में शिष्टता, रमणीयता, चमत्कारिता तथा संवेदनशीलता हो। अतएव काव्य या साहित्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग अभीष्ट होता है जो रचयिता में तो सुप्त भावों का उदय करें ही, पाठक-श्रोता को भी अनुरंजित करते हुए उसमें यथावसर संवेदनशीलता को यहां तक उद्‌बुद्ध करने में समर्थ हों कि वह निष्क्रिय और निश्चेष्ट न रहकर सजग और सक्रिय हो जाय। साहित्य की इसी सफलता पर उसे 'संजीवनी शक्ति का आगार' कहा जाता है।[1]

शब्द शक्तियों के भेद

शब्दों के वाचक, लक्षक और व्यंजक भेदों के अनुसार उनके अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—१—वाच्यार्थ —२—लक्ष्यार्थ और ३—व्यंग्यार्थ।[2] इन तीनों अर्थों का बोध कराने वाली शक्तियाँ भी तीन प्रकार की हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

ध्वन्यार्थ व्यंजना या नाद योजना

जहाँ शब्दों का सोद्देश्य संयोजन इस रूप में किया जाय कि उनके ध्वनि प्रभाव से अभिप्रेत अर्थ स्वतः व्यंजित हो जाय वहाँ ध्वन्यर्थ व्यंजना अलंकार होता है। जैसे तुलसीदास के रामचरित मानस में—

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।"3

यहाँ ऐसा लगता है मानो कानों में कहीं से आभूषणों की मीठी आवाज आ रही है। सीता जी के गतिशील पगों में शिंजन भरते पायलों, कटि की मुखरित किंकिण एवं कलाइयों में रणन की ध्वनि करते कड़ों का सम्पूर्ण दृश्य ही साकार हो उठता है।4 लगे हाथ एक एक उदाहरण 'निराला' और 'पंत' के काव्य से लेकर इस प्रसंग को स्पष्ट कर लेना उचित होगा।

क—"झूम झूम मृदु गरज गरज घन घोर
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।
झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में
घर-मरु-तरु-मर्मर सागर में
सरित तड़ित—गति—चकित पवन में
मन म विजन गहन कानन में

आनन-फानन में रव-घोर-कठोर—
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर ।[1]

उपर्युक्त उदाहरण में महाप्राण निराला ने शब्दों का सोद्देश्य प्रयोग एवं संयोजन इस प्रकार किया है कि उनके पाठ से अभिप्रेत अर्थ घन घटा का झूम-झूम कर चारों प्रसार करते सम्पूर्ण मनोमण्डल को आच्छादित कर लेना, भीम-गर्जन-तर्जन करना, फिर द्रुत गति से झरती स्थूल बूंदों के झरने, पर्वत, तालाब घर, रेगिस्तान, पौधे, पेड़, सरिता, सागर इत्यादि सभी को आक्रान्त कर लेना, उनमें चंचल बिजली की श्वेत रेखाओं का खिंचना मानों कुछेक क्षणों के लिए अभिभूत होकर पवन का चकित रह जाना इत्यादि दृश्य पाठक-श्रोता के नयनों के समक्ष नर्तित हो उठते है ।

ख— "बांसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियां
टी वी टी टुट् टुट् ।।"[2]

इस उदाहरण में पंत जी ने सन्ध्या के झुरमुट (तिरोहित होते प्रकाश एवं निरंतर प्रसार करते अंधकार की संध्या वेला) में बांसों के झुरमुट पर टीवी टी टुट् टुट् स्वर में कलरव भरती चिड़ियों का 'ध्वन्यर्थ व्यंजना' के सहारे अच्छा चित्र खींचा है ।

भारतीय साहित्य में काव्य का प्रधान गुण ध्वनि को माना गया है । यह ध्वनि सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय की भाँति व्यापक रूप से मान्य रहा है । इसके प्रयोग से काव्य मानस में एक सजीवता आ जाती है ।

छन्द

छन्द ज्ञान का प्रमुख अंग है । वेद के षडांग में उसे भी स्थान मिला है; यद्यपि अन्य पांच अंगों—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण और ज्योतिष की अपेक्षा छन्द को हीन स्थान दिया गया है । छंद को वेद पुरुष का चरण माना गया है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।
शिक्षा घ्राणन्तुवेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृम् ।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।[4]

उक्त कथन से छन्द की प्राचीनता और आर्षवचन होना स्वयं स्वीकृत हो जाता है । महर्षि पिंगल इस शास्त्र के आदि आचार्य माने जाते है । इसलिए छन्द शास्त्र को पिंगल शास्त्र भी कहा जाता है ।

१. निराला, परिमल, काव्यशास्त्र की रूपरेखा पृष्ठ ३२५ से उद्धृत ।
२. पंत, पल्लविनी, काव्य शास्त्र की रूप रेखा पृष्ठ ३२८ उद्धृत ।
३ डा० उमाकान्त, मैथिलीशरण गुप्त- कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता पृष्ठ ३१८ ।
४ पाणिनीय शिक्षा श्लोक संख्या ४१ ४२

छन्द और उसका स्वरूप

छंद शब्द का साधारण अथवा कोशगत अर्थ है 'बंधन'। काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द छन्द में भी उसका यही अर्थ गृहीत है। कविता की गति को आबद्ध करने वाले नियम ही छंद हैं। किन्तु ये नियम उसकी गति को अवरुद्ध न कर व्यवस्था ही प्रदान करते हैं। इस प्रसंग में कवि-कलाकार पंतजी की निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय है—

"...कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते है, जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन हीनता से अपना प्रवाह खो बैठती है—उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदानकर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते है।"[1]

बंधन चिरकाल से अभिशंसा का पात्र है—उसमे बाधा का भाव भी सम्मिलित है। शायद लोग इसी लिए उसे त्याज्य अथवा गर्हित समझने लगे हैं। किन्तु छंद तो कविता को गद्य से पृथक करनेवाले धर्म—लय—का बाधक न होकर साधक ही है। अतएव ग्राह्य एवं अभिनन्दनीय है। सुप्रसिद्ध समीक्षक लक्ष्मी नारायण सिंह सुधांशुजी ने छंद के बंधन को कृत्रिम बन्धन कहा है।[2] ऋग्वेद में प्रयुक्त छंद केवल सात हैं. किन्तु बाद में इनकी संख्या लाखों तक पहुंच गयी।

द्विवेदी युग के छन्द

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी के सभी छन्दों के प्रयोग के साथ-साथ संस्कृत के प्राचीन और उर्दू के नवीन छन्दों के प्रयोग का आदेश दिया था। बंगला, मराठी में प्रचलित छन्दों का हिन्दीकरण करने के भी वे पक्ष में थे। इनका आशय तो नए नए छंदों की ओर था। वे छंद के विशेषीकरण के आग्रही थे। फलतः मैथिलीशरण गुप्त ने हरिगीतिका में, हरिऔध जी ने उर्दू-शैली के चौपदों, छपदों और गण वृत्तों में, नाथूराम शंकर शर्मा ने कवित्तों में, रामचरित उपाध्याय ने द्रुत विलम्बित तथा आर्यावृत्त में विशेषता दिखायी। 'सनेही' जी और 'दीन' जी उर्दू बहरों का प्रयोग करते रहे।[3]

छन्दों का पुनरुत्थान

रीतिकाल में छंद कवित्त-सवैया में सीमित हो गया था। बिहारी आदि कवियों ने दोहों का जो उपयोग किया वह भी अपवाद ही कहा जायगा। भारतेन्दु-काल में आकर हिन्दी छन्दों को पुनर्जीवन मिला। द्विवेदी युग मे उनके विकास के साथ ही साथ संस्कृत छन्दों की पुनः धूम मच गयी। उनके अन्त्यानुप्रास और गणके कठोरतम बंधन से छूटने की स्वच्छन्दतावादी वृत्ति ने हिंदी छन्दका पुनरुत्थान किया। इस काल मे हिन्दी के अपने छन्द पहली बार विपुल संख्या में उपयुक्त हुए। आलोच्य काल में विशेषतया रोला, छप्पय, कुण्डलिया, सार सरसी, गीतिका, हरिगीतिका,

---

१ सुमित्रानन्दन पंत : पल्लव : भूमिका, पृष्ठ २१

२ जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत, पृष्ठ १३९।

३ डा० सुधीन्द्र हिंदी कविता में युगान्तर पृष्ठ ३०२०४

तादक नावनी वीर आद हिंदी छंद के प्रयाग हुए। उर्दू लय वाले और अनका न छन्दो के भी प्रचुर प्रयाग हुए।[1]

द्विवेदी युग के कवियों ने वर्णिक और मात्रिक, सम और विषम सभी प्रकार के छन्दो का व्यवहार किया है। अपेक्षाकृत मात्रिक और वे भी सम अधिक प्रयुक्त है। वास्तव में मात्रिक छन्द ही हिन्दी के अधिक अनुकूल है। वर्णिक तो हिन्दी के लिए असह्य भार है—उन छन्दो से हिंदी का प्रकृत सौन्दर्य परिस्फुट ही नहीं होता वरन् दब जाता है। इस सम्बन्ध में सुकवि प० सुमित्रानन्दन पन्त के विचार इस प्रकार हैं'—"हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों में ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तो की नहरों में उसकी धारा अपना चचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कलकल छलछल तथा क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती है। उसकी हास्य दृप्त सरल मुख-मुद्रा, मान तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चचल भृकुटि-भंग दिखावटी गरिमा से दब जाता है।"[2]

आलोच्य काल में अधिकांश कवियों ने मात्रिक-छन्दो को अपनाया है है। और विशेषतया-गीतिका, हरिगीतिका, दोहा, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, द्रुत विलम्बित, शार्दूल विक्रीडित, मालिनी, शिखरिणी, शृंगार पीयूष वर्ष, वीर, रोला, तथा छप्पय आदि का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ गीतिका छन्द की चार पंक्तियां लीजिए—

लोक-शिक्षा के लिए, अवतार था जिसने लिया,
निर्विकार निरीह होकर, नर सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका, सर्व-मंगल धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को, श्रद्धा-समेत प्रणाम है॥[3]

इसमें प्रत्येक चरण में २६ मात्रायें हैं। दूसरे और तीसरे में, १४, १२, पर किन्तु पहले और चौथे में १२, १४ पर यति है। ये दोनों ही नियमानुकूल हैं।[4] द्वितीय के अतिरिक्त शेष तीनों चरणों के अन्त में गीतिका को कर्ण-मधुर बना देने वाला 'रगण' भी है। गीतिका की चार गति के लिए उसके प्रत्येक चरण की तीसरी, दसवी और अठारहवी मात्राएँ लघु होनी चाहिए, जो कि उपर्युक्त छन्द में विद्यमान हैं।

गुप्तजी के सुप्रसिद्ध छन्द हरिगीतिका का भी एक उदाहरण यही देख लें—

पापी मनुज भी आज मुँह से, रामनाम निकालते।
देखो भयंकर भेड़िये भी, आज आँसू डालते।
आजन्म नीच अधर्मियों के, जो रहे अधिराज हैं—
देते अहो! सद्धर्म की वे, भी दुहाई आज हैं॥[5]

---

१ डा० सुधीन्द्र: हिन्दी कविता में युगान्तर: पृष्ठ २०३-२०४।
२ पंतजी : पल्लव : भूमिका : पृष्ठ २२-२३
३ गुप्तजी : रंग में भंग . पृष्ठ ५,
४ भानकवि छन्द प्रभाकर पृष्ठ ६५
५ गुप्तजी जयद्रथ वध पृष्ठ ७८

नियमानुसार इस छद मे १६ १२ की यति से २८ मात्राय है। चौथे चरण मे यति भग का भ्रम हो सकता है किन्तु वे और भी अपने आप मे पूण है अत वह शकानिर्मूल है। हरिगीतिका में छठीं, तथा आठवीं और इक्कीसवीं, बाइसवीं तथा तेइसवीं मात्रा का क्रम ।। नहीं होना चाहिए।[1] उक्त छन्द में इसका पूर्णतः पालन हुआ है।

अलंकार

जिस प्रकार मनुष्य आभूषण, सुन्दर परिधान धारण करके अपने शरीर की शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार अलंकार काव्य को अलकृत करते है। अलंकारों से काव्य की रमणीयता बढ़ती है और प्रभाव द्विगुणित होता है। किन्तु अतिशय अलंकार का बोझ काव्य को इतना ढक लेता है कि वह प्रभावहीन हो जाता है। द्विवेदीजी के पूर्व हिन्दी में वही रीतिकालीन अलंकार योजना प्रचलित थी। नायिका के नख-शिख वर्णन, श्रृंगार के नाम पर अश्लील चित्रों के प्रदर्शन और भाषा में बनावट की धूम थी। काव्य की आत्मा रस का महत्व अलंकारों के आगे फीका पड़ गया था। वही पिटीपिटाई शैली, वे ही पुराने उपमान दुहराये जा रहे थे।[2] किन्तु आलोच्य युग मे कविता जीवन के अधिक निकट आयी, उसमें विषयगत परिवर्तन हुए। नये छन्दोंके प्रयोग और नूतन कलासृष्टि के लिए यह आवश्यक हो गया कि युग की भूमिका पर नये उपमान नवीन बन्ध और नई उपमाएँ काव्य में प्रचलित हों।

आलोच्य काल में दो प्रकार के कवि थे—

एक वे जो अलंकार का यह सहज धर्म समझते थे कि वह काव्य का सौन्दर्य बढ़ावे, अपनी सहज गति से काव्य में स्थान ग्रहण करे, किसी प्रकार ऊपर से आरोपित न लगे। कवियों ने केवल भाव सौन्दर्य के लिए अलंकारों का प्रयोग किया है। ऐसे कवियों में आते हैं—श्रीधर पाठक, रायदेवी प्रसाद पूर्ण, मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, एक भारतीय आत्मा आदि।

दूसरी कोटिके वे कवि है जो अलंकारों के मोह मे जकड़े हुए थे, उन पर रीतिकालीन प्रभाव कुछ अशों मे विद्यमान था। उनमें हरिऔध, नाथूराम शर्मा 'शकर', 'सनेही' और रामचरित उपाध्याय आदि आते है।[3]

अलंकार के तीन भेद है—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार।

इस युग में तीनों प्रकार के अलंकारों का काव्य में यथावसर प्रयोग हुआ है।

अनुप्रास

अनुप्रास शब्दालंकारों में आधारभूत हैं। कविता में यह प्रायः आता है। अनुप्रास की योजना का मनोविज्ञान यही है कि वर्ण का 'अनुरणन' एक श्रुति-सौन्दर्य की सृष्टि करता है।

---

१. भानुकवि, छद प्रभाकर, पृ० ६७,

२ डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० २४१।

३ डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर पृ० १४२

छद में अन्त्यानुप्रास को योजना भी इसी उद्देश्य-सिद्धि के लिए हुई थी—और यह प्रवृत्ति इतनी व्यापक है कि यह अनुप्रास के महत्व पर प्रकाश डालती है। अनुप्रास का महत्व नयी शैली के कवियों ने भी स्वीकार किया है। हाँ, स्वर-मैत्री और वर्ण-मैत्री का भी नये कवियों ने प्रयोग किया है।

गीति-काव्य

गीति कला आत्माभिनिवेशमयी काव्य-कला है। उसमें कवि की मनोभावना ही अभिव्यंजित होती है। उसे गीतकार की अनुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति माना गया है, क्योंकि उसमें विजातीय द्रव्यों के लिए कोई स्थान नही होता।[1] प्रबन्ध काव्यों में वस्तुचरित और वातावरण के माध्यम से प्रभावाभिव्यंजना की जाती है, परन्तु गीति रचना एक भाव प्रतिभा की संघटित इकाई होती है। जिस प्रकार आत्मपरक निबन्धों में रचयिता का व्यक्तित्व ही प्रतिपाद्य विषय बन जाता है, उसी प्रकार गीतिकाव्य में कवि के व्यक्तित्व की मानसिक प्रक्रिया ही अभिव्यक्त होती है। आशय यह है कि गीति-पद्धति में स्वानुभूतिकी विवृत्ति ही प्रमुख होती है और भावाभिव्यंजना का प्रयास ही उसकी कलात्मक प्रक्रिया है। प्रगीत उस गीतिमय काव्य रूप को माना गया है जिसमें कवि की वैयक्तिकता सर्वोपरि है। वह अन्तः वृत्ति निरूपक, सब्जेक्टिव, कविता का प्रयोग है। उसमें शब्द और अर्थ, लय और छंद अथवा रूप और निरूप्य की अभिन्नता हो जाती है।[3]

संक्षेप में गीति-काव्य एक अखण्ड काव्य-प्रक्रिया है, जिसमे अनुभूति और अभिव्यक्ति, विशिष्ट सौन्दर्य-सृष्टि अथवा भावप्रतिभा के रूप में अविच्छेद्य रहती है। उनमें न स्थूल विषयों एव मोटी कल्पनाओं को व्यक्त किया जा सकता है, न उनकी अभिव्यक्ति ही वर्णनात्मक अथवा व्याख्यात्मक हो सकती है।[4] भाव और भाषा की, शब्द और ध्वनि की, छंद और संगीत की कलात्मक एकरूपता उसका साध्य है।[1] वह अनिवार्य और अकृतिम कला-सृष्टि है।

गीति का जन्म लोक-सामान्य भावभूमि पर होता है। भावकी तीव्रता ही गीति की आत्मा है। वाणी के परिवेश में भाव का अत्यन्त उद्‌गार गीति है। गीति को साथ लेकर मानव धरती पर उतरा। मानव के साथ मन था और मन के साथ गीतियाँ। जिस मन पर काव्य-गीतियों का प्रभाव न पड़े उसे मानव कैसे समझा जाय, यह एक प्रश्न है ? गीति में रसमयी वाणी अपनी स्वाभाविक गति से कलकल करती हुई उतरती है।5

गीति काव्य का जन्म मानस की विशुद्ध भावभूमि पर हुआ है। यह भाव भूमि असीम है, अनन्त है। कवि जब अपने अनुभूत भावों के मोती काव्यमाला में गूंथता है तथा काव्य की सच्ची

---

१. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, आधुनिक साहित्य, भूमिका पृ० २४।
२. वही।
३. डा० विनय मोहन शर्मा,
४ राइस
५ प्रवासी गीतिकाव्य का विकास, पृ० ५

श्रीवृद्धि होती है गुण दोष अलंकार चमत्कार रस रीति की शास्त्रीय परिभाषा पर लिखा गया काव्य गीतिकाव्य नहीं होगा।[1]

जहाँ कवि का अन्तःकरण अपने सहज उद्भूत भावों को भाषा का शरीर देता है वहीं गीति-तत्व मिलता है। यह गीतिकाव्य बहुत दिनों बाद भारतेन्दु-युग में हिन्दी कविता में अवतरित हुआ, द्विवेदी युग मे इसका विकास हुआ और छायावाद युग में सच्चे अर्थों में इसका समुचित प्रकर्ष हुआ। इधर स्वाधीनता के बाद बौद्धिक प्रक्रिया के अधिक तेज होने, जीवन में भौतिक उलझनों की वृद्धि और नैतिक भटकाव की चपेट में गीति-काव्य का बिरवा कुछ झुलझुलाने लगा है फिर भी नूतन युग-बोध और नये प्रयोग के चक्कर से बचे हुए कुछ कवि आज भी उच्च कोटि की गीति रचना कर रहे हैं। श्री जानकी वल्लभ शास्त्री, स्वर्गीय गोपाल सिंह नेपाली, सुकवि बच्चन और नीरज के गीति-काव्य को इस सम्बन्ध में उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है।

द्विवेदी युगकी आधुनिक प्रगीतियाँ

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी खड़ीबोली अपनाने के साथ ही साथ नूतन छन्दों और नवीन विषयों को भी अपनाने के लिए कवियों का बराबर आह्वान करते रहे। धीरे-धीरे काव्य का वाह्य और आभ्यन्तर रूप-रंग बदलने लगा। हमारे नवागत कवि विद्यापति, सूर, तुलसी और मीरा के गीतों से कुछ हटकर प्रगीत-मुक्तक, लिरिक, के अनुकरण पर गीति-काव्य की रचना करने लगे। आलोच्य युग में इनका प्रचलन क्रमशः बढ़ता गया और छायावाद में पहुँचकर गीति-काव्य छा गया। प्रबन्ध काव्य की ओर से हटकर अधिकांश कवि गीति-काव्य की रचना मे अपनी सारी शक्ति लगाने लगे।

पं० बदरीनाथ भट्ट सन् १९१२ ई० से ही प्रगीति लिखने लगे थे। उनके पश्चात् स्व० मैथिलीशरण गुप्त और पं० मुकुटधर पाण्डेय बराबर प्रगीति-मुक्तक की रचना में दत्तचित्त हुए। उपर्युक्त तीनों कवियों पर विदेशी गीतियों का प्रभाव स्पष्ट था। सन् १९१५-१६ के आसपास श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी प्रगीति-काव्य की रचना की थी। हिन्दी में इसको प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्हीं कवियों को है। इन्होंने काव्य में साम्प्रदायिक भावना के स्थान पर सार्वभौम सत्य को प्रतिष्ठित किया। इनके गीतों में रहस्यात्मक संकेत भी बड़ी स्वाभाविकता के साथ अंकित हुआ है।[2] सन् १९१४ ई० से १९१८ ई० के बीच गुप्त जी ने अनेक गीतियो की रचना की। उनमें से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> निकल रही है उर से आह, ताक रहे सब तेरी राह।
> चातक खड़ा चोंच खोले है, सम्पुट खोले सीप खड़ी,
> मैं अपना घट लिए खड़ा हूं, अपनी अपनी हमें पड़ी।[3]

---

१. प्रवासी, गीति काव्य का विकास पृ० ७।

२ प्रवासी गीतिकाव्य का विकास पृ० ४५१

३ गुप्तजी स्वयं आगत सन १९१८ ई०

पं० मुकुटधर पाण्डेय तो इस पथ के सबसे मौलिक प्रथम कोटि के कवि हैं। इनकी रहस्यात्मक संकेत भरी रचनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति का एक अंश देखिए—

हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दम्पति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्नहास में,
वन्यकुसुम के शुचि सुवास में
था तव क्रीडा-स्थान ।[1]

गीत और प्रगीत : स्वरूप और परिभाषा

गीति-काव्य काव्य की वह विधा है, जिसमें विषय की अपेक्षा विषयी की प्रमुखता होती है, उसे प्रगीत अथवा गीति काव्य के नाम से अभिहित किया जाता है। जो कवि स्वनिरपेक्ष क्रिया कलाप एवं अनुभवों को छन्दोबद्ध करता है, उसकी कविता वस्तुगत और जो अपने ही विचारों, भावनाओं और कल्पनाओं को वाणी प्रदान करता है, उसकी कविता व्यक्तिपरक कहलाती है। इसी व्यक्तिपरक कविता को प्रगीत कहते है। प्रगीत प्रबन्ध की भाँति वस्तुपरक न होकर व्यक्तिगत होता है। उसमें वैयक्तिकता का—व्यक्ति के, विषयी के अपने सुख, दुख, हर्ष-विषाद, प्रेम-कलह, क्षोभ-क्रोध आदि की परिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिए सूर-तुलसी और मीरा के पद प्रगीत है। उनमें कवि के हृदय का स्पन्दन, मन का गायन और क्रन्दन है।[2]

रागात्मकता प्रगीत का अनिवार्य गुण है। प्रगीत जीवन के उन उद्दीप्त क्षणों की रचना होते हैं जबकि घनीभूत भावना के वेग को उद्वेलित जलधि के समान प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता। महादेवी जी के शब्दों में, 'साधारणतः गीति-काव्य व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।[3] सामान्यतः गीत और प्रगीत को पर्यायवाची माना जाता है, पर इनमें भी सूक्ष्म अन्तर है। गीत में संगीत का, स्वर-ताल का विशेष ध्यान रखा जाता है, किन्तु प्रगीत को स्वयं उसकी पदावली से ही समुद्भूत होना चाहिए। प्रगीत का संगीत आन्तरिक होता है, किन्तु गीत पद का पर्याय है जो मूलतः गेय होता है। उसके संगीत पर कोई बन्धन नहीं है, वह आन्तरिक और बाह्य दोनों हो सकता है।[4]

हिन्दी में साहित्यिक गीति-काव्य की दो पद्धतियां दिखायी पड़ती हैं। एक पद पद्धति है और दूसरी प्रगीत पद्धति। दोनों ही भावाभिव्यंजक रचना प्रकार हैं, पर पद पद्धति में वैयक्तिकता का गुण अत्यल्प होता है और प्रगीत पद्धति में वह सर्वप्रधान रहता है। पदों में आत्म निवेदन की अभिव्यक्ति कवि का लक्ष्य होता है और प्रगीतों में सौन्दर्यानुभूतिक। चित्रण अथवा उन्मेषमयी आत्माभिव्यजना करना कवि का साध्य है। पहला अन्तःप्रेरित काव्य है, दूसरा उच्छ्वसित

१ मुकुटधर पाण्डेय, आंसू, १९१७ ई०।
२ डा० उमाकान्त, मैथिलीशरण गुप्त—कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृष्ठ १९७।
३ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृष्ठ १४७।
४ डा० उमाकान्त मैथिलीशरण गुप्त—कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, १९८।

काव्य आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रगीत-शिल्प अधिकांश में व्यवहृत हुआ है पद-पद्धति का प्रकर्ष भक्त-कवियों की वाणी में प्रकट होता है।[1]

गीति-तत्त्व

गीति-काव्य के प्रमुख तत्त्व इस प्रकार हैं :—

१–स्वानुभूति तथा निजी रागात्मकता। २–आवेग दीप्ति, ३–हार्दिकता ४–रागात्मक अन्विति, ५–संगीतात्मकता, ६–प्रवाह। साहित्यदर्पणकार ने 'शुद्ध गानं गेयपदं स्थितं पाठ्यं तदुच्यते।' कहकर गीत को रूपक का लास्यांग माना है।[2] निर्बन्ध काव्य का एक भेद मानकर गेय होने के कारण उसे गीति भी कहा गया है।[3] गेयत्व गीति रचना का वह तत्त्व है, जो उसे अन्य काव्य रूपों से अलग करता है। इसके अन्तर्भूत तत्त्व हैं—निश्छल अनुभूति और उसकी आवेगमयी अभिव्यक्ति। इसमें भावना पूर्णतः संकलित होती है और आवेगमयी मनःस्थिति की रचना होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति गेय हो उठती है। वह ध्वनि काव्य होता है, जिसमे कोमल मनोवृत्तियाँ और मधुर पदावली ही प्रायः व्यवहृत होती है। इसकी रचना को कुन्तक के द्वारा निर्दिष्ट सुकुमार मार्ग की समीपी वस्तु समझना चाहिए। इसमें कला रहते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।[4] मार्मिकता की विशिष्टता उसकी संक्षिप्तता के कारण है, क्योंकि विस्तार उसके प्रभाव को कम कर देता है।[5]

प्रगीतों के प्रकार

प्रेरक भावना अथवा विषय एवं अभिव्यंजना-प्रणाली के अनुसार प्रगीत काव्य के अनेक भेद किए जा सकते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में यह निवेदन करना आवश्यक है कि साहित्य के क्षेत्र में कोई भी वर्गीकरण अन्तिम तथा आत्यंतिक नहीं हुआ करता। प्रगीत-काव्य के भी किन्ही दो प्रकारों के बीच ऐकान्तिक सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। वास्तव में एक के तत्व दूसरे मे घुले-मिले रहते हैं। फिर भी वर्गीकरण की अपनी उपादेयता है। अस्तु, विषय की दृष्टि से प्रगीतों के भेद इस प्रकार हैं :—

१–रहस्यवादी, २–भक्ति परक, ३–राष्ट्रीय, ४–प्रेम-सम्बन्धी, ५–शोक सम्बन्धी, ६–विचारात्मक, ७–व्यंग्यात्मक और ८–नीति परक या उपदेशात्मक।

रूप की दृष्टि से प्रगीत काव्य के सम्बोधन-प्रगीत और चतुर्दश पदी आदि भेद किए जा सकते है। अंग्रेजी साहित्य में ये दोनों क्रमशः 'ओड' और 'सानेट' के नाम से प्रचलित हैं।[6]

गीति कला का विकास

गीति परम्परा का विकास तो हिन्दी में सुदीर्घ काल से चला आ रहा है, किन्तु आलोच्य-

---

१. डा० कमलाकान्त पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य, ५२२।
२. विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक २१७।
३. पं० रामदहिन मिश्र, काव्य दर्पण, पृष्ठ २५०।
४. बाबू गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ०८, भाग २।
५ दी स्टडी आफ लिटरेचर हडसन पृष्ठ १२१।
६ डा० उमाकान्त मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय संस्कृति के , पृष्ठ २००

काल में गुप्त जी के काव्य-विकास द्वारा हम इसकी ओर संकेत करना चाहेंगे। इनकी 'भारत भारती' का विनयगीत, 'इस देश को हे दीनबन्धो, आप फिर अपनाइए', इस युग का प्रथम गीत है, जिसकी रचना सन् १९१२ में हुई थी।[1] 'कहां करुणा-निधि केशव सोये' में जो राष्ट्र-भावना भारतेन्दु बाबू की थी, प्रायः वैसी ही भावना गुप्त जी की भी है। 'कहीं हमारा भी होता हा, यदि छोटा मोटा एक खेत' अथवा 'मैं हूं और अपार है' आदि उनकी नई गीति रचनाएं हैं। उक्त काल में बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर पाण्डेय और श्रीधर पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि कवि भी गीति काव्य की रचना में तल्लीन रहे। उन गीतों की भावभूमियां देश प्रेम, भक्ति और मानवी प्रेम के उच्च धरातल को स्पर्श कर रही हैं। उदाहरणार्थ देखिए—

हे मातृभूमि तेरी जय हो सदा विजय हो।
प्रत्येक भक्त तेरा सुख-शान्ति-कान्ति मय हो।
अज्ञान की निशा में, दुख से भरी दिशा में,
संसार के हृदय में तेरी प्रभा उदय हो॥[2]

मुक्तक काव्य

मुक्तक वह स्वच्छन्द काव्य-रचना है, जिसमें रस का उद्रेक करने के लिए अथवा सम्पूर्ण भाव को आत्मसात करने के लिए किसी अनुबंध की आवश्यकता नहीं पड़ती। संस्कृत में छन्दों की संख्या के अनुसार निबन्ध रचना के अलग अलग नाम रखे गये हैं। पूर्व और पर से निरपेक्ष जो एक ही पद रस-चर्वणा में पूर्ण सहायक हो, उसे मुक्तक कहेंगे। यदि दो छन्दों में वाक्य की पूर्ति हो तो उसे 'युग्मक' कहते है। जहां तीन छन्दों में वाक्य शेष हो, वहां 'संदानितक' अथवा 'विशेषक' होता है। यदि चार छन्दों में ऐसा ही हो तो उसे 'कलापक' कहते हैं। यदि पांच छन्दों या उससे अधिक छन्दों में ऐसा हो तो उसे 'कुलक' कहेंगे।[3] मुक्तक शब्द इन सभी प्रकार की निबंध रचनाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहां किसी कथा के सहारे भी स्फुट रचनाएं प्रस्तुत की जाय, वे वहाँ मुक्तक ही कही जायंगी।

मुक्तक काव्य के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य कोशकारों का मत है—"मुक्त शब्द मे कन् प्रत्यय के योग से मुक्तक शब्द बना है, जिसका अर्थ अपने आप में सम्पूर्ण या अन्य निरपेक्ष वस्तु होता है।[4] ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर ही मुक्तक को काव्य मे आदरणीय स्थान मिला है। ध्वन्यालोक के आधार पर जिस काव्य में पूर्वापर-प्रसंग-निरपेक्ष रस चर्वणाका सामर्थ्य होता है, वही मुक्तक कहलाता है। अतः मुक्तक काव्य से काव्य-रूप का बोध होता है, जिसमें कथात्मक प्रबन्ध या विषयगत बहुत लम्बे निबन्ध की योजना नहीं होती। हेमचन्द्राचार्य ने केवल मुक्तक शब्द की चर्चा न करके मुक्तकादि शब्द प्रयुक्त किया है और उसका सामान्य लक्षण यही बताया है—जो अनिबद्ध हों वे मुक्तकादि हैं अतः मोटे तौर पर प्रबन्धहीन या स्फुट, सभी पद्यबद्ध रचनाएं मुक्तक काव्य के अन्तर्गत आ जाती हैं। वस्तुतः अपने आप में पूर्ण, निरपेक्ष्य एक छन्द वाली रचना को सभी आचार्यों ने मुक्तक कहा है। परन्तु अन्य निरपेक्ष्य एकाधिक छंदोवाली रचनाएं भी अनिबद्ध या कथाहीन होती हैं, अतः उन सबको मुक्तकादि कहकर

---

१. गुप्तजी, भारत-भारती, विनय, सोहनी गीत, १८०—१८१।

२. प०रामनरेश त्रिपाठी भारतगान ३ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र वाङ्मयविमर्श पृ०४०

की लोचन टीका १ ७

'काव्य की तरह मुक्तक काव्य को भी एक सामान्य काव्य-रूप मान लिया गया है। इस (हम देखते है कि प्राचीन यूनानी साहित्य में छन्दोबद्ध श्रव्यकाव्य के दो भेद थे—महाकाव्य क) और गीति काव्य (लिरिक)। उसी तरह प्राचीन भारतीय साहित्य में भी छन्दोबद्ध ' काव्य के दो भेद स्पष्ट हैं—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य है।''[1]

मुक्तक काव्य को निम्नलिखित ११ वर्गों में विभाजित किया गया है—

१. संख्या वाचक या संख्याश्रित मुक्तक इसमें (क) मुक्तक (एक छन्दवाला) (ख) कुलक (पंचक अष्टक दशक) (ग) कोश, बीसी, बाईसी, चौबीसी, पचीसी, इकतीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, चालीसा, पंचशिका या पचासा, बावनी, सत्तरी, बहोत्तरी, शतक, सप्तशती और हजारा आदि।

२. वर्णमालाश्रितः—मातृका कक्क, ककहरा, बारहखड़ी।

३. छन्दाश्रित—चौपाई या चौपई, दोहा या दूहा, दोहावली, छप्पय, कुण्डलिया, कवित्त, कवितावली, अमृत ध्वनि आदि।

४. रागाश्रित—रास, लावनी, गरबा, पद, कजरी, धमाल, गीता, गीतावली आदि।

५. ऋतु और उत्सवमूलक-फाग, होली, चांचर, चौमासा, बारहमासा, षड्ऋतु, मंगल, सोहर, गारी, ब्याहलो और बधावा आदि।

६. पूजाश्रित—धर्माश्रित स्तुति, स्तोत्र, विनय, स्तवन, बिनती, पूजा, प्रभाती, सांझ या सांझी, निर्गुन, भजन, महिमा, माहात्म्य, रमैनी, साखी, सबद और उलटवाँसी आदि।

७. लोकाश्रितः—मुकरी, पहेली, कहावत, ढकोसला वगैरह।

८. फारसी काव्य रूप—गजल, रूबाइयाँ, चतुष्पदी (चौपदे) आदि।

९. अंग्रेजी काव्य रूप—(द्विपदी) कप्लेट (चतुर्दशपदी) सानेट, संबोधन साहित्य, गीत (ओड) शोकगीत (एलिजी), गीत (सांग), गीति या प्रगीत मुक्तक (लिरिक) आदि।

१०. साहित्य-शास्त्राश्रितः—छन्द, रस, ध्वनि और नायक-नायिका भेद के लक्षण और उदाहरण के छन्द।

११. अन्य फुटकर काव्य रूप—अष्टयाम, दूतकाव्य या संदेश काव्य, गोष्ठी, संवाद और नखशिख वर्णन आदि।

अपने शोधप्रबन्ध 'मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी' में डा० रामसागर त्रिपाठी ने तक का क्षेत्र तथा उसके उपभेद के अन्तर्गत मुक्तकों को वस्तु की दृष्टि से चार भागों में इस र विभाजित किया है—

१. रसात्मक मुक्तक—इनमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावसंधि, भावोदय, भावशांति और भावशबलता इत्यादि भाव से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रकारों का समावेश हो जाता है। भाव मानव-विषयक भी हो सकता है और प्रकृति विषयक भी।

२. धार्मिक मुक्तक—इनमें देव विषयक रति से सम्बन्ध रखने वाले सभी मुक्तक सन्निविष्ट हो

---

[1] हिन्दी साहित्य कोश प्रथम संस्करण पृ० ५९५

जाते है वैदिक ऋचाए पौराणिक स्तोत्र तथा बौद्ध और जैन स्तोत्र इन धार्मिक मुक्तकों में आ जाते हैं।

३. प्रशस्ति मुक्तक–इनमे राजाओ तथा दूसरे आश्रयदाताओ की दानशीलता, वीरता और सौन्दर्य-वर्णन के पद्य आ जाते हैं।

४. सूक्ति मुक्तक–इनमे भाव आस्वादन का विषय नही बनते, अपितु चमत्कार ही उपास्य होता है। यहां उक्ति वैचित्र्य के द्वारा सालंकार अथवा निरलंकार वस्तु अभिव्यक्त की जाती है। इनमें कल्पना की उड़ान, ऊहोक्ति, वर्णन-वैचित्र्य या शब्दार्थ वैचित्र्य प्रधान तत्व माने जाते हैं।

माध्यम की दृष्टि से भी मुक्तक काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं—पाठ्य मुक्तक और गीति मुक्तक।

उपर्युक्त दोनों वर्गीकरण को ध्यान से देखने पर डा० त्रिपाठी का वर्गीकरण अस्पष्ट एवं अपूर्ण जंचता है। कोशकारका वर्गीकरण अवश्य ही वैज्ञानिक स्पष्ट एवं मुक्तक की प्रायः सभी विशेषताओं को अपने क्षेत्र में समेट लेता है। एक बात और जो ध्यान देने की है–उक्त सभी मुक्तक काव्य के अन्तर्गत आते हैं, भले ही उनमें से कुछ को काव्य–रूप न कहकर काव्य-संज्ञा कहा जाय। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इन सबका प्रयोग तो नहीं होता और पहले भी किसी एक युग मे सभी वर्णित मुक्तकों का एक साथ प्रयोग सम्भव नही था। सदैव इनके प्रयोग युगबोध, आवश्यकताओं तथा नूतन दृष्टिकोण स्पष्ट करने में होते रहे है। हां यह भी सच है कि कुछ प्रमुख-प्रचलित मुक्तक काव्य जैसे दोहा, कवित्त, विनती और सदेश काव्य आदि प्रायः सभी युगो मे काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। वे प्राचीन काल से आज तक अपनी महत्ता कायम किये हुये हैं।

आलोच्यकाल में छदाश्रित, रागाश्रित और पूजाश्रित आदि मुक्तकों की अधिकांश रचना हुई है। यत्र तत्र फारसी और अंग्रेजी के प्रभाव से निष्पन्न विदेशी काव्यपद्धतियों का हिन्दी रूप भी मुक्तक काव्य के माध्यम से प्रकट हुआ है।

खण्ड काव्य

प्रबन्ध काव्य के दो भेद है–खण्ड काव्य और महाकाव्य। किन्तु संस्कृत के पूर्ववर्ती अलंकारिकोने प्रायः सर्गबन्ध काव्य शब्द का ही प्रयोग किया है। क्योंकि प्रबन्ध के भीतर वे सर्गबन्ध काव्य के अतिरिक्त रूपक, कथा, आख्यायिका आदि सभी प्रबन्धात्मक साहित्य रूपों को ग्रहण करते थे। भामह और दण्डी ने सर्गबद्ध काव्य का अर्थ विशेष रूप से महाकाव्य ही लिया है और खण्ड-काव्य की चर्चा ही नहीं की है।

रुद्रट ने सभी प्रबन्धों (प्रबन्धकाव्य, कथा, आख्यायिका) को महत् और लघु इन दो प्रकारों मे विभक्त कर उनका अन्तर इस प्रकार बताया है–

"तत्र महान्तो येषु चकविस्तेष्वभिधीयते चतुर्वर्ग:। सर्वे रसा: क्रियन्ते काव्यस्तानि सर्वाणि ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतयो भवेच्चतुर्वर्गात् असमग्रानेक रसा ये च समग्रैकरसयुक्ता:। "इस प्रकार सर्वप्रथम काव्य के दो रूपों महान काव्य महाकाव्य और लघकाव्य खण्ड काव्य पर

मौलिक रूप से विचार किया है। आनन्दवर्धन ने (ध्वन्यालोक ३ :७: काव्य भेदों का विवरण देते हुये प्रबाध काव्य के लिए सर्गबन्ध शब्द का ही प्रयोग किया है। यद्यपि कथा के भीतर उन्होंने खण्ड कथा, परिकथा और सफल कथा का उल्लेख किया है, पर सर्गबन्ध काव्य के भीतर महाकाव्य, खण्ड काव्य आदि रूप विभाजन नहीं किया है। उसी तरह हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत कथा, आख्यायिका और चम्पू के साथ केवल महाकाव्य की गणना की है। सम्भवतः उन्होंने प्रबन्ध काव्य के अर्थ में ही महाकाव्य का प्रयोग किया और उसमें खण्ड काव्य का उल्लेख नहीं किया है। विश्वनाथ कविरत्न ने अपने साहित्य दर्पण में महाकाव्य का लक्षण बतलाते हुए खण्डकाव्य का उल्लेखइस प्रकार किया है--

"भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम्। एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम्।"
"खडकाव्यं भवेत्काव्यस्यैक देशानुसारि च।"[1]

इस परिभाषा के अनुसार किसी भाषा या उपभाषा में सर्गबद्ध एवं एक कथा का निरूपक पद्यग्रंथ जिसमें सभी सन्धियाँ न हों, काव्य कहलाता है और काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्ड काव्य होता है। इसी के आधार पर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने 'वाङ्मय विमर्श' नामक ग्रंथ में प्रबन्ध काव्य के तीन भेद किये हैं—

महाकाव्य, एकार्थ काव्य और खण्ड काव्य। उनके मतानुसार महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की कड़ी को एकार्थ काव्य कहना चाहिए जिसे पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्य' कहा है। मिश्रजी ने खण्ड काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है—"महाकाव्य के ही ढंग पर जिस की रचना होती है, पर जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे खण्डकाव्य कहते हैं। यह खण्डजीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है जिससे वह वस्तुतः रचना के रूप में स्वतः प्रतीत होता है।"[2]

सामान्यतः ८ या ८ से अधिक सर्गों वाले प्रबन्ध काव्यों को महाकाव्य माना जाता है। आठ से कम सर्गों वाले काव्यों को खण्ड काव्य माना जाता है। खण्ड काव्य में कथावस्तु, नायक और रस का तो अन्तर्भाव होता है, पर उसका कथानक छोटा होता है। अतएव खण्डकाव्य अपने कथाबन्ध के प्रविष्ट होने के कारण केवल आख्यान, वृत्तांत या निबन्ध नहीं है। आख्यायिका और आख्यान में जो भेद है, निबन्ध और प्रबन्ध काव्यों मे भी वैसा ही रूपात्मक पार्थक्य है। निबन्ध का बंध सामान्य होता है और प्रबन्ध बंध प्रकृष्ट अथवा विशेषतासम्पन्न। विषय, घटना या आख्यान का सामान्य वर्णन निबन्ध काव्य होगा, पर खण्डकाव्य में कथानक का निर्माण किया ही जाना चाहिए। वह कथा वैशिट्य-समन्वित भी होना चाहिए। यह उसका वाह्य लक्षण है, पर उसका अंतर्भूत तत्व यह है कि उसमें जीवन का अंश या खण्ड अथवा चरित्र का एक पक्ष या अंतःप्रकृति, जिसमें वैविध्य और विस्तार न हो, वर्णित हो सकता है। सक्षेप में खण्ड काव्य लघु काव्य होता है, जिसमें जीवन की व्यापकता नहीं होती, कथानक का विस्तार नहीं होता, चरित्र की विशाल भूमिका नहीं दी जाती है।[3]

---

१ साहित्य दर्पण ६ ३२८ ३२९। २ वाङमय विमर्श द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३९
३ डा० कम पाठक मैथिलीशरण गुप्त कवि और काव्य

इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध समीक्षक स्व० बाबू गुलाबराय का मत भी पठनीय है—"खण्ड काव्य मे प्रबन्ध काव्य होने के कारण कथा का तारतम्य तो रहता है, किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की वह अनेक रूपता नहीं रहती जो महाकाव्य में होती है। उसमें कहानी और एकांकी की भांति एक ही प्रधान घटना के लिए सामग्री जुटायी जाती है।"[1] उक्त व्याख्याओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि खण्ड काव्य मे जीवन का एक आंशिक पक्ष ही चित्रित होता है। द्विवेदी-युग में अनेक खण्ड काव्यों की रचना हुई है जिसका विवेचन उन कवियों के काव्यानुशीलन के अवसर पर हुआ है।

महाकाव्य

प्रबन्ध काव्य का मुख्य रूप महाकाव्य है। काव्य के विविध रूपों में महाकाव्य का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। विषय, चरित्र और शैली की महानता के साथ ही साथ महाकाव्य का उद्देश्य भी महान होता है। पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार काव्य के भावप्रधान और विषयप्रधान ये दो मुख्य भेद हैं और विषय प्रधान काव्यों में महाकाव्य का प्रमुख स्थान है। महाकाव्य का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से नहीं, बाह्य-जगत से रहता है। महाकाव्य में कवि केवल निजी व्यक्तिगत भावनाओ मे लीन न रहकर बाह्य-जगत के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता हुआ दिखायी देता है। यहां कवि व्यक्तिगत सत्ता को त्याग कर सामुदायिक या समष्टिगत जीवन के साथ अपने जीवन का सामंजस्य देखता है। वह व्यक्ति विशेष के रूप में नहीं, समाज अथवा जाति का प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने आता है। जहां गीतिकाव्य में कवि अपनी भावना में लीन होकर आत्मानन्द का अनुभव करता है, वहाँ महाकाव्य में वह जनता या समाज के योग-क्षेम की भावना को लिए उसके सुख-दुख में हाथ बटाता है। महाकाव्य में कवि जनवाणी में अपनी वाणी और लोकसत्ता में अपनी सत्ता को मिला देता है।[2]

महाकाव्य वर्ग-विशेष या जाति विशेष के अनुभवों, भावनाओं और विचारों तथा संस्कारो को सुरक्षित रखता है। यह व्यक्ति-परक न होकर सामाजिक जीवन के विविध अंगों पर प्रकाश डालता है। उसमें जातीय जीवन का चित्र अंकित रहता है। वह कवि के निजी विचारों तथा भावनाओं को न अपनाकर जातीय भावनाओं और आदर्शों को प्रधानता देता है। इसमें कोई इतिहास प्रसिद्ध कथानक होता है। उसका नायक कोई लब्धप्रतिष्ठ महान व्यक्ति होता है। इसमें जीवन का सर्वांगीण चित्र अंकित किया जाता है।[3]

महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करने वाले प्राचीनतम भारतीय आलंकारिक भामह (पांचवी शताब्दी ई०) है। उनके अनुसार लम्बे कथानक वाला महान चरित्रों पर आश्रित, नाटकीय पंच सन्धियों से युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैली मे लिखित तथा जीवन के विविध रूपो और कार्यों का वर्णन करने वाला, 'सर्गबद्ध, सुखान्त काव्य ही महाकाव्य होता है।'[4]

---

१ सिद्धांत और अध्ययन : भाग २, पृ० १०४।

२ वही।

३ डा० गोविन्दराम शर्मा : हिंदी के आधुनिक महाकाव्य : पृ० २७-२८।

४ काव्यालंकार १ १९ २१

छठी शताब्दी के आचार्य दंडी ने भामह की परिभाषा को समेटते हुए महाकाव्य के स्थूल-बाह्य लक्षणों पर अधिक जोर दिया है।[1] उनके अनुसार महाकाव्य वह है जिसका कथानक इतिहास या कथा से उद्भूत हो, जिसका नायक चतुर और उदात्त हो, जिसका उद्देश्य चतुर्वर्गफलकी प्राप्ति हो, जो अलंकृत, भावों और रसों से भरा हुआ और बड़े आकार का, सर्गबद्ध और प= सन्धियों से युक्त काव्य हो।[2]

दंडी ने महाकाव्य के प्रारम्भ, वर्णनीय वस्तु-व्यापार तथा सर्ग और छंद के सम्बन्ध मे विशेष ध्यान दिया है। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनके लक्ष्य ग्रन्थ 'महाभारत' और 'रामायण' नहीं वरन, अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्य थे। दंडी की परिभाषा ही आगे चलकर लोक प्रचलित हुई। कालान्तर में हेमचन्द्र और विश्वनाथ कविराज ने उसी में कुछ और बातें जोड़कर अपने लक्षण बनाये। हेमचन्द्र ने महाकाव्य में जीवन के व्यापक अनुभवों और कार्यो का विस्तृत चित्रण करने की आवश्यकता बतलायी है।

विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यो के मतों का समाहार करके, विशेष रूप से दंडी की परिभाषा के आधार पर, अपने लक्षण निर्धारित किये हैं। उनके आदर्श ग्रन्थ माघ, भारवि और श्रीहर्ष के महाकाव्य है।[3] रुद्रट की मान्यता सभी पूर्ववर्ती मान्यताओं से अधिक व्यापक है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में अरस्तू ने महाकाव्य के सम्बन्ध में सबसे अधिक विचार किया है। यूनान में उस समय काव्य के तीन रूप प्रचलित थे। अरस्तू के अनुसार महाकाव्य वह काव्य रूप है, जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जो षट्पदी छंद (हेक्सामीटर) में लिखा जाता है, जिसका कथानक दुखान्त नाटक के समान अन्विति युक्त और किसी सम्पूर्ण आद्यन्त घटना का वर्णन करने वाला होता है। और उस कथानक का आदि, मध्य और अन्त युक्त जीवन्त विकास दिखाया जाता है, जिससे वह जीवित प्राणी की तरह पूर्ण इकाई प्रतीत होता है। महाकाव्य में समुचित आनन्द प्रदान करने की क्षमता होती है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने हिन्दी में महाकाव्य सम्बन्धी बहुत सी बातों का स्पष्टीकरण किया है और एक संतुलित, सरल, संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसे भी यहाँ देख लेना समीचीन होगा।
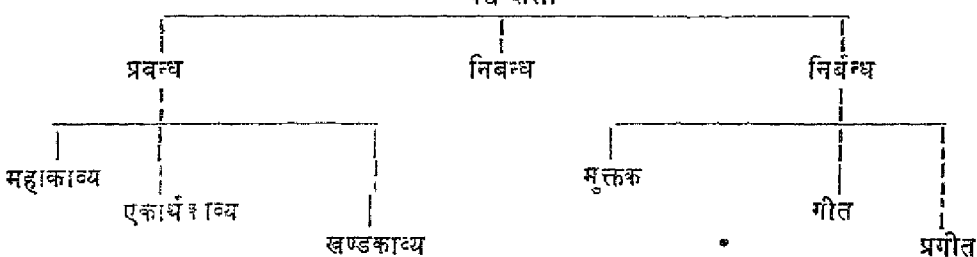
संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में महाकाव्य की दो बातों का विस्तार के साथ विचार किया गया —एक है उसका संघटन और दूसरी बात है उसका वर्ण्य विषय। महाकाव्य की रचना सर्गबद्ध होती है। सर्ग का अर्थ अध्याय है। कुछ सर्गो में कथा को विभाजित करके उसका वर्णन किया

---

1. काव्यादर्श १ १४ १९। 2. हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ५७७।
3. वही साहित्य दपण ६ ३१५-३१८ से उदधृत

जाता है। कथा का खण्ड करने से उसके वर्णन में विशेष सुगमता होती है। फारसी की मसनवी शैली में सर्गों का विधान नहीं होता, उसमें कथा क्रमशः चलती रहती है। बीच-बीच के प्रसंगों के अनुसार शीर्षक बांध दिये जाते है। सर्गों के न होने से यदि कवि एक स्थान के वर्णन में प्रवृत्त होना चाहता है तो कोई मध्यस्थ का कार्य करने वाला पात्र अवश्य होता है। कवि उसी का अनुधावन करता है, जैसे पदमावत में हीरामन सुग्गा। सर्गबद्ध प्रणाली में यह कठिनाई नहीं होती। पुराने महाकाव्यों में आठ से अधिक सर्ग होने का नियम बांधा गया है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यदि किसी रचना में मोटे मोटे आठ से कम ही खण्ड रखे जायं तो वह रचना अन्य सब प्रकार की सामग्रियों से पूर्ण होने पर सदोष रचना हो जायगी। जैसे वाल्मीकीय रामायण और रामचरित मानस में सात ही काण्ड है, किन्तु वह सदोप महाकाव्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक काण्ड में अनेक सर्ग हैं। सर्ग का लक्ष्य कथा का सुभीते के अनुसार विभाजन करना है।

महाकाव्य के मुख्य चार तत्व है—

१—सानुबंध कथा, २—वस्तुवर्णन ३—भावव्यंजना और ४—संवाद। सानुबंध कथाप्रबन्ध काव्य का बहुत ही आवश्यक तत्व है। यही वह तत्व है जो प्रबन्ध को स्फुट रचनाओं से अलग करता है। इसका उचित विधान न होने से प्रबन्ध काव्यत्व को बहुत बड़ी हानि पहुचती है। आजकल प्रबन्ध काव्यों मे एक नयी प्रवृत्ति दिखायी देती है वह है प्रगीतों का समावेश। महाकाव्य और प्रगीत एक दूसरे के विपरीत पड़ते हैं क्योंकि महाकाव्य सर्वांगीण प्रभावान्विति से युक्त होता है और प्रगीत केवल विशिष्ट अन्तःसाक्ष्य कराके विरत हो जाता है। इसलिये इनकी योजना प्रबन्ध काव्य के प्रतिकूल पड़ती है, किन्तु पाश्चात्य देशों की अनुवृत्ति के कारण हमारे देश के कवि भी इस अनावश्यक विधान में संलग्न दिखायी देते हैं। उदाहरण के लिये 'साकेत' और 'कामायनी' दोनों में प्रगीतों के प्रचुर प्रयोग हुए हैं।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संस्कृत आचार्य भामह से लेकर आज तक महाकाव्य के स्वरूप और विस्तार परिधि के सम्बन्ध मे जितनी चर्चाएं हुई हैं, उतना ही उसका रूप निखरा है। परन्तु यहीं एक जीवन्त सत्य की ओर संकेत करना भी हम अनिवार्य समझते हैं। युग बदलते गये, मानव अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं, लालसाओं और मनोवेगों को नये ढंग पर प्रस्तुत करने की चेष्टाएं भी करता गया हैं। वह गतिशील है, उस पर समय, सीमा और प्रकृति का प्रभाव भी खूब पड़ा है। इसीलिये आज का मानव पाषाण युग के मनुष्य से भिन्न हो गया है। उसकी भावनाएं तथा उसकी अभिव्यक्ति भी अवश्य ही बदल गयी है। ऐसी परिस्थिति में उसे मूर्त रूप देने वाले काव्य रूपों में भी परिवर्तन हुआ है। आज संस्कृत काव्यो की परम्परा और लक्षण प्रियप्रवास,' 'साकेत और 'कामायनी' म आते आते खण्डित हो चुके है। साथ ही साथ नयी मान्यताएं उभर कर सामने आ गयी है। इसके फलस्वरूप महाकाव्य सम्बन्धी मान्यताओं में भी अंतर आ गया है। हम एक बात और जोरदार शब्दों में कहना चाहेंगे, वह यह है कि सदैव मौलिक काव्य की रचना कवि के भीतरी आवेग, उल्लास और करुणा को लेकर स्वतः फूट पड़ती है। अस्तु, काव्य लेखक मान्य सिद्धान्तों के आधार पर कवि-कर्म नहीं करते, वरन कृति के आधार पर ही लक्षणों की स्थापना होती है। उदाहरणार्थ द्विवेदी-युग में रचित प्रियप्रवास और साकेत महाकाव्यों को देखिए

७

प्राचीन काव्य का अनुवर्तन

भारतेन्दु युग के अंतिम चरण मे व्रज भाषा और हिन्दी खड़ीबोली के समर्थक तर्क-वितर्क मे लीन थे। गद्यलेखन के रूप में तो खड़ीबोली की प्रतिष्ठा सर्व सम्मति से हो चुकी थी, परन्तु कविता में दोनों धारायें प्रचलित थी। ब्रजभाषा के कवि पुरानी परिपाटी पर रचनायें कर रहे थे और खड़ीबोली के कवि नई कविता का शृंगार करने में लीन थे। सन् १९०३ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सबल हाथों में 'सरस्वती' की बागडोर के आते ही खड़ीबोली का झण्डा तिरंगे की भांति हिन्दी-साहित्यकाश में फहराने लगा।

भारतेन्दु युग के कतिपय श्रेष्ठ कवि जो ब्रजभाषा में लिखते थे, वे भी खड़ीबोली में उतर आए। इस प्रकार के कवियों में सर्वश्री श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध और पं० नाथूराम शंकर शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार भारतेन्दु-युगीन अभिनव साहित्यिक प्रवृत्तियों का अशेष उत्कर्ष द्विवेदी युग में हुआ। रीतिकालीन मादकता के लिए अब समय न रहा। द्विवेदी युग मे यह मनोवृत्ति बिदा लेने लगी, किन्तु रत्नाकर जी पर इस युग परिवर्तन का विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। न तो उन्होंने रीतिकालीन शृंगारिकता को छोड़ा, न ब्रजभाषा को ही। ब्रजमाधुरी के कोमल पक्ष से आकृष्ट होकर पूर्णजी, सत्यनारायण कविरत्न, और श्री वियोगी हरि भी उसी पुरानी धारा में मिल गये। इस प्रकार द्विवेदी युग में भी खड़ीबोली से भिन्न एक समानान्तर धारा बराबर बहती रही। इन प्रमुख चार कवियों के अतिरिक्त भी कुछ फुटकल कवि कभी-कभी ब्रजभाषा का राग अलापते रहे। अवसर पाकर वे खड़ीबोली मे भी लिखते और इतने पर भी संतोष न होता तो दोनों की खिचड़ी भी पकाते। उनमें से कोई ऐसा प्राणवान नहीं था जिसका नामोल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहास में किया जाय।

पुरानी लीक पर चलने वाले कवियों ने यद्यपि ब्रजभाषा और रीति कालीन शृंगारिक शैली ही अपनाई, परन्तु सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना की दीप्ति से अनुप्राणित नवीन विचारधारा का भी उन पर असर पड़ा। उनकी अभिव्यंजना में युग-प्रतिबिम्ब परिलक्षित होना सहज सम्भाव्य है। नायक-नायिका के नखशिख वर्णन से कुछ दूर हटकर अन्य विषयों को भी इन्होंने अपने काव्य के अन्तर्गत स्थान दिया। स्वदेशी आन्दोलन और देश-प्रेम की भावनाओं को गति देने के विचार से 'पूर्ण' जी तथा 'कविरत्न' जी ने विशेष बल दिया द्विवेदी के

नैतिकता के प्रबल आग्रह का भी अप्रत्यक्ष रूप से इन कवियों पर प्रभाव पड़ा। देश की दरिद्रता मिटाने और स्वाधीनता लाने के लिये इनकी रचनाओं में परिवर्तन हुए।

राष्ट्रीय भावनाओं, नैतिक चेतनाओं और सामाजिक सुधारों के अतिरिक्त प्रकृति-सौन्दर्य वर्णन में भी ये कवि पूर्व पीठिका से हटने लगे थे। प्रकृति इनके लिये केवल उद्दीपन ही नहीं रही, वह आलम्बन रूप में भी ग्रहीत हुई। प्रकृति के नवीन रूपवर्णन में इस धारा के कवियों में सत्य-नारायणजी कविरत्नजी को शीर्ष स्थान प्राप्त है। रत्नाकरजी के प्रकृति चित्रण में नवीनता का उतना आग्रह नहीं है जितना चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य-बोध का। हां, 'पूर्ण' जी तथा 'हरि' जी अवश्य इस दिशा में प्रयत्नशील रहे, परन्तु कविरत्नजी के प्रकृति वर्णन का रंग ही कुछ और है जिसे आगे के उदाहरणों से परखा जा सकता है।

खड़ीबोली-काव्य में उस समय विभिन्न विषयों का समावेश हो रहा था। पिटे पटाये छन्दों, अलंकारों उपमाओं और प्रतीकों के स्थान पर नवीन काव्य-विषय, संस्कृत के पुराने छन्दों का अनुवर्तन, नवीन हिन्दी छन्दों के गठन का प्रचलन बढ़ने लगा। देश-प्रेम, राष्ट्रीयता और समाजसुधार का आग्रह चारों ओर से फैल रहा था। नवीन शब्दावली, नए उपमान और नई विधाओं से खड़ी-बोली का शृंगार किया जा रहा था। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि तत्कालीन खड़ीबोली की कविताओं में भाषा की खरखराहट और रस का अभाव-सा रहा, जो आगे चलकर द्विवेदी युग के उत्तरार्ध में दूर हुआ। सच पूछा जाय तो उसे समग्रता तो छायावाद युग में मिली, पर हमें यह नहीं भूलना होगा कि आज खड़ीबोली-काव्य का जो भव्य महल दूर से ही जनमानस को आकर्षित कर रहा है, उसकी सुदृढ़ नींव द्विवेदी युग में ही रखी गई थी। हमें तो यह कहने में भी संकोच नहीं होगा कि यदि उस समय भविष्य का ठीक ठीक अनुमान आचार्य श्री न करते और अपने समर्थ नेतृत्व से युग की सम्पूर्ण काव्य-धारा को व्यवस्थित रूप में अग्रसर होने का वातावरण तैयार न करते, तो आज हिन्दी भाषा का स्वरूप कुछ और ही होता।

ब्रजभाषा के कवियों ने भाषा का सुष्ठुरूप तो विरासत में पाया था, पर उसे गति देने वाले नूतन भाव-विचार प्रचुर मात्रा में वे न अपना सके। दूसरी ओर विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में सर्वत्र खड़ीबोली की धूम मच गई थी। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित विचार सरस्वती के माध्यम से जनता में पहुंचने लगे थे। ऊबड़-खाबड़ खड़ीबोली जीवन के नये आयाम को आत्मसात करके नये विचारों एवं नई भावनाओं से अनुप्राणित होकर लोक भाषा बन बैठी। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रचार में मध्य देश के बहुमत की भाषा होने के नाते महत्वपूर्ण स्थान पा गई। क्षेत्रविस्तार, अन्य प्रान्तीय भाषाओं के सम्पर्क और अंग्रेजी भाषा के प्रभाव ने खड़ीबोली को अधिक बल प्रदान किया। फलतः इसका एक राष्ट्रीय स्वरूप बनने लगा, जो आगे चलकर मैथिलीशरण गुप्त और मुंशी प्रेमचन्द की भाषा के रूप में संवर कर सामने आया। यहां हम आचार्य नंददुलारे बाजपेयी के इस मत को भी उद्धृत करना अभीष्ट समझते हैं—'किसी भी जीवित और जागृत साहित्य की रचना और विचारणा, उसके निर्माण और चिन्तन अटूट हुआ करते है। वे एक दूसरे से नितान्त दूर रखकर नहीं देखे जा सकते। वे प्रकृति से ही सहजात एवं समीपी होते हैं, दोनों ही दोनों को प्रभावित करते हैं।'[1]

१ आचार्य नंददुलारे बाजपेयी आधुनिक साहित्य पृष्ठ ६

हर्ष का विषय तो यह है कि द्विवेदी युग के अन्तिम चरण तक पहुंचते पहुंचते रत्नाकरजी ने भी हृदय से खड़ीबोली की महत्ता तथा अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया था। उन्हें उसके उज्ज्वल भविष्य का स्पष्ट चित्र भी दीखने लगा था। वे इसका विरोध भी नहीं करना चाहते थे, वरन ब्रजभाषा की रचना तो वे भाषा के प्राचीन स्वरूप की रक्षा के विचार से कर रहे थे, जिसका पता उनके भाषण के निम्नलिखित मार्मिक अंश से चलता है—

"इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहते हुये मुझे किंचित भी संकोच नहीं होता कि मैं ब्रजभाषा का पूर्ण पक्षपाती और समर्थक हूं। उसकी कविता में मुझे जो आनन्द मिलता है वह अकथनीय है और बहुत ढूंढ़ने पर भी वह मुझे दूसरी जगह नहीं मिलता। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि मैं खड़ीबोली की कविता का विरोधी हूं यद्यपि इस कथन में सत्यता नाम मात्र को भी नहीं है, तो भी मेरे या मेरे ऐसे दस बीस आदमियों के विरोध से जो भवितव्य है, वह टल नहीं सकता। यह स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि भविष्य में इस कविता का ही सौभाग्योदय होने वाला है। जग-न्नियन्ता जगदीश्वर ने हमारे भविष्य जीवन के लिये जो पथ निर्धारित कर दिया है, उसी पर हमको चलना पड़ेगा और उसी में हमारा कल्याण भी है। पर क्या नये भवनों के निर्माण के लिये यह अनिवार्य है कि पुराने प्रासाद सर्वथा ढहा ही दिये जायें ?"[1]

इस अंश से साफ जाहिर है कि रत्नाकरजी को युग की नाड़ी का पता था। वे समाज के प्रवाह की दिशा भी समझ गए थे। पर ब्रजभाषा के उजड़ते हुए महल को वे अपनी आंखों से देखना नहीं चाहते थे। युग सत्य के विरोध में नहीं, उसे तनिक दूर हटकर देख रहे थे। अलग पुराने मार्ग से चलकर उनकी आत्मा को तृप्ति मिल रही थी। राजघराने के सीमित घेरे में निरतर रहकर उनकी दृष्टि का सीमित होना स्वाभाविक ही था। उन्हें एक और शंका थी जो व्यर्थ होकर भी उनके मस्तिष्क को परेशान करती रही। उनका विश्वास था कि खड़ीबोली की उन्नति ब्रज-भाषा के प्राचीन साहित्य को उसी प्रकार नष्ट कर देगी जिस प्रकार राजनीतिक क्रान्ति एक पुरानी राज्य व्यवस्था को ध्वस्त कर देती है। इस सम्बन्ध में भी उनके विचार पठनीय हैं—

"इस समय हमारे देश ही में नहीं वरन् समस्त संसार में सर्वतोमुखी क्रान्ति की उद्भावना हो रही है। इस क्रान्ति का उद्देश्य प्राचीनता के विरुद्ध चाहे वह साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक हो, एक घोर आन्दोलन खड़ा करना है। हिन्दी में भी इस क्रान्ति की लहर उठ खड़ी हुई है। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। यह तो अवश्यम्भावी है। संसार में कोई भी नियम, नियंत्रण, प्रथा, रीति, व्यवहार और दशा सदैव एक सी नहीं रहती चाहे वह किसी समय उपयोगी और स्तुत्य क्यों न रही हो। इस जगत का मुख्य लक्षण ही परिवर्तनशीलता है। सदा कोई बात एक सी नहीं रहती। उसमें परिवर्तन होना रहता है, जिसे वैज्ञानिक लोग 'विकास' का नाम देते हैं। इस परिवर्तन या विकास के मूल में संजीवनी शक्ति का संचय और संचार है। ···पर क्रान्ति और विकास में कुछ भेद है। क्रान्ति सहसा होती है और प्रतिष्ठित पद्धति को समूल नष्ट कर देती है। विकास क्रमशः होता है और पुरानी नींव पर नया प्रासाद खड़ा करने का

१ रत्नाकरजी के सभापति पद से दिये गये भाषण का अंश पृष्ठ ३४ अखिल भारतीय हिन्द साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन के अवसर पर मुद्रित

उपयोग करता है . एक विकासोन्मुख है तो दूसरा विघातोन्मुख । हिन्दी के पद्य साहित्य में इस समय जो उथल पुथल देख पड़ता है वह क्रान्तिकारी है, विकासोन्मुख नहीं ।"[1]

तुलना : खड़ी बोली और ब्रजभाषा

भारतेन्दु काल की संध्या, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में एक नई प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ था । वह थी संस्कृत वृत्तों का (वर्णिक छन्दों) नवोत्थान । परन्तु उस काल के कवि न तो भाषा का कलेवर बदल सके न तो हिन्दी छन्द क्षेत्र के बाहर ही वे पाँव रख सके संस्कृत-काव्य के साथ ही साथ तत्कालीन मराठी-काव्य परम्परा का भी द्विवेदी जी पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने संस्कृत के प्रायः सभी प्रसिद्ध गणवृत्तों का प्रयोग किया है–शिखरिणी, भुजंगप्रयात, नाराच, मालिनी, स्रगधरा, शार्दूलविक्रीडित, द्रुत-विलंबित, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता, चामर, वसंत-तिलका, उपजाति, उपेन्द्र-वज्रा और इन्द्र-वज्रा आदि ।[2]

संस्कृत वर्णिक-छन्द का प्रयोग, खड़ीबोली का माध्यम और कविता के स्वरूप में नवीन क्रान्ति का संकेत—तीनों के दर्शन परवर्ती खड़ीबोली के कवियों में होने लगे। इस वर्णिक छन्द परम्परा का पालन इस युग के प्रायः सभी कवियों ने किया । फल यह हुआ कि हिन्दी में द्रुत विलंबित, मालिनी, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी और वसंततिलका आदि के सामने दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैया और लावनियों का प्रचार फीका पड़ गया । खड़ी बोली के बनाने में इन वर्णिक छन्दों का भी बड़ा महत्वपूर्ण योग है । उदाहरण के लिए देखिये—

> "देखकर जो विघ्न बाधाओं को घबराते नहीं ।
> मार्ग पर रह कर के जो पीछे है पछताते नहीं ।
> काम कितना ही कठिन हो पर जो उकताते नहीं ।
> भीड़ पड़ने पर भी चंचलता जो दिखलाते नहीं ।
> होते है यक आन में उनके बुरे दिन भी भले ।
> सब जगह सब काल में रहते हैं वह फूले फले ।"[3]

हरिऔध जी के उपर्युक्त उपदेश को उद्बोधन का स्वरूप ही समझना चाहिए । वे कर्मवीर की शक्तियों की सराहना करते हुए समाज को कर्मवीरता का उपदेश सुनाते हैं । यहीं राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित गुप्त जी की एक रचना का रसास्वादन कीजिए, जिसे उन्होंने भारत भूमि की प्रशस्ति में लिखा है ।

> "नीलाम्बर परिधान हरित-पट पर सुन्दर है ।
> सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है ।
> नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल-तारे मण्डन है,
> वंदीजन खग-वृंद, शेष-फन सिंहासन हैं ।

---

१. अखिल भारतीय हि० सा० सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन के अवसर पर सभापति के पद से दिए गए रत्नाकर जी के भाषण का अंश, पृ० ३१-३८ । २. डा० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर प० ५९ ६० तक प्रथम संस्करण ३ हरिऔध जी सरस्वती १९०७ ई० अप्रैल अंक कर्मवीर,

करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की,
है मातृ-भूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।"[1]

सरस्वती के तत्कालीन एक प्रसिद्ध कवि श्री सत्यशरण रतूड़ी आधुनिक सभ्यता, जो ठाट बाट पर आधारित है, उस पर करारा व्यंग्य करते है—

"आते ही तू जन समाज पर निज अधिकार जमाती है,
सारे जग की सभ्य जाति को नूतन नाच नचाती है।
झूठ बुलाती, कसम खिलाती और अपेय पिलाती है,
कभी हंसाती, कभी रुलाती, नाना खेल खिलाती है ॥"[2]

वह समय ही कुछ ऐसा था कि साहित्य-संसार में नागरी और राष्ट्र भाषा हिन्दी का आन्दोलन था। समाज के दूसरे क्षेत्रों में अनीति और जड़ता के नाश और अछूतोद्धार का आर्थिक जीवन में विदेशी बहिष्कार तथा स्वदेशी स्वीकार का आन्दोलन गतिमान था। और राजनीतिक जीवन में स्वशासन या स्वराज्य तथा स्वतन्त्रता की साधना हो रही थी। खड़ीबोली के प्राय: सभी कवि इन विभिन्न आन्दोलनो के साथ थे। वे जिन्दगी के इन जोरदार प्रश्नों को कविता में उतार रहे थे। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने भी स्वदेशी आन्दोलन पर कविता लिखी थी। गुप्त जी धर्म जाति के विरुद्ध एकता और मिलाप के राग में अपना स्वर मिलाकर गा उठते हैं—

"जाति धर्म या सम्प्रदाय का, नहीं भेद व्यवधान यहाँ,
सबका स्वागत, सबका आदर सबका सम सम्मान यहाँ।
राम-रहीम, बुद्ध, ईसा का सुलभ एक-सा ध्यान यहाँ,
भिन्न-भिन्न भव संस्कृतियों के गुण-गौरव का ज्ञान यहाँ
नहीं चाहिए बुद्धि बैर की, भला प्रेम-उन्माद यहाँ,
सबका शिव कल्याण यहाँ है, पावें सभी प्रसाद यहाँ ॥"[3]

संस्कृत के वर्णिक छन्दों के प्रयोग के बावजूद अधिकांश कवि अन्त्यानुप्रास युक्त वृत्तों का ही प्रयोग करते रहे जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से सहज ही देखा जा सकता है। पर इस बंधन का पूर्ण उच्छेद करते हुए संस्कृत वृत्त-प्रणाली का पूर्ण पालन आगे चलकर हरिऔध जी ने किया अतुकान्त गणवृत्तों में उनका 'प्रियप्रवास' महाकाव्य इस युग की एक महान देन है। अतुकान्त-हिन्दी कविता का यह दीप स्तम्भ है। गणवृत्तों के इस महाकाव्य को हिन्दी जगत में सिर आंखों पर रखा और कवि को महाकवि की उपाधि से विभूषित किया। देखिए, प्रियप्रवास से भी एक अंश—

"ला के फूले कमल दल को श्याम के सामने ही,
थोड़ा-थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो यों डुबाना।
यों देना ऐ भगिनि जतला एक अंभोजनेत्रा
आंखो को हो विरह विधुरा वारि में बोरती है [4]

'मंदाक्रान्ता' छन्द में लिखित इन पंक्तियों में पूर्णरूप से अतुकान्त काव्य का स्वरूप निखर आया है। यह एक गौरव की बात है क्योंकि अमित्र छंद-विधान छन्द-विन्यास में एक प्रकार की क्रान्ति है। इस संदर्भ में महाप्राण निराला का मत देखिये—

"मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिये अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। जैसे बाग की बधी और वन की खुली प्रकृति दोनों ही सुन्दर है, पर दोनो के आनन्द तथा दृश्य दूसरे हैं। जैसे आलाप और ताल की रागिनी, इसमें कौन अधिक आनन्दप्रद है, यह बताना कठिन है; पर इसमे संदेह नहीं कि आलाप, वन्यप्रकृतितथा मुक्त काव्य स्वभाव के अधिक अनुकूल है।"[1]

इस युग के कवियों के पास विषय की कमी तो थी नहीं। द्विवेदीजी सरस्वती के माध्यम से संकेत कर चुके थे कि चींटी से लेकर हाथी तक पशु, भिखारी से लेकर राजा तक मनुष्य, बिन्दु से लेकर सागर पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, पृथ्वी आदि पर कविता होनी चाहिए। वैसे भी कवि के लिए जगत के तीन क्षेत्र हैं–(१) स्व (२) पर और (३) परोक्ष सत्ता। इस काल में 'स्व' पर (वस्तु जगत) काव्य रचे गये। एक नई भाषा के माध्यम से कवि अपने निकट वाले स्थूल, सूक्ष्म पदार्थ, प्रश्न या विषय पर छन्द रचना करने लगे। वस्तु जगत के सभी दृश्य और पदार्थ कवि की कविता के विषय बनने लगे। इनका प्रारम्भ मुक्तक (स्फुट) कविताओं से हुआ।[2]

सन् १९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध छिड़ने पर हिन्दी का कवि युद्ध के भीषण किन्तु यथार्थ चित्र अंकित करने लगता है–

"तोपें करतीं एक ओर संहार दनादन।
एक ओर 'गन' छोड़ रहीं गोलियाँ सनासन।
सगीनों की मार प्राण लेती है पल में।
हिल जाता यमराज-हृदय भी इस हलचल में।
मनुज पतंगों की तरह भुनते रण की आग से।
दल के दल है काटते निर्भय होकर साग से।"[3]

उस काल के कवि श्री नाथूराम 'शंकर' ने बन्धन में ही छन्द का चमत्कार दिखाया। गणात्मक छन्दों जैसे द्रुतविलम्बित, मालिनी, वंशस्थ और वसंततलिका आदि में तो गण के आग्रह से वर्ण-गणना और वर्ण-क्रम सम रहते हैं, परन्तु मात्रिक छन्द जैसे दोहा, रोला, चौपाई, हरिगीतिका आदि इस वर्णिक बधन से सर्वथा मुक्त हैं। उस समय हरिऔध के अतिरिक्त सनेही, भारतीय आत्मा, दीन आदि ने 'सरस्वती' तथा 'मर्यादा' में हिन्दी के मात्रिक छन्दों के चरणों से 'षट्पदियाँ' बनाईं।

खड़ीबोली के उपर्युक्त उदाहरणों के विपरीत ब्रजभाषा के कवियों का काव्य स्वर कुछ और ही था। अस्तु यहाँ रायदेवी प्रसाद पूर्ण, रत्नाकर कविरत्न और वियोगी हरि के काव्य से एक

---

१ निराला परिमल की भूमिका २ डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, कविता के विषय पृ० ७२ ७३ ३ सनेही युद्ध सरस्वती नम्बर १९१४ ई०

एक अंश लेकर तुलना के लिये रखते है, इससे दोनों काव्य सरणियों का अन्तर स्पष्ट हो जायगा लोगों को सरसशृंगारिक रचना का रसास्वादन कराने के विचार से सवैया छन्द की प्रचलित शैली मे पूर्ण जी कहते हैं–

"उर प्रेम की ज्योति जगाय रही, मति को बिनु आस घुमाय रही।
रस की बरसात लगाय रही, हिय पाहन से पिघलाय रही ॥
हरियाले बनाय के रूखे हिये, उत्साह की पैगे झुलाय रही ।
इक राग अलापि के भाव भरी षट्राग प्रभाव दिखाय रही ॥"[1]

पूर्ण जी खड़ीबोली के कवियों के समान नूतन विषयों की कविता भी ब्रजभाषा में करते थे। जैसे–

"विगत आलस की रजनी भई। रुचिर उद्यम की द्युति गई ।
उदित सूरज है नवभाग को। अरुण रंग नये अनुराग को ॥
तजि बिछौनन को अब भागिए। भरत खण्ड प्रजागण जग गए ॥"[2]

'पूर्ण' जी ने युग का परिवर्तित भाव समझ लिया था। इसीलिए आगे चलकर उन्होने खडीबोली की रचनाओं में स्वदेश प्रेम और स्वदेशी प्रचार का समर्थन किया है। परन्तु रत्नाकर जी पर ब्रजभाषा परिवर्तन और विषयगत आन्दोलन का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी रचनायें हैं। यहां तक कि द्विवेदी युग के समाप्त होने पर भी वे राष्ट्रीय धारा के कवि न बन सके। उदाहरण के लिए उनकी रचनाओं के दो अंश देखिए—क्रमशः(१) द्विवेदी युगीन 'उद्धवशतक' से और दूसरा 'शृंगार लहरी' से–

(१) सोच है यहै कै संग ताके रंगभौन माँहि,
कौन धौ अनोखौ ढंग रचत निराटी है।
छाँटि देत कूबर कैं आंटि दैत डांट कोऊ.
काटि दत खाट किधौ पाटि दैत माटि है ॥[3]

(२) आए उठि प्रात गोल गात अलसात मुख,
आवति न बात भारु भावत कसीस है।
कहै 'रतनाकर' सुघार मुखौ सो लखि,
बिलखि न बोलो रही नीचैं करि सीस है ॥[4]

कविरत्न सत्यनारायण जी ने भाषा तो ब्रज ही चुनी; पर काव्य के विषय समयानुसार बदलते रहे। उन्होंने 'पूर्ण' जी से भी एक कदम आगे बढकर राष्ट्रीयता के गान गाये। भक्तिपूर्ण कविताओं में कविरत्न को देश नहीं भूला है! लीजिए एक चित्र—

"माधव अब न अधिक तरसैये ।
तुम्हारे अछत तीन-तेरह यह दैस दसा दरसैये।
पै तुमको यह जनम धरै को तनकहु लाज न आवै।"[5]

---

१ पूर्ण-पराग ी। २ आचार्य शुक्ल हि० सा० का इतिहास
३ रत्नाकर ४ रत्नाकर शृंगार लहरी ५ कविरत्न सत्य प्रार्थना।

कविराज जी के काव्य से एक और उदाहरण लीजिये, देश की खराब दशा को दृष्टि रखकर कवि कहता है–

"नित नव परत अकाल, काल को चलत चक्र चहुं ।
जीवन को आनन्द न देख्यो जात यहां कहुं ।
बढ़्यौ यथेच्छाचार कृत जहं देखो तहं राज ।
होत जात दुर्बल विकृत दिन दिन आर्य समाज ।।
दिनन के फेर सौं ।"[1]

श्री वियोगी हरि के काव्य से ब्रजभाषा का एक और उदाहरण लेकर हम इस प्रसंग कं यहीं समाप्त करना चाहेगे । कारण, इस पूरे अध्याय में इन्हीं कवियों के उद्धरण आगे दिए गए . अस्तु, पृष्ठ-पेषण से क्या प्रयोजन !

"या तेरी तरवार मे नहि कायर अब आब ।
दिलहू तेरो बुझि गयो, बामे नेक न ताब ।।"

हरि जी के सुप्रसिद्ध काव्य वीर सतसई से एक और उद्धरण देखिये–

"झझकत हियें गुलाब ज्यों झंवा अवैयत पाइ ।
या विधि इन सुकुवांरता अब न दई सरसाइ ।।
जाव फलैं जरि, जरत जो उरघ उसासनि देह ।
चिरजीवो तनु रमतु जो प्रलय-अनल कै गेह ।।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से खड़ीबोली और ब्रजभाषा के काव्य का कुछ आभास मिल जाता है । दोनों के स्वर, दोनों भाषाओं की अभिव्यजना शक्ति और दोनों में मुख्य रूप से ग्रहीत विषयों के सकेत से युग की भावधारणा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । इस सम्बन्ध में आचार्य बाजपेयी का मत भी पठनीय है–

"नए युग का काव्य-साहित्य यद्यपि नये निर्माण में लगा था, पर यह पुरानी व्यवस्था को पूरी तरह बदल न पाया । कविगण प्राचीन घटनाओं और चरित्रों से प्रभावित हों, अथवा पुराने आख्यानो या प्रसंगों से प्रेरणा ग्रहण करें, यह तो स्वाभाविक है, परन्तु काव्य साहित्य में पुरानी रूढियों को अपनाना कवि-कल्पना के स्वातन्त्र्य का बाधक ही कहा जायगा । हमारा नया साहित्य सक्रान्ति काल से पार हो रहा था । धार्मिक भावना तथा चरित्रों के रूढ़ स्वरूप शेष थे । परन्तु नई दिशा में भी नये सिरे से कार्य हो रहा था । नई कविता प्राचीन और मध्यकालीन चरित्रों और कथाओं के प्रभावपूर्ण अंशों को चित्रित करने लगी थी । स्वतन्त्र जीवन चित्रण की अपेक्षा घटना के चमत्कार और उसके नाटकीय या भावात्मक वैचित्र्य का लाभ उठाया जा रहा था । इस युग की हिन्दी कविता कला की दृष्टि से प्रयोगात्मक ही कही जायगी । कतिपय छोटे आख्यानों का कविता में वर्णन कर देना अथवा कोई उत्साहवर्धक सीख दे देना ही इस समय के काव्य का रूप था कविता कथात्मक या निबंधात्मक आकारों में ही व्यक्त हो सकी [4]

जगन्नाथदास रत्नाकर

जीवन-वृत्त :—काशी के एक धनी-मानी तथा दानी परिवार में भाद्रपद ऋषिपंचमी, सम्वत् १९२३ (१८६६ ई०) को रत्नाकर जी धरती पर अवतरित हुए। इनके पूर्वज मुगल दरबार मे प्रतिष्ठित पदों पर नियुक्त थे। वे लोग मूलतः पानीपत जिलान्तर्गत 'सफीदां' (सर्पदमन) ग्राम के निवासी थे। मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर ये लोग 'जहांदारशाह' के साथ काशी चले आए। यहां वे दिल्ली वाले वैश्य के नाम से बस गए।

मुगल साम्राज्य के आखिरी दौर में इनके पूर्वजों को लखनऊ के नवाबों की शरण लेनी पड़ी थी। इनके प्रपितामह सेठ तुलाराम को जहांदार शाह के दरबार में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। नवाब साहब ने एक बार उनसे तीन करोड़ रुपये कर्ज मांगे। उस आज्ञापालन में सेठजी को अपनी सारी सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ा था। फिर भी उनके रईसी ठाट वैसे ही रहे।

रत्नाकरजी की शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। सन् १८८८ ई० में उन्होंने बी० ए० पास किया। इसके बाद वे फारसी लेकर एम० ए० करना चाहते थे, पर उनकी यह साध किन्हीं कारणों से पूरी नहीं हुई। रत्नाकर जी के पिता सेठ पुषोत्तम दास अरबी, फारसी तथा उर्दू के अच्छे विद्वान तथा कवि थे। हिंदी कविता से भी उन्हें प्रेम था। इनके घर पर कभी कभी कवि-गोष्ठियां भी हुआ करती थीं। भारतेन्दुजी रत्नाकरजी के पिता के अंतरंग मित्र थे। अपने पिता के यहां होने वाली गोष्ठियों मे रत्नाकरजी भी भाग लेते थे। भारतेन्दु जी ने इनकी प्रतिभा को पहचाना, और इन्हें महाकवि होने का आशीर्वाद दे दिया।[1]

प्रारम्भ में रत्नाकरजी उर्दू तथा फारसी में कविता करते थे। उस समय इनका उपनाम था 'जकी' और इनके काव्य-गुरु थे सैय्यद मुहम्मद हसन फायज्। किंतु भारतेन्दु-मण्डली के सम्पर्क मे आकर इन्होंने ब्रजभाषा के सुधारस का पान किया। उसमें इतने छक गए कि उर्दू-फारसी सब कुछ भूल गये। कहा तो यहां तक जाता है कि इन्होंने अपने उर्दू-फारसी के दीवान को भी जला दिया।[2]

जीवन-प्रवेश :—सन् १९०० ई० में रत्नाकरजी आवागढ़ राज्य के प्रधानमंत्री नियुक्त हुए, किन्तु वहां की जलवायु अनुकूल न होने के कारण उक्त प्रतिष्ठित पद त्यागना पड़ा। अतः १९०२ ई० में अयोध्या नरेश के आग्रह पर ये उनके निजी सचिव बने। तत्कालीन महाराज प्रताप-नारायण सिंह ने इनकी योग्यता एवं कार्य कुशलता से प्रभावित होकर इन्हें मुख्य-सचिव बना दिया। राजा साहब की मृत्यु के पश्चात् महारानी साहिबा ने भी इनका उसी प्रकार सत्कार किया। ये महारानीजी के भी प्रमुख सचिव रहे। रानीजी रत्नाकरजी पर अपने सगे सम्बन्धियों से भी अधिक विश्वास करती थी। रत्नाकरजी अंग्रेजी, फारसी, हिन्दी, उर्दू के अच्छे विज्ञ थे। इन्हे संस्कृत का भी थोड़ा ज्ञान था। विद्यार्थी जीवन से ही इन्हें कविता का चाव था। इनके पिता की उदारता के कारण इनका घर हिन्दू-मुसलमान दोनों प्रकार के कवियों का अतिथि गृह बना रहता था। कवियों के लिए एक कमरा अलग सजा हुआ था।

---

१ डा० विमलकुमार जैन : हिन्दी के अर्वाचीन रत्न

२ श्री कृष्ण कुमार कौशिक रीतिकाल और रत्नाकर

सन् १८९३ ई० में इन्होने 'साहित्य सुधा निधि' नाम की एक मासिक पत्रिका भी निकाली थी। उसका सम्पादन रत्नाकरजी स्वयं तथा बाबू देवकीनन्दन खत्री, दोनों मिलकर करते थे। सन् १९०२ ई० तक इनका अध्ययन व्यापक हो चुका था। रत्नाकरजी प्राचीनता के पुजारी थे। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति इनके हृदय में अपार श्रद्धा थी। ब्रजभाषा और ब्रजवनि इन्हें प्रिय थे। इस सम्बन्ध में आचार्य नंददुलारे बाजपेयी का मत भी पठनीय है—

स्वभाव:—'रत्नाकरजी की मनोवृत्ति मध्य-युग की थी, वे मध्य युग के ही वातावरण मे रहते थे और अंग्रेजी पढ़कर भी उन्हें आधुनिकता मे कोई विशेष रुचि न थी। मध्ययुग हिन्दी साहित्य का सुवर्ण युग था और रत्नाकरजी उसी की रम्य विभूति मे रम गए थे। उनकी भाषा, उनके साहित्यिक विषय सब तत्कालीन ही थे। यहाँ तक कि उनके आचार व्यवहार में भी उसी समय की मुद्रा थी। उस युग की कल्पना को वास्तविक बनाकर रत्नाकरजी पूरे प्रसन्न भाव से रहते थे और उन्होंने हमारे इस युग की भावभाषा की कोई विशेष चिन्ता नहीं की।''[1]

रत्नाकरजी ने आधुनिक हिन्दी कविता के तीन युग अर्थात् भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग तथा छायावाद युग अपनी आखों से देखा था, पर उन पर इन युग परिवर्तन का कुछ प्रभाव नही पड़ा। उन्होंने हजार से ऊपर पद्य लिखे होंगे, परन्तु वे सब हैं ब्रजभाषा में। खड़ीबोली मे उन्होंने केवल तीन कवित्त लिखे थे। काव्य कला की दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं है। युग की उठती हुई साहित्यिक प्रवृत्तियो, नवीन साहित्यिक विधाओ और परिवर्तित काव्य-शैलियों तथा बदलते हुए जीवन के मूल्यो से वे तनिक भी प्रभावित नही थे। जो जो तूफान आये उनकी ओर से नजर फेरकर रत्नाकर जी अडिग अचल पर्वत की भांति खड़े रहे।[2]

साहित्यिक जीवन के मोड़—कविवर रत्नाकर के साहित्यिक जीवन को हम तीन भागो मे बांट सकते हैं। (अ) प्रथम भाग सन् १८९४ ई० से लेकर सन् १९०८ ई० तक। इस वर्गीकरण का आधार यह है कि इनकी प्रथम काव्य कृति 'हिन्डोला' सन् १८९४ ई० में ही लिखी गई। यद्यपि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल इनके काव्य का प्रारम्भ सन् १८८९ ई० से ही मानते हैं।[3] सम्भवतः शुक्लजी की मान्यता है कि ब्रजभाषा के पद तथा समस्यापूर्तियों का कार्य रत्नाकरजी सन् १८८९ ई० से ही करते रहे हों। परन्तु समय की सीमा निर्धारित करते हुए हम अत्यन्त नम्रता से शुक्लजी के विचारों का खंडन करते हैं। इस खडन के पक्ष में हमारा निवेदन यह है—(१) रत्नाकरजी की समस्त काव्य कृतियो को 'रत्नाकर' नाम से नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है, उसमें हिन्डोला से आगे की ही इनकी कृतियां संग्रहीत है। इससे पूर्व की कोई कविता 'रत्नाकर' शीर्षक संग्रह में नहीं दी गई है।[4] न तो उसका कहीं कोई विशेष उल्लेख ही किया गया है। (२) स्वयं शुक्लजी अपने इतिहास में लिखते है—भारतेन्दु के पीछे संवत् १९४६ (सन् १८८९) से ही ये ब्रजभाषा मे कविता करने लगे थे। 'हिन्डोला' आदि इनकी

१ आचार्य नंददुलारे बाजपेयी : हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी

२. पं० कृष्णशंकर शुक्ल : आधुनिक युग का इतिहास

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य शुक्ल

४ रत्नाकर नागरी प्रचारिणी सभा काशी

पुस्तकें बहुत पहले निकली थीं।'[1] यहाँ भी उन्होंने किसी प्रमुख रचना का उल्लेख नहीं किया है। हिण्डोला का ही नाम लेकर हमारे कथन को पुष्ट किया है। (ब) सन् १९०२ ई० के बाद उनके जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ। महाराज अयोध्या नरेश की नौकरी, राजा साहब की मृत्यु रानी का अपने भतीजे को गोद लेना और फिर मुकदमे के चक्कर में रत्नाकरजी को कचहरियों की धूल फांकना। इन उलट फेर के कार्यों में सन् १९०३ से १९१० ई० तक रत्नाकरजी पूर्णतः मौन रहे।[2] रत्नाकरजी ने स्वयं कहा है, 'सन् १९०२ ई० से १९१० ई० तक मैं झूठ नारायण-कचहरी की सेवा में व्यस्त रहा। सत्यनारायण कविरत्न से कैसे मिलना।' रत्नाकर ने 'कविरत्न' को अपना 'एवजी' कहा है।[3] इसके बाद सन् १९१० से लेकर सन् १९२० तक रत्नाकरजी मौलिक सरस फुटकल पदों की रचना करते रहे। बीच बीच मे मौलिक पदों के अतिरिक्त सम्पादन, अनुवाद तथा व्याख्यालेखन का कार्य भी चलता रहा। सन् १९१७ ई० में 'बिहारी रत्नाकर' का कार्यारम्भ हुआ और सन् १९१९ ई० में समालोचनादर्श प्रकाशित हुआ। (म) सन् १९२ ई० 'गंगावतरण' की रचना से लेखक के काव्य जीवन का तृतीय उत्थान प्रारम्भ होता है जिसका अंत २१ जून सन् १९३२ ई० को हरिद्वार में हुआ जिस दिन लोगों ने समाचार पत्रों में अचानक पढा, 'भगवती भारती के अनन्य भक्त रीतिकालीन धारा के अन्तिम कवि. कविवर रत्नाकर को २१ जून सन् १९३२ ई० को हरिद्वार में गंगालाभ हुआ।'

कवि रत्नाकर के रचना काल पर कुमारी उषा के विचार निम्नलिखित है—'रत्नाकरजी के रचनाकाल को हम स्पष्टतया दो भागों में विभाजित कर सकते है। पहला भाग सन् १८९४ ई० से १९०२ ई० तक तथा उत्तरार्द्ध सन् १९११ से १९३२ ई० तक (उनकी मृत्यु सन्) मानना उचित होगा। सन् १९०३ ई० से १९१० ई० तक रत्नाकरजी साहित्यिक क्षेत्र में पूर्णरूप से मौन रहे। फलतः लगभग १५ वर्ष हिन्दी साहित्य को उनका कोई भी रत्न प्राप्त न हो सका। यद्यपि कुछ फुटकल छन्दों की रचना हुई, किन्तु वे उनके रचनाकाल के उत्तरार्द्ध मे ही प्रकाश में आये।'

ध्यान देने पर उपर्युक्त विभाजन दोषयुक्त जान पड़ता है। पहली बात तो सन् १९०३ ई० से १९१० ई० तक के समय को १५ वर्ष मानना अरिथमेटिक के सामान्य ज्ञान का उपहास करना होगा। फिर ऊपर समय की एक ही सीमा के लिए १९११ ई० लिखना और नीचे १९१० ई० कहना कुछ जचता नहीं। अस्तु, इतना तो निर्विवाद है कि उषाजी ने अंकों के साथ खिलवाड किया है। दूसरी बात कुछ फुटकल पदों की रचना-सम्बन्धी है। वे कब प्रकाशित हुए यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना उनका रचनाकाल। उदाहरण के लिए महाकवि निराला की 'जुही की कली' को लीजिए जो लिखी गई सन् १९१६ ई० में पर उसका प्रकाशन हुआ १९२७ ई० में तो भी वह द्विवेदी युग की ही रचना मानी गई है। उसी प्रकार रत्नाकरजी के फुटकल पदों (उद्धव शतक) की रचना निःसदेह सन् १९१० ई० से लेकर सन् १९२० ई० के बीच में ही हुई थी जैसा कि रत्नाकरजी के स्वतः कथन से ज्ञात है—

'संवत् १९७८ (सन् १९२१ ई०) के आरम्भ में मेरा एक संदूक हरिद्वार में चोरी चला गया, जिसमें अन्यान्य सामग्री के साथ मेरे कवित्तों की एक चौपतिया भी जाती रही, इसमें ५०

---

१ आचार्य शुक्ल हि० सा० का इतिहास

२ कु० उषा जायसवाल रत्नाकर और उनका काव्य   ३ वही

से ऊपर कवित्त थे।" इस कथन से स्पष्ट है कि सम्वत् १९७८ (१९२१ ई०) के पहले ही उन पदों की रचना हुई थी। अर्थात् अयोध्या निवास में वे कवित्तों की रचना जब तब किया करते थे। बाद में अपनी स्मृति के आधार पर इन्होंने लगभग सवा सौ पद पुनः लिख लिए और शेष सदैव के लिए खो गए। अस्तु, स्मृति के आधार पर लिखे गए पदों के संकलन 'उद्धवशतक' को द्विवेदी-युग की रचना मानना ही पड़ेगा। हां, उसका प्रकाशन गंगावतरण आदि के बाद अवश्य हुआ जिसका कारण स्पष्ट बताया जा चुका है।

रत्नाकरजी के इष्टदेव श्री राधा कृष्ण थे। काशी में बसने के कारण वे शिव के उपासक भी बन गए थे। 'गंगावतरण' काव्य की रचना से ज्ञात होता है कि गंगा के प्रति भी उनके मन में श्रद्धा थी। रत्नाकरजी ने ब्रजभाषा कवि समाज भी स्थापित किया था। वे सरल, रसिक, विनोद-प्रिय एवं उदार प्रकृति के पुरुष थे। उनमें गर्व भी भरपूर था। अपने गंगावतरण काव्य में उन्होंने बाल्मीकि से अपनी तुलना की है। पैदल चलने और घुड़सवारी का इन्हें बड़ा शौक था। सन् १९०३ ई० में प्रथम बार बम्बई गए थे, जहां सुन्दर मोटरों को देखकर बड़े प्रभावित हुए। वापस जाते समय एक मोटर कार खरीद कर काशी ले गए। इन्हें अनुवाद और टीका प्रस्तुत करने में भी आनंद आता था। सचमुच वे मौलिक कृतिकार, अनुवादक तथा आचार्य तीनों थे। इनके अनेक साहित्यिक मित्रों में से 'प्रसाद' जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनकी रचनाओं से प्रभावित होकर इन्हें १९२५ में अखिल भारतीय कवि सम्मेलन का सभापति चुना गया था। सन् १९३० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर रत्नाकरजी को अध्यक्ष मनोनीत किया गया था। इससे उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा एवं गौरव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

रचनाएं—'रत्नाकर' में बारह रत्न संग्रहीत हैं जिनका क्रम इस प्रकार है—१. हिन्डोला, २. समालोचनादर्श, ३. हरिश्चन्द्र, ४. कल काशी, ५. उद्धवशतक, ६. गंगावतरण, ७. शृंगारलहरी, ८. गंगालहरी, ९. श्रीविष्णु लहरी, १०. रत्नाष्टक, ११. प्रकीर्ण पद्यावली १२. वीराष्टक। इसमें कुछ ऐसे कवित्त अथवा सवैये हैं जिन्हें कवि अपने जीवनकाल में पूरा न कर सका। रत्नाकरजी केवल कवि ही नहीं थे प्रत्युत उच्च कोटि के गद्य लेखक भी थे। समय समय पर उन्होंने पत्र पत्रिकाओं में विभिन्न विषयों पर विद्वत्तापूर्ण लेख भी लिखे हैं। सरस्वती के प्रकाशन के प्रारम्भिक वर्षों में बाबू श्यामसुन्दर दास के साथ रत्नाकरजी भी सहकारी सम्पादक थे और इनका भी नाम पत्रिका पर छपता था।

उद्धवशतक–(कथा)–उद्धवशतक का विषय भ्रमर गीत की चिर प्रचलित कथा है। कवि ने मौलिकता उत्पन्न करने के विचार से इसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर दिया है। उद्धवशतक का प्रारम्भ अति नाटकीय ढंग पर हुआ है। कृष्ण एक बार यमुना में स्नान करने गए। संयोग से उन्होंने एक मुरझाये हुए कमल पुष्प को बहते देखा। कुतूहलवश उठाकर कृष्ण ने उसे सूंघ लिया। बस फिर क्या था। उनके हृदय में ब्रजभूमि, राधा एवं गोपियों की सुसुप्त स्मृति जाग्रत हो गई। भावनाओं के प्रबल आवेग में वे खो गए तन मन की सुधि भूल गई उनका प्रफुल्लित मु

आभाहीन हो गया। चेतना हीन से होकर वे धरती पर धड़ाम से गिर पड़े। कृष्ण के परम मित्र, ब्रह्मज्ञानी सखा, उद्धव यह सब देख कर आश्चर्य चकित रह गये। उन्होंने कृष्ण को पुनः चेतनावस्था में लाने के लिए अनेक प्रयत्न किए, किन्तु कोई भी उपचार कृतकार्य नहीं हुआ। उसी समय पास रखे हुए शुक ने राधा का नामोच्चार किया। तब कृष्ण ने आंखें खोलीं। भावाकुल श्याम सखा की मदद से किसी प्रकार भवन तक पहुंचे।[1]

ब्रज की मधुर स्मृतियों में ऊभ-चूभ होते हुए कृष्ण के सम्मुख उनकी बाललीला-रासलीला के सारे दृश्य चित्र की भांति घूम रहे थे। उन्हें ऐसा आभास हो रहा था मानों वे सब कृष्ण को पुन गोकुल बुला रहे हैं। विरही कृष्ण ने मन बहलाने के विचार से उद्धव से ब्रज-प्रसंग छेड़ दिया, किन्तु भावनाओं के वेग से उनके नेत्र भर आए, कंठ रुंध गया और शब्द बाहर न निकले। कृष्ण की इस अधीरता एवं बेचैनी को देखकर उद्धव का धैर्य भी छूटने लगा। परन्तु वे ब्रह्मज्ञानी थे, संभल कर उन्होंने कृष्ण को समझाया कि वे पुरानी समस्त लीलाओं को मन से निकाल दें। गोपियों के साथ बर्तते हुए मानवीय संबधों को माया समझ कर उसे हृदय से हटा दें। पर प्रेम-प्रवाह मे बहते हुए कृष्ण को ये शुष्क उपदेश भला क्यों कर रुचते। कृष्ण ने तत्काल उत्तर दिया—

"हां ! हां ! इन्हें रोकने को टेक न लगावौ तुम।"[2]

पुनः तनिक सचेत होकर कृष्ण ने उद्धव से कहा कि मैं तुम्हारी बातें एक शर्त पर मान सकता हूं। वह शर्त तो सुनिए—

"आओ एक बार धरि गोकुल गली की धूरि,
मन सों करैं जो सों, सुवन सिर आंखिन सो,
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहै हम।"[3]

तदनन्तर कथा पूर्व प्रचलित रूप में ही अग्रसर होती है। ज्ञान गर्व पूर्ण उद्धव ब्रजवासियो को उपदेश देने की उमंग मे गोकुल जाते हैं। वहा के सरस वातावरण में पहुंचते ही उद्धव की शुष्कता मिटने लगती है। हृदय प्रेम के सजीव स्वरूप को देखकर विगलित हो जाता है। ज्ञान की गठरी पता नहीं कहां छूटकर गिर जाती है। फिर भी साहस करके वे अपने 'मिशन' की सफलता के लिए अनेक उपाय के साथ तर्क प्रस्तुत करते है। गोपियां कृष्ण के संदेश एवं उद्धव के उपदेश से आश्चर्य चकित हो जाती है। शोक-संतप्त गोपियां उद्धव पर व्यंग्य-बाणों की वर्षा करके, कृष्ण को उपलम्भ देकर, अपनी निर्मल प्रीति की रीति दर्शाकर उद्धव को आत्मविभोर बना देती है। विवश, थके, हारे, प्रेम स्वीकार, उद्धव यशोदा, गोपियों एवं राधा की भेंट तथा संदेश लेकर कृष्ण के पास मथुरा पहुंचे। गोकुल के समाचार सुनाते समय उनकी दशा ठीक वैसी ही हुई थी जैसी केवल स्मृति जागने पर कृष्ण की थी।[4] उत्सुक कृष्ण से उन्होंने इन शब्दो में निवेदन किया—

---

१. डा० स्नेहलता श्रीवास्तव, हिन्दी मे भ्रमरगीत काव्य और उसकी परंपरा।
२ पद संख्या—१८, जगन्नाथदास रत्नाकर, उद्धवशतक।   ३. वही।
४ डा स्नेहलता श्रीवास्तव हिन्दी मे भ्रमरगीत काव्य और उसकी परंपरा

आँसुनि धार और उभारको उसासनि के
तार हिचकीनि के तनक टरि लेन देहु ।
कहै "रत्नाकर" फुरन देहु बात रंच,
भावनिके विषम प्रपंच सरि लेन देहु ।
आतुर ह्वै और हू न कातर बनाओ नाथ,
नेसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु ।
कहत आगे हैं कहि आवत जहाँ लौं सब,
नेकु थिर कढ़त करेजों करि लेन देहु ।"[1]

इतना ही नहीं, अत्यन्त ईमानदारी से उद्धव ने स्वीकार किया कि आपने जिस ब्रह्म ज्ञान को लेकर मुझे वहां भेजा था, वह गोपियों के प्रेम के सम्मुख तनिक भी टिक न सका। और सच कहता हूं यदि आपको सदेश देना, गोपियों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराना, आवश्यक न होता, तो मैं भी वहीं कहीं कालिंदी के किनारे कुटीर बनाकर टिक जाता, अब से मथुरा न लौटता। निम्नलिखित पंक्तियों में उद्धव की मार्मिक अभिव्यक्ति देखिये—

"होतो चित चाव जो न रावरे चितावन को,
तजि ब्रज गांव इते पांव धरते नहीं ।"[2]

भाव पक्ष—भक्तिकालीन कवियों की भावुकता तथा रीतिकालीन कवियों की शृंगारिकता दोनों के सम्मिश्रण से रत्नाकर जी ने अपनी कला का शृंगार किया था। उनकी सौंदर्य साधना की यही विशेषता उद्धवशतक' में भी परिलक्षित होती है। सम्पूर्ण उद्धव शतक' की रचना घनाक्षरी छन्द में हुई है। उद्धवशतक का प्रत्येक छंद अपने आप मे पूर्ण होने के कारण मुक्तक काव्य की विशेषताओं से सम्पन्न है तथापि इन कवित्तों को कथा-प्रसंग के अनुसार संग्रहीत करके रत्नाकर जी ने 'उद्धवशतक' को प्रबंध काव्य का रूप भी प्रदान कर दिया है। यह प्रबंध काव्य ११८ घनाक्षरी छंदों मे समाप्त हुआ है। रत्नाकर जी की कलात्मक राग-रसिकता से सिक्त उद्धवशतक भ्रमर-गीत काव्य परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। हिंदी में भ्रमरगीत काव्य की परम्परा भक्तिकालीन कवियों से प्रारम्भ होती है। इस परम्परा का उत्स श्रीमद्भागवत है ।[3]

रत्नाकर जी नए युग में रहकर और अंग्रेजी भाषा पढ़कर भी प्राचीनता से चिपके रहे। उनमे युग के अनुकूल विचार प्रवाहित करने तथा क्रान्तिकारी कदम उठाने का साहस नहीं था। लीक पीटने वालो में ही उनकी गणना होगी। इस सम्बंध में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत भी पठनीय है—"रत्नाकर जी वैष्णव कवि थे। वे प्राचीन हिंदी की काव्य धारा में स्नात थे। उनकी प्रकृति भी उसी सांचे में ढली थी। उनको पंडो, पादरियों और पुरोहितो के विरुद्ध आन्दोलन करने की फ़ुरसत नहीं थी। यदि आधुनिक हिंदी का कोई कवि प्राचीन पंथ पर चलने का साहस कर सफल-मनोरथ हो सका है तो वह रत्नाकर जी थे। रत्नाकर जी की विशेषता लीक पर ही चलने की थी। यदि अंग्रेजी के इस अर्थपूर्ण शब्द को उधार लेना अनुचित न हो तो हम कह सकते है कि रत्नाकर जी 'मैथ्यू आर्नल्ड' की भांति हिंदी के अंतिम 'क्लेसिक' कवि थे।

१. जगन्नाथ दास रत्नाकर, उद्धवशतक। २. वही।
३. डाक्टर विश्वम्भरनाथ भट्ट रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला

उनको नवीनतावादी अथवा भावी युग का क्रांतिकारी कवि बतलाना और शायर सिंह सपूत की की भांति लीक छोड़कर चलने की सिफारिश करना, भ्रमजाल खड़ाकरना और वास्तविक कवि रत्नाकर से कोसों दूर जा पड़ना है । साहित्यिक इतिहास का निर्णय हमें इसी निश्चय पर पहुँचाता है ।

उपर्युक्त कथन से हटकर कभी कभी कतिपय लेखकों ने अपना स्वर अलापा है । बात पते की तो यह है कि आजकल हर कवि, लेखक एवं आलोचक को नवजागरण के संदर्भ में राष्ट्रीयता पोषक सिद्ध करने की होड़ सी लगी है । उदाहरण के लिए देखिए—"नव जागृति के उस युग मे रत्नाकर जी नवीन जागरण की भावना से अप्रभावित कैसे रह सकते थे । वे भारतेन्दु हरिश्चंद्र के दरबार में बैठने वाले बालक के रूप में वहाँ से निरंतर नवसंदेश ग्रहण करते रहे । उसके फल-स्वरूप उन्होंने भारतीय महापुरुषों का गौरव गान किया। उनके 'वीराष्टकों' मे ऐतिहासिक आदर्शों की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है । यह कहा जा सकता है कि उनकी आदर्शवादी मनोवृत्ति हिंदी राष्ट्रीयता को साथ लेकर चली है । अथवा उनके धार्मिक विश्वासों को साकार रूप प्रदान करने के प्रयत्न में उनके आदर्शवाद को सार्थक किया है ।"[1]

साहित्य में जहां तक मतवैभिन्य का प्रश्न है, शुभ ही कहा जायगा । पर उस भिन्नता मे तथ्यपरक तर्क अपेक्षित है । अस्तु, स्थिति तो यह है कि रत्नाकर जी करोड़पति सेठ थे, राजदरबार मे उनके जीवन का बसंत बीता, राजा रानी के वे सचिव, मित्र एव सहयोगी थे । लक्ष्मी की कृपा से उनके जीवन में भोग, सुख, ठाट-बाट और शृंगारिकता की प्रचुरता थी । इसी वातावरण का उन पर भारी प्रभाव था । रीतिकालीन नारी की छाया उन पर प्रभाव डाले हुये थी । नारी का रूप उन्हें प्रिय था, चाहे वे राधा हो अथवा अन्य गोपी ! उनके काव्य में रस का प्रवाह तो पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है, किंतु रत्नाकर जी के काव्य में राष्ट्रीयता अथवा नवीनता के बीज अकुर खोजना व्यर्थ परिश्रम करना तथा सिर का फोड़ना होगा । यदि रत्नाकर जी के 'उद्धवशतक' एवं 'गंगावतरण' को उनकी प्रतिनिधि रचना मान लें तो इन दोनों के आधार पर राष्ट्रीयता और लोक कल्याण की भावना खोजना बालू मे भीत उठाना होगा । यही एक बात और साफ करनी होगी कि राष्ट्रीयता अथवा हिंदी राष्ट्रीयता के अभाव के कारण उनके काव्य का मूल्य कम नही होता ! बल्कि कहना तो यह होगा कि आधुनिक युग में रससिद्ध काव्य लिखने वालों मे यदि सर्वश्रेष्ठ नहीं तो महान कवि अवश्य थे । विप्रलम्भ शृगार का सुन्दर वर्णन उनकी विशेषता थी । अलकारो के समुचित प्रयोग और मुक्तक पदो मे सटीक बिम्ब-विधान रत्नाकर की कला की कसौटी है ।

उद्धवशतक के केवल एक छद मे गुनगुन ध्वनि उपस्थित हो गई, तथापि श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के ४६ वें और ४७ वे अध्यायो के आधार पर उद्धव गोपी सवाद को भ्रमर गीत कहा गया है । सूरदास, नददास, हित वृंदावन दास, रीवां-नरेश रघुराज सिंह, सत्यनारायण कविरत्न की रचनायें इसी कोटि मे आती है । रत्नाकर जी अपने पूर्ववर्ती कवियों से प्रभावित

---

१ आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी
२ कुमारी उषा जायसवाल र   उनका काव्य

भी जान पड़ते हैं। उन्होंने सूरदास, नंददास आदि के भावों और उक्तियों का आधार लिया है इसका यह आशय नही कि रत्नाकर जी और उक्त कवियों में कोई अंतर नहीं है। वास्तव में यह अतर बहुत बड़ा है। सूर आदि मध्य युग की संस्कृति के उन्नायक कवि थे, किन्तु रत्नाकर जी उस उन्नत युग की स्मृति-रक्षा या अनुकरण का उद्देश्य लेकर ही चले थे। विगत युग के संस्कारों की स्थापना नव्यतर युग में करना निसर्गतः एक कृत्रिम प्रयास है ।[1]

हां, रत्नाकर जी का अध्ययन बहुत विस्तृत बहु वर्ष व्यापक था। अपने कतिपय श्रेष्ठ सहयोगियों एव समकालीनों में रत्नाकर जी ने अत्यन्त बारीकी से ब्रजभाषा की सेवा की है। ब्रजभाषा साहित्य का श्रृंगार करने में उनकी विशिष्ट मर्यादा माननी पड़ेगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मे अधिक ऊंचे दर्जे की प्रतिभा थी, किन्तु इन्हें अवसर नहीं मिला। कविरत्न सत्यनारायण अधिक ऊंचे दर्जे के भावुक और गायक थे, किन्तु उनका न तो इतना अध्ययन था, न उनमें इतनी काव्य कुशलता थी। श्रीधर पाठक ब्रजभाषा से अधिक खड़ीबोली के ही आचार्य हुये। वर्तमान कवियो मे कोई ऐसा नही जो आजीवन इनकी धाक न मानता रहा हो। "अस्तु पुरानी काव्य सरणी मे रत्नाकर को शीर्ष स्थान देने में किसी को असमंजस नहीं होगा। वाजपेयी जी के शब्दों मे यह काशीवासी रत्नाकर पुरातन ब्रज जीवन की स्वच्छ भावना-धारा मे स्नात एकाधार में भाषा और काव्यशास्त्र का पंडित, कलाविद और भक्त हो गया है ।[2]

उद्धवशतक की कथा का प्रतिपाद्य है सगुणउपासना। रत्नाकर ने सब प्रकार से निर्गुण को परास्त किया है। उनकी गोपियाँ वादी भी हैं और जबरदस्त वकील भी हैं। उनके तर्कों के सामने उद्धव का ब्रह्मज्ञान गल जाता है। यही रत्नाकर की धार्मिक भावना और स्थापना है। जैसा कि सभी जानते हैं रत्नाकर तर्क प्रधान युग में पैदा हुए। अस्तु उनके वर्णन में तार्किक प्रवृत्ति का पाया जाना स्वाभाविक है। रत्नाकर जी का काव्य भाव प्रधान न होकर कला प्रधान है। और कला प्रधानता के लिए भाषा-सौष्ठव से बढ़कर दूसरा कोई तत्व नहीं हो सकता। रत्नाकर जी की भाषा में वह सौष्ठव विद्यमान है जो पाठक के मन को मुग्ध करता है, बुद्धि को उत्तेजना देता है और हृदय को छू लेता है ।3

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि उद्धवशतक मे ११८ घनाक्षरियां हैं। इनमे प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र है किन्तु इसकी विशेषता यह है कि क्रमबद्ध रखे जाने पर इन छंदों की गठन प्रबंध काव्य की तरह प्रवाहमय जान पड़ती है। उद्धवशतक काव्य की कथा को रत्नाकर जी ने निम्नलिखित शीर्षकों मे विभाजित किया है—

(१) उद्धव का मथुरा से ब्रज जाना, कृष्ण के वियोग का चित्रण है, इसमे कुल २० छन्द है। (२) 'उद्धव की ब्रज-यात्रा' प्रसंग में ३ छन्द हैं। (३) 'उद्धव का ब्रज में पहुंचना' में ६ छन्द हैं। (४) ४ छन्दों में 'उद्धव के वचन ब्रज-नारियों से।' (५) 'उद्धव के प्रति गोपियों के वचन' ६२ छन्द। (६) 'उद्धव की ब्रज-विदाई' का वर्णन केवल ५ छन्दों में समाप्त किया गया

---

१ आ० नन्ददुलारे बाजपेयी, हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृ० २०। २. वही।

३ कुमारी उषा जायसवाल रत्नाकर और उनकी कविता पृ० १४७

है। (७) 'उद्धव' का मथुरा लौटना—छः छन्द। (८) 'उद्धव के वचन श्री भगवान के प्रति' में ९ छन्द है।[1]

उपर्युक्त शीर्षकों से यह सहज ही माना जा सकता है कविवर रत्नाकर ने कथा के सूत्रों को जोड़ने का योजनाबद्ध प्रयास किया है। उद्धवशतक रत्नाकर की धार्मिक भावनाओं पर प्रकाश डालता है। मध्यकालीन प्रायः सभी कवियों ने भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए ज्ञान और भक्ति की तुलना की है। सूर और तुलसी के निर्गुण-सगुण विवेचन से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। परन्तु यहां यह भी संकेत करना आवश्यक होगा कि तुलसी का निर्गुण-सगुण विवेचन भक्ति के रूप की जहां व्याख्या करता है वहीं वह ज्ञान के शुष्क उपदेश की भूमिका बनकर रह जाता है और रत्नाकर की भक्ति की बदौलत सरलता, सरसता एवं मनोरंजन का ठाट प्रस्तुत करती है। रत्नाकर स्वयं भक्ति और प्रेम को ऊंचा, नीचा, सरल कठिन कुछ नहीं कहते। वे तो सब कुछ जो उन्हें इष्ट है गोपियों और उद्धव के संवाद में कहलवा देते हैं। इस संबंध में डा० श्रीकृष्ण लाल के विचार देखिए—

"हिन्दी साहित्य की अमूल्य एवं सर्वश्रेष्ठ विभूति तुलसीदासजी भी ज्ञान भक्ति, निर्गुण-सगुण के इस विभेद को सम्यक् ढंग से उपस्थित करने में असमर्थ रहे। पहले ज्ञान-भक्ति, निर्गुण-सगुण तथा जीव ब्रह्म में अभेद स्थापित किया है और बाद में भेद स्थापित कर ज्ञान से भक्ति को, निर्गुण से सगुण को तथा जीव से ब्रह्म को श्रेष्ठ सिद्ध किया है, किन्तु इसके दृष्टान्त लेने मे उन्होंने कुछ भूलें कर दी है और तर्क भी तर्कपूर्ण न होकर व्यावहारिक सा हो गया है।'[2] रत्नाकर के वर्णन की विशिष्टता एवं उसके प्रभाव की जितनी प्रशंसा की जाय सब थोड़ी है। उद्धव के निर्लिप्त, निर्विकार निर्गुणवाद पर गोपियों की सरसतायुक्त सगुण की छाप तो तनिक देखिए—

"सुख दुख ग्रीषम और सिसिर न व्यापै जिन्हें,
छापै छाप एकै हिये ब्रह्म-ज्ञान-सानै मैं।
कहै 'रत्नाकर' गंभीर सोई ऊधव को,
धीर उधराम्यो आनि ब्रज के सिवाने मे।

और मुख-रंग भयो सिथिलित अंग भयौ,
बैन छवि दंग भयौ गर गरुआने मैं
पुलकि पसीजि पास चापि मुरझाने कापि,
जानै कौन बहति बयार बरसाने मै।"[3]

मानव हृदय संसार के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों को अपने ही रंग में रंग कर देखता है। रागात्मिकानुभूति की छोटी-सी चिनगारी नगण्य सी ही तो होती है, किन्तु उसकी सीमा जब असीम होने लगती है, तब जीवन की उष्णता का विस्तार क्षितिज की तरह फैलता ही चला जाता है, दूर-दूर उससे भी दूर! उद्धव तथा गोपियों का रसप्लुत संवाद प्राणों की चेतना की दीप्ति से समृद्ध है। इस वाद-विवाद में उद्धव ज्ञान वरिष्ठ निर्गुण ब्रह्मोपासकों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा गोपियां ज्ञान-कनिष्ठ साधारण जनता का।[4]

---

१ रत्नाकर उद्धव शतक।   २ डा० श्रीकृष्ण लाल मानस दर्शन
३ वही पृष्ठ २५   ४ डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला

कुल मिलाकर उद्धव शतक कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना है तथा हिन्दी साहित्य का एक अनुपम ग्रंथ है। यों तो रत्नाकर जी शृंगार परम्परा के कवि थे, किन्तु उद्धव शतक के पश्चात वे भक्त कवियों का अनुकरण करने लग गए। उद्धव शतक में दोनो परम्पराओं का मेल है। इसमे चित्रोपमयता तथा संगीतात्मकता की मीठी झंकार है। फिर भी यह सब योजनाबद्ध पुनरावर्तन ही तो कहा जायगा। इसमें नव्ययुग का कोई संदेश नही है। रत्नाकरजी अपने काव्य में जीवन की कोई ऐसी मौलिकता और अनिवार्यता लेकर नहीं आये। उसके स्थान पर वे उक्ति कौशल, अलंकार, भाषा की कारीगरी और छंदों की सुघरता और पाण्डित्य लेकर आए थे। जिस प्रकार यूरोप मे अनेक कवियों को मध्यकालीन फ्यूडल समाज और काव्य से प्रेरणा मिली थी और अब भी मिलती है, रत्नाकरजी को भी उसी तरह भारत के मध्ययुग का साहित्य तथा समाज खूब भाया था।[1]

कवि अपने युग की परिस्थितियों के प्रति सदैव जागरूक रहता है। सामंतयुगीन कवि ने अंत:पुर की रंगीन रंगरेलियो मे अनेक स्त्रियों को एक ही पुरुष की भोग्या बने हुए देखा। उस समय नारी का स्वतंत्र अस्तित्व और मूल्य ही नही रह गया था। वह विवशता, उत्पीड़न, मूक व्यथा और सामाजिकता के कठोर बंधन मे उमड़-घुमड़ कर चुपचाप बरस जाती थी। तत्कालीन कवि राज्याश्रित होने के कारण स्पष्ट कुछ कहने मे असमर्थ था। अस्तु, उसने भ्रमर को उपालम्भ का लक्ष्य बनाकर नारी हृदय की मूक वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति की।[2] किन्तु रत्नाकर के सामने ऐसी कोई विवशता या बंधन नही था। वे ऐसे युग से गुजर रहे थे जब काव्य के क्षेत्र मे नवीनता, स्वच्छन्दता एवं निर्भीकता का उपयोग कवि अपनी शक्ति के अनुसार भरपूर मात्रा मे कर रहे थे। फिर भी रत्नाकर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब बरबस ही खींचतान कर उद्धव-शतक में व्यक्तिवाद, अनीश्वरवाद अथवा कुछ अन्य विवाद ढूंढ़ना तथ्य को तोड़ मरोड़ कर रखना होगा। इस सम्बन्ध में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी की उक्ति देखिए—

'रत्नाकरजी के उद्धव शतक की गोपियां नवीन युग के व्यक्तिवाद का संदेश सुनाती हैं, अथवा भावी अनीश्वरवाद का संकेत करती हैं, यह कहना प्रसंग के साथ अन्याय करना और रत्नाकरजी की प्रकृति से अपरिचय प्रकट करना है।'[3]

रत्नाकरजी के उद्धवशतक में भ्रमरगीत-प्रसंग पुनः एक बार उसी रूप मे प्रकट हुआ जैसा कि मध्यकालीन कवियों ने उसे अनेक रूप में निरूपित किया था। फिर भी भक्तिकालीन भावुकता तथा रीतिकालीन कलात्मकता से समन्वित होकर उनका उद्धवशतक अतीव हृदयहारी बन गया है। आधुनिक युग के बुद्धिवाद से भी उन्होंने पूरा लाभ उठाया है। रत्नाकरजी ने मध्यकालीन काव्य को विवेक बुद्धि से परख कर उसके गुण-दोषों को भली भांति समझ लिया था। अत: अपने काव्य को ऊहात्मक कल्पनाओं के अस्वाभाविक वर्णन का शिकार नहीं होने दिया है। उद्धवशतक मे भावों के अनूठेपन के साथ उक्ति वैचित्र्य और सूक्ति-प्रियता भी सर्वत्र दिखाई देती है।[4] पिता के गंभीर प्रेम, माता की ममता और प्रेयसी के हृदय की मूक वेदना का एक चित्र देखिए—

---

१. आ० नन्ददुलारे बाजपेयी, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी।
२. डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट, रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला।
३ आचार्य नंददुलारे बाजपेयी हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी।
४ डा० [illegible] थ भट्ट [illegible] उनकी प्रतिभा और कला

"पीत पट नन्द जसुमति नवनीत दयो ।
कीरति कुमारी सुखारी दई बांसुरी ।"[1]

पाठक इस मर्मस्पर्शी वर्णन को पढ़कर गुनगुनाने लगता है और भाव विह्वल हो जाता है बरबस ही।

भाषा शैली– काव्य-कला मे शब्द-कला का महत्व अतर्क्य है। शब्द-चयन गुंफन, सुव्यवस्था, संगीतात्मक प्रवाह इत्यादि की अपेक्षा की तो बात ही क्या है, प्रतिभा सम्पन्न कवि भी सप्रयास इन विशेषताओं के सम्पादन में प्रयत्नशील रहते हैं। कवि एवं सहृदय एक क्षण भी यह नहीं भुला सकते कि काव्य सृष्टा और प्रतिभा के बीच भाव-विनिमय का एक मात्र साधन भाषा है और वह भाषा शब्दों से निर्मित, अपनी प्रकृति में स्वत: निरपेक्ष तथा शब्द-भाण्डार और प्रयोग वैचित्र्य की दृष्टि से एकान्तत: विशिष्ट है, अत: कवि अपने रससिद्ध भावोद्‌गारों को चुन-चुन कर ऐसे शब्दों में व्यक्त करता है जो सामाजिक के हृदय के सूक्ष्म तारों को झंकृत करने की अमोघ क्षमता रखते हैं।[1] रत्नाकर जी उपर्युक्त कथन से भलीभाँति परिचित थे। उनकी भाषा मे व्रजभाषा की प्राय: सभी विशेषतायें विद्यमान हैं। इनके सामने सूर से लेकर पद्माकर तक की भाषा का क्रमिक विकास मौजूद था। सूर का प्रान्तीय सौन्दर्य, घनानन्द का टकशाली प्रयोग, बिहारी की विदग्धता, रसखानि की माधुरी, पद्माकर की कलात्मकता आदि सबके मिले जुले दर्शन रत्नाकर में एक ही साथ किये जा सकते हैं।

रत्नाकर जी की भाषा पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक तो इसकी अभिव्यंजना शक्ति और दूसरे इसका आदर्श। अभिव्यंजना शक्ति पर विचार करने के लिए भाषा मे लक्षणिकता आलंकारिकता तथा शब्द चयन की ओर दृष्टि डाली जा सकती है। लाक्षणिक भाषा जिस ध्वन्यात्मकता को लेकर उपस्थित होती है वह वचन वक्रता के कारण हृदय पर शीघ्र ही प्रभाव डालती है। लक्षणा में सूक्ष्म अनुभूति की तथा अभिधा में स्थूल अनुभूतियो का माध्यम ग्रहण किया जाता है। उद्धवशतक से एक उदाहरण लीजिये—

"औसर मिलै और सिरताज कछु पूछिहैं तो,
कहियो कछू न दसा देखी सो देखाइयो।
आहि कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू,
कहिवै कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयो।"

अथवा

नाम को बताइ औ जताइ ग्राम ऊधौ बस,
स्याम सों हमारी राम राम कहि दीजियो ॥"

रत्नाकर जी की भाषा खूब प्रौढ़ है। इनमें ओज, माधुर्य एवं प्रसाद तीनों गुण विद्यमान हैं। अवध एवं भोजपुरी प्रदेश में रहने के कारण रत्नाकर की भाषा में अवधी तथा भोजपुरी के

---

१ ———— दास रत्नाकर, उद्धवशतक   २ डा० विश्व   भट्ट रत्नाकर और उनकी प्रतिभा   ३ रत्नाकर   ४ वही

शब्द भी पाये जाते हैं। प्रचलित शब्दावलियों में मुहावरों एवं लोकोक्तियों को भी इन्होंने अपने काव्य में आत्मसात कर लिया है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी का मत भी द्रष्टव्य है—

"रत्नाकर ग्रंथावली के अध्ययन से प्रकट होता है कि ब्रजभाषा पर उनका अधिकार व्यापक और विस्तृत था। विशेषकर 'उद्धवशतक' में रत्नाकर का भाषा पाण्डित्य प्रखर रूप में प्रस्फुटित हुआ है। संस्कृत की पदावली को इतने अधिकार के साथ ब्रज की बोली में गूंथ देना मामूली काम नहीं है। यही नहीं, रत्नाकर ने अपनी बनारसी बोली से भी शब्द ले लेकर ब्रज-भाषा के सांचे में ढाल दिये हैं, जो एक अतिशय दुष्कर कार्य है। यदि रत्नाकर जैसे मनस्वी व्यक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे को यह कार्य करना पड़ता तो वह अपनी प्रान्तीय भाषा को ब्रज की टकसाली पदावली में मिलाते समय सौ बार आगा-पीछा करता। बहुतों ने इस मिश्रण कार्य मे विफल होकर भाषा की निजता ही नष्ट कर दी है। पर रत्नाकर अजगुताई, गमकावत, बगीची, धरना, पराना आदि अविरल देशी प्रयोग करते चलते हैं और कहीं वे प्रयोग अस्वाभाविक नही जान पड़ते, उनकी भाषा की नाड़ी की यह पहचान बहुतों को नही होती। कहीं कहीं प्रत्युत, निर्धारित आदि अकाव्योपयोगी शब्दों के शैथिल्य और 'स्वामिप्रसेद' पातथल 'दन्द-उम्मस' आदि दुरूह पद जालों के रहते हुए भी उनकी भाषा क्लिष्ट और अग्राह्य नहीं हुई।"[1]

उद्धवशतक से शुद्ध ब्रजभाषा का एक उदाहरण लीजिए—

"जग सपनो सों परत दिखाई तुम्हें,
तातैं तुम ऊधो हमें सोवत लखात हौ।
कहै रत्नाकर सुनै को बात सोवत की,
जोई मुह आवत सो विबस बयात हौ॥
सोवत में जागत लखत अपने को जिमि,
त्यों ही तुम आप ही सुज्ञानी समुझात हौ।
जोग जोग कबहूं न जानैं कहा जेहि जकौ,
ब्रह्म ब्रह्म कबहूं बहकि बररात हौ॥"[2]

लगे हाथ संस्कृतनिष्ठ ब्रजभाषा का एक उदाहरण गंगावतरण से देखिए—

'स्यामा सुघर अनूप रूप गुनसील सजीली।
मंडित मृदु मुख-चन्द-मन्द मुसक्यानि-लजीली॥
काम बाम-अभिराम-सहस-सोभा सुभ धारिनि।
साजे सकल सिंगार दिव्य हेरति हिय हारिनि॥'"[3]

भाषा-सौन्दर्य, संगीत और छंद-संघटन में, कविता के कला पक्ष की सुघरता में यदि रत्नाकर जी की तुलना अंग्रेजी के श्रेष्ठ कवि 'टेनिसन' से की जाय तो बहुत अंशों में उपयुक्त होगी। टेनिसन की कारीगरी भी रत्नाकर की ही भांति विशेष पुष्ट और संगीत से ही अनुमोदित हुई है। इन दोनों कवियों की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यही भाषा चमत्कार और छदों की स्थापित

करने में है च ह इन दोनो मे भावना को मौलिकता अधिक व्यापक और उदात्त न हो तो भी रचना चातुरी म ये दोनो परम्परागत हुए हैं।

छंद योजना–छन्द काव्य की विशेष प्रवृत्ति का सूचक है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार 'भाषा छद के मनोभाव की सूचना देती है, क्योंकि जब जब अन्य जाति नवीन जातियों के सम्पर्क मे आती है, तब तब उसमे नई प्रवृत्तियां आती है। तभी आधार परम्परा का प्रचलन होता है। नये काव्य रूपों की उद्‌भावना होती है और नये छन्दों में जनचित्त मुखर हो उठता है।

रत्नाकर जी ने प्रमुख रूप से रोला और घनाक्षरी (कवित्त) छन्दों को स्वीकार किया हैं। इनके अतिरिक्त छप्पय, सवैया और दोहों का भी उन्होंने यत्र तत्र प्रयोग किया है। छंदों की कारीगरी और संगीतात्मकता में रत्नाकर जी की अधिकार पूर्ण कलम सर्व स्वीकृत है। विशेषत: इनके कवित्त बेजोड़ है। घनाक्षरी का प्रयोग पुराना है उसी में उद्धवशतक का सृजन किया गया है। प्रबन्ध मुक्तक के लिये यह विशेष उपयोगी है। विचार प्रधान अथवा इतिवृत्तात्मक मुक्तकों की रचना के लिये घनाक्षरी छंद विशेष उपयुक्त सिद्ध हुआ है। सम्पूर्ण उद्धवशतक घनाक्षरी छन्दो मे ही रचा गया है। घनाक्षरी छन्दों में लाक्षणिकता के मनोरम ठाट सजाने में रत्नाकर परम पटु है। उनके विचार से छन्दों को नियमबद्ध, नियमानुकूल तथा लययुक्त होना चाहिए।

अलंकार सौन्दर्य–अलंकार काव्य का साध्य चाहे न हो, परन्तु साधन नि:सदेह है। जिस प्रकार स्वर्णालंकारो से औचित्यपूर्ण शृंगार करके रूपवती किशोरी और भी अधिक ललित तथा शोभाशालिनी हो जाती है, उसी प्रकार कल्पनाशील कवियों की कविता-कामिनी अलंकार धारण करके अधिक आकर्षक बन जाती हे। शब्दालंकार उसके बाह्य सौन्दर्य के उत्कर्ष-विधायक हैं और अर्थालंकार आंतरिक सौन्दर्य के उन्नायक। अत. जब कवि अपनी भाषा को अलंकारो से सजाता है, तब उसकी अर्थ सादृश्य-सम्पुष्ट-अलकृत रसात्मक कल्पना सहज ही साकार हो उठती है।[2] ऊपर लिखे गये नियम के अनुसार रत्नाकर जी के अलंकार विधान का निरीक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि शब्द-कला के इस विलक्षण कलाकार को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुइ है। केवल कुछ ही ऐसे अवसर आये है जहां थोड़ी बहुत असफलता मिली हो। रत्नाकर जी का अत्यन्त प्रिय अलंकार रूपक है। रूपकालंकार के भेद का ऐसा सुन्दर निरूपण हिन्दी के अन्य किसी कवि ने सम्भवत: नहीं किया है। सांगरूपक के तो मानों वे अद्वितीय सृष्टा है। उद्धव-शतक से एक उदाहरण लीजिये–

"राधा-मुख-मंजुल-सुधाकर के ध्यान ही सों,
प्रेम-रत्नाकर हियें सों उमगत हैं।
त्यों ही बिरहातप प्रचंड सों उमंडि अति,
ऊरध उसास को झकोर मा जगत है

केवट विचार को विचारो पचि हारि जात
होत गुन पाल ततकाल नभ-गत है।
करत गंभीर-धीर-लंगर न काज कछू,
मन को जहाज डगि डूबन लगत है।"[1]

सांगरूपक की सांगोपांगता में कवि को यहां खींचतान करने की किंचित मात्र आवश्यकता नहीं पड़ी है। अलंकार का निर्वाह बड़े ही स्वाभाविक ढंग से हुआ है। छंद संख्या १५ में भी इसी प्रकार का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत है। वास्तव में वे इस कला में अद्वितीय हैं। इसी प्रकार उपमा, अनुप्रास, श्लेष, अतिशयोक्ति यमक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के सुन्दर प्रयोग उद्धवशतक में पिरोये हुए हैं रत्नाकर ने वैद्यक, रसायन, वेदान्त तर्कशास्त्र आदि के सिद्धान्तों का जिस रूप में विवेचन किया है उससे उनके विशद् ज्ञान के साथ ही काव्य-प्रतिभा का भी परिचय मिलता है। विषम ज्वर की अवस्था में रोगी का उपचार किन उपकरणों द्वारा होना है, इस ज्ञान का प्रदर्शन श्लेष द्वारा चमत्कारिक एवं स्वाभाविक ढग से किया गया है।[2] लीजिए श्लेष प्रदर्शन का एक नमूना—

"रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्शन हूं भौं सुधि सिराई हैं॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि को,
भाय क्यों अनारिनि को भरत कन्हाई है।
ह्यां तौ विषम-ज्वर-वियोग की चढाई है, यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं॥"[3]

रत्नाकरजी के अलकार सौष्ठव के इस विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि उनके अलंकार कभी तो भावों का साकार चित्र उपस्थित कर देते हैं और कभी वर्णित वस्तु के रूप, गुण तथा क्रिया की तीव्र अभिव्यंजना मे सहायक होते है। इन अलकारों के बीच में ही उन्होंने कहीं मुहावरों के प्रयोग से, तो कहीं लोकोक्तियों अथवा लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा अपनी कविताओं मे सहज आत्मीयता भर दी है। इस कौशल से उनकी कविता-कामिनी कुछ अधिक अलकारों को धारण करके भी अलकार भाराक्रान्त प्रतीत नही होती।[4]

रस योजना—रत्नाकरजी रसिक कवि थे। उनका भावुक हृदय शृंगार निरूपण मे ही अधिक रमा है। स्थूल रूप में, रति भावना के अन्तर्गत भक्ति, स्नेह, प्रेम, वात्सल्य सभी का समाहार हो जाता है। शृंगार के विस्तृत क्षेत्र में प्राणिमात्र का समावेश है, किन्तु निर्विकल्प

१. जगन्नाथ दास रत्नाकर, उद्धवशतक।
२. डा० स्नेहलता श्रीवास्तव, हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परपरा।
३ जगन्नाथ दास उद्धवशतक
४ डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला

तकतावादी इसे अश्लील तथा गर्हित बताकर बहिष्कृत कर देना उचित समझते हैं। यह झगड़ा
नहीं है, काफी पुराना है। सुप्रसिद्ध विचारक 'प्लेटो' ने भी एक बार काव्य को वासनाओं
उद्दीपक और अनैतिकता का प्रचारक घोषित करते हुए एथेन्स नगर से कवियों के निष्कासन
मन्तव्य दिया था, किन्तु उसी के शिष्य 'अरस्तू' ने यह स्वीकार करते हुए भी कि काव्य भाव-
ओं का उद्दीपक है तथा भावनायें प्रकृत्य: थोड़ी बहुत अनैतिकता की ओर उन्मुख हैं, अत्यन्त
ल शब्दों में यह तर्क उपस्थित किया था कि भावनाओं को अत्यधिक उभार कर काव्य उनका
न कर देता है, फलत: वे शान्त हो जाती हैं और इस प्रकार विकार ग्रसित अस्वस्थ मन को
व्य स्वस्थ बना देता है। भारतीय दृष्टिकोण तो इससे भी एक कदम और आगे बढ़ा हुआ है।
त मुनि ने तो लोक में जो कुछ पवित्र और दर्शनीय है, उसे शृंगार के ही अंतर्गत ग्रहण कर
या है। इससे स्पष्ट है कि शृंगार की स्वीकृति सर्वदेशीय एवं सर्वजनीय है। हाँ, शृंगार और
किक अश्लीलता को पर्यायवाची समझना भूल है। शृंगार का गर्हित रूप साहित्य में त्याज्य
ना ही चाहिए। शृंगार रस का स्थायी भाव रति अवश्य है, परन्तु शृंगार रस की प्रत्यक्षानुभूति
नना भारी भ्रम है।

कला सौन्दर्य का सुव्यवस्थित व्यक्तिकरण है। कला के अन्तर्गत बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के सौन्दर्य की अभिव्यंजना आ जाती है। इस दृष्टि से काव्य भी एक कला है। रत्नाकरजी ने अपने काव्य में अपना स्वरूप एक सजीव कलाकार का ही प्रस्तुत किया है। वे मूलत: शृंगारी कवि हैं। उनकी भक्ति परक रचनायें तो 'फरमायशी' थीं जो महारानी साहिबा के आग्रह पर लिखी गई थीं। विशेषकर गंगावतरण की रचना का तो इतिहास ही रानी की इच्छा थी। रत्नाकरजी के संयोग-शृंगार के आलंबन राधा-कृष्ण हैं। उनके राधा कृष्ण रीतिकालीन कवियों की ही युगल जोड़ी है। हिन्डोला तथा शृंगार लहरी का शृंगार अपेक्षाकृत मांसल है।[1]

जैसा सजीव रत्नाकरजी का संयोग शृंगार है, वैसा ही विप्रलम्भ शृंगार भी है। 'उद्धवशतक' में तो उनका कवि-हृदय सब कुछ भूलकर विप्रलम्भ की दुःख-सरिता में आकण्ठ निमज्जित हो गया है। वियोग की विशेषता भी यही है। संयोग-शृंगार की भांति रत्नाकरजी का वियोग शृंगार भी अनुभूतिपोषित और मर्मस्पर्शी है। विप्रलम्भ-शृंगार में अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, उद्वेग, गुणकथन, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, असूया, औत्सुक्य, शंका इत्यादि के संचारी भाव हैं। भारतीय प्रेम-पद्धति में तुल्यानुराग आदर्श माना गया है। अर्थात् जिस आवेग से प्रेमिका अपने प्रिय के लिए व्याकुल और बेचैन रहती है, उसी प्रकार प्रिय भी अपनी प्रेमिका के लिए उद्विग्न रहता है। उद्धवशतक में इस बात को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। राधा यदि कृष्ण के वियोग में सूख रही है तो कृष्ण भी उनके बिना खोये-से जान पड़ते है। आग दोनों ओर लगी है। स्मृति ही एक मात्र सहारा है। उद्धवशतक प्राय: सभी दृष्टियों से वियोग-शृंगार का अनुपम उदाहरण है।

शृंगार रस को छोड़कर क्रमश: वात्सल्य, वीर, रौद्र, करुण, हास्य, बीभत्स, अद्भुत और शान्त रस के प्रयोग भी रत्नाकरजी ने बड़े मार्मिक ढंग से किए हैं। उनकी अन्य कृतियों में इनके सुन्दर उदाहरण देखे जा सकते हैं प्रकृति वर्णन में रत्नाकरजी ने परम्परा पालन सा ही किया

है। रीतिकालीन अथवा भक्तिकालीन कवियों ने जिस प्रकार प्रकृति को ग्रहण किया है, उसी लीक पर रत्नाकर भी चले हैं। इसमें ऐसी कोई विशेष बात नहीं है जिसका उल्लेख किया जाय।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि रत्नाकरजी रससिद्ध कवि थे। उनमें प्रतिभा का सम्बल, अध्ययन की गहराई और अनुभूतियों का भण्डार था। जीवन और जगत को उन्होंने एक निश्चित सांचे में भीतर देखा था, उसके संदर्भ में जो कुछ कहा जा सकता है, उसे रत्नाकर ने स्वयं प्रकट किया है। भाषा की दृष्टि से ब्रज, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी और बनारसी बोली सबको आत्मसात करके उन्होंने व्यवहार परक प्रयोग किया है। मुहावरों, कहावतों तथा लोकोक्तियों को यथास्थान काव्य में रखकर उसे चमत्कृत कर दिया है। रत्नाकरजी को आयुर्वेद, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र तथा अनेक अन्य शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था। मानव प्रकृति और उसकी विभिन्न परिस्थितियों में उसके स्वाभाविक व्यापारों के रत्नाकरजी चतुर पारखी थे। जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है—

नेह कही बैनन अनेक कही नैनन सों,
रही सही सोऊ कहि दीन्ह हिचकीन्ह सों।[1]

सुने सुनाये ज्ञान के आधार पर ऐसी अभिव्यक्तियाँ नहीं होतीं। इसमें जीवन के अदृश्य तत्वों का उद्घाटन हुआ है। गहरी अनुभूति वाला कवि ही इस प्रकार के चित्र खींच सकता है। जीवन के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन में रत्नाकरजी बड़े निष्णात थे। देखिए न राधा के गंधयुक्त बालों से निकले हुए फूल को सूंघ कर कृष्ण का मूर्छित होना, गोकुल से मथुरा जाते समय उद्धव का आंसुओं से तरबतर होना; पर राधा, यशोदा, नंद द्वारा दी हुई सामग्री को जमीन पर न रखना आदि बातें काव्य में चमत्कार पैदा करने के लिए केवल मसाला नहीं है, वरन् जीवन की तथ्य परक अभिव्यक्ति हैं। इसे यथार्थ का चित्रण कहना ही ठीक होगा। प्रेम, सहानुभूति, सम्वेदना और करुणा ये मानव के शाश्वत गुण हैं। इनका अन्त कभी नहीं होता। आज के अति भौतिक युग में भी प्रेम और सम्वेदना जीवित हैं।

अस्तु, 'रत्नाकर' के काव्य में जहां ब्रजभाषा की त्रिवेणी प्रवाहित है, अलंकारों-छन्दों के अनुपम उदाहरण प्रस्तुत हैं, वहीं रस की अजस्र धारा प्रवाहित है, जो युग-युग तक सूख नहीं सकती। रत्नाकर ने कथा और भाषा भले ही पुरानी चुनी हो, पर वे काव्य के मार्मिक पक्षों से अवगत थे। सम्भवतः उन्हें अंग्रेजी कवि हैमन मेवाइल की यह उक्ति ज्ञात थी कि यदि तुम महत्वपूर्ण ग्रंथ निर्माण करना चाहते हो तो अवश्य ही महत्वपूर्ण 'थीम' चुनो। रत्नाकर के काव्य में कलापक्ष और भावपक्ष दोनों सबल हैं। इनमें किसी को ऊंचा और किसी को फीका कहना मात्र चमत्कार पैदा करना होगा। हां, रत्नाकर के काव्य का यह यशोगान और हिन्दी साहित्य में उनका शीर्ष स्थान नवीन प्रासाद-निर्माण का पुरस्कार नहीं केवल पुरानी पच्चीकारी का पारिश्रमिक है। पुरातन और नूतन का यह अंतर समझ लेना ही रत्नाकर का मूल्यांकन होगा।[2]

वे सौन्दर्य और प्रेम के कलाकार थे। उनका ध्येय अलंकारिक शैली से भावों का चित्रण था। हिन्दी में उल्लास और आत्मविश्वास का स्वर प्रदान करने वाले कवियों में रत्नाकरजी का

---

१ रत्नाकर, उद्धवशतक १° ९ आचार्य नंददुलारे बाजपेयी हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी

थान बहुत ऊंचा है। वे छायावाद युग में जीकर भी निराशावाद से दूर रहे। उनका दृष्टि कोण एकांगी होकर भी तलस्पर्शी है। वे सफल कवि होने के साथ ही साथ भाषा शास्त्री, टीकाकार, छंदशास्त्री, अनुवादक, सम्पादक और आलोचक भी थे। वे सच्चे अर्थों में रत्नाकर थे!

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

जीवन-वृत्त :—कवि 'पूर्ण' का जन्म मार्गशीर्ष कृष्ण १३, संवत १९२५ वि० को जबलपुर मे हुआ था। इनके पिता का नाम राय वंशीधर था। वह जबलपुर मे वकालत करते थे। यह श्रीवास्तव कायस्थ थे। कानपुर जिले के घाटमपुर तहसील के भद्रपुर (भदरपुर) ग्राम से उठकर इनके पूर्वज यहां आकर बस गए थे। राय पदवी इनके पूर्वजो को मुसलमान बादशाहों के समय में मिली थी। इनका परिवार सुशिक्षित, सम्पन्न एवं सम्मानित था।

बालक देवीप्रसाद जब चार वर्ष के थे तभी इनके पिता का निधन हो गया। पिता की स्नेह-छाया उठ जाने पर चाचा राय लीलाधर की देखरेख में इनका विद्यार्थी जीवन प्रारंभ हुआ। बालक देवी प्रसाद प्रतिभासम्पन्न थे। प्रारम्भ से ही इनकी कविता मे रुचि थी। धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन का चाव था। अपनी कक्षा में ये सदैव प्रथम स्थान रखते थे। सन् १८८१ ई०में इन्होंने मिडिल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। मेधावी होने के साथ ही साथ वे सुशील एवं शान्त स्वभाव के थे। इन्ही सद्गुणों के कारण राय लीलाधर ने इन्हें बहादुर' की उपाधि दे रखी थी। बहादुर ने अपनी बहादुरी का परिचय देना जो शुरू किया तो जीवन पर्यन्त देते रहे। उनके जीवन का प्रवाह पहाड़ी नदी की भांति वेगमय था। मिडिल परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास करने के उपलक्ष्य मे उन्हें पुरस्कार स्वरूप छात्रवृत्ति मिली।

कलकत्ता विश्वविद्यालय से मैट्रिक, इण्टर परीक्षा में भी वे क्रमशः प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। अनंतर कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही बी० ए० पास करके वकालत करने के विचार से बी० एल० (तब यहां एल-एल० बी० और एल-एल० एम० की परीक्षायें यहाँ नहीं होती थी। इसके लिए लोगों को लन्दन जाना पड़ता था) की परीक्षा दी। इस परीक्षा में भी इन्हें पूरा पूरा यश मिला। उत्तीर्ण सब छात्रो में इनका स्थान तीसरा रहा।

अपने चचेरे भाई राय दुर्गाप्रसाद, जो नागपुर मे वकालत करते थे, के साथ रहकर इन्होंने वकालत सीखी। जब स्वतन्त्र वकालत करने की शक्ति एवं साहस आया तब ये कानपुर चले गए। कानपुर इनके व्यक्तित्व के विकास के लिए उर्वर क्षेत्र साबित हुआ। वहां इन्हें यश, धन, प्रतिष्ठा सब कुछ मिला। अल्पकाल में ही ये कानपुर के नामी वकीलों में आ गए और माल के मामलों में इनकी धाक बैठ गई।

भूपाल निवासी मुंशी शंकरप्रसाद श्रीवास्तव हिन्दी के एक अच्छे कवि थे। उन्हीं की कन्या से राय देवीप्रसाद का पाणिग्रहण संस्कार सपन्न हुआ। मुंशीजी के सान्निध्य से रायसाहब मे हिंदी कविता की प्रवृत्ति बलवती हुई। मुंशीजी ने ही राय देवीप्रसाद को काव्य शास्त्र का विशेष अभ्यास कराया। राय बहादुर डा० हीरालाल के कथनानुसार राय देवी प्रसाद को छात्र जीवन से ही साहित्य और संगीत का अनुराग था। वे बड़े अच्छे वक्ता भी थे। जनश्रुति के आधार पर यह भी प्रचलि

है कि रायसाहबने भवरस निवासी पं० कामता प्रसाद शास्त्री से संस्कृत का अध्ययन किया था इसी से उनकी प्रवृत्ति संस्कृत साहित्य की ओर खिंच गई थी।

कानपुर आने पर रायसाहब को अपनी रुचि के अनुकूल वातावरण भी मिल गया। वह के सार्वजनिक जीवन के जिस पथ को सुप्रसिद्ध वकील एवं समाज सेवी पं० पृथ्वीनाथजी ने प्रशस्त किया था, और जो पं० पृथ्वीनाथजी की मृत्यु से रिक्त भी हो गया था, उसी मार्ग पर चलकर राय देवी प्रसाद ने कानपुर के सामाजिक जीवन में पुनः एक बार हलचल मचा दी। कानपुर नगरपालिका के आप सदस्य चुने गए। स्थानीय 'पीपुल्स एसोसिएशन' ने आपको आपना अध्यक्ष निर्वाचित किया। 'सनातन धर्म-प्रवर्धिनी' सभा के प्रबन्धक बनकर आपने प्रशंसनीय कार्य किए। कालान्तर में 'श्री ब्रह्मावर्तसनातन धर्ममण्डल' की, स्थापना की, जिसका फल सनातन धर्म कालेज' कानपुर आज भी जीवित है।

उपर्युक्त गतिविधियों ने रायसाहब को सनातन धर्म मय बना दिया था। कानपुर के 'बैकुण्ठ' नामक स्थान पर आप रहते थे। प्रातःकाल राम नामी दुपट्टा ओढ़कर गंगा स्नान के लिए पैदल और नंगे पांव जाते थे। गोरक्षा के प्रबल समर्थक थे। आर्यसमाज के व्यर्थ तर्कों की आलोचना किया करते थे। अयोध्या में बकरीद के अवसर पर हुए दंगे में फसे साधुओं की, नि-शुल्क पैरवी करके, उन्हें छुड़ाया और अयोध्या में गो-बध बन्दकराया। सनातनी हो कर भी वे मुस्लिम विरोधी न थे। इसका ज्वलंत उदाहरण यह है कि सन् १९१३ ई० में कानपुर मछली बाजार में मस्जिद के सम्बन्ध में जब विवाद छिड़ा, और दंगा हुआ तो रायसाहब ने अयोध्या के साधुओं की भांति मुसलमानों की भी सहायता की।

त्याग की कहानी :—एक बार रावतपुर गांव के ठाकुरों में एक गांव की जमींदारी के सम्बन्ध में झगड़ा हुआ। दोनों पक्ष गांव को अपने कब्जे में करने के लिए कृत संकल्प थे। उन लोगों ने उसे अपने सम्मान का प्रश्न बना लिया था। एक पक्ष के वकील थे राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'। अपने मुवक्किलों (क्लाइण्ट) की प्रतिष्ठा बचाने के विचार से रायसाहब ने घोर परिश्रम किया और विजयश्री भी उन्हें मिल गई। इस विजय के उपलक्ष्य में विजेता पक्ष के ठाकुरों ने रायसाहब की जी-तोड़ पैरवी के लिए उपहार स्वरूप गांव की जमींदारी का छः आना हिस्सा (२१५ गांव) अर्पण कर दिया। परन्तु रायसाहब ने उसे स्वीकार नहीं किया। उसको उन्होंने 'सदाशिव समिति' संस्था को दान करा दिया।

सनातन धर्मी होने के साथ ही साथ वे समाज के सुधारों के कायल थे। बाल विवाह और ठहरौनी प्रथा के वे प्रबल विरोधी थे। राय साहब को कुछ लोग कट्टरपंथी भी कहते थे। परन्तु वे बड़े भ्रम में रहे। थियोसाफिकल सोसाइटी के सदस्य होने के कारण रायसाहब श्रीमती एनी बेसेण्ट को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनके विचारों का इन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। इसकी अभिव्यक्ति कालान्तर में रायसाहब की रचनाओं में हुई।

राजनीतिक जीवन में राय देवीप्रसाद बड़ी निर्भीकता के साथ भाग लेते थे। यद्यपि उनकी नीति नरमदल के नेताओं से प्रभावित थी। संयुक्त प्रान्तीय (यू० पी०) राजनीतिक सम्मेलन, जो कानपुर मे हुआ था, रायसाहब उसके स्वागताध्यक्ष थे। वे निर्भीक राजनेता और सच्चे स्वदेशानुरागी थे स्वदेशी आन्दोलन के पक्के समर्थक थे सन १९०९ में हुए मिन्टो मार्ले

सुधार का भी उन्होंने समर्थन किया था। रायसाहब के विचार बहुत कुछ अंशों में प० मदनमोहन मालवीय के विचारों से मिलते जुलते थे।

साहित्यिक अभिरुचि तो इनमें बाल्यकाल से थी ही, अनुकूल समय पाकर उसमें अभिवृद्धि हुई। 'रसिक-समाज' के सम्पर्क में आने पर रायसाहब में नूतनता जागी। उधर इनके सम्पर्क से संस्था के जीवन में बसंत लहराया। इसी समाज ने सन् १८९७ में 'रसिक बाटिका' पत्रिका निकाली। पत्रिका अधिक दिन चल न सकी तब सन् १९०५ ई० में 'रसिक मित्र' प्रकाशित किया। परन्तु यह पत्र भी शीघ्र ही डूब गया। सन् ९११ ई० में रायसाहब की प्रेरणा से 'धर्म कुसुमाकर' निकला जो प्रकारान्तर से रसिक समाज की सेवा करता रहा।

राय साहब बड़े ही सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। अपने समय के सर्वश्रेष्ठ माल के वकील होते हुए भी वे निरभिमानी की तरह सबकी सेवा करते रहते थे। पण्डितों, विद्वानों एवं कवियों के लिए तो मानो वे कल्पतरु थे। उनकी रुचि, साहित्य की भांति ही, संगीत में थी, जो जीवन पर्यन्त बनी रही। नाटक में अभिनय करने का भी शौक था। अपने पास से बहुत सा रुपया खर्च करके अपने गाँव भदरस में प्रतिवर्ष वे 'धनुष-यज्ञ-लीला' का अभिनय कराते थे। स्वयं केवट बन कर भगवान के चरण धोने का अभिनय करते थे। 'नारद-मोह' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटकों को भी कई बार स्टेज किया गया था।

प्राय: ४७ वर्ष तक की अवस्था तक रायसाहब कानपुर के सार्वजनिक जीवन में प्रमुख भाग लेते रहे। १९१५ ई०, फारसी में गोखले की मृत्यु पर शोक सभा मे बैठे बैठे ही रायसाहब ने 'हा गोखले!' कविता बनाई। उसी वर्ष ईस्टर की छुट्टियों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गोरखपुर अधिवेशन में आप सभापति चुने गये थे। आपके अध्यक्षीय भाषण की बड़ी चर्चा थी। कई दृष्टियों से वह बड़ा महत्वपूर्ण था। बिठूर निवासी स्वामी आत्मानन्द स्वयं प्रकाश सरस्वती को आप अपना धर्म गुरु मानते थे।

समस्त मानवीय क्रिया-कलापों का अंत सुनिश्चित है। राय साहब इसके अपवाद नही थे। ३० जून सन् १९१५ ई० को मध्याह्न के समय राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' का यह भौतिक शरीर धरती से उठ गया। सारे कानपुर मे शोक की लहर छा गई। जिलाधीश से लेकर सामान्य नागरिक तक उनकी शोक सभा में सम्मिलित हुए। सब ने भावभीनी श्रद्धांजलियां अर्पित की। राय साहब अपने पीछे पांच पुत्र, दो पुत्रियां और तीसरी विधवा पत्नी छोड़ गये थे।

प्रमुख रचनाएं—अत्यन्त व्यस्त जीवन के होते हुए भी पूर्ण जी ने पर्याप्त मात्रा में लिखकर हिन्दी के रिक्त कोष को पूरा करने में योग दिया है। इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनो मे रचनायें कीं। संस्कृत से अनुवाद भी प्रस्तुत किया। इनकी प्रमुख रचनायें इस प्रकार हैं—

१-चन्द्रकला भानुकुमार नाटक
२-धाराधर धावन (मेघदूत का अनुवाद)
३-स्वदेशी कुण्डल
४-राम-रावण विरोध
५ र
६-वसंत वियोग

इन बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त पूर्ण जी की कुछ अन्य फुटकल रचनायें भी हैं जो काव्य गुण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—(१) कादम्बरी, (२) सरस्वती (३) सुन्दरी सौन्दर्य (४) भक्ति, (५) विज्ञान (६) रम्भा-शुक-संवाद, (७) विश्वविद्यालय डेपूटेशन (८) नूतन वर्ष का स्वागत तथा (९) शकुन्तला जन्म आदि।[1]

'पूर्ण' जी के जीवन वृत्त देने से पूर्व युग की काव्य प्रवृत्तियों का भी संकेत इसी अध्याय के प्रारम्भ में किया जा चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि रायदेवीप्रसाद पूर्ण' द्विवेदी कवि-मण्डल के बाहर की विभूति थे। इस कोटि के कवियों के काव्य में दो भाषा शैलियों और दो पक्षों का समन्वय मिलता है। इस सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत यह है–

"इन कवियों मे अधिकांश दोरंगी कवि थे, जो ब्रजभाषा में शृंगार, वीर और भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता कवित्त-सवैया या अन्य गेय पदों में करते आ रहे थे और खड़ीबोली में नूतन विषयों को लेकर चलते थे।...देश दशा, समाज दशा, स्वदेश प्रेम, आचरण सम्बन्धी उपदेश आदि तक ही नई धारा न रहकर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर बढ़ी, पर गहराई के साथ नहीं।"[2]

पूर्ण जी इसी प्रवृत्ति के कवि थे। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि वे स्वच्छन्दता-वादी प्रवृत्तियों से अभिप्रेरित होकर भारतेन्दु युग की अवशिष्ट, द्विवेदी युग में एक महत्वपूर्ण विभूति थे। अन्तर केवल यह है कि भारतेन्दु युग में खड़ीबोली का सम्यक् विकास न हो सकने के कारण तत्कालीन कवि खड़ीबोली की अपेक्षा ब्रजभाषा की ओर झुक गये। द्विवेदी युग में खड़ी-बोली का, भारतेन्दु युग से कहीं अधिक प्रचार हो गया था इससे युग के कवि ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ीबोली की ओर झुके रहे। साथ में कांग्रेस आन्दोलन, सामाजिक चेतनायें, ज्ञान-विज्ञान की फैलती हुई किरणों और अन्य परिवर्तनों से इस युग की परिस्थितियों को बदलने का सुअवसर मिला। इस प्रकार 'पूर्ण' जी भारतेन्दु युग की अपेक्षा एक अधिक विकसित युग के कवि हैं।[3]

इतना ही नहीं, पूर्ण जी के काव्य का सम्पूर्ण विकास ही द्विवेदी युग में हुआ था। उनके 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक को छोड़कर उनकी सभी रचनायें मौलिक तथा अनूदित द्विवेदी युग मे लिखी गई। और जानने योग्य बात तो यह है कि चन्द्रकला नाटक भी पूर्णतः भारतेन्दु युग की कृति नहीं है। उसका प्रारम्भ अवश्य सन् १८९० ई० में जब पूर्ण जी बी० ए० मे पढ़ते थे हुआ था, पर पांच अंक ही वहां रचे गये थे। फिर वह काम बन्द रहा। पूर्ण जी के नागपुर जाने पर उसमे दो अध्याय और जुड़े। फिर कानपुर आने पर सन् १९०० ई० में इसका कार्य प्रारम्भ हुआ और सन् १९०३ ई० में रसिक समाज' की ओर से प्रकाशित किया गया। इस प्रकार 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक का उत्तरार्ध भी द्विवेदी युग की रचना है। समस्त विघ्न बाधाओं के बावजूद यह प्रसादान्त समाप्त किया गया है। सम्भवतः नैतिकता और आदर्श की रक्षा द्विवेदी युग के प्रभाव का ही कारण हो।

---

१. आ० शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास २. डा० मिश्र, श्रीधर पाठक तथा हिंदी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य।
३. हरदयालु सिंह पूर्ण पराग

तत्कालीन सुधार, स्वदेशी आन्दोलन, स्वराज्य की मांग और अन्य प्रेरक शक्तियां युग का ऐतिहासिक सत्य बन गई थीं। उन्ही सामाजिक, राजनैतिक भावनाओं का कवियों पर प्रभाव पड रहा था। भला वे युग की माँग से कहाँ तक कतराते। ईश्वर प्रार्थना मे कवि अपने व्यक्ति को सीमित न रखकर समाज और देश की भलाई की कामना करने लगे थे। देश में व्याप्त फूट, द्वेष आलस्य के प्रति कवि का ध्यान अपने आप ही खिंच गया था। अस्तु, नैतिक सुधारों की मांग भी कविता की विशेषता बन गई थी। यद्यपि इन्हीं उपदेशजन्य भावनाओं के कारण इस युग की कविता बहुत कुछ रूखी एवं इतिवृत्तात्मक बन गई और उसके विरुद्ध नई कविता धारा ने विद्रोह का स्वर उठाया। सुधार की भावना से मंडित पूर्ण जी की कविता का एक अंश देखिए—

'लक्ष्मी दीजै लोक में मान दीजै, विद्या दीजै सभ्य संतान कीजै।
हे हे स्वामी, प्रार्थना कान दीजै, कीजै कीजै-देश कल्याण कीजै ॥
सुमति सुखद दीजै, फूट को लोग त्यागें,
कुमति हरन कीजै, द्वेष के भाव भागें।
विषम कुपथ त्यागें, नीति के पंथ लागें।"[1]

जैसा कि ऊपर जीवनी में संकेत किया जा चुका है कवि 'पूर्ण' नरम दल के थे, उनकी कविता में देश प्रेम और राज-भक्ति साथ साथ चलती थीं। दिल्ली दरबार के अवसर पर लिखित उनकी 'राजभक्ति' कविता से इस बात की पुष्टि हो जाती है। किन्तु यहीं एक बात और ध्यान देने की है कि ये कवि अपनी राजभक्ति छिपाने वाले नहीं थे। अपने जीवनादर्शों के आधार पर लिखी गई कवितायें वे डंके की चोट पर प्रकाशित करते थे। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व की दुरंगी चाल घातक नहीं थी। १९११ ई० मे जार्ज पंचम के दिल्ली आगमन के अवसर पर व्यक्त 'पूर्ण' जी की कुछ पंक्तियां देखिए—

"बड़ाई पावैं इंगलिस्तान हिन्द से, उससे हिन्दुस्तान।
हुआ जब दोनों का सम्बन्ध, बढ़े दोनों का जग में मान।
हमारा आर्य देश है आर्य, पराये नहीं आपके जार्ज।
पूर्व सम्बन्ध बिना, सम्राट, न मिलता तुम्हें यहाँ का चार्ज।"[2]

यह वह समय था जब कांग्रेस के अधिकांश लोग भी राजभक्ति में दीक्षित थे। हां, केवल थोड़े से क्रान्तिकारी वीर, जो स्वाधीनता एवं राष्ट्रीयता के लिए, सिर से कफन बांधे फिरते थे, राज-भक्ति और विदेशी शासन से मुक्त होना चाहते थे। वे पराधीनता की बेड़ियों को जेल की शृंखला से बदतर समझते थे। उस समय 'पूर्ण' जी ऐसे कवियों का उपर्युक्त पद स्वागत योग्य ही कहा जायगा। गौर करने की बात तो यह है कि उस समय 'रवीन्द्रनाथ टैगोर' ऐसे कवि ने सम्राट के स्वागत में उनको किन विशेषणों से सम्बोधित किया गया था ?—

"जन-मन-गण-अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता।
तव शुभ आशिष मांगे।
गाये तव यश गाथा ॥"[3]

---

१. पूर्ण संग्रह, ईश्वर प्रार्थना, पृ० ७४   २. वही, दिल्ली दरबार, पृष्ठ २६२।

३ रवीन्द्रनाथ टैगोर राष्ट्रीय गीत (अब स्वाधीन भारत में वही उल्टा अर्थ लगाकर राष्ट्रगीत मान लिया गया है वास्तव में यह जार्ज की प्रशस्ति थी

दिल्ली दरबार के अवसर पर अधिकारियों द्वारा ऐसा वातावरण निर्मित किया गया था, जिससे देश के गरीब-दुखियों को, छात्रों एवं कर्मचारियों को प्रसन्नता ही हो रही थी। उस दशा का एक सजीव चित्र देखिए—

'क्या अच्छी तालीम मिली है, सबके मन की कली खिली है।
आओ मित्र मिठाई खावें, महाराज की विजय मनावें।
क्या क्या खावे, कितना खावें, ऐसा पेट कहां से लावें,।
किस व्यंजन की करें बड़ाई, भारत भूपति जयति सहाई।
अधिक भूप का आयुर्बल हो, दिल्ली का दरबार सफल हो।
हुर्रे-हुर्रे हिप-हिप हुर्रे, उड़ा देव चिन्ता के धुर्रे।"[1]

भूखे कंगालियों को जो मुफ्त भोजन बांटा गया था, उससे उन्होंने भरपेट भोजन किया। उनकी दशा भी पढ़िए—

दुबरे दरिद्री दीन, कंगाल संकट लीन।
भूखे सदा के हीन, तिन आज भोजन कीन।[2]

इन कविताओं में वर्णन की यथार्थता के अतिरिक्त कोई दम-खम नहीं है। इनमें तथ्यपरक अभिव्यक्ति अवश्य हुई है, परन्तु काव्यरस की जो मिठास कविता देती है, उसका अभाव तो सर्वविदित है। इसे कविता की अपेक्षा तुकबन्दी कहना अधिक तर्कसंगत जान पड़ता है। जहाँ तक पूर्णजी के व्यक्तित्व का प्रश्न है वह निर्विवाद एक संगम है। उसे त्रिवेणी संगम कहना अधिक समीचीन होगा। उनमें ईश्वर और धर्म के प्रति निष्ठा, देश के प्रति प्रेम और राजा के प्रति वफादारी थी। उनके विचारों का निचोड़ निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट है—

"परमेश्वर की भक्ति है मुख्य मनुज का धर्म।
राज्यभक्ति भी चाहिए सच्ची सहित सुकर्म।
सच्ची सहित सुकर्म देश की भक्ति चाहिए।"[3]

देश की दारुण दशा, कला का ह्रास, बुनकरों का बेकार होना तथा देश में व्यर्थ विदेशी मालों की भरमार पर 'पूर्ण' जी ने व्यंग्य किया है। राय देवीप्रसाद की महत्वपूर्ण लम्बी रचना 'स्वदेशी कुंडल' है। लगभग २५ पृष्ठों में लिखित ५२ छन्दों की यह रचना सन् १९१० ई० में रची गई थी। इस रचना का महत्व दो कारणों से अधिक है—

१—पहला कारण तो इस कविता की विषयगत अनुकूलता है। स्वदेशी के प्रचार के निमित्त लिखित इन उपदेशों का उस समय कई दृष्टियों से बहुत मूल्य था।

२—दूसरी बात है इस कविता की भाषा। इससे पूर्व की प्रायः सभी रचनाओं में 'पूर्ण' जी ने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया था। खड़ीबोली में लिखी गई यह उनकी प्रथम प्रतिनिधि रचना है। विषय की रूक्षता को कवि ने अपनी कल्पना से यथाशक्ति रोचक बनाने का प्रयास किया है।

---

१ पूर्ण संग्रह दिल्ली दरबार पृष्ठ २६४।   २ वही।
३ वही।

कुंडलिया छंद की प्रचलित शैली में सरल भाषा के माध्यम से जन-सुलभ भावों को जनता तक पहुंचाने का सफल प्रयास किया गया है। लोगो को मोह निद्रा से जगाते हुए रायसाहब लिखते हैं—

'देशी प्यारे भाइयो ! हे भारत संतान।
अपनी मातृभूमि का है कुछ तुमको ध्यान ?
है कुछ तुमको ध्यान ? दशा है उसकी कैसी !
शोभा देती नहीं किसी को निद्रा ऐसी।
वाजिब है हे मित्र ! तुम्हें भी दूरंदेशी।
सुन लो चारों ओर मचा है शोर स्वदेशी।"[1]

रायसाहब कर्मठ व्यक्ति थे। परिश्रम का स्वाद उन्हें ज्ञात था। विद्यार्जन से लेकर धनोपार्जन तक मे उनकी सफलता का रहस्य उनकी मेहनत ही थी। इसीलिए वे आलस्य और निरुद्यम के घोर शत्रु थे। वे सबको पुरुषार्थ का ही उपदेश देते थे। परोपकार आदि मानवी गुणों के वे सच्चे उपासक थे, तभी लोगो को 'परसो थाली' छोड़कर देश का काम करने की सीख देते थे। स्वार्थ परायणता को वे देश के कल्याण के मार्ग की भारी बाधा मानते थे। उनका अटल विश्वास था कि समाजहित से ही देश का विकास होगा। ईश्वर के बाद देश सर्वोपरि की भावना उनके काव्य मे विद्यमान है—

"पृथक पृथक निज स्वार्थ भुलावैं सच्चेपन से।
देश लाभ को अधिक जानकर तन-मन-धन से।"[2]

इसके अतिरिक्त पूर्णजी का प्रकृति वर्णन भी सरल, स्वाभाविक एवं स्वच्छन्दतावादी है। उसमें रीतिकालीन अलंकार मात्र नही है। जीवन के नए परिवेश की उन्हें जानकारी थी। किन्तु बदलते हुए युग में क्रान्तिकारी कदम उठाना उनके वश की बात नहीं थी। परिवर्तित परिस्थितियो की नई व्याख्या, भावी जीवन की स्पष्ट 'रूपरेखा, वे नही बना सके। वास्तव में वे रीतिकालीन काव्य के महल से निकल कर घास-फूस की एक झोपड़ी में बैठकर बहार झांक रहे थे। न उनमे इतनी काव्य शक्ति थी कि उसे चित्रकूट बना दें, न वे पुनः लौटकर अयोध्या के राजमहल मे प्रविष्ट होना चाहते थे। फिर भी अपनी काव्यशक्ति का उन्होने भरपूर प्रयोग किया है। उनका एक सलोना प्रकृति-चित्र लीजिए—

"हरे-हरे लहलहे विपुल द्रुम वृन्द वृन्द वन सोहे।
लोनी-लतिका-कलित ललित फलवलित लेत मन मोहे।
लाले पीले सेत बैंजने सुमन सुहावन फूले।
गुंजगान कर चंचरीक मकरंद पान में भूले।"[3]

'पूर्ण' जी कवि तथा सुज्ञ दोनों थे। उन्हें जीवन और जगत को निकट से देखने की सूक्ष्म दृष्टि मिली थी। पूर्व और पश्चिम दोनों की ऋतुवर्णन प्रणालियां ज्ञात थी। प्रकारान्तर से कहा

---

१ पूर्ण पराग स्वदेशी कुंडल
२ वही
३ पूर्ण-संग्रह, प्रकृति सौन्दर्य वर्णन

जा सकता है कि 'पूर्ण' जी प्रकृति के पुजारी थे। परन्तु संस्कृत एवं हिन्दी के कतिपय कवियों जैसे पदमाकर और बिहारी आदि की रचनाओं का इन पर प्रचुर प्रभाव था। पुरानी परिपाटी पर लिखित उनकी रचना का एक उदाहरण लीजिए—

> "कूजनि विहंगनि की घंटिका बजै सो मंजु,
> ओसकन सोई मद झरत निहारो है।
> 'पूरन' प्रसूनन की सुरंग अवारी सजी,
> भृंगन की भीर सों सरोर वारियारो है।
> बैठा ऋतुराज तापै जग की करत सैर,
> सौरभ अतंक जगमाहि विस्तारो है।
> धावत महावत अनंग के इसारे बीर,
> सुरभि समीर यह मतंग मतवारो है।"[1]

उपर्युक्त घनाक्षरी मे 'पूर्ण' जी ने वसंत ऋतु को मतंग के साथ रत्नाकर रूपक बांधा है। इसमें वर्णन की सजीवता और सूक्ष्म निरीक्षण तो है, पर शैली पुरानी ही है। नूतन काव्य शक्तियों से प्रभावित होकर वे स्वतन्त्र लेखन में व्यस्त थे। आचार्य द्विवेदी का उन पर कोई प्रभाव नहीं था। वे पूर्णत: मुक्त कवि थे।[2]

कवि 'पूर्ण' ने रसिक-बाटिका', 'रसिक-मित्र' और 'वर्म कुसुमाकर' द्वारा भी हिन्दी की उल्लेखनीय सेवा की है। भगवान शंकराचार्य द्वारा प्रणीत 'तत्वबोध' एवं 'मृत्युंजय' का पद्यवलित भाषान्तर किया था। संस्कृत के लोकविश्रुत 'रंभा शुक संवाद' का भी पद्यबद्ध अनुवाद प्रस्तुत किया। सन् १९ ० ई० में वसंत वियोग की रचना हुई। इसके काव्य-सौन्दर्य से प्रभावित होकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसे सरस्वती पत्रिका में स्थान दिया।[3] इस रचना के शब्द-चमत्कार और अर्थ बोध से प्रभावित होकर पं० बालकृष्ण मिश्र ने इसे खड़ीबोली की 'उस समय की सर्वोत्कृष्ट रचना' बतलाया था।[4]

वसंत वियोग में पूर्ण जी ने एक उद्यान का रूपक बांधा है। भारतवर्ष को बाटिका माना है। देश के मुख्य मुख्य तीर्थों को क्यारियां बनाया है और गंगा, जमुना, व्यास, झेलम आदि नदियों को उपर्युक्त क्यारियों को सींचने वाली नालियां माना है। ये सभी नगाधिराज से निकल कर भारत रूपी कुसुमित उद्यान को सींचती हैं। विक्रमादित्य, पृथ्वीराज, आदि सम्राट इस बाटिका के माली हैं। कवि के विचारानुसार इस बाटिका में बारहो महीने वसंत का स्थायी निवास रहता है। उक्त कविता से ऋतुपरिवर्तन का एक दृश्य देखिए—

> "अरविन्द-वृन्द' विशाल, मंजुल मिलिन्द मराल।
> सर स्वच्छ में स्वच्छन्द, जलचरों का आनंद।
> आकाश निर्मल नीर, सुठि पवन परिमल शील।

---

१. पूर्ण-संग्रह, प्रकृति सौन्दर्य वर्णन।

२. डा० रामचन्द्र मिश्र, श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्ण स्वच्छन्दतावादी काव्य।

३ पूर्ण-पराग हरिदयालु सिंह पृष्ठ ५१ ४ वही।

है सरद ये छवि सार, जबलौं पड़ा न तुषार।
श्रमवात-दाहक वात, निर्जल जले जलजात॥
शुभचन्द्र मंद मयूख, वन मध्य रुखे रुख।
ये ग्रीष्म भीष्म दिगंत, पावस समय पर्यन्त॥
फूले फले द्रुम पुंज, मृदु मंजु वल्ली कुंज।
अलिवृन्द की गुंजार, सुन्दर विहंग पुकार॥
मारुत सुगंधित मंद, प्रिय भानुचंद्र अमंद।
गायन रसायन संग, रंजन प्रमोद प्रसंग॥"[1]

आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व इस प्रकार की स्वच्छ, प्रवाहमयी खड़ीबोली का काव्यमय प्रयोग अवश्य ही क्रान्तिकारी कदम था। यह वह समय था जब हरिऔध का प्रियप्रवास और गुप्तजी की भारत भारती आदि रचनायें भी प्रकाश में नहीं आई थीं। ब्रजभाषा के ये कवि एक शक्ति संपन्न मंजी हुई परंपरा को छोड़कर नूतन भावों के साथ नई भाषा का शृंगार करने का प्रयत्न कर रहे थे। वे हर कदम फूंक फूंक कर रख रहे थे। उधर दूसरी ओर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने मंडल के कवियों को अंगुली पकड़ कर सरस्वती में कविता लिखना सिखा रहे थे। तब इन स्वच्छन्दतावादी कवियों का स्वतन्त्र विकास साहित्य के इतिहास की एक उज्जवल परपरा का सृजन कर रहा था।

'पूर्ण' जी की फुटकल रचनाओं में 'शकुन्तला जन्म' और 'कादंबरी' के काव्य-सौन्दर्य से प्रभावित होकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें अपने 'कविता कलाप' में स्थान दिया था।[2] शकुन्तला रूपमाला छंद मे लिखित एक अति सुन्दर रचना है। कवि ने इसमें मेनका के अंगों का बड़ा ही मोहक चित्र खींचा है। इसमें प्रबन्ध काव्य की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। देखिए—

"पन्नगी, सुविहंग, कुंजर, केसरी इक संग,
बसत हिल मिल, लसत निर्मल सत्वगुन को रंग।
मानि मंत्रण अतन को मुनि तपन काज प्रवीन,
तीय तन नूतन तपोवन रमन को मन कीन॥"[3]

इसी प्रकार कादंबरी भी शृंगारिक रचना है। इसमें सितार बजाती हुई किसी अनवद्यांगी सुन्दरी का चित्र खीचा गया है। इसमें केवल छ: सवैये हैं, पर सभी अपने ठाट के निराले हैं। इसके अन्तिम सवैया का रस पान कीजिए—

"उर प्रेम की ज्योति जगाय रही, मति को बिनु यास घुमाय रही।
रस की बरसात लगाय रही, हिय पाहन से पिघलाय रही॥
हरियाले बनाय के रूखे हिए, उत्साह की पैंगे झुलाय रही।
इक राग समापि के भाव भरी षटराग प्रभाव दिखाय रही ।

रसपूर्ण इन कविताओं के अतिरिक्त राय साहब की अनेक अन्य रचनायें भी हैं जिनका नामोल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनकी आलोचना के लिए न यहां अवकाश है, न उनका स्वतन्त्र मौलिक मूल्य ही है। उनमें अधिकांश अनूदित एवं छायानूदित हैं। यद्यपि वे अनुवाद भी महत्वपूर्ण है, पर वे हमारे प्रबन्ध-सीमा के बाहर की विभूति हैं। एक अन्य प्रकार की प्रचारवादी, उपयोगी एवं उपदेशात्मक रचनायें भी पूर्णजी ने लिखी हैं। उनका केवल सामयिक महत्व था। अब उनकी चर्चा व्यर्थ है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पूर्णजी ने अपने व्यस्त जीवन के अत्यल्पकाल में हिन्दी भाषा और साहित्य को बहुत से रत्न प्रदान किए हैं। एक उच्च कोटि के वकील, नेता, पत्रकार और समाज सुधारक को काव्य-साधना के लिए समय निकालना ही एक समस्या थी। पर राय देवी-प्रसाद पूर्ण ने अपनी समस्त व्यस्तता के बावजूद जो साहित्य-सेवा की है, उसके लिए हिन्दी जगत उनका ऋणी रहेगा। उनका देय गुण और परिमाण दोनों रूपों में महत्वपूर्ण है इसमें सन्देह नहीं।

सत्यनारायण कविरत्न

जीवनवृत्त—व्रजकोकिल पं० सत्यनारायण कविरत्न का जन्म सम्वत् १९४० (१८८० ई०), माघ शुक्ल तृतीया के दिन हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और अलीगढ के मूल निवासी थे। बचपन में ही माता-पिता के स्नेह से वंचित हो गए। उन दोनों के स्वर्गवासी होने पर इनके पालन-पोषण का भार इनकी मौसी ने अपने कन्धों पर ले लिया। मौसीजी किसी देशी रियासत मे अध्यापिका थीं। पर 'दुर्भाग्य अकेले नहीं आता' कहावत के अनुसार मौसी की छत्रछाया भी अधिक दिनों तक न रह सकी। उन्हें भी गंगालाभ हुआ। असहाय बालक धांधूपुर (जिला आगरा) निवासी महंत बाबा रघुवर दास के आश्रम में पहुंचा। महंतजी ने इन्हें प्रेम से पाला पोसा और पढाया लिखाया।[1]

बाबा रघुवर दास के स्नेह-पूर्ण वात्सल्य ने इनके जीवन से माता पिता के अभाव को मिटा-सा दिया। शेष जीवन इनका यहीं बीता। आगरे जिले के तहसीली स्कूल से हिन्दी मिडिल पास किया। अंग्रेजी पढ़ने के विचार से आगे बढ़े। मैट्रिक, इण्टर पास कर आगरे के सुप्रसिद्ध सेंट जान कालेज से सन् १९१० ई० में बी० ए० की परीक्षा मे बैठे, किन्तु असफल हो गए। पढाई वहीं छूट गई।

सुसंगति मनुष्य को बनाती है और कुसंगति मिटाती है। बाबा रघुवर दास के पवित्र एवं सयमित जीवन का सत्यनारायणजी पर गहरा प्रभाव पड़ा। सतसंग एवं बाबा के साहचर्य ने इनमे सात्विकता के प्रचुर भाव भर दिए।

कविवर सत्यनारायणजी का स्वभाव मृदुल, संकोची एवं विनोदप्रिय था। जीवन की सारी असगतियो के दुख को वे शिव बनकर पी गये थे, पर उफ तक नहीं किया। उनके स्वभाव के सम्बन्ध मे उनका एक पद्यमय पत्र प्रस्तुत है जिसे उन्होने स्व० पद्मसिंह शर्मा को लिखा था

"जो मों सों हँसि मिलै होत मैं तासु निरंतर चेरो।
बस गुन ही गुन निरखत तियमधि सरल प्रकृति को प्रेरो॥
यह स्वभाव को रोग जानिए मेरो बस कछु नाहीं।
नित नव विकल रहत याहीं सों सहृदय बिछुरन माहीं॥
सदा दारु-योषित सम बेबस आशा मुदित प्रमानै।
कोरो सत्य ग्राम को बासो कहा 'तकल्लुफ' जानै॥"[1]

यद्यपि कविरत्न ने बी० ए० तक अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण की थी, पर इनकी रहन-सहन बिल्कुल ब्रजभूमि के ग्रामीणों जैसी थी। इन्हें देखकर लोग समझते थे, कोई अपढ़ गंवार है। ऐसी सादगी आश्चर्यजनक है। भावनाओं की दृष्टि से ये आधुनिक युग के थे, किन्तु ऊपरी परिधान सदा प्राचीन ही रहा।2

कवि सत्यनारायण जी का ब्याह पं० मुकुन्दराम जी की बड़ी पुत्री सावित्री देवी के साथ हुआ था और यही विवाह उनके अन्त का कारण बना। पति-पत्नी के विचारों में आकाश पाताल का अन्तर था। कविरत्न जी भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उधर सावित्री देवी कट्टर आर्य समाजी। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'उनका जीवन क्या था, जीवन की विषमता का एक छंटा हुआ दृष्टान्त था। उनका जन्म और बाल्यकाल, विवाह और गार्हस्थ्य सब एक दुखभरी कहानी के सम्बद्ध खण्ड थे। वे थे ब्रज माधुरी में पगे जीव, उनकी पत्नी थीं आर्य समाज के तीखेपन मे पली महिला! इस विषमता की विरसता बढ़ती ही गई और थोडी ही अवस्था में कविरत्न जी की जीवन यात्रा समाप्त हो गई।"3

उन्होंने अपनी दैन्य स्थिति के बारे में कभी कोई शिकायत भले ही न की हो, परन्तु उनके काव्य में वह निराशा यत्र तत्र परिलक्षित होती है। 'भयो क्यों अनचाहत को संग'। इस एक पंक्ति में उनके जीवन की सम्पूर्ण वेदना समाहित है। वे ऊपर से सदैव हंसमुख बने रहते थे। भीतर दर्द और कसक की भाथी दहकती थी, जिसे निकटवर्ती मित्र ही समझते थे।

'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना' की उक्ति चरितार्थ हुई। कविरत्न को इस नारकीय जीवन से मुक्ति देने के लिए १६ अप्रैल सन् १९१८ ई० के दिन यमराज के दूत आ गए। ३४ वर्ष की अल्पायु में ही ब्रजकोकिल का वह कलकल निनाद सदा सर्वदा के लिए लुप्त हो गया। इस अकाल मृत्यु के लिए उनकी दाम्पत्य जीवन की असफलता भी प्रमुख कारण रही। अपनी छात्रावस्था से ही सत्यनारायण जी ने ब्रजभाषा का शृंगार करना प्रारम्भ किया था। कविता के लिये उनका आकर्षण दिनों दिन बढ़ता गया। आगे चलकर कविता ही उनके जीवन का ध्येय बन गयी। बसंतागमन तथा पावस की फुहार में वे रसिए आदि ग्रामगीत अपढ ग्रामीणों के साथ बैठकर गाया करते थे। सवैया सुनाने का उनका ढंग निराला था। प्रकृति ने स्वर भी इन्हें वैसा ही मधुर दिया था, जिससे शब्द गूंजने लगते थे। श्रोतावर्ग इनकी वाणी सुनकर मुग्ध हो जाते थे। कवि सम्मेलनों में इनकी मांग बढ़ गई थी और ये सभी जगह निरभिमानी की भांति चले जाते थे। वे कभी किसी के आग्रह को टालते नहीं थे। लोग इसका अनुचित लाभ उठाकर इनसे

---

१. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास २. प्रों० रामजी पाण्डेय, ब्रजरत्न
३ आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास

सभा सम्मेलनों के लिये अभिनन्दन पत्र, प्रशंसा पत्र, कवितायें आदि मुफ्त लिखा करते थे बहुत सा समय इन व्यर्थ के कामों मे बीत जाने से उनका दुःख और भी बढ़ गया था ।

सत्यनारायण जी का समस्त जीवन विषमताओं एवं उलझनों का एक मेला था। परन्तु उन झंझटो के सम्मुख कभी रुके नही, कहीं झुके नहीं । गरल पीकर भी वे मुस्कराते रहे । उनके लिए उनका जीवन ही एक काव्य था । अतः जो बातें प्रत्यक्ष उनके सामने आती थीं, उन्हें काव्य का रूप रंग देने मे उनको देर नहीं लगती थी। मित्रों के पास वे प्रायः पद्यबद्ध पत्र लिखते थे।

'खड़ी बोली की खरखराहट' (जो अब तक बहुत कुछ बनी हुई थी) के बीच वियोगी हरि के समान स्वर्गीय पं० सत्यनारायण जी कविरत्न भी ब्रज की माधुरी सुनाते रहे। रीतिकाल के कवियों की परम्परा पर न चलकर वे या तो भक्तिकाल के कृष्ण भक्त कवियों के ढंग पर चले हैं अथवा भारतेन्दु-काल की नूतन कविता प्रणाली पर । ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रजपति का प्रेम उनके हृदय की संपत्ति थी । ब्रज के अतीत दृश्य उनकी आँखों में फिरा करते थे । इन्दौर के साहित्य सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने वहां की काली मिट्टी देखकर कहा था "या माटी को तो हमारे कन्हैया न खाते ।"[1]

कविरत्न जी की प्रतिभा पर कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे महान व्यक्ति भी मुग्ध थे । इन्हे स्वामी रामतीर्थ जैसे महापुरुषों का सत्संग प्राप्त था । हिन्दी-हिन्दू और हिन्द के लिए हृदय में अपार आस्था थी । स्वाभाविक सरलता, स्वार्थ रहित साहित्य सेवा और मधुर स्वर लहरी का अपूर्व सम्मिश्रण सत्यनारायण जी मे मिलता है । हिन्दी काव्य मे ब्रजभाषा प्रणाली के वे अंतिम शक्ति शाली कड़ी थे । उनका सारा जीवन करुणा की एक सजल कहानी है । करुणा में ही वे उत्पन्न हुए और अंत मे करुणा के सागर में ही समा गए, इसी से उनका काव्य करुणापूर्ण एवं मधुर है ।[2]

रचनायें—परिमाण की दृष्टि से सत्यनारायण जी ने अधिक नही लिखा, किन्तु गुण की दृष्टि से, उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह पर्याप्त है । जब गुलेरी जी केवल तीन कहानियाँ (उसने कहा था, बुद्धू का कांटा और सुखमय जीवन) लिखकर उसी के बल पर हिन्दी साहित्य में ही नही अपितु विश्व के साहित्य मे स्थान पा चुके हैं; सत्यनारायण जी क्यों नहीं ?

सत्यनारायण जी ने कोई सम्पूर्ण प्रबन्ध काव्य नहीं लिखा । हां उनके विषयों पर समय-समय पर फुटकल रचनाये लिखते रहे । इनका एक संग्रह 'हृदय-तरंग' नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा से प्रकाशित किया गया है । इन कविताओं के विषय हैं—विनय, देशभक्ति, भ्रमर-दूत, प्रकृति सौन्दर्य, ब्रजभाषा, प्रख्यात व्यक्तियों जैसे स्वामी रामतीर्थ, गोखले, तिलक, गांधी और रवीन्द्र आदि की प्रशस्तियाँ, लोकोपकारक कामों के लिए अपील, कुली प्रथा के विरुद्ध पुकार आदि । इनमे कई कवितायें सामयिक रही, उनका महत्व प्रसंग के साथ समाप्त हो गया । 'प्रेम-कली' में प्रेम प्रदर्शन एवं विनय में कृष्ण की प्रार्थना है । 'देशभक्ति' में भारत माता की वंदना, राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति है । 'भ्रमर-दूत, भ्रमर दूत की परम्परा पर लिखित कविता है । यह सही है कि ब्रजभाषा के पूर्ववर्ती काव्यों से वह भिन्न है । प्राकृतिक सौंदर्य, विभिन्न ऋतुओ के विषय में लिखी गई अनेक कविताओं का संग्रह है । ब्रजभाषा मे कवि ने ब्रजभाषा के प्रति अनु-

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास आ० शुक्ल २ कृष्णकुमार सिन्हा ब्रजभाषा के नवरत्न

राग प्रदर्शित किया है। अनुवाद कला में भी ये बड़े प्रवीण थे। महाकवि भवभूति के नाटकों—'उत्तर रामचरित' तथा 'मालती माधव' का—उन्होंने सुन्दर अनुवाद किया था। अंग्रेजी की प्रख्यात रचना 'होरेशस'[1] का भी इन्होंने सफल अनुवाद किया था।

सत्यनारायण जी कविरत्न के काव्य में राष्ट्रीय भावना—द्विवेदी युग सुधारवादी एवं देश-प्रेम-विकास का युग था। राष्ट्रीयता नए रूप में उदित हो रही थी। स्वदेशी प्रचार और राजभक्ति-देशभक्ति मिश्रित आन्दोलन से ऊपर उठकर शुद्ध राष्ट्रीयता का आग्रह बढ़ रहा था। ब्रजभाषा काव्य में बाबू हरिश्चन्द्र तथा उसके मण्डल के अन्य कवियों की व्यंग्य पूर्ण काव्य-धारा मन्द पड़ गयी थी। श्रीधर पाठक कवि, शंकर गुप्त, जी तथा रामनरेश त्रिपाठी की स्वच्छन्दतावादी धारा मधुर स्वर से अलग राग अलाप रही थी। किन्तु ये सभी खड़ी बोली के कवि थे। ब्रजभाषा की लीक पर चलने वाले रत्नाकर जी के काव्य में राष्ट्रीयता के लिए अवकाश कम था। ऐसी स्थिति में रत्नाकर जी के परवर्ती कवि सत्यनारायण का राष्ट्रीयता की अखंड धारा से समन्वित होना निःसंदेह महत्वपूर्ण घटना है, जब कि कविरत्न जी की कविता की भाषा ब्रजभाषा ही रही, सत्यनारायण जी कविरत्न की कविता का मुख्य स्वर राष्ट्रीयता ही कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। इनकी भक्ति सम्बन्धी रचनाओं में भी देश भक्ति का स्वर मुखर है।[2]

देश की दयनीय दशा से दुःखी होकर कवि भगवान से प्रार्थना करता है। वह अपने लिए कुछ नहीं मांगता, पर देश के लिए—समाज के लिये भगवान को उलाहना देता है—

"कत माया अगाध सागर तुम डोबहु भारत नैया।...
माधव अब न अधिक तरसैये।
तुम्हारे अछत तीन तेरह यह देश दशा दरसैये।
पै तुमको यह जनम धरे की तनकहु लाज न आवै।...
मोहन अजहु दया उर लावौ।
जन्म भूमि निज जानि सांवरे काकौ हित अभिलाषै।...
तुम देखत भारत मानव-कुल आकुल छिन-छिन छीजै।
कहा भयो पासान हृदय तव जो नहिं तनिक पसीजै॥"

पुनः भारत भूमि की स्तुति करता हुआ कवि लिखता है—

बन्दों मातृभूमि मन-भावनि,
जासु बिमल जल मृदु फल बलप्रद,
मलयज सीर समीर सुहावनि।
कलित ललित संकुचित नवल तृण
चमत्कार निज चहुं चमकावनि।

दूसरी कविता 'बन्दौं भारत भूमि महतारी' में भारतमाता का अत्यन्त कारुणिक चित्र उपस्थित किया गया है। यह कविता पढकर शायद ही कोई भारतीय होगा जो द्रवित नहीं होगा। भारत माता को इस स्थान पर सजीव तथा चेतन रूप प्रदान किया गया है। कुछ पंक्तियों का

> बन्दौं भारत भूमि महतारी
> शेष अस्थि पिंजर बस केवल, भययुत चकित बेचारी।
> रोग अकाल दुकाल सताई, जीरन देह दुखारी॥
> धूलि-धूसरित जाकी झलकैं, अलकें स्वेत उघारी।
> अंचल फटे, लटे तन ठाढ़ी, सुधि बुद्धि सकल बिसारी।
> तीस कोटि सुत अछत दुखी यह कैसी गति संचारी।
> जात लाज ब्रजराज राखिए या की कृष्ण मुरारी॥

अंग्रेजों ने भारत को चूस लिया था। अस्थिपंजर ही शेष रह गया। देश की जनता रोग, अकाल, दुःख तथा नाना प्रकार की व्याधियों से जर्जर हो गई थी। अस्तु उसके ३० करोड पुत्रों की लाज रखने का कार्य परमात्मा के अतिरिक्त भला कौन करता! इस काव्य में एक ओर देश का वास्तविक चित्र है तो दूसरी ओर सरल जनभाषा का प्रयोग। राष्ट्रीय नेताओं की प्रशस्ति में भी उन्होंने कुछ कवितायें लिखीं हैं। उदाहरण स्वरूप विश्व वंद्य महात्मा गाँधी की स्तुति मे लिखी कविता का एक अंश देखिये—

> "मोहन प्यारे तुमसों निस दिन, विनय विनीत हमारी।
> हिन्दू-हिन्दी-हिन्द देश के बनहु सत्य अधिकारी॥
> तुममें बस तुम ही लसत, और कहा कहि चित भरें।
> सिवराज प्रताप अरु मेजिनी, किन-किन सों तुलना करें।"[1]

वास्तव में राष्ट्रीयता की नवीन भावनाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए नवीन स्वरवाली खड़ीबोली की जितनी उपयुक्तता है उतनी ब्रजभाषा की नहीं। उपर्युक्त पदों में भावप्रवणता तो है, परन्तु ओज की प्रभविष्णुता नदारद। इसी प्रकार लोकमान्य आदि नेताओं की प्रशस्तिया भी नाबालिग लड़की के शृंगार की भाँति लगती हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि के हृदय मे ईमानदारी की कमी है। वह तो इतना आगे बढ़ गया है कि प्रकृति के वर्णन के समय भी इसे देश की दशा ही दीखती है। बादलो का बरसना आंसुओं के टपकने जैसा लगता है। उसने हर तरह से देश के प्रति सहानुभूति जगाने की चेष्टा की है।

प्रकृति-चित्रण :—रीतिकालीन कवियों ने नायिका की शोभा निरखने मे ही अपनी सारी शक्ति और समय का अपव्यय किया। प्रकृति का मूल स्वरूप उनकी लेखनी से अछूता ही रह गया। बहुत हुआ तो उद्दीपन के लिए प्रकृति का उपयोग कर लिया गया। प्रकृति की नैसर्गिक शोभा न जाने क्यों उनकी आंखों से ओझल ही रही। दरबारी वातावरण में पलनेवाले तथा बंधी हुई परिपाटी में रचना करनेवाले कवि भी कभी कृत्रिम उद्यानों की शोभा-सुषमा देख लेते थे और उसी के चित्रण में अपने को कृतार्थ मानते थे। स्वच्छ प्रकृति का अकृत्रिम सौन्दर्य उन कवियो के लिए सदैव दुलभ ही रहा।

परन्तु सत्यनारायणजी ठीक इसके विपरीत थे। वे मन-वाणी और लेखनी से रीतिमुक्त

१ प्रो० रामजी पाण्डेय

जभाषा के कवि थे। ग्रामीण जीवन के अभ्यासी होने और सतसंगति में जीवन बिताने के कारण न्हें प्रकृति का उन्मुक्त तथा स्वच्छन्द रूप देखने का प्रचुर अवसर मिला। इनके बसंत वर्णन का क कोमल चित्र देखिए—

"वह देखो नव कली अली निज मुखहि निकारति।
लगि लगि बात प्रभात गात अलसात सम्हारति॥
प्रथम समागम समर जीति मुख मुरित दिखावति।
लहकि लहकि अनुस्वाद लेख को भाव बतावति॥
मुखहि मोरि जमुहात भरी तन अतन उमंगन।
जोम जुवानी जगे चहत रस-रंग तरंगन॥"[1]

वैसे तो कविरत्नजी ने प्रायः सभी ऋतुओं के मनोहर चित्र खींचे हैं, पर उनके पावस वर्णन का कोमल एवं कठोर पक्ष दर्शनीय है—

"अलबेली कहुं बेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोये धोये पाहन की अनुपम कमनाई॥
चातक शुक कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि केकी कलित कुंजन करत कलोल॥
निरखि घन की घटा।"[2]

उपर्युक्त पद में प्रकृति के सौन्दर्य को कवि ने अनुप्रास युक्त भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। घन की घटा घिरने पर क्या होता है, उसका आंखों देखा चित्र साफ झलक रहा है। वसंत का ही एक और मधुर चित्र देखिए—

"मृदु मंजु रसाल मनोहर मंजरी मोर पखा सिर पै लहरैं।
अलबेली नवेलिन बेलिनु में नवजीवन ज्योति छटा छहरैं।
पिक भृंग सगुंज सोई मुरली सरसो सुभ पीत पटा फहरैं।
रसवंत विनोद अनन्त भरे ब्रजराज बसन्त हिये बिहरैं॥"[3]

कविरत्न सत्यनारायण ने शरद्, ग्रीष्म और हेमन्त ऋतुओं का भी सुन्दर वर्णन किया है। कोमल कमनीय चित्रों के अतिरिक्त प्रकृति के भयानक एवं कठोर चित्रों की भी उन्होंने सुन्दर सृष्टि की है। ग्रीष्म का भयकर रूप देखिए :—

"तरत रवि सहस किरण विकराल,
चौहं चौंहरत गगन मँडराय।
भभकि भुव उगिलत दावा ज्वाल
लूअ की लपट झकोरा खाय

ग्रीष्म की भयंकरता का एक और चित्र देखिए । इसमें अतिशयोक्ति अलंकार का अच्छा प्रदर्शन है । यहां कविरत्नजी बिहारी के ग्रीष्म वर्णन से प्रभावित भी जान पड़ते हैं—

"तपनि सों सुधि बुधि तजि कहुं जाय, मोर जब बैठन पांख पसारि
दुरतता नीचे विषधर आय, विकल प्राणनि कौ मोह बिसारि ।
घाम के मारे अति घबराय, फिरत मारे चहुं जीवन काज ।
एक थल अपनों वैर बिहाय, नीर ढिंग पीवत है मृगराज ॥"[२]

मोर के पंख के नीचे जाकर सर्प का बैठना कल्पना जन्य ही हो सकता है सो भी जानबूझ कर । वह ग्रीष्म से पीड़ित होकर प्राणों का मोह छोड़कर छाया ग्रहण करता है । माना कि ग्रीष्म की लू भयंकर होती है, जलन के अंगारे बरसाती है, पर मोर के पास उसके पंख के नीचे सांप जाकर बैठेगा ऐसा कभी सम्भव नहीं है । अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन का उपर्युक्त उदाहरण

"कहलावत एक बसत अहि मयूर मृग बाघ ;
जगत तपोवन सों कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥"[१]

बिहारी के इसी दोहे से प्रभावित जान पड़ता है । लगे हाथ यहीं पावस का भी एक भयकर चित्र देख लें :—

"उछरि नछरि जल-छाल छिरकि-छिति छर-र-र छमकति ।
चचल चपला चमचमाति चहुंधा चलि चमकति ।
मनु यह पटियापरी मांग ईंगुर की राजत ।
छांह तमालन श्याम, श्यामा संग श्याम भ्राजत ।
घर कोठनि की तरकनि दरकनि मांटी सरकनि ।
देखहु तिनकी अर-रर-रर ऊपर सो ररकनि ।"[२]

इन स्वस्थ प्रकृति-वर्णनों के अतिरिक्त यत्र-तत्र कविरत्नजी ने प्रकृति वर्णनों में उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाया है । जैसे प्रकृति वर्णन के साथ उन्होंने देश-दुर्दशा को जोड़ दिया है । सोद्देश्य कला के पक्षपाती इसके औचित्य को स्वीकार करते हैं । काव्य जीवन के लिए है, वह एक साधन मात्र है, यह स्वीकार करते हुए भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य केवल प्रचार के लिए अथवा जीवन की सामान्य सामग्री जुटाने के लिए नहीं है । वह जीवन को स्फुरण देने वाला, प्रेरित करनेवाला तत्व है । इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि श्री रामधारी सिंह दिनकर का मत भी पठनीय है—

"सच तो यह है कि ऊंची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती, क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी है और कला जीवन का अनुकरण किए बिना जी नहीं सकती ।...कला की प्रत्येक कृति मनुष्य को एक डग आगे ले जाने

---

१ कविवर बिहारीलाल, बिहारी सतसई
२ सत्यनारायण कविरत्न, हृदय तरंग : पावसऋतुवर्णन
३ रामधारी सिंह दिनकर ब्रजभाषा के नवरत्न

वाली होनी चाहिए। और अगर संसार के कलाकार कविता के इस स्वाभाविक उद्देश्य से भी मुक्त रखना चाहते हैं तो कविता संसार से उठ जाय, ऐसी कविता के बिना संसार की कोई हानि नहीं हो जायगी। अगर उसके चलते जीवन में स्वर्गीयता और संस्कृति में सुकुमारता का समावेश न हो सके तो वह संसार के लिए व्यर्थ है।"[1]

भक्ति-भावना—सत्यनारायणजी की काव्य साधना में भक्ति का प्रमुख स्थान है। वे भगवान कृष्ण के अनन्य उपासक थे। उनकी कविताओं में सख्य भाव एवं समष्टि-निष्ठता का विस्तार है पर वैराग्यमूलक आत्माभिव्यक्ति भी कुछ पदों में मिलती है। कवि कहीं भी दैन्य भाव से गिड़गिड़ाता नहीं। दास्य भाव की भक्ति उसे अभीष्ट नहीं। न तो वह सूर की भाँति अपने को कुटिल खल कामी कहकर गोपाल को चुनौती देता है, न कबीर की भांति राम की बहुरिया बनकर समर्पित होता है। मीरा की भांति माधुर्य उपासना में भी उसकी रुचि नहीं जचती। वह तो उल्टे ईश्वर से प्रश्न पूछता है कि उसके प्रति अन्याय क्यों हो रहा है? कवि को अपने ऊपर विश्वास भी तो है, क्योंकि वह अपने कर्मों को भली भांति जानता है। उसका प्रश्न है—

"सारे जग सों अधिक कियो का ऐसो हमने पाप।
नित नव दई निर्दयी बनि जो देत हमें संताप॥"

किन्तु कविरत्नजी अधिक विवाद में न पकड़कर पुनः समझौता कर लेते हैं क्योंकि समझौता का नाम ही तो जीवन है। झगड़ों में समय नष्ट हो जायगा। अस्तु, दूसरे ही क्षण वह कहता है—

"तुम आछे हम बुरे सही, बस, हमारो ही अपराध।
करना हो सो अबहूं कीजै, लीजै पुन्य अगाध॥"

इसे अपराध की स्वीकृति मानना भारी भ्रम होगा। झगड़ा समाप्त करने के लिए सामान्य दैनिक जीवन में भी लोग कहते हैं, 'अच्छा बाबा तुम्हीं ठीक कहते हो, बस।' इसी प्रकार सत्यनारायण जी की उपर्युक्त उक्तियों में विवाद समाप्त करने का प्रयत्न है। इस प्रकार धृष्टता, छेड़छाड़ और समानता का व्यवहार इस बात का प्रमाण है कि कविरत्न जी की भक्ति सख्य भाव की है। कृष्ण को सम्बोधित करके वे कहते हैं—

"मानि लेउ, हम कूर कुढंगी कपटी कुटिल गंवार।
कैसे असरन सरन कहो तुम जन के तारनहार॥"

ऊपर के 'मानि लेउ' में एक जबर्दस्त व्यंजना है। अच्छा भाई मान लो मैं बुरा ही हूं, यह भाव है। फिर शेष पद पूरक मात्र रह जाता है। सख्य भाव की धृष्टता क्रमशः बढ़ती जाती है—

१— यदि जो कर्म जातना भोगत, तुम्हरे हूं अनुगामी।
तौ करि कृपा बताओ चहियतु, तुम काहे के स्वामी॥

२— माधव तुमहू भये बेसाख।...
वही ढाक के तीनपात हैं, करौ न कोई लाख॥
भक्त अभक्त एक से निरखत कहा होत गुन गायें।
जैसे खीर खवायें तुमको वैसे सींग दिखायें॥

[1] ... के नवरत्न

वे पेंदी के लोटा के सम तव मति गति दरसावैं।
यह कछु को कछु काज करत में तुमहिं लाज नहिं आवैं ॥

सत्यनारायणजी की भक्ति की दूसरी विशेषता है सार्वजनिक हितकामना। वे व्यक्ति को समाज की एक इकाई-मानकर ऐसा सोचते हैं कि समाज के कल्याण में ही व्यक्ति का हित-कल्याण निहित है। दूसरों के दुख दूर करने की प्रार्थना करते समय कभी कभी वे क्रोध में उलझ जाते हैं, तुनक कर अटपट बानी भी बोलते हैं। उनकी भक्ति में यह परिवर्तन उनकी तीव्र राष्ट्रीयता का द्योतक है। यह नवीनता नए युग की देन है। दीनों के दुख दूर करने का उनका आग्रह भी विचित्र है—

माधव आप सदा के कोरे।
दीन दुखी जो तुमको जांचत, सो दाननि को मोरे।
किन्तु बात यह तुव स्वभाव वे नैकहुं जानत नाहीं।
सुनि सुनि सुजस रावरो तुम ढिग, आवन को ललचाहीं ॥

देश की दयनीय दशा देखकर कवि की छाती फट जाती है। वह कृष्ण से सीधे प्रश्न पूछता है—

"तुम्हरे अछत तीन तेरह यह देश दशा दरसावैं।
पै तुमको यहि जनम घरे की तनकहुं लाज न आवै ॥
आरत तुम्हें पुकारत हम सब सुनत न त्रिभुवनराई।
अंगुरी डारि कान में बैठे धरि ऐसी निठुराई ॥"

ऊपर की दूसरी पंक्ति में बड़ा करारा व्यंग्य है। सीधे शब्दों में भक्त भगवान से जवाब तलब करता है। 'क्या इस धरती पर जन्म लेने की तुम्हें कोई आन नहीं है? क्या तुम्हें अपना कर्तव्य ज्ञात नहीं है? आदि आदि। अंतिम पंक्ति में पुनः व्यंजना है। क्या अपने कानों में अंगुली डालकर बैठे हो। ताकि हमारी पुकार न सुन सको। आगे दूसरे पद में मोहन से कवि पुनः पूछता है, 'मोहन कब तक मौन रहोगे? तुम्हारे देखते देखते भारतवर्ष की दशा इतनी दयनीय हो गई है और प्रति दिन और क्षीण ही होती जा रही है। क्या हो गया है तुम्हें, जो दया नहीं करते हो?'

द्वितीय महायुद्ध की लपटों से धू-धू करके सारा संसार जलने लगता है। कविरत्नजी व्यक्ति समाज, देश की सीमा पार करके विश्व के मानव मात्र की पीड़ा से दुखित होकर अपने श्याम को उलाहना देते हैं। उनको विश्वास है कि श्याम चाहें तो सारे कष्ट संसार से मिट जाय।

"बिपति ग्राह ने ग्रस्यो विश्व गज, होन चहत अनहोनी।
ऐसे समय सांवरे सूझी, तुमको आँख मिचौनी ॥"

हिन्दुओं के दिन प्रतिदिन ह्रास को देखकर कविरत्नजी प्रार्थना करते हैं—

"होरी जातीय प्रेम की फूंकिन धूरि उड़ाओ।
जुगकर जोरि यही 'सत' मांगत अलग न और लगाओ ॥"

'बृजभाषा और दोनों की ददशा पर कवि का हृदय द्रवित हो उठता है और वे अपने प्रिय से

कवि सत्यनारायण की भक्ति, जैसा कि ऊपर एक स्थान पर कहा गया है, नए युग के अनुकूल थी। उसमें लोक कल्याण की कामना और देश प्रेम की भावना मिली हुई थी। इनसे पूर्ववर्ती ब्रजभाषा के अधिकांश कवि आत्मनिष्ठ थे। उन्होंने अपने दुख-द्वन्द के लिए ही शोर मचाया है। उन्हे दूसरों की तनिक भी फिक्र नहीं थी। अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति द्वारा अपने को बड़ा पापी, नारकीय कीड़ा, असहाय और अधम कहकर अपने प्रभु का समर्थन पाना चाहा है। उन्हें हमेशा अपनी अपनी पड़ी थी। परन्तु कविरत्नजी उनसे भिन्न, सदैव दूसरों के लिए जीते रहे। यह जनहित की व्यापक भावना आधुनिक युग की देन है; यद्यपि कविरत्नजी की वैराग्य सम्बन्धी भावनायें उभर आई है; जैसे—

> "बिरथा जनम गवांयौ रे मन।
> रच्यो प्रपंच उदर पोसन को राम को नाम न गायो।
> तरुणित तरल निबली को लखि के हाथ फिर्‌यो भरमायो।
> रह्यो अचेत चेतनहिं कीन्हों सगरो समय बितायो।
> माया जाल फंसे हा अपुने उलझि भलौ बौरायो॥"

इस पद में भी उनकी विशेषता बनी हुई है। निर्गुनिए संतों की तरह ससार छोडकर भागने की बात कहीं नहीं कही गई है। वरन् यहां सांसारिक मनुष्यों को सावधान किया गया है कि जीवन 'तरुणित तरल त्रिबली' के पीछे बर्बाद करने की वस्तु नहीं है। जिन्दगी भोगविलास से बडी है, उससे आगे भी है। कवि जीवन की रंगीनी-तरलता के प्रति नकारात्मक रुख नहीं अपनाता न उसके विरुद्ध विद्रोह ही करता है। वह तो केवल इतना चाहता है कि वासना मे ही जीवन की सरिता सूख न जाय। संक्षेप में वह जीवन के व्यापक एवं शाश्वत मूल्यों को स्वीकार करता है। हां, एकांगी जीवन उसे पसद नहीं।

सत्यनारायणजी ने ईश्वर की विस्तृत सृष्टि को देखकर, उसकी माया के प्रसार को समझकर, अपनी अल्पज्ञता एवं कमजोरी जानकर कहा है, 'तिहारो को पावै प्रभु पार।'...सचमुच ईश्वर की अनन्त शक्तियों का कौन पार पा सकता है। निर्गुण और सगुण की चर्चा में सत्यनारायणजी ने पूर्ववर्ती भक्तों का ही अनुसरण किया है। निर्गुण को कठिन जानकर सगुण को ही स्वीकारा है। श्याम के सलोने रूप के वे भूखे हैं। मन्द मुस्कराहट के साथ वह सगुन रूप उनके हृदय में निवास करे, ऐसी उनकी इच्छा है। इस प्रसंग में श्री ओमप्रकाश अग्रवाल लिखते है— "भक्ति परंपरा के पद होते हुए भी उनमें देश प्रेम की झलक है, आत्म-शासन का उपदेश है और आत्मजागृति का महान सन्देश है। श्रीकृष्ण को अपना कर कृष्ण काव्य की गीति परम्परा को पण्डितजी ने आधुनिक युग में भी बनाये रखा। इनसे पहिले के गीत केवल आत्म परितोष तक ही सीमित थे मगर इनके बाद के गीतों की गति-विधि ही बदल गई।"[1]

भ्रमर दूत—हिन्दी के महान कवियों का मार्मिक काव्य रहा—भ्रमर गीत। इस प्रसंग को ब्रजभाषा और खडीबोली के कवियों ने समान रूप से अपनाया है। सभी ने अपनी प्रतिभा और भावना के अनुरूप उसका श्रृंगार किया है सत्यनारायण कविरत्न ने इस प्रसग को बिल्कुल नए

धिरे से हम रे सामने पेश किया है यह अन्य कवियों के भ्रमर गीत से भिन्न सरणी का है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत देखिए—

"सत्यनारायण जी की बड़ी कविताओं में 'प्रेमकली' और 'भ्रमर दूत' विशेष उल्लेखनीय हैं। यशोदा ने द्वारका में जा बसे हुए कृष्ण के पास सदेश भेजा है। उसकी रचना नन्ददास के भ्रमर गीत के ढंग पर की गई है। पर अंत में देश की वर्तमान दशा और अपनी दशा का भी हल्का सा आभास कवि ने दिया है।"[1]

अनेक आलोचकों ने भ्रमर-दूत को भ्रमर गीत परम्परा में रखा है और अनेक ने इसका विरोध किया है। उनकी मान्यता है कि यह सर्वथा भिन्न रचना है। भ्रमर को दूत बनाने के अतिरिक्त किसी भी बात में दोनों के बीच साम्य नहीं है अस्तु, दोनों काव्यों की भिन्नता पर विचार कर लेना ही अधिक समीचीन होगा—

(१) भ्रमर गीत के लेखक कवियों ने उद्धव को कृष्ण का दूत बनाकर विरहिणी गोपियों के पास भेजा है। उद्धव और गोपियों के वार्तालाप के समय ही भ्रमर उड़ता हुआ वहां आ जाता है। सत्यनारायण कविरत्न के भ्रमर दूत में यशोदा अपने पुत्र कृष्ण के पास भ्रमर द्वारा माता का सदेश भेजती हैं।

(२) अन्य कवियों के भ्रमर गीत में उद्धव को लक्ष्य करके भौरे को गोपियां लताड़ती हैं। भ्रमर की आड़ में उद्धव से ही बातें की जाती हैं। लेकिन सत्यनारायण जी ने भ्रमर को ही मुख्य व्यक्ति बनाया है। यहां उद्धव और गोपियों का कहीं पता नहीं है।

(३) भ्रमर गीत श्रेष्ठ उपालम्भ काव्य के रूप में हमारे सामने आता है। भ्रमर दूत के विषय में कुछ ऐसा नहीं है। वहां माता की अपने पुत्र के लिये चिन्ता मात्र है।

(४) भ्रमर गीत में कवियों का मुख्य उद्देश्य है भक्ति को ज्ञान से बढ़कर सहज सुलभ सिद्ध करना। उधर भ्रमर दूत में कविरत्न जी ने देश की तत्कालीन दशा का चित्रण करना ही अपना उद्देश्य रखा है।

(५) अन्य कवि भ्रमर गीत में माधुर्य-भावना की भक्ति को अपना प्रति पाद्य मानते हैं, अतः उन्होंने गोपियों को केन्द्र मानकर कथा का विकास दिखाया है। भ्रमर दूत में केवल यशोदा के दर्शन होते हैं। इसमें न तर्क वितर्क है न ज्ञान सम्बन्धी कोई चर्चा।

(६) रस-योजना की दृष्टि से भ्रमर गीत विप्रलम्भ शृंगार के अंतर्गत आता है, परन्तु भ्रमर दूत को 'विप्रलम्भ वात्सल्य' के अन्तर्गत रखना होगा जब कि विप्रलम्भ वात्सल्य की काव्य मे परम्परा नहीं है।

(७) भ्रमर गीत में भक्ति—ज्ञान की चर्चा में गोपियां खुलकर भाग लेती है, उद्धव को अपने तर्कों से परेशान करती हैं। वहाँ वाद-विवाद भी होता है, किन्तु भ्रमर दूत में केवल यशोदा ही बोलती हैं। वहां किसी के न होने के कारण उनका बोलना स्वगत-भाषण जैसा लगता है।

(८) भ्रमर दूत पर मेघदूत का अधिक प्रभाव जान पडता है क्योंकि दोनों में प्रकृति के

१ आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास

विभिन्न उपादानों को संदेश वाहक के रूप में भेजा गया है। भ्रमर गीत में इस प्रकार का प्रसंग नहीं है।

(९) सत्यनारायण जी ने नंददास के 'भंवर गीत' का रूप-विधान अपने भ्रमर-दूत में अपनाया है पर वस्तु, दृष्टिकोण तथा शैली में भी इन्होंने मौलिकता दिखलाई है। नन्ददास के समान साहित्यिक ब्रजभाषा का भी भ्रमर दूत में प्रयोग नहीं किया गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल है।

(१०) सूर, नन्ददास, रत्नाकर आदि कवियों के कृष्ण मथुरा में निवास करते हैं और वहीं निकट रह कर ही गोकुल में गोपियों के पास अपना संदेश उद्धव द्वारा भेजते हैं।[1] किन्तु भ्रमर-दूत के कृष्ण द्वारिका में चले गए हैं। वहाँ जाकर वे माता पिता तथा गोप-गोपियों की खबर नहीं लेते हैं फिर भी यशोदा अपने पुत्र को नहीं भूल पातीं।

इस सम्बन्ध में डा० स्नेहलता श्रीवास्तव के विचार भी पठनीय हैं—"माँ के व्याकुल हृदय का यह चित्र कितना सजीव एवं स्वाभाविक है। इसकी यथार्थता का अनुभव भुक्त भोगी ही कर सकता है। पुत्र के विरह में यशोदा का रोम-रोम प्रतीक्षा में लगा है।"[2]

पावस ऋतु की धारासारा वर्षा हो रही है। चारों ओर हरियाली ही हरियाली छाई है। नदी, नद, ताल तलैया सब पानी से भरे हैं। ग्वालों के लड़के खेल कूद कर अपने अपने घरों को लौटते हैं। यह दृश्य देखकर नंदरानी यशोदा को पुत्र कृष्ण का स्मरण हो जाना स्वाभाविक है। सुधि आते ही वे विकल हो जाती हैं। उनकी आँखों से आंसुओं की धारा बहने लगती है—

लखि यह सुषमा जाल लाल निज बिन नंदरानी।
हरि सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी॥
सुधि बुधि तजि माथौ पकरि, करि करि सोच अपार॥
द्रग जल मिस मानहु निकरि बही विरह की धार॥
कृष्ण रटना लगी।"[3]

द्वारिका की ब्रज से (गोकुल) दूरी, संदेश भेजने की कठिनाई और कृष्ण का प्यार सब कुछ मिलाकर यशोदा के हृदय में द्वन्द्व मचा देते हैं। इधर देश की दशा दिन पर दिन खराब होती जा रही है। इस सम्बन्ध में सत्यनारायण कविरत्न के विचार पठनीय हैं—

"नित नव परति अकाल, काल को चलत चक्र चहुं।
जीवन को आनन्द न देख्यो जात यहां कहुं।
बढ़यो यथेच्छाचार कृत जहं देखों तहं राज।
होत जात दुर्बल विकृत दिन दिन आर्य समाज।
दिनन के फेर सों।
जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हें विदेशी तंग करत दै विपदा खासी॥"[4]

---

१. डा० स्नेहलता श्रीवास्तव, हिन्दी में भ्रमर गीत काव्य और उसकी परम्परा, पृ० संख्या ४२८-४३५। २. वही पृ० संख्या ४३८। ३. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ६३८ ४ वही।

भ्रमर-दूत में यशोदा को पढ़ी लिखी न होने का बड़ा दुख है । यह यशोदा के माध्यम से कविरत्न की नई अवतारणा है । यशोदा चिट्ठी नहीं लिख पाती और द्वारिका तक संदेश नही भेज पातीं । उसका रोना तो समझ में आता है । परन्तु इसके आगे वह नारी शिक्षा पर एक सारगर्भित भाषण भी देती है, वह विचारणीय है—

> "पढ़ी न अच्छर एक, ज्ञान सपने ना पायो ।
> दूध दही चाटत में सगरो जनम गंवायो ।
> माता पिता बैरी भए, सिच्छा दई न मोहि ।
> सबरे दिन यों ही गए, कहा कहे ते होहि ।।
> मन ही मन में रही ।"1

समाज सुधार उस युग की विशेषता थी । नैतिकता का आग्रह, विधवा विवाह, स्त्रीशिक्षा आदि की उन दिनों धूम थी । भ्रमर दूत की यशोदा कहती है।

> "नारी शिक्षा अनादरत जे लोग अनारी ।
> ते स्वदेश अवनति प्रचण्ड पातक-अधिकारी ।।
> निरखि हाल मेरा प्रथम ले समझि सब कोई ।
> विद्यावत लहि मति परम अबला सबला होई ।।
> लखौ अजमाइके ।"2

नारी शिक्षा पर यशोदा का उपर्युक्त भाषण असामयिक है । द्वापर की नन्दरानी के वातावरण के अनुकूल नही है । परन्तु कविरत्नजी ने तो बीसवीं शताब्दी के संदर्भ में नारी शिक्षा पर जोर दिया है । पत्नी के पूर्ण शिक्षित न होने से उनके निजी जीवन में जो रिक्तता आई थी, जो घुटन जलन छाई थी, वह भी विचारणीय है । विद्या पाकर अबला सबला बन जाती है । अजमाने की बात कह कर उन्होंने बड़ी ईमानदारी बरती है । समान विचार, प्रकृति एवं शिक्षित पत्नी न मिलने का दुख कवि को जीवन पर्यन्त रहा ।

भौतिक भावनायें समय पाकर पारलौकिक बन जाती हैं । धरती का प्रेम, मांसल लगाव, स्नेह और सम्बन्ध जीवन को समय पाकर आध्यात्मिकता की ओर खींच ले जाते हैं । हाँ, ऐसा कभी कभी असफलता एवं विवशता के कारण होता है और कभी कभी तृप्ति से उत्पन्न विरक्ति के कारण ।

नंदरानी जब 'कौने भेजों दूत, पूत सों विथा सुनावै' और 'जाइगा को उहाँ' कहकर अपनी कठिनाई प्रकट करती है । उसी समय एक भ्रमर वहाँ आ पहुँचता है । यह भ्रमर अन्य कोई नही, छद्मवेश में स्वयं श्रीकृष्ण है, जैसा कि इस पद से प्रकट है—

> "विलपति कलपति अति अबै, लखि जननी निज श्याम ।
> भगत भगत आए तबै, भाये मन अभिराम ।।
> भ्रमर रूप में ।"

१ प्रो० राम जी पाण्डेय ब्रज रत्न पृ० २१४ २ आचार्य शुक्ल हि० सा० का इतिहास

यह उक्ति कुछ जमती नहीं, व्यर्थ खींचतान कर कौड़ी लाने की बात सी लगती है। कृष्ण को भौंरे के रूप में दौड़कर खड़ा करने की जरूरत नहीं थी। कवि ने व्यर्थ ही उन्हें कष्ट दिय और अपनी बुद्धि से बौद्धिक व्यायाम कराया। भला इस सब नाटक की क्या जरूरत थी? सदेश तो कोई सामान्य भौंरा भी पहुंचा ही देता। और नहीं, कृष्ण को बुलाना अनिवार्य ही था, तो प्रत्यक्ष आकर माता का कष्ट मिटाते। माता यशोदा के दुख की अभिव्यक्ति से पशु पक्षी और वृक्ष लतादि सभी विह्वल हो जाते है। भ्रमर दूत में माता के हृदय की गभीर वेदना का अंकन किया गया है। जड़ चेतन सभी नदरानी की भावना में लीन हो गए हैं। वात्सल्य में विप्रलम्भ की सृष्टि मनमानी नवीन उद्भावनायें तथा पुराने कथानक में नवीन विचारों का साग्रह आरोपण आदि बातें भ्रमर दूत में खटकती हैं। पर अनेक असगतियों के बावजूद काव्य सुन्दर हैं।

भाषा-शैली-सत्यनारायण कविरत्न जी ब्रजभाषा के अन्यतम अनुरागी एवं परम भक्त थे। यह तो उनकी 'ब्रजभाषा' शीर्षक कविता की पंक्तियों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। उनकी दृष्टि में 'ब्रजभाषा' विश्व की सभी भाषाओं से श्रेष्ठ एवं अत्युत्तम है:—

देसकाल अनुसार भाव निज व्यक्त करन में।
मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में॥
ईश्वर मानव प्रेम दोउ एक अंक सिखावति।
उज्ज्वल श्यामल धार जुगल यों जोरि मिलावति॥
भेद-भाव तजिबे की प्रतिभा जब रस ऐली।
योग गहत तिनसों तब सुन्दर बहत त्रिबेनी॥
करी जाय यदि यासु परीक्षा सविधि यथारथ।
याही मे सब जग को स्वारथ अरु परमारथ॥
बरनन को करि सफल भला तिह भाषा-कोटी।
मचलि मचलि जामें मांगी हरि माखन-रोटी॥

खड़ीबोली के आन्दोलन के बीच ब्रजभाषा के विषय में उनके उपर्युक्त विचार थे। उन्होने ऊंचे स्वर से ब्रजभाषा की वकालत की। ब्रजभाषा को नवीन युग की भावनाओं को वहन करने के योग्य बनाने का यथासाध्य प्रयत्न किया। भाव की दृष्टि से सत्यनारायण जी पर्याप्त प्रगतिशील थे। इनकी कविताओं में सामयिकता की अमिट छाप इनके प्रगतिशील होने की गवाही देती है। इन्होंने ब्रजभाषा को शृंगार के गदे नाले से उठाकर राष्ट्रीयता के पुनीत धरातल पर खड़ा किया। इससे ब्रजभाषा में एक नया बल, एक नई शक्ति एवं एक प्रबल आवेग का आगमन हो गया। और वे इस कार्य में सफलीभूत हुए।

सत्यनारायण कविरत्न की भाषा सामयिक ब्रजभाषा है। उनकी काव्य भाषा में माधुर्य और प्रसाद गुण विशेष रूप से पाये जाते हैं। नेताओं की प्रशस्तियों में उन्होंने ओज लाने का भी प्रयत्न किया है। इनकी कविताओं में संयुक्ताक्षरों का नितांत अभाव है। परुष वर्ण तो मानो इनकी कविताओं में आने से शरमाते है। उनकी भाषा पूर्ण रूपेण साहित्यिक है। इसमें ब्रजभाषा के नवीनतम मुहावरे मिलते हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"उन्होंने जीती-जागती ब्रजभाषा ली है उनकी ब्रज उसी रूप में बधी न रह कर जो काव्य परम्परा के भीतर पाया

जाता है, बोल चाल के चलते रूपों का लेकर चली है। बहुत से ऐसे शब्दा और रूपों का उन्होंने व्यवहार किया है, जो परम्परागत काव्य भाषा में नहीं मिलते।"

सत्यनारायण कविरत्न की, 'ब्रजभाषा' शीर्षक कविता पढ़कर पं० श्रीधर पाठक ने मुग्ध होकर कहा था, "रासपंचाध्यायी का आनन्द आ रहा है।" और यह माधुर्य कवि का सहज गुण है। सत्यनारायण जी को नंददास की भाँति तत्सम शब्द अधिक प्रिय थे अतः उनकी भाषा मे ऐसे शब्दों का बाहुल्य है—

युगल चल-अरविन्द-ध्यान मकरद-पान हित ।
मुनि-मन मुदित-मलिन्द निरतर विरमत जह नित ॥
तहं सुचि सरल सुभाव रुचिर गुन-गन के रासी।
भोरे भोरे बसत नेह विकसित ब्रजवासी ॥

इनकी भाषा मे कुछ अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु वे खटकते नहीं जैसे परसाद परमेसुर, सेप, बिसेस, निरदय और जदपि आदि। कहीं कही पर स्त्रियों द्वारा बातचीत मे व्यवहृत शब्दों का भी व्यवहार मिलता है जैसे—अपस्वार्थी, बजमारे इत्यादि। इन शब्दों में स्वाभाविकता के साथ ही साथ व्यंजना भी है। इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है, अतः अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर है। बहुत खोजने पर मुहर, सूरत ऐसे शब्द मिलेंगे जिनके पर्यायवाची क्लिष्ट हो जाते। उन्होंने अपनी भाषा में कुछ नई क्रियाओं को नए सिरे से ढाला है। जैसे आजमाना से 'अजमाइकैं', अनुमान करना से 'अनुमानी' और इसी ढर्रे पर 'हरसावत' 'ललचानी' आदि का प्रयोग हुआ है। दैनिक व्यवहार मे आने वाले मुहावरों का बड़ा सटीक प्रयोग किया है। जैसे—

१—तुम्हरे अछत तीन तेरह यह, देस दसा दरसावै।
२—अपनी जांघ उघारे उघरति, बस हमरो ही अपराध।
३—अपनी अपनी ढापुली अपनो अपनो राग अलापैं जोर से।
४—सबै धान तेईस पंसेरी नित तोलन सों काम।
५—ताकों विप्र सुदामा केरि करि सनेह मढ़ि दियो।
६—वेद पुरान तुम्हारे जस के नभ में महल बनावत।
७—सांप छछुन्दर गति भई मन अकुलाय रहे सदके सब।
८—अंगुरी डारि कान में बैठे, धरि ऐसी निठुराई।
९—बेपेंदी के लोटा के सम तव मति गति दरसावै।
१० ऊँची बड़ी दुकान तिहारी फीकी बनै मिठाई
११ साँचो कहावति जाकैं नहिं फटी बिवाई। इत्यादि ॥

प्रस्तुतः रस निष्पत्ति की दृष्टि से भ्रमर-दूत इनका सर्वश्रेष्ठ काव्य है। वात्सल्य रस का आश्रय यशोदा हैं। शिशुओं की क्रीड़ा, यमुना का पुलिन, कदम्ब वृक्ष आदि उद्दीपन है। पुलक, अश्रु-विसर्जन, विलाप आदि अनुभाव हैं। स्मृति, चिन्ता, विषाद, दैन्य आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार वात्सल्य रस के सम्पूर्ण उपादान उपस्थित है। भक्ति वाले पदों में भक्ति भाव तक ही सीमित है। कुछ आलोचक भक्ति रस की नई परिपाटी बनाना चाहते हैं, पर इसकी कोई आवश्यकता नहीं जचती।

जैसा कि सर्व विदित है कि सत्यनारायण कविरत्न आधुनिकता के रंग में स्नात थे और उनकी रुचि शृंगार रस की ओर नहीं थी। यद्यपि अनेक राष्ट्रीय कवियों ने शृंगार रस को अपने काव्य में भरपूर अपनाया है। यहां तक कि गुप्तजी जो सनातनी हैं, जिन्हें द्विवेदीजी का सच्चा प्रतिनिधित्व प्राप्त था, वे भी अपनी परवर्ती रचनाओं में शृंगार का संयमित प्रयोग किए हैं। कविरत्नजी की 'प्रेमकली' रचना में शृंगार वर्णन का पूरा पूरा अवसर था, किन्तु जानबूझकर उन्होंने रतिभाव को शृंगार रस में परिणत होने से बचा लिया। प्रकृति चित्रण में कहीं कहीं शृंगार के निकट पहुंचकर कवि अचानक मुड़ गया है। अपने काव्य में करुण और हास्य के चित्र उरेहने का उन्होंने यत्र तत्र प्रयत्न किया है। इनकी भक्तिपरक कविताओं में शान्त रस मानना होगा। ढूंढ़ने पर अन्य रसों के भी कतिपय स्थल सम्भव है, मिल जायं।

अलंकार—अलंकार कविता का वाह्य शृंगार है। इसका रहना आवश्यक अवश्य है, पर अनिवार्य नहीं। अलंकार स्वतः काव्य में आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। कविरत्नजी पहले कवि हैं बाद में सब कुछ। इनकी रचनाओं में अलंकार आए हैं, पर वे अपने स्वाभाविक रूप में। उन्होंने कहीं बरबस ही अलंकरण की दृष्टि से अलंकारों को ठूंसा नहीं है। इनके काव्य में अनुप्रास, यमक, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति और स्वभावोक्ति अलंकार ही प्रमुख हैं। इनके संक्षिप्त उदाहरण नीचे देखिए—

"अद्भुत आभावंत अंग अति अमल अखंडत।
घुमड़ि घुमड़ि घन घनो घूम घोर घमंडत॥"   (अनुप्रास)

*   *   *

"अलबेली कहु बेलि, द्रुमन सों लिपटि सुहाई।"   (यमक)

*   *   *

जिनके उच्च उदार भाव-गिरि सों जग आसा।
जनमी तारनि तारनि कलिंदिनि यह ब्रजभाषा॥
जासु सरस निरमल जग जीवन जीवन मांही।
लखियत   सूर चन्द की नित परछाहीं   रूपक

*   *   *

फैल-फूटि चहुधा छई बिथा न बरनी जाय।
अकथ तासी कथा। (सांग रूपक)

* * *

रज-विहीन पतरी लतिकन को दुखह ल कन।
घूंघट-पट सों मुखनि कारि चाहत जनु चहकन। (उत्प्रेक्षा)

* * *

लखि यह सखमा जाल, लाल निज बिन नंदरानी।
हरि-सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी।
सुधि बुधि तजि, माथौ पकरि करि करि सोच अपार।
दृग जल मानहु निकरि कैं, वही बिरह की धार।
कृष्ण रटना लगी॥ (अपन्हुति)

* * *

खाय चोट फन पलटि सम्हरि रि करि फुंकारत।
लपलपाय जुगजीव फनी 'फूं फूं' फूकारत।
चलैं पनारे फपटि दाउ दिनकी दुरि अधकर।
लै लै झोंका पौन खाति झोंका अति सुन्दर।
हाथ हाथ में डारि लरिका हंसि खिलकत।
कुदकि कालिकी कूल कहूं क्रीड़ा करि किलकत। (स्वभावोक्ति)

वियोगी हरि

जीवनी—स्वाधीनता से पूर्व छतरपुर बुन्देलखण्ड की एक छोटी-सी रियासत थी। वह अपनी हिन्दी गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध हैं। वहां के देसो राजा बड़े ही धार्मिक एवं सांस्कृतिक हुए हैं। वहीं सम्वत् १९५२ चैत्र रामनवमी के दिन एक गरीब ब्राह्मण कुल में वियोगी हरि का जन्म हुआ।[1] छः या सात मास बाद ही पिता का स्वर्गवास हो गया। इनके नाना पं० अच्छेलाल तिवारी ने इनका लालन-पालन किया। तिवारी जी को १५ रुपए मासिक पेंशन छतरपुर राज्य से मिलती थी, जो उस समय खासी रकम समझी जाती थी। नानाजी अच्छे गुणी थे। सितार बजाने के दक्ष एवं कुश्ती लड़ने में परम पटु थे। बन्दूक चलाने और तलवार भांजने का भी उन्हें शौक था। झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई का पराक्रम वे अपनी आंखों देख चुके थे। स्वयं पढ़े-लिखे कम थे, पर अपने नाती को पढ़ाने का उन्होंने यथा साध्य पूरा प्रयत्न किया। वे व[illegible] के पक्के थे।

पं० अच्छेलाल स्वभाव के क्रोधी, मन के उदार और हृदय से सरल थे। शाम-सवेरे सूर तुलसी आदि भक्त कवियों के गीतों को गद्‌गद होकर गाते थे। मोहल्ले के लोग उनसे भय खाते थे। उनकी आन मानते थे। बालक वियोगी पर नानाजी का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा। वियोगी को

---

१. बचपन में इनका नाम हरिप्रसाद द्विवेदी रखा गया था, जो कालान्तर में वियोगी हरि बन गया उसक उल्लेख आगे चल कर किया जायगा।

इनकी नानी भी जी भर कर प्यार करती थीं। मा भी स्नेह करतीं और साथ ही रहती थीं पर कवि का लगाव जितना अपनी नानी से रहा, उतना मां से नहीं। नाना-नानी के संरक्षण और स्नेह ने पिता के अभाव का आभास नहीं होने दिया। बचपन लाड़ प्यार से बीता। उनका स्वय का कहना है, "बचपन में सुनहरे पंख लगा कर उड़ा, झोपड़ी में मैंने महल पाया। आगे की कल्पना-भूमि पर एक सुन्दर बुनियाद भी रखी—यह सब इन्हीं गुरुजनों की बदौलत।"[1]

तत्कालीन रियासती प्रजा की गरीबी और सामाजिक दयनीय स्थिति का कवि के बाल-हृदय पर बडा प्रभाव पड़ा। उस समय उन्हें डेढ़ दो आने की मजदूरी मिलती थी। बेचारे फटे चीथड़ों में रहते थे, मिट्टी के बर्तनों मे रूखा सूखा खाकर. कभी बिना खाये, गुजर करते थे। उनके बच्चे प्राय. नगे रहते थे। बालक वियोगी हरि ने यह सब नजदीक से देखा था। नवरात मे वे सब मिलकर काली माई को खुश करने के लिए समवेत स्वर से एक भजन गाते थे। उनकी दीनता ने उन्हे अधिक आस्थावान बना दिया था। उनके इस विश्वास को भला कौन हिला सकता था। बालक वियोगी हरि पर भजन के बोल एवं करुण स्वर का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। भजन के बोल थे—

"दिन की उबन, करन की बेरा,
सुरहिन बन को जाय हो मां,
इक बन नांघ दुजे बन पहुंची,
तीजे सिंह दहाड़े हो मां।"...2

वियोगीजी उनके इस गीत को सुनकर आत्मविभोर हो जाते थे। आज भी गांवों मे छोटी जात के अनपढ़ किसान-मजदूर देवी-देवताओं के भजन मृदंग, झांझ आदि बजाकर इस तन्मयता से गाते हैं कि उसे ध्यान से सुनने पर बरबस ही श्रद्धा-भक्ति उमड़ आती है, पर इसके लिए [illegible] हृदय और खुला मस्तिष्क अपेक्षित है।

अपनी पितृ-भूमि पुरमऊ में, जो एक छोटा-सा गांव है ये एक बार वहाँ गए थे। वहां जाने पर पता लगा कि इनके पूर्वज कनौजिया दुबे थे। इनके पूर्वजो का बनवाया हुआ एक कुआं, उनके लगाए हुए महुआ के कुछ पेड़, आम के वृक्ष और माफी की थोड़ी जमीन है। किन्तु फिर ये वहा कभी नही गए, न उससे कुछ लेने या पाने की कामना ही की।

अक्षर बोध कराकर ये पाठशाला पहुंचाये गये। पढ़ने-लिखने में इनका मन लगता था और अपने साथियों में अच्छे विद्यार्थी समझे जाते थे। छठीं कक्षा में ये अपने सहपाठी को गणित का एक प्रश्न बताते पकड़े गये। उस पर्चे में फेल कर दिये गये और पांच बेंत की अतिरिक्त सजा भुगतनी पडी।

अंग्रेजी की पहली पोथी इन्होंने सुप्रसिद्ध साहित्यकार लाला भगवान दीन से पढ़ी थी। वे उन दिनो वहीं सेकण्ड मास्टर थे। लालाजी के काशी चले जाने के बाद बाबू गोविन्ददास और प० अनन्तराम शास्त्री से इन्होंने हिन्दी-संस्कृत सीखी। अध्यापकों से ये बड़ा भय मानते थे और

---

१. श्री वियोगी हरि, मेरा जीवन प्रवाह, पृष्ठ ५।
२ वही पृष्ठ १५

उनका भरपूर आदर करते थे। गुरु कृपा का प्रसाद भी इन्हें अच्छा मिला। मिडिल में जब ये पहुंचे तो राज्य की ओर से इन्हें एक रुपया महीना छात्रवृत्ति मिलने लगी। एक वर्ष बाद दो रुपये प्रति माह का एक ट्यूशन भी इन्होंने शुरू किया। इन तीन रुपयों से इनका पढ़ाई का ख- (कागज, कलम, पेन्सिल) आदि चल जाता था। छात्र जीवन में इन्हें कोई व्यसन नहीं था। हां कविता की तुकबन्दियां करने का रोग अवश्य लग गया था। विद्यार्थी जीवन में प्रतिदिन रात्रि के समय ये पड़ोसी छक्कीलाल की बैठक में रामायण की कथा बांचा करते थे। कथा समाप्त होने पर अपनी एक तुकबन्दी भी लोगों को सुना दिया करते थे।

सन् १९५१ ई० में इन्होंने मैट्रिक पास किया। आगे पढ़ने-पढ़ाने के साधन नहीं थे। उन दिनों पं० शुकदेव बिहारी मिश्र छतरपुर में दीवान थे। उन्होंने वियोगीजी को मिश्रबन्धु विनोद मे अस्थायी तौर पर १२ रुपये मासिक पर काम करने के लिये बुलाया। पर ये अपनी मस्ती के कारण उस 'आफर' को स्वीकार नहीं किए। खाली हाथ लौट आए। गंगा के किनारे जाकर भी स्नान नहीं किया। इधर स्वामी समर्थ रामदास के चरित्र का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अचानक इन्होने आजीवन विवाह न करने का प्रण कर लिया। इनके निश्चय से परिवार के लोगों को बड़ा कष्ट हुआ। परन्तु इन पर लोगों के रोने धोने का तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ। अपने विचारों पर चट्टान की भांति दृढ़ रहे।

अपना खर्च चलाने के लिए इन्होंने लेखन का व्यवसाय अपनाया। भूखों मरे, मेहनत की। दीनता में भी सिद्धान्त नहीं छोड़ा। कभी-कभी बिल्कुल काम न चलने पर मित्रों से उधार भी लिया, पर उसे बिना किसी विलंब के लौटा दिया। बड़े परिश्रम से पत्र पत्रिकाओं में लिखकर ३०—३५ रु० मासिक पारिश्रमिक पा जाते थे। उसी से हिन्दी की सेवा करते रहे।

स्वर्गीय महाराज विश्वनाथ सिंह के चचेरे भाई ठाकुर जुझार सिंह की कृपा से राज पुस्तकालय की पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ का सम्पूर्ण साहित्य पढ़ गये। फलतः चित्त वैराग्य की ओर झुकने लगा। उसी वर्ष १९१६ ई० में ठाकुर साहब के साथ चित्रकूट, काशी, प्रयाग, गया, जगन्नाथजी आदि तीर्थों के दर्शन करने का सौभाग्य मिला।

जीवन बदल गया। पूजा, सत्संग और व्यायाम अब यही जीवन बन गया। समय-समय पर लम्बी-लम्बी तीर्थ यात्रायें भी की। साधु-सन्तों एवं महन्तों के दर्शन हुए। अचानक १९२० ई० मे जनकपुर की एक यात्रा के अवसर पर इन्होने अन्नाहार बन्द कर दिया। २१ वर्षों तक फलाहार पर रहे। परन्तु ये राजा, महंत या सेठ साहूकारों जैसे फलाहारी नहीं थे, जिन्हे दूध, घी, प्रचुर मात्रा में फल और सूखे मेवे का चाव हो जाता है। वियोगीजी ने शाक, सब्जी, पत्ती, केला और तिन्नी के चावल पर दिन काट दिये तर माल की तो इन्हें कभी इच्छा ही नहीं हुई भला जो व्यक्ति जीवन में अर्थ और काम से मुक्त हो गया उसे अन्य आकर्षण कैसे घर सकते हैं

साहित्य सम्मेलन प्रयाग और हरिजन सेवक दिल्ली की सेवा में अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया।

व्यक्तित्व :—हरिजी आज भी एक अटल, अडिग, शान्त साधक की भांति हरिजन सेवा में जुटे हुए है। वियोगी हरि के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि देश के सर्वश्रेष्ठ उद्योगपति घनश्याम दास बिड़ला से लेकर एक सामान्य भंगी तक से मिलते हैं। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे प० सुमित्रानन्दन पन्त तथा महादेवी वर्मा से लेकर दक्षिण भारत के एक वर्णमाला सीखने वाले राष्ट्रभाषा के विद्यार्थी तक से प्रेम से वार्तालाप करते है, उन्हे स्नेह एवं सौहार्द प्रदान करते हैं। राजनैतिक नेताओं में पं०नेहरू से लेकर कांग्रेस का एक वालण्टियर तक उनके लिए आदर का पात्र है। वे गृहस्थ रूप में सन्यासी है। निरभिमानी शक्तिशाली कवि, ओजस्वी वक्ता एवं कुशल शैली-कार गद्य लेखक हैं। सेवा ही उनका व्रत एवं त्याग ही बाना है। इनके बारे मे आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते है :—

"श्री वियोगी हरि ब्रजभाषा और ब्रजपति के अनन्य उपासक हैं। ऐसे प्रेमी रसिक जीव इस रूखे जमाने में कम ही दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने अधिकतर पुराने कृष्ण भक्त कवियों की पद्धति पर बहुत से रसीले तथा भक्ति भावपूर्ण पदों की रचना की है जिसे सुनकर आजकल के रसिक भक्त भी 'बलिहारी है' कहे बिना नहीं रह सकते। इनकी इस प्रकार की रचनायें 'प्रेम शतक' 'प्रेमपथिक' 'प्रेमांजलि', आदि में मिलेंगी। छतरपुर से प्रयाग आने पर राजनीतिक आन्दोलनों की भी इन्हें कुछ हवा लगी। फलस्वरूप इन्होंने 'चरखे की गूंज,' 'चरखा स्तोत्र' 'असहयोग वीणा' ऐसी कुछ रचनायें भी की थीं, पर उनमें इनकी स्थायी मनोवृत्ति न थी। यह अवश्य है कि देश के लिए त्याग करने वाले वीरों के प्रति इनके मन में श्रद्धा है। वियोगी हरि जी ने 'वीर सतसई' नामक एक बड़ा काव्य दोहों में लिखा है, जिसमें भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध वीरों की प्रशस्तिया हैं। इस ग्रन्थ पर इन्हें प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन से १२००) (बारह सौ रुपये) का पुरस्कार मिला था।"[1]

शुक्लजी ने विभिन्न तीन प्रसंगों से तीन दोहे चुने हैं, उनके द्वारा 'वीर सतसई' की रसात्मक अनुभूति होगी, ऐसी आशा है। अस्तु देखिए—

"पावस ही में धनुष अब, नदी तीर ही तीर।
रोदन्ह में ही लाल दृग, नवरस ही में वीर।।[2]

जोरि नाम संग 'सिंह' पदु करत सिंह बदनाम।
ह्वै हैं क्योंकि सिंह यौं करि शृगाल के काम।।[3]
या तेरी तरवार में नहि कायर अब आब।
दिल हू तेरी बुझि गयो, वामें नैक न ताब।।"[4]

---

१ आचार्य शुक्ल : हिं० साहित्य का इतिहास : २ वीर-सतसई
३ वही ४ आचार्य शुक्ल हिन्दी सा० का इतिहास

वीर सतसई :—वीर सतसई में वियोगी हरि के कवि का सम्पूर्ण विकास परिलक्षित होता है। इसी ग्रन्थ द्वारा उनकी कीर्ति कौमुदी की छटा हिन्दी जगत में फैली। इसी पर उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर अधिवेशन में उन्हें सम्मेलन के अध्यक्ष प० पद्मसिंह शर्मा ने अपने करकमलों से १२००) रुपये नकद, ताम्रपत्र और नारियल प्रदान किया। नम्रता से उसे स्वीकार करते हुए रुंधे कण्ठ से वियोगी हरि ने कहा, "त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।" और वह पारितोषिक निधि पुनः सम्मेलन के चरणों में अर्पित कर दी।[1]

स्मरण रहे कि वियोगी हरि उस समय बड़ी दीनता से दिन काट रहे थे। कभी कभी बिना भोजन के, पानी पीकर ही, चौबीस घण्टे बिता दिए।[2] परन्तु त्याग की आग बढ़ती गई। सम्मेलन ऐसी संस्था में काम करने और पुरुषोत्तम दास टंडन ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति के सम्पर्क में रहकर भी उपवास को विधि की विडम्बना कहें कि कवि का प्रयोग? पर त्याग और सहनशीलता ने वीर-सतसई के लिखने की भूमिका दी।[2]

वीर सतसई में सभी प्रकार के वर्णन आए हैं। यहां तक कि विरह-वीर को भी इसमें एक नई कल्पना की गई है। स्वभावतः अस्त्र बल पर निर्भर रहनेवाली वीरता का सबसे अधिक वर्णन सतसई में आया है। इसके दोहों में एक ओर परम्परा निर्वाह का ध्यान रखा गया है तो दूसरी ओर उद्बोधन का स्वर मुखर है। प्राचीन हिन्दी संस्कृत और अन्य भाषा के कवियों की सूक्तियों का भावापहरण भी स्थान-स्थान पर हुआ है उदाहरण के लिए देखिए—

> "सहज सूर रण-चूर उर चाहिय चातक चाह।[3]
> चाहिय हारिल हठ वहैं, चाहिय सती-उमाह॥"[4]

ध्यान देने से ज्ञात होता है कि इस एक दोहे में दो अन्य कवियों की उक्तियों का भावापहरण किया गया है। पहली पंक्ति में तुलसीदास की चातक सम्बन्धी भावना है। दूसरी पंक्ति में अज्ञात कवि की हारिल सम्बन्धी उक्ति है। वीर सतसई में कहीं-कहीं पर भाव शैथिल्य भी आए हैं। सतसई के समर्थ कवि बिहारी से हरिजी ने बहुत कुछ ग्रहण किया है। वैसे छत्रसाल, भारतेन्दु, तुलसी, जायसी, चंदबरदाई, गीता, मुद्राराक्षस, टाड, ग्वाल कवि तथा सत्यनारायण कविरत्न आदि से भी ये स्थान-स्थान पर प्रभावित जान पड़ते हैं। यहां बिहारी के एक दोहे की छाया देखिए—

> "झझकत हियैं गुलाब है झंवा झंवैयत पाइ। वीर सतसई ५ वां शतक
> या बिधि इत सुकुवांरता अब न दई सरसाइ॥ दोहा नं० ५९॥
> जावं भलै जरि, जरतजो उदय उसासनि देह। वही।
> चिरजीवी तनु रमतु जो प्रलय-अनल के गेह॥ दोहा नं० ६०॥

उपर्युक्त दोनों दोहों पर कवि बिहारी की छाप स्पष्ट है। पहले दोहे पर बिहारी के इस दोहे की भावना आरोपित है—

---

१ मेरा जीवन प्रवाह वियोगी हरि। २ वही।
३ वीर सतसई ४ तुलसीदास

'काले परिबे कै करनु सकै न हाय छवाइ बिहारी
झझकत हियैं गुनाब कै झंबा झवैयत पाइ ।। सतसई

दूसरे दोहे पर भी बिहारी की भावना खुली बोल रही है—

"आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति । बिहारी
साहसु कै-कै नेह-बस, सखी सबै ढिग जात ।।" सतसई

वियोगी हरि की वीर-सतसई पर विस्तार से हम प्रकाश नहीं डाल रहे है क्योंकि सतसई की विशेष आलोचना हमारा उद्देश्य नहीं है। इसकी नाम मात्र की चर्चा करके हम आगे बढ़ रहे है। वास्तव में यह रचना आलोच्य युग की सीमा के बाहर की है। इस सम्बन्ध में कवि श्री वियोगी हरि की लेखनी से निःसृत विचारों को उद्धृत करना अधिक समीचीन होगा।

"सन् १९२५ ई० मे जब मैं टंडनजी से मिलने लाहौर गया तब वहीं, लाजपतराय-भवन में, वीर रस के कुछ दोहे लिखने आरम्भ किए थे। सतसई लिखने की तब कल्पना नहीं थी। मुक्तक रचना तो थी ही, इसलिए जब कभी कोई भाव मन में उठा, उससे प्रेरित होकर कुछ दोहे लिख डाले। इस तरह कोई डेढ़ दो साल में सात सौ दोहे लिखे। और उस दोहावली का नाम एक मित्र के सुझाव पर 'वीर सतसई' रख दिया।"[1]

ऊपर के वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि वीर सतसई १९२५ के बाद की रचना है। अस्तु, वह द्विवेदी युग के बाहर की है। उसको छायावाद युग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यद्यपि वीर सतसई की भाषा और अभिव्यक्ति शैली, छायावाद के अनुकूल नहीं है, पर यह तो कवि की व्यक्तिगत बात ठहरी, उसे हम क्या कर सकते हैं। एक बात और, वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है तथा तत्कालीन समाज को वीर काव्य एवं उद्बोधन के स्वर की बड़ी अपेक्षा थी। स्वाधीनता की लड़ाई को गति देने के लिए एवं पराधीन जनता में शक्ति संचार करने के विचार से वीर-सतसई युग की मांग के अनुकूल ही थी। अस्तु, उसका यथार्थ स्वागत होना स्वाभाविक ही रहा।

कवि का विकास—कविता करने का शौक मुझे लगा तब जब मेरी आयु मुश्किल से नौ वर्ष की रही होगी। सबसे पहले गणेश की वंदना की। एक कुण्डलिया जोड़ी थी, जिसका पहला चरण इस प्रकार था—

"लम्बोदर गज बदन कों सुमिरों बारम्बार।"[2]

प्रारम्भ में पड़ोसी लाला चिन्ता हरण ने प्रोत्साहित किया और आगे चलकर पं० गजाधर व्यास के मार्ग दर्शन में दिशा निर्देश मिला। अनजान में कविता का शौक बढ़ गया। जिन दिनों ये मिडिल स्कूल में पढ़ते थे तभी अनेक तुकबन्दियाँ लिख डाली थीं। बहुत से सवैये और दोहे व्रजभाषा में 'धनुष यज्ञ' पर भी लिखे थे। 'वीर हरदौल' पर इन्हीं दिनों एक नाटक भी इन्होने रचा था। श्रीकृष्ण के नखशिख शृंगार के भी कुछ पद बनाये थे राणा प्रताप पर एक खण्ड काव्य खड़ी बोली में लिखा था कुछ शेर भी बनाये थे जिनका नाम 'प्रेम-गजरा' रखा था।

परन्तु वे सभी रचनाएं काल के गाल में विसर्जित हो गई । उनका आज कहीं पता नहीं। उ रचनाओं के सम्बन्ध में वियोगी हरि जी स्वयं लिखते हैं–"···पता नहीं तब की उन सारी रचनाओ का क्या हुआ। कविता के साथ वह सब मेरा एक खेलवाड़ था । मगर उन तुकबन्दियों के भी सुन और सराहने वाले लोग थे ।"

सन् १९१५ ई० में मैट्रिक पास करने के बाद कविता लिखने का शौक फिर बढ़ा । इसमे थोड़े ही समय में एक छोटा सा काव्य 'प्रेम पथिक' शिखरिणी छंद में लिखा। उसमें 'प्रेम-पुरी की कल्पित यात्रा का वर्णन है। प्रेम पथिक को भी कवि का बाल प्रयास ही कहा जायगा । उसमें काव्य कला की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय बात नहीं है । प्रेम पथिक से प्रेरित होकर प्रेम-शतक, प्रेमांजलि, प्रेम परिषद और एक रचना जिसका नाम कवि को स्वयं स्मरण नहीं है प्रकाशित हुई थीं। पर दुख तो इस बात का है कि उनकी प्रतियां आज उपलब्ध नहीं हैं। यहां तक कि कवि के पास भी इन रचनाओं की एक एक भी प्रति नहीं है। इस सम्बन्ध में कवि के फक्कड़ स्वभाव को ही दोषी कहा जा सकता है। ये सब आरा के प्रेम मन्दिर प्रेस से प्रकाशित हुई थीं ।[1]

द्विवेदी युग में कवि की यही रचनायें प्रकाशित हुई थीं। हाँ, उसके बाद क्रमशः कवि-कीर्तन, वीर सतसई, अनुराग बाटिका, मन्दिर प्रवेश आदि सामने आईं। इनके अतिरिक्त १०-१५ फुटकल कवितायें भी लिखी गई थीं ।

परवर्ती रचनायें–खड़ी बोली में इन्होंने 'शुकदेव' नामक खण्ड काव्य लिखा था, जो मौलिक न होकर बंगला के 'शुकदेव' का छायानुवाद है। खड़ीबोली में इनकी तीन छोटी छोटी फुटकल रचनायें और मिलती हैं, जिनके शीर्षक क्रमशः 'मीठी बात', 'एक बात' और 'विश्व कीर्तन' थे। 'कवि कीर्तन' कवि की उस समय की रचना है, जब कवि प्रयाग में घोर अर्थ संकट से जूझ रहा था। साहित्य भवन प्रयाग से १०० मुद्रा पेशगी लेकर 'कवि कीर्तन' छः सात दिनों में तैयार की गई थी। उसी की सराहना महाकवि पं० नाथूराम शंकर शर्मा ने की थी ।[4]

फिर कई बरस बाद पन्ना में 'अनुराग बाटिका' की रचना हुई। अनुराग 'बाटिका' शुद्ध ब्रजभाषा का काव्य है। प्राचीन ब्रज-काव्य की शैली पर ही यह रचना लिखी गयी है । वियोगी हरि का दावा है कि यह काव्य मात्र भक्ति भावना से प्रेरित होकर लिखा गया है।[5]

अनन्तर, प्रबुद्ध यामुन नाटक की रचना हुई। तत्काल बाद 'गुरु गौरव' शीर्षक एक लम्बी कविता कल्याण में प्रकाशित हुई थी। वियोगी जी की अंतिम कविता सन् १९३३ ई० में पूज्य बापू के अनशन के समय लिखी गई, जब गांधी जी हरिजन सेवकों की अंतःशुद्धि के लिए पूना में अनशन कर रहे थे। उसके बाद 'हरि' जी का कवि सदा सर्वदा के लिए सो गया। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब कविता नहीं लिखेंगे।[6] इस प्रण को उन्होंने निभाया भी खूब! तब से आज (सन् १९६१ ई० के उत्तरार्द्ध) तक उनकी कोई कविता नहीं निकली। हाँ गद्य अवश्य लिखते हैं ।

भविष्य मे भी वे काव्य न लिखें कारण अब उनका साधक चिन्तक एव विचारक का रूप

ले चुका है हरिजन-सेवक के कार्य में उन्होंने अपने को खपा दिया है संत विनोबा की भाँति वे एक महान सन्त हैं। हिन्दी को उनका पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त है।

भाषा—द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में वियोगी हरि ने काव्य के क्षेत्र में पदार्पण किया। उस समय अधिकांश कवि खड़ीबोली में रचना कर रहे थे, पर ब्रजभाषा की सरिता धारा बिल्कुल सूखी नहीं थी। रत्नाकर, पूर्ण, सत्यनारायण कविरत्न ऐसे शक्तिशाली कवि ब्रजभाषा में लिख रहे थे। वियोगी हरि ने भी ब्रजभाषा को ही अपने काव्य का माध्यम बनाया। प्रकृत्या इन्हें पुरानी परम्परा ही अधिक अच्छी जंची। सच बात तो यह है कि ब्रजभाषा में लिखने में इन्हें अधिक प्रयास नहीं करना पड़ा। खड़ीबोली में भी इन्होंने लिखने का प्रयत्न किया है, पर खड़ीबोली में किसी छन्द विशेष के लिये उतना आग्रह नहीं है। ब्रजभाषा मे कुण्डलिया, शिखरिणी, सवैया और दोहा आदि छंदों को इन्होंने विशेष रूप से चुना और उसमें सरल भाषा का भरसक प्रयोग किया है। बहुपठ होने के कारण उनकी भाषा में भावों की भीड़ सी लगी रहती है। आध्यात्मिकता ने भाषा को गंभीर बना दिया है। इनकी भाषा में ओज तो है, पर प्रवाह एवं प्रसाद गुण का अभाव है। अलंकारों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि इनका गद्य पद्य से अधिक सरस, स्वाभाविक एवं प्रवहमान है।

निष्कर्ष—ब्रजभाषा काव्य का पूर्ववर्ती स्वरूप द्विवेदी युग में चल नहीं सका। रत्नाकर, कविरत्न और पूर्ण के विवेचित काव्य से इसकी पुष्टि होती है। वास्तविकता तो यह रही कि अपनी मूल भूमिका से यह काव्य हटने लगा और नये युग की नूतन काव्य लहरियों में जीवन की जो अभिव्यक्ति हो रही थी, उसके सामने यह परम्परा निर्वाह की एक शैली मात्र रह गया। युगबोध और जनभाषा खड़ीबोली से दूर रह कर यह निष्पन्द होने लगी।

द्विवेदी युग के राष्ट्रीय भावों, जातीय सुधारों और संस्कारों को वहन करने में ब्रजभाषा की कविता सर्वथा असक्षम सिद्ध हुई। इधर गद्य और पद्य में खड़ी बोली के सम्यक प्रयोग ने उसकी उपयोगिता और कम कर दी। इतना ही नहीं, कई विद्वान और आचार्य तो इस प्रकार के प्रयास को व्यर्थ और निन्दनीय कहने लगे। फिर, कोई भी काव्य शैली अथवा साहित्यिक विधा जन-सम्पर्क तोड़कर अधिक दिन टिक नहीं सकती।

दूसरी एक बात और थी—द्विवेदी युग में सन् १९१३ ई० के आस पास एक नई काव्य धारा जिसे कालान्तर में 'छायावाद' नाम दिया गया जिसकी चर्चा हम इस प्रबन्ध के आठवें अध्याय में करेंगे, प्रचलित हुई। उस छायावादी काव्य में जहां जीवन के अनेक तत्व थे, वहीं उसमें प्रेम, शृंगार सौन्दर्य और अलंकारिक अभिव्यंजना भी प्रचुर मात्रा मे थी। सौभाग्य से छायावाद की कविता खड़ी बोली में लिखी गई और प्रतीकों के प्रयोग ने उसे चमत्कृत किया। उसमें मानव प्रेम के साथ-साथ देश प्रेम और विश्व प्रेम की विचार सरणियां भी आई। अस्तु, ब्रजभाषा के प्रेमी कवि भी -सी छायावाद में विलीन हो गये। उनकी भावना के सम्यक पर्यवसान के लिए अधिक व्यापक, अधिक समीचीन युगानुकूल आधार मिल गया। अब तो प्रेम दर्शन और शृंगार वर्णन के लिए उन बेचारों को कृष्ण और राधा का बहाना भी अपेक्षित नहीं रह गया।

तीसरी एक बात भी और स्वीकार करनी होगी कि रीतिकालीन ब्रजभाषा के कवियों का ... भी कालान्तर में सिकुड़ सिमट कर प्रादेशिक हो गया था थोड़े से व्यक्ति

सीमित प्रदेश या भाग में उसकी सराहना करते या पढ़ते थे जब कि उसके विरुद्ध हिन्दी खड़ीबोली का राष्ट्रीय स्वरूप और अखिल भारतीय गौरव बढ़ने लगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी के सत्प्रयासों एवं कांग्रेस के मंचों से भावी राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी की मान्यता ने भी व्रजभाषा के कवियों को खड़ीबोली की ओर आकृष्ट किया। इसलिए महज फैशन के लिये व्रजभाषा काव्य की रचना शेष रह गई और इसके प्रमुख कवि भी खड़ीबोली में लिखने लगे। फिर धीरे धीरे यह शैली समाप्त हो गई। फिर भी कुछ पुराने कवि अपनी लीक पर छुटपुट चलते रहे, किन्तु वे साहित्य में न तो कोई अमिट रेखा खींच सके न कोई अनर्थ का बीज ही बो सके जिसमे उनका विरोध होता।

भारत में उगते हुए सूर्य को अर्घ्य देने की प्रथा पुरानी है और डूबते सूरज को देखना भी अच्छा नहीं लगता। मनुष्य अपने स्वभाव और प्रवृत्ति को चाह कर भी पूर्णतः बदल नहीं पा रहा है। फिर भी मनु से लेकर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मनु पुत्रों की सहजात वृत्ति यही रही है कि वह गतिशील रहा है। पुराने के मोह को छोड़ कर नवीनता को अपनाने में उसने कभी आनाकानी नहीं की। साहित्य के क्षेत्र में यह बात और भी सही जंचती है। तात्पर्य यह है कि विकासशील यूरोपीय देशों के प्रायः सभी नवीनतम काव्य प्रयोग भारतीय भाषाओं में शीघ्रता से प्रविष्ट होते आये हैं और अब भी हो रहे हैं, किन्तु वहां के (यूरोप-अमेरिका) खंडित व्यक्तित्व का आदर्श हमारे देश के चिन्तक, कवि और दार्शनिक कभी सराह नहीं सके। फिर भी नूतन काव्य शैलियों को ग्रहण करने और वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने में हमने कभी आनाकानी नहीं की। अस्तु, व्रजभाषा काव्यधारा का अन्त भी स्वाभाविक ही था।

८

द्विवेदी-युग में छायावाद की कतिपय मूल प्रवृत्तियां

सृष्टि का नियम है परिवर्तन। उसमें एक रस है, उत्सुकता और प्रगति के लक्षण हैं। अस्तु, जिस प्रकार प्राचीन काव्य प्रणाली से ऊबकर द्विवेदी युग में कविता कामिनी ने नया रूप धारण किया, उसमें भाषा, शैली और भावगत परिवर्तन हुए, ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ने ग्रहण किया। रीतिकालीन प्रचलित छंदों की जगह संस्कृत के वर्णिक एवं मात्रिक छंदों की खड़ीबोली में प्रतिष्ठा हुई, कविता का विषय नायक-नायिका भेद, शृंगार वर्णन, रति भावना और सकीर्ण दायरे से हटकर विराट् जगत बन गया। चींटी से लेकर हाथी तक, जीवन, मनुष्य, वन, पृथ्वी, आकाश और समाज की समस्यायें काव्य की सीमा में सभी आ गए। अब कवि जीवन के निकट आकर कुछ ऐसी बातें करने लगा, जिसे पाठक या श्रोता अपने दैनिक कार्यों में अनुभव करता था। राष्ट्रीयता, जातीय भावना, देशभक्ति, संयम, नैतिकता, व्यक्ति पूजा और उपदेशजन्य उद्बोधन के स्वर मुखर हुए। उसी तरह द्विवेदी युगीन काव्य की उपदेशात्मक, रूढ़िबद्धता और नैतिकता के प्रबल आग्रह को हिन्दी के कवि अधिक दिनों तक ढो न सके। इसलिये सन् १९१५ ई० के आस पास कविता में कतिपय नई प्रवृत्तियां उभरने लगीं। 'इन्दु' के प्रकाशन[1] और रवीन्द्रनाथ ठाकुर को प्राप्त नोबुल पुरस्कार से इसे बल मिला। प्रसाद की खड़ीबोली की कविताओं, निराला की प्रारंभिक रचनाओं, पंत की कृतियों तथा मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी की स्वच्छन्द भाव लहरियों में एक काव्य विशेष ने जन्म लिया, जिसे आगे चलकर 'छायावाद' नाम दिया गया।

छायावादी काव्य के आरम्भ की तिथियां

श्री शारदा' नामक पत्रिका में सन् १९२० ई० के चार अंकों में पं० मुकुटधर पाण्डेय ने 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक निबन्ध लिखे। उसी शीर्षक से जून सन् १९२१ ई० की सरस्वती में श्री सुशीलकुमार ने एक व्यंगात्मक लेख लिखा। इन निबन्धों से स्पष्ट है कि सन् १९२० के आस-

1 डा० रामलाल , प्रसाद साहित्य और समीक्षा

पास छायावाद नाम हिन्दी में प्रचलित हो गया था और छायावादी काव्य का प्रारम्भ भी सन् १९२० ई० से पूर्व ही हो चुका होगा।

छायावाद के जन्म के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचार से हिन्दी कविता की नई धारा (छायावाद) के प्रवर्तक विशेषतः मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय हैं। "इस प्रकार छायावाद का जन्म सन् १९०५ ई० के लगभग माना जाना चाहिये।"[1] पता नहीं यह १९०५ ई० की तिथि सम्पादकों ने शुक्लजी के नाम पर कैसे मढ दी है जबकि उन्होंने कहीं इस तिथि का उल्लेख अपने इतिहास में नहीं किया है। जो भी हो यह भ्रामक है।

उपर्युक्त भ्रमोत्पादक मत की निस्सारता शुक्लजी के ही कथन से हो जायगी। अविकल रूप में उसे देखिए—"श्री पारसनाथ सिंह के किए हुए बंगला कविताओं के हिन्दी अनुवाद 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में संवत् १९६७ (सन् १९१०) से ही निकलने लगे थे। 'ग्रे', 'वर्ड्सवर्थ' आदि अंग्रेजी कवियों की रचनाओं के कुछ अनुवाद भी (जैसे जीतन सिंह द्वारा अनूदित वर्ड्सवर्थ का 'कोकिल') निकले। अतः खड़ीबोली की कविता जिस रूप में चल रही थी उससे सन्तुष्ट न रहकर द्वितीय उत्थान के समाप्त होने के कुछ पहले ही कई कवि खड़ीबोली काव्य को कल्पना का नया रूप रंग देने और उसे अधिक अतभाव व्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए, जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट।"[2]

शुक्लजी के इस कथन से प्रायः दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि सन् १९१० के बाद बंगला की रोमांटिक रचनाओं और अंग्रेजी की कविताओं के अनुवाद हिन्दी में होने लगे थे और दूसरी बात जो सामने आई वह है—उन्हीं दूसरी रचनाओं के आधार पर आगे चलकर हिन्दी मे द्वितीय उत्थान के समाप्त होने से पूर्व मुकुटधर पाण्डेय मैथिलीशरण गुप्त और श्री बदरीनाथ भट्ट ने नए ढंग की कवितायें लिखीं। अब विचारणीय यह है कि सन् १९१० के बाद और १९२० (द्वितीय उत्थान की समाप्ति) के पूर्व की तिथि सन् १९०५ कैसे हो सकती है। और इतना ही नहीं शुक्लजी ने इस तथ्य को बहुत स्पष्ट रूप में सामने रखा है। 'कुछ अंग्रेजी ढर्रा लिए हुए जिस प्रकार की फुटकल कवितायें और प्रगीत मुक्तक (लिरिक्स) बंगला में निकल रहे थे, उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तु-विन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नये ढंग की रचनायें संवत् १९७०–७१ से ही निकलने लगी थीं, जिनमें से कुछ के भीतर रहस्यमय भावना भी रहती थी।"[3]

संवत् १९७०–७१ से साफ जाहिर है कि सन् १९१३–१४ ई० को ही शुक्लजी हिन्दी की छायावादी रचना के प्रारम्भ की तिथि मानते हैं। उन्होंने अपने उपर्युक्त मत के ठीक नीचे यही लिखा है कि गुप्तजी की 'नक्षत्रनिपात' (सन् १९१४), अनुरोध (सन् १९१५), 'पुष्पांजलि' (सन् १९१७), 'स्वयं आगत' (१९१८ ई०) इत्यादि कवितायें ध्यान देने योग्य हैं। 'पुष्पांजलि' और 'स्वयं आगत' की कुछ पंक्तियाँ देखिये—[4]

१. हिन्दी साहित्य कोश, छायावाद युग, पृष्ठ २९६।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५९६ ३ वही।
४ आचार्य शुक्ल हि० सा० का इतिहास पृ० ५९६।

(क) मेरे आंगन का एक फूल ।
सौभाग्य भाव से मिला हुआ, स्वासोच्छ्वास से हिला हुआ,
संसार विटप से खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक फूल झूल ।   (१९१०)

...   .

(ख) तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊं मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊं मैं ?   (१९१८)

गुप्तजी की भांति ही मुकुटधर पाण्डेय भी गीतिकाव्य की रचना में व्यस्त थे। परन्तु दोनों की रचनाओं में बड़ा अन्तर था। गुप्तजी सीधे-सादे भावों को गीतात्मक ढंग से प्रकट कर रहे थे, जबकि मुकुटधर पाण्डेय नूतन पद्धति पर बराबर नवीन चित्र दे रहे थे। दोनों के अन्तर को स्पष्ट करने के विचार से मुकुटधर पाण्डेय की भी दो रचनाओं से क्रमशः 'आंसू' और 'उद्गार' के अंश उद्धृत किये जा रहे हैं—

(क) हुआ प्रकाश तपो मय जग में
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दंपति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य-कुसुम के शुचि सुवास में,
था तव क्रीडा-स्थान ।   (आंसू, सन् १९१७ ई०)

...   .

(ख) मेरे जीवन की लघु तरणी,
आंखों के पानी में तर जा।
मेरे उर का छिपा खजाना,
अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त श्वेत बूंदों में ढर जा।[1]   (उद्गार, सन् १९१७ ई०)

इन पंक्तियों से अब किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि शुक्लजी ने छायावाद का प्रारम्भ कहाँ से और कब से माना है। वे सन् १९१३–१४ से इसका प्रारम्भ मानते हैं तभी तो सन् १९१४ से १९१८ तक की रचनाओं के उदाहरण दिए हैं।

शुक्लजी के मत के अंशतः स्वीकार करते हुए और अंशतः उसका खंडन करते हुए पं० इलाचन्द्र जोशी लिखते हैं—"छायावाद का प्रारम्भ सन् १९१३–१४ ई० से मानना चाहिए। छायावाद के वास्तविक जनक प्रसादजी हैं। छायावाद की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वक्तव्य एकदम भ्रामक, निर्मूल और मनगढंत है।...प्रसादजी अवि-वादास्पदास्द रूप से हिन्दी के सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन् १९१३–१४ ई० के आस-

1 आचार्य शुक्ल हि० सा० का इतिहास पृ० ५९७

पत्र इन्दु मे प्रति मास उनकी जिस ढग की कवितायें निकलती थी जो बाद मे कानन कुसुम के नाम से प्रकाशित हुई वे निश्चय रूप से तत्कालीन हिंदी काव्य क्षेत्र म युग प्रवर्तक की सूचक थीं।[1]

पं० इलाचन्द्र जोशी के स्वर में ही स्वर मिलाकर श्री शिवनाथ ने लिखा है, "मैं यो कहू कि आचार्य शुक्ल जहां से नवीन काव्य की भारतीय पद्धति का प्रवर्तन मानते हैं, उसके पहले से ही 'प्रसाद' नवीनता का प्रारम्भ कर चुके थे। अस्तु, छायावाद के प्रारम्भ कर्त्ता प्रसाद है।"[2]

कतिपय आलोचक 'भारतीय आत्मा' पं० माखनलाल चतुर्वेदी को छायावाद के प्रवर्तन का श्रेय देना चाहते हैं। इस मत के समर्थक हैं श्री विनयमोहन शर्मा और श्री प्रभाकर माचवे। इन लोगों का कहना है कि छायावाद का प्रारम्भ सन् १९१३ से अवश्य हुआ, परन्तु छायावाद के प्रारम्भकर्त्ता जयशंकर प्रसाद न होकर माखनलाल चतुर्वेदी हैं।[3]

विचार कर देखने पर श्री माखनलाल चतुर्वेदी को छायावाद का प्रारम्भ कर्त्ता मानने का कोई औचित्य नहीं जंचता। क्योंकि माखनलालजी के काव्य के अनुशीलन से जो आगे दिया जा रहा है, यह बात स्वयं खण्डित हो जाती है। सन् १९१३ ई० में माखनलाल ने कोई ऐसी कविता नहीं लिखी, कोई ऐसा काव्य नहीं रचा, जिसमें छायावाद के चिह्न भी पाये जाय। सच पूछा जाय तो सन् १९१८ ई० तक माखनलालजी मात्र प्रार्थना, शोक काव्य, तुकबन्दी लेख, सम्पादकीय टिप्पणी और आन्दोलन के लिए सामग्री तैयार करते रहे। कविता की रचना तो सच्चे अर्थो म, उन्होंने सन् १९२० ई० के बाद की। अस्तु, जिस का प्रवर्तन सन् १९१३-१४ ई० मे हुआ उसका सर्जक 'भारतीय आत्मा' कैसे हो सकते हैं, विचारणीय है। तब हमें यह कहने में संकोच नहीं होगा कि माखनलाल के नाम पर अपना मत चलाने वालो के मत तर्क हीन हैं और कोरे अनुमान पर टिके हुए हैं।

आचार्य नंददुलारे बाजपेयी का मत इस सम्बन्ध में बिलकुल साफ है। उनका कहना है कि छायावाद का प्रारम्भ सन् १९१५ ई० के आसपास अवश्य हुआ किन्तु साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्यशैली का वास्तविक अभ्युदय सन् १९२० के पूर्वपश्चात सुमित्रानन्दन पंत की 'उच्छ्वास' नामक रचना से माना जा सकता है। उन्हों ने इसे और स्पष्ट करते हुए समझाया है कि 'उच्छ्वास' में छायावाद के विकसित प्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं।[4]

कलामर्मज्ञ राय कृष्णदास का मत है कि प्रसादजी ही छायावाद के जनक हैं। वे कहते हैं— "प्रसाद को मैंने इस कारण लिया है कि वे निर्विवाद रूप से हिन्दी में छायावाद के जनक है। अन्य कोई भी नाम उनके साथ न लिया जा सकता है, न टिक सकता है।"[5]

सुमित्रानन्दन पन्त का मत है 'मोटे रूप से प्रसादजी को हम हिन्दी में छायावाद का जनक मान सकते हैं।"[6]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, छायावाद युग २. वही। ३. वही।
४. डा० रामरतन भटनागर, प्रसाद-साहित्य और समीक्षा
५ आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी अवन्तिका विशेषांक
६ आचार्य बाजपेयी, व्यक्तिगत चर्चा

उपर्युक्त समस्त मतों के तर्क-वितर्क के आधार पर छायावाद की प्रारम्भिक तिथियां निश्चित करने में पर्याप्त सहूलियत हो गई है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि छायावाद का प्रारम्भ सन् १९१३ ई० से माना जाना चाहिए। यह कठिनाई भी बहुत पहले ही समाप्त हो गई होती यदि प्रसादजी अपनी कृतियों, रचनाओं, फुटकल कविताओं के प्रकाशन की तिथि स्वयं लिख गए होते।

जिस प्रकार द्विवेदी युग की गतिविधियों को 'सरस्वती' ने गति दी और कुछ दिन तक तो सरस्वती के कवि ही उस काल के (सन् १९०१ से १९१० तक) मान्य कवि रहे, परन्तु कालान्तर मे द्विवेदी मण्डल के बाहर और सरस्वती से परे के कवि भी उस काल में मान्यता पाये, उसी प्रकार 'इन्दु' मासिक से छायावाद का भी जन्म समझना चाहिए। 'इन्दु, मासिक पत्र जो काशी से प्रकाशित होता था, छायावादी रचनाओं का प्रथम मंच बना। प्रसाद के भांजे अंबिका प्रसाद गुप्ता इसके सम्पादक थे और इस पत्र के संस्थापन में स्वयं 'प्रसाद' जी का बड़ा हाथ था। इस पत्रिका के सम्पादकीय प्राय: प्रसादजी ही लिखते थे। उन्हीं सम्पादकीय लेखों, टिप्पणियों से प्रसादजी की प्रारम्भिक साहित्यिक विचारधारा का परिचय मिलता हैं। नई कविता (छायावाद) के विषय में प्रसादजी लिखते हैं :—

१. साहित्य का कोई लक्ष्य नहीं होता।

२. साहित्य के लिए कोई विधि या बंधन नहीं है।

३. साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण है साहित्यकार या कवि का व्यक्तित्व। फलत: सर्वश्रेठ साहित्य, साहित्यकार या कवि की साधना मात्र है।

४. साहित्य के विषय हैं सत्य और सुन्दर।

५. पाश्चात्य साहित्य और शिक्षा ने कविता के विषय में लोगों के मानदण्ड बदल दिए हैं। अब नए मानदण्डों के अनुरूप ही कविता होनी चाहिए।

६. रीति-काव्य ने जनता की मनोवृत्तियों को शिथिल कर दिया है। अत: नए काव्य के लिए रीति काव्य का अनुकरण ठीक नहीं।

७. नई कविता के ये गुण होंगे—

(क) भावमयता (ख) आत्मविस्मरण (घ) संगीतमयता (ड) आह्लादकता (च) शांतिमयता

स्मरण रहे सन् १९०९–१० के लगभग की सर्वांगीण नई व्याख्या करना सो भी इस प्रकार निर्भीकता से—कितने बड़े साहस का काम था।—'वास्तव में छायावाद—रोमान्स काव्य धारा का आरम्भ इन्ही वक्तव्यों से मानना होगा। विचित्र विपरीत परिस्थितियों में कविता के स्वतन्त्र और बन्धनहीन व्यक्तित्व की खोज सबसे बड़ी खोज थी। कवि कविता में अपनी बात कहे, अपने श्वासोच्छ्वास भरे, अपने सुख-दुख को वाणी दे, ईश्वर जीवन का सम्बन्ध नहीं सत्य और सुन्दर की खोज ही उसका लक्ष्य हो यह सब नई बात थी।

सन् १९१२ की तिथि छायावाद के प्रारम्भ के लिए एक प्रकार से सर्वमान्य है आचार्य

नन्ददुलारे बाजपेयी ने भी इसे प्रकारान्तर से स्वीकार किया है जैसा कि निम्नलिखित पंक्ति से प्रकट है—

"सन् १२ से २० तक का समय इस स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति के अधिक गाढ़ होकर, छायावाद की विशिष्ट काव्य-शैली के रूप में परिवर्तित और परिणत होने का समय कहा जा सकता है।"

छायावादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियां तथा द्विवेदी युगीन काव्य से उनकी भिन्नता

छायावाद स्वयं अपने में कोई दार्शनिक मान्यता नहीं है। वह तो एक व्यापक मानववादी साहित्यिक चेतना है जो जीवन-जगत की जड़ता के विरुद्ध व्यक्ति स्वाधीनता, आत्मनिष्ठता एवं भावबादिता के मूल्यों की प्रतिष्ठापना करती है। वह केवल 'वाद' नहीं एक जीवन-दृष्टि है। वह कुछ निश्चित व्यक्तिगत एवं सामाजिक यथार्थों की मान्यता का प्रश्न है।2

छायावाद की परिभाषा देते हुए डा० धीरेन्द्र, भारती, ब्रजेश्वर वर्मा और रघुवंश कहते हैं—"छायावाद आधुनिक कविता की उस धारा का नाम है जो सन् १९१८ ई० के आस पास द्विवेदी युगीन, नीरस, उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक और स्थूल आदर्शवादी काव्य धारा के बीच से प्रमुखतः रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में प्रवाहित हुई। यह नई काव्य धारा अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों तथा बंगला के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य धारा के ढंग या उससे प्रभावित थी।"3

उपर्युक्त मत को और स्पष्ट समझने के लिए हम प्रो० शम्भुनाथ सिंह के विचार उद्धृत कर रहे हैं—छायावाद आधुनिक हिन्दी-कविता के स्वाभाविक विकास की एक महत्वपूर्ण मंजिल है जहाँ पहुंच कर हिन्दी कविता भक्तिकालीन काव्य की ऊंचाई और गौरव को पुनः प्राप्त कर सकी है। ऐसा हम इसलिए कह रहे हैं कि हम छायावाद को विदेशी कविता और मतवादों का अन्धानुकरण नहीं मानते, जैसा कुछ आलोचकों का मत रहा है। उनकी इस स्थापना का कारण वह सामंतयुगीन भ्रम है कि साहित्य-कला के मान और मूल्य शाश्वत होते हैं और उनमें परिवर्तन का कारण विदेशी प्रभाव या अनुकरण है।4 वहीं प्रो० सिंह ने साहस के साथ यह भी स्वीकार किया कि छायावादी कविता ने द्विवेदी युगीन अर्थात् पुनरुत्थानवादी कविता से उसने विद्रोह नहीं किया है और न उसके प्रतिक्रिया स्वरूप उसका आविर्भाव ही हुआ। हमारी स्थापना है कि छायावाद द्विवेदी-युगीन कविता का अत्यन्त सहज और स्वाभाविक विकास है।...इस दृष्टि से सामाजिक विकास का विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि आधुनिक हिन्दी कविता पूंजीवाद और राष्ट्रीयतावाद की कविता है जो संक्रान्ति युग (भारतेन्दु युग) में अंकुरित, पुनरुत्थान युग (द्विवेदी–युग) में पल्लवित और विद्रोह युग (छायावाद युग) में पुष्पित हुई।5 छायावाद को

---

१. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, अवन्तिका विशेषांक।

२ डा० क्षेम [illegible] द के गौरव चिन्ह ३ हिन्दी साहित्य कोश, [illegible] युग

४. डा० शम्भुनाथ सिंह, अवन्तिका ५ वही।

पूंजीवाद और राष्ट्रीयता का काव्य कहने का तात्पर्य यह है कि ये सभी प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति हुई हैं, जो पूंजीवाद और राष्ट्रीयता की देन हैं।

छायावाद के समर्थ आलोचक आचार्य बाजपेयी ने छायावाद की सबसे पुष्ट, सम्पूर्ण एवं रोचक व्याख्या की है। वे छायावाद को रहस्यवाद अथवा आध्यात्मिक काव्य से भिन्न मानते हैं। उनके मतानुसार 'नयी छायावादी काव्य धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, किन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की मानवीय प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।···उसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्य शैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तन समाज व्यवस्था और विचार जगत में छायावाद और भारतीय आध्यात्मिकता को नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है।···छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामाजिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है। छायावाद मानव-जीवन-सौंदर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न-रूप मानता है।...नवीन काव्य (छायावाद) में समस्त मानव अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थल पा सकती है।[1]

बाजपेयी जी की इस व्याख्या पर डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० धर्मवीर भारती, डा० ब्रजेश्वर वर्मा और डा० रघुवंश का संयुक्त वक्तव्य भी पठनीय है—"नन्ददुलारे बाजपेयी की इस परिभाषा में छायावाद की प्रायः सभी मौलिक विशेषतायें समाविष्ट हो गई हैं। यदि छायावाद केवल आध्यात्मिक काव्य होता तो उसे अवश्य रहस्यवाद का पर्याय माना जा सकता था। उसी तरह यदि वह केवल प्राचीन रूढ़ियों के विद्रोह की अभिव्यक्ति होता तो उसे स्वच्छन्दतावाद से अभिन्न माना जा सकता था किन्तु उसकी मूल प्रवृत्ति प्रतिक्रियात्मक नहीं बल्कि रचनात्मक है, जो भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा, राष्ट्रीयता की सशक्त आकांक्षा और नवीन मानवतावादी आदर्शों की प्रेरणा से अनुप्राणित है। अतः छायावाद, रहस्यवाद, अध्यात्मवाद, स्वच्छन्दतावाद, मानवतावाद, राष्ट्रीयता और सूक्ष्म सौन्दर्य बोध आदि विविध प्रवृत्तियों का समग्र रूप है अर्थात् वह उस जागरण युग की प्रबुद्ध आत्मा (मानवीय आध्यात्मिक चेतना) की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से नन्ददुलारे बाजपेयी की परिभाषा अन्य लोगों की परिभाषाओं से अधिक स्पष्ट, पूर्ण और समीचीन है।"[2]

यहां, इसे और स्पष्ट करने के लिए यह कहना होगा कि आध्यात्मिकता का अर्थ धार्मिकता, अलौकिकता या दार्शनिकता नहीं वरन् स्थूल लौकिकता और जड़ता के भीतर निहित सूक्ष्म चेतना है, जिसे 'प्रसाद' ने वेदना कहा है। इसी व्यापक वेदना और नवीन आध्यात्मिक चेतना की सूक्ष्म अनुभूतियों की नवीन भंगिमामयी शैली में जो अभिव्यक्ति हुई, उसी का नाम छायावाद है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल छायावाद को स्वच्छन्दतावाद से भिन्न मानते थे। वे मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय आदि को छायावाद के प्रारम्भिक कवि मानते थे। उनकी यह भी धारणा रही कि वे कवि खड़ीबोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अंतर्भावव्यंजक रूप-रंग देने में प्रवृत्त हुये थे और वही स्वाभाविक स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा थी। छायावाद को वे दो अर्थों में ग्रहण करते थे—एक तो रहस्यवाद के रूप में और दूसरे प्रतीकवाद के रूप में। प्रतीकवाद का अर्थ वे लगाते थे चित्रभाषावाद की अभिव्यंजना प्रणाली की काव्य शैली।

१ आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, आधुनिक साहित्य २ हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ २९...

छायावाद का अर्थ उन्होंने लगाया प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन ।[१]

यदि हम पूर्ण तटस्थ होकर कहें तो शुक्ल जी तथा द्विवेदी जी ने छायावाद के सम्बन्ध में, उसकी प्रवृत्तियों की व्याख्या में जो विचार प्रकट किए हैं वे त्रुटिपूर्ण रह गये हैं, जिसका परिमार्जन, प्रसाद जी के लेखों और आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी की व्याख्याओं से हुआ है। यहां यह भी स्वीकार कर लें कि छायावाद के सम्बन्ध में उनके मत मर्यादित दृष्टिकोण के कारण अपूर्ण थे, जिसमें नैतिकता और भारतीयता के प्रबल आग्रह थे। उसके बाहर जाना उस समय उनके लिए कठिन भी था। फिर क्या यह आवश्यक है कि एक ही लेखक या आचार्य अपनी दृष्टि से युग की समस्त काव्य-सरणियों का उचित मूल्यांकन भी करे। यहीं एक बात और साफ कर देना आवश्यक है कि शुक्ल जी को ऐसा भास हुआ था कि 'छायावाद' शब्द बंगला से हिन्दी में आया,[२] परन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उसका खण्डन किया। उनका कहना है कि बंगला में छायावाद कभी चला ही नहीं।[३]

'प्रसाद' जी के विचार को भी परखना अनिवार्य होगा क्योंकि हम लोग प्रसाद को ही छायावाद का प्रवर्तक मान आए हैं कि जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद नाम से अभिहित किया गया। इनमें नवीन भावों की नए ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे ।[४]

छायावाद नाम की सार्थकता बताने तथा उसे विदेशी लेबिल से मुक्त करने (द्विवेदी काव्य प्रवृत्ति का अनुकरण नहीं बल्कि भारतीय काव्य परम्परा के अनुरूप) तथा भारतीय काव्य के संदर्भ में उसकी प्रतिष्ठा करने के विचार से कहा--"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति-छाया कान्तिमय होती है। इसका अर्थ यह निकला कि (अ) स्वानुभूति की विवृति या आत्मव्यंजकता (ब) सौन्दर्य प्रेम (स) अभिव्यक्ति की भंगिमा या सांकेतिकता छायावाद के तत्व हुए। परन्तु ऊपर दी गई परिभाषा भी व्यापक और स्पष्ट नहीं है।

इसी प्रकार डा० नगेन्द्र का छायावाद सम्बन्धी मत, जो प्रचलित है, 'छायावाद स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह है।" यह कथन सुनने में रस-रंग और ध्वनिपूर्ण अवश्य लगता है, पढने मे सूत्रवत भी जान पड़ता हैं, परन्तु विचार करने पर यह अस्पष्ट लगता है। प्रश्न उठता है स्थूल कौन है ? पहाड़, नदी, जगत, सम्पूर्ण सृष्टि सब कुछ तो स्थूल है। जो कुछ आंखों से देखा जाता है वह सब स्थूल ही है। और सूक्ष्म—वह भी ब्रह्म, आत्मा, ज्ञान चिन्तन तक विस्तृत है। फिर सामान्य पाठक नगेन्द्रजी की इस पहेली को कैसे समझ ले। उनका छायावाद किस स्थूल के विरुद्ध किस सूक्ष्म का विद्रोह है और क्यों ?

---

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास। २. वही।

३ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य उदभव और विकास

४ प्रसाद काव्य कला का निबंध

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छायावादी प्रवृत्तियों पर कुछ विस्तर से प्रकाश डाला है। उनका मत स्पष्ट है उसका सार यहां प्रस्तुत करते है वे कहते है छायावाद नाम बिना विचारे उन कविताओं के लिए दे दिया गया जिनमें निम्नलिखित प्रवृत्तियां पाई गई।

(अ) १ जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी।

२ जो व्यक्त विषय को कवि की व्यक्तिगत चिन्ता और अनुभूति के रंग में रंगकर अभिव्यक्त करती थी।

३ जिनमें मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदलते हुए अलंकारों, मूल्यों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी।

४ जिनमें छन्द, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था और जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई गई थी।

(ब) दूसरी बात जो महत्वपूर्ण है वह यह कि छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक उन्नयन का परिणाम था, यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिन्ह स्पष्ट हैं। तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नही था। कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा-शैली में अपने को अभिव्यक्त किया है।

(स) सभी उल्लेखनीय कवियों में थोड़ी बहुत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की व्याकुलता थी।[1]

यहीं यह भी लिखना असामयिक न होगा कि अनेक आलोचकों ने छायावाद और छायावादी भूमिका के सम्बन्ध में विचित्र मत प्रकट किए हैं। उनके विस्तार में जाना, आज जब वह विषय पर्याप्त स्पष्ट, मान्य हो चुका है, अप्रासंगिक होगा। जैसे लोगों ने इसे 'द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता को प्रति-क्रिया' कहा है। किसी ने 'प्रकृति में चेतना का आरोप' नाम दिया है। 'मानवीकरण' जिस प्रकार परमात्मा के प्रति प्रणय रहस्यवाद है, उसी प्रकार प्रकृति के प्रति प्रणय छायावाद है। यहां तक कि एक महाशय ने तो कहा है—"जो समझ में न आवे वह काव्य छायावाद है।" आदि।

हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियों में प्रो० शिवकुमार शर्मा और डा० गणपति चन्द्र गुप्त ने छायावाद की विशेषतायें विस्तार से बताई हैं। इन विशेषताओं में छायावादी काव्य की प्राय. अधिकांश भूमिकाएं स्पष्ट हो गई हैं। लेखक द्वय के मत से छायावादी काव्य में—

१. छायावाद में आध्यात्मिकता होती है।
२. यह एक पद्धति विशेष है।
३. छायावाद प्रकृति में मानवीकरण है।
४. छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है।
५. यह एक भावात्मक दृष्टिकोण है।
६. यह स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।
७. यह एक गीतिकाव्य है, जिसमें प्रेम और सौन्दर्य का अंकन होता है।

---

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास

८. इसमें युगानुरूप वेदना की विवृत्ति होती है और यह एक सांस्कृतिक चेतना का परिणाम है।

९. इसमें आधुनिक औद्योगिकता से प्रेरित व्यक्तिवाद है जिसमें वैयक्तिक चिन्तन और अनुमति का प्राधान्य है तथा इसमें मानवी जीवन के नव मूल्यों का अंकन है।

१०. यह थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह है

११. इसका मूलाधार सर्वात्मवाद है।[1]

उपर्युक्त कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुये लेखक द्वय ने बताया है कि भारतीय काव्य परंपरा में हिन्दी कविता की छायावादी धारा अपने पूर्ववर्ती युग की प्रतिक्रिया में प्रस्फुटित एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण, एक विशेष दार्शनिक अनुभूति और एक विशेष शैली है। जिसमें लौकिक-प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम के व्याज से लौकिक अनुभूतियों का चित्रण है, जिसमें प्रकृति का मानवीकरण है, वेदना की विवृत्ति है, सौन्दर्य चित्रण है; गीति तत्वों की प्रमुखता है और जिसके व्यक्तिवाद के स्व में सर्व सन्निहित है।[2]

अब तक उद्धृत मतों, विचारों, तर्कों, व्याख्याओं, विशेषताओं एवं समीक्षाओं के आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१ छायावादी काव्य बंगला या अंग्रेजी के अनुकरण पर नहीं चला, वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर अथवा किसी विशिष्ट विदेशी कवि के आदेश-निर्देश पर आश्रित-प्रवाहित नहीं है।

२ छायावादी काव्य के मूल प्रवर्तक श्री जयशंकर प्रसाद है। उनके प्रारम्भिक काव्य में, मेरा मतलब इन्दु में प्रकाशित उनकी खड़ीबोली की रचनाओं से है, भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक (लौकिक और पारलौकिक) चिन्तन की विविध परंपराओं की अभिव्यक्ति हुई है।

३ छायावाद की पहली रचना प्रेम पथिक है और वह १९१३ ई० में लिखी गई, यह अब भी विवाद का कारण इसलिए बनी हुई है कि प्रसादजी की प्रकाशित रचनाओं के सन् सम्वत उलझे हुए हैं। सन् १९१३ ई० को हम छायावाद के प्रारम्भ की तिथि इसलिए भी स्वीकार कर लेते हैं कि उसी समय से प्रसाद की खड़ीबोली की कवितायें व्यवस्थित रूप से 'इन्दु' मे प्रकाशित होने लगी थीं।

४ छायावादी कविता का आगमन द्विवेदी युगीन काव्य के विरुद्ध किसी विद्रोह के कारण नहीं हुआ।

५ छायावाद का प्रादुर्भाव तत्कालीन युग की राष्ट्रीय चेतना एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की महती आवश्यकता स्वरूप हुआ। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन, देश में घटित परिवर्तन, प्रेम के बदलते हुए स्वरूप और रस के प्रति आसक्ति ने छायावादी रचनाओं को बढ़ावा दिया।

६ धीरे-धीरे छायावादी काव्य की भूमिका इतनी विस्तृत, विशाल एवं जीवन्त बन गई कि रहस्यवाद उसका एक लघु अंश मात्र बन गया।

---

१. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ।

२. प्रो० शिवकुमार शर्मा तथा डा० गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तिया पृष्ठ ४३४-३५

७ स्वच्छन्दतावाद, छायावादी काव्य की एक प्रवृत्ति मात्र है, वह अनिवार्यतः छायावाद का आधार नहीं है। कवि उस समय, काव्यगत और जीवन गत बन्धनों से मुक्त होना चाहते थे। छन्द के बंद टूटे, अलंकार विधान बदला, रूढ़ियों से मुक्ति मिली, नई अभिव्यंजना प्रणाली से छायावादी काव्य अलंकृत हो उठा। ये सब बातें स्वतन्त्र विचारों की द्योतक हैं अवश्य, किंतु स्वच्छन्दतावाद स्वयं अपने में एक जीवन दर्शन है। छायावादी काव्य उससे सम्बद्ध होकर भी उसमें सीमित नहीं है। हां, स्वच्छन्दतावाद की कतिपय विशेषतायें जैसे आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति, कल्पना की अतिशयता, सौन्दर्य के प्रति अधिक आकर्षण, विस्मय की भावना, सर्व चैतनावाद, सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक और साहित्यिक बन्धनों और रूढ़ियों से विद्रोह, उन्मुक्त प्रेम की प्रवृत्ति—लौकिक और पारलौकिक दोनों छायावाद में घुलमिल गई।

८ श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डे, माखन लाल चतुर्वेदी अथवा पंत जी आदि में से कोई भी छायावाद का प्रथम कवि होने का दावा नहीं कर सकता।

९ छायावाद की अन्य प्रवृत्तियां पूंजीवादी व्यक्तिवाद के कारण नही वरन् वे तो भारतीय नव जागरण के विविध पक्षों, विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी के विचारो, राष्ट्रीयता के प्रबल आवेगों और विदेशी दासता के विरुद्ध विद्रोह की दबी भावना से अनुप्राणित हैं।

१० छायावादी कविता का स्वर उत्तरोत्तर हृदयवाद, अनुभूतिवाद, भावुकता और अशरीरी सौन्दर्य के कुहासे से निकलकर मानवीयता एवं लौकिकता की ओर बहा है।

द्विवेदी युगीन काव्य से छायावादी काव्य-प्रवृत्तियां अनेक अर्थों में भिन्न थीं जैसा कि अध्याय ४, ५, ६, और ७ में विवेचित काव्य से स्पष्ट है। फिर भी प्रसंगवश एक-दो उदाहरण लेकर इसे और साफ कर लेना अनुचित न होगा।

द्विवेदी युग का आरम्भ सुधारवादी प्रवृत्तियों को साथ लेकर चला था; उसमें सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, भाषा सम्बन्धी और स्वदेशी प्रचार, देश प्रेम, अतीत के गौरवमय चित्र तथा विदेशी सत्ता के प्रति क्षोभ आदि भाव व्यवस्थित रूप से प्रकट हो रहे थे। तत्कालीन कवि देश की मिट्टी के प्यार, आजादी की गन्ध और नई कविता के भावों को हृदय से स्वीकार कर चुका था, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति सरल, स्पष्ट और जनता की वस्तु थी। वह सार्वजनिक भाषा की ओढ़नी लेकर आई थी। उसके उत्तम उदाहरण क्रमशः गद्य में प्रेमचन्द की कहानियों और पद्य में श्री मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में देखे जा सकते हैं।

आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व महान, किन्तु हृदय सरल एवं कोमल था। नैतिकता के कठोर बन्धनों से उन्होंने अपने को अनुशासित किया था। स्वयं को आत्मनियन्त्रित करके उन्होंने दूसरों को भी प्रभावित किया। जीवन में पवित्रता और चरित्र का स्थान बढ़ गया। कविता मे उपदेश का अंश अधिक, किन्तु सरस उर्मियों का स्पन्दन कम हो गया। देश की दीनता, अशिक्षा, गुलामी, कुरीतियों और साहित्यिक अभावों को मिटाने मे ही कवियों एवं लेखकों की सारी शक्ति लग गई। उन्होंने समतल मार्ग बनाया, आने वाले कवियों के लिए। वे खप गए भाषा-संस्कार और समाज सुधार में उसी तरह जिस तरह प० मदनमोहन मालवीय गणेश शंकर विद्यार्थी

भगत सिंह और नेता जी सुभाषचन्द्र बोस तथा लोकमान्य तिलक आदि नेता कांग्रेस की नीं भरने में; परन्तु उसका सुफल तो वांछित ही मिला। उधर द्विवेदी युग में ही समतल साहित्यिक शिक्षित में प्रसाद, पंत, निराला और माखनलाल चतुर्वेदी का उदय हुआ और उधर राजनैतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी और पं० नेहरू ने आजादी की कल्पना को साकार बनाकर देश को स्वाधीन बना दिया। साहित्यिक क्षेत्र में 'कामायनी' का सृजन और राजनीति में भारत के तिरंगे को राष्ट्रसंघ में महत्वपूर्ण स्थान, दोनों बातें, एक दूसरे के पूरक हैं। शताब्दियों से गिरा हुआ राष्ट्र उठकर सीना तानकर खड़ा हो गया। आज कौन कह सकता है कि हम साहित्यिक या राजनीतिक दृष्टि से खोखले है ? अस्तु, द्विवेदी युगीन काव्य के दो उदाहरण देखिये—जन्मभूमि की महिमा और बड़ाई सीधे सादे ढग से की गई है।

जग में जन्म भूमि सुखदाई।
जिस नर-पशु के मन न समाई।
उसके मुख दर्शन-नर नारी।
होते हैं अघ के अधिकारी।[1]

जिस प्रकार द्विवेदी जी ने जन्मभूमि का महत्व दिखाया उसी प्रकार नीचे की पंक्तियों में मैथिलीशरण गुप्त का ग्रंथ-गुण देखिये—

हे ग्रंथ, सद्गुरु सदा तुम हो हमारे,
है सर्वदा हम ऋणी जग में तुम्हारे।[2]

"छायावादी काव्य के सम्बन्ध में इधर बाजपेयी जी का मत रखकर उसका द्विवेदी युगीन काव्य प्रवृत्तियों से अंतर स्पष्ट करना सरल होगा। "नई छायावादी काव्य धारा कभी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक-दर्शन की नव प्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है। इसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्य शैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तन-शील समाज व्यवस्था और विचार जगत में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परि-स्थित के अनुरूप, स्थापना करता है। जिस प्रकार मध्य युग का जीवन भक्ति काव्य में व्यक्त हुआ, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काल में हो रही है।

छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन परिस्थितियों से ही मुख्यत: अनु-प्राणित है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्ती भक्ति काव्य की प्रकृति निरपेक्षता और संसार मिथ्या की सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं का विरोधी भी है। छायावाद मानव-जीवन सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है।"[3]

छायावाद नवीन मर्यादाओं के प्रति सचेत है। उसकी मूल धारा एक महान साहित्यिक आयोजन है। छायावादी काव्य सृजन में प्राचीन और नवीन को मानव मूल्यों की तुला पर परखा गया है। जीवन के ग्राह्य तत्वों का भाव प्रेरक संश्लेषण भी छायावाद में दर्शनीय है। भोग और

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, जन्मभूमि। २. मैथिलीशरण गुप्त, ग्रंथगुणगान।
३ आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, आधुनिक साहित्य।

शृंगार के उज्ज्वल पक्ष, काम का विराट् स्वरूप, प्रेम की मधुर वीणा और कोमलता की मीठी टीस से छायावाद प्राणवान बन गया है। किन्तु अज्ञात प्रियतम, अति प्रतीकवादी अभिव्यंजना प्रणाली और लुक छिपकर मन की तरलता को प्रकट करने की अभिलाषा ने छायावादी काव्य को यत्र तत्र दुरूह, अस्पष्ट और बोझिल बना दिया है। द्विवेदी युगीन काव्य बालक की खिलखिलाहट है और छायावादी साहित्य षोडशी की मृदु मुस्कान। छायावादी काव्य नागरिक जीवन की आदर्शमयी अभिव्यक्ति है और द्विवेदीयुगीन काव्य ललित ग्रामीण चित्र।

द्विवेदीयुगीन काव्य के प्रभाव से प्रार्थनायें खूब लिखी गईं। वह स्तुति, भजन, गुणगान गाथाओं और जीवनियों का समय था। इधर छायावाद अपने सीमित समय में इतना व्यापक हो गया था कि उसका प्रभाव केवल कवियों तक ही सीमित नहीं रहा। वह तो जनजीवन, लोक सस्कृति के कोरों को भी स्पर्श कर गया। तभी तो लोक गीतों पर भी उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरण स्वरूप बिरहा लोक गीत की दो तीन पंक्तियां देखिये—

"नदिया किनारे एक ठे चिता धुंधवाले,
धुंअवां उड़ि उड़ि गगनवां में जाइ !
अपने सपन बन के हमहूं चितवा जरउली,
'भइया' घउवा ई करेजवा में रहलि छाइ।"।

उपर्युक्त बिरहा की पंक्तियाँ सुप्रसिद्ध बिरहा गायक श्री बिश्राम सिंह के एक बिरहा की है। महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी उनकी सराहना की थी।[2] बिरहा के अनेकों भोजपुरी साहित्यकार दिनकर, मधुकर और बेनीपुरी आदि ने भी उसे सराहा है।

ऊपर की पंक्तियों में चित्र कितना साफ है। नदी के किनारे एक चिता जल रही है। इसका धुआं आसमान की ओर उड़ा जा रहा है। गीतकार को अपनी मृत प्रेयसी का स्मरण हो जाता है। दिल दर्द से भर जाता है, उसके सामने वही दृश्य पुनः साकार हो उठता है जिस दिन उसने अपनी पत्नी की लाश के साथ ही साथ अपने समस्त स्वप्नों की चिता जला दी थी। और उसका घाव आज भी उसके कलेजे मे छाया हुआ है अर्थात् उसका घाव अभी हरा है, टीस मिटी नहीं है।

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि छायावाद पर संकीर्णता अथवा आन्तरिक कुंठा की ओर उन्मुखता आदि के जो आरोप हैं, वे निराधार हैं। यह भारतीय जीवन दर्शन के आधार पर विकसित स्वस्थ, सुन्दर और सरस काव्य प्रणाली है। इसने काव्य-मर्मज्ञों के मानस को इतना अभिभूत कर दिया है कि वे भी मन ही मन इसके स्वाद को तो लेते है, पर इस काव्य रूप की सराहना करने से कतराते हैं हा उपयोगितावादियों के लिए इस काव्य में सामग्री न मिले तो
ो क्या है

जयशंकर 'प्रसाद' की प्रारम्भिक काव्य-रचनायें

'प्रसाद' आधुनिक हिन्दी काव्य के जन्मदाता, भारतीय संस्कृति के उदार आख्याता एवं नूतन जीवन बोध तथा संज्ञा के अधिष्ठाता थे। प्रेम और शृंगार वर्णन उनकी विशेषतायें थीं। वे जीवन और यौवन के कवि रहे। प्रकृति-प्रेम, जिज्ञासा और करुणा की प्रबल भावना से उनके सरस एवं प्राणवान काव्य का उन्मेष हुआ। उत्तरोत्तर उनकी साधना गहन होती गई, विचार स्पष्ट हुए और राष्ट्रीयता तथा अतीत का गौरव उनकी रचनाओं में मुखर हो उठा। उनके कवि का स्वाभाविक विकास अप्रतिम है। पद्य में 'प्रेम पथिक' से 'कामायनी' तक और गद्य में 'ग्राम' कहानी से 'स्कन्द गुप्त' नाटक और 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध' तक विकास की जो कड़ी है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कहावत है कि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात', वह 'प्रसाद' जी के सम्बन्ध में सोलह आने ठीक है। अपनी ९ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने व्रजभाषा में एक कविता लिखी, जो 'भारतेन्दु' में प्रकाशित हुई थी। यह घटना सन् १९०६ की है।

जयशंकर 'प्रसाद' के काव्य का वास्तविक विकास सन् १९०९ ई० से माना जाय क्योंकि 'इन्दु' का प्रकाशन इसी सन् में हुआ और तभी से इन्हें अपने काव्य को अपनी इच्छानुसार प्रकाशित करने का अवसर मिला। सन् १९०९ ई० से १९१६ ई० तक की इनकी सारी गद्य-पद्य रचनायें चित्रधार में संग्रहीत है। कालान्तर में थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ उनके सभी प्रारम्भिक काव्य—प्रेमपथिक, काननकुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्व और झरना प्रकाशित हुए। प्रसाद की समस्त काव्य पुस्तकों का काल-क्रम इस प्रकार है—

१—उर्वशी चम्पू—१९०९ ई०। २—प्रेमराज्य—१९०९ ई०। ३—शोकोच्छ्वास—१९१० ई०। ४—प्रेमपथिक—१९१३ ई०। ५—काननकुसुम—१९१३ ई०। ६—करुणालय—१९१३ ई०। ७—महाराणा का महत्व—१९१४ ई०। ८—झरना—१९१८ ई०। ९—आंसू—१९२५ ई०। १०—लहर—१९३३ ई०। ११—कामायनी—१९३५ ई०।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि पुस्तक के रूप में प्रसादजी की प्रथम कृति 'चित्राधार' है, जो १९१८ ई० में प्रकाशित हुई और जिसमें निम्नलिखित १० पुस्तकें संकलित हैं—

१—प्रेम पथिक, २—कानन कुसुम, ३—महाराणा का महत्व, ४—सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य, ५—छाया, ६—उर्वशी, ७—राज्यश्री, ८—करुणालय, ९—प्रायश्चित और १०—कल्याणी परिचय।

'चित्राधार' का पुनः दूसरा संस्करण सन् १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें प्रसादजी की प्रायः बीस वर्ष की सभी रचनायें सकलित हैं। यहां फिर एक परिवर्तन किया गया है जिसे समझ लेना नितान्त आवश्यक है। प्रथम संस्करण की अनेक खड़ीबोली की रचनायें इसमें से निकाल दी गई हैं तथा अन्य दूसरी सम्मिलित कर ली गई हैं। चित्राधार का जो नया संस्करण आज हमें मिलता है, उसमें निम्नलिखित काव्य-ग्रंथ संकलित हैं—

१—उर्वशी, २—बभ्रुवाहन, ३—अयोध्या का उद्धार, ४—वनमिलन, ५—प्रेमराज्य, ६—पराग, ७—मकरंद विन्दु, ८—प्रायश्चित, ९—सज्जन, १०—ब्रह्मर्षि, ११—पंचायत, १२—प्रकृति-सौन्दर्य, १३—सरोज और १४—भक्ति। इसमें प्रथम दो 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' चंपूकाव्य हैं 'प्रायश्चित' और सज्जन दो नाटक हैं ब्रह्मर्षि' और पंचायत दो कथायें तथा प्रकृति-सौन्दर्य सरोज' एवं

भक्ति ये तीन निबन्ध हैं कवितायें प्राय सभी ब्रजभाषा की हैं और खड़ीबोली की कवितायें अलग-अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हो गई हैं।

अब यह स्पष्ट हो गया कि जयशंकर प्रसाद की खड़ीबोली की आरम्भिक रचनायें (१९१३ ई० से १९२० ई० तक की) प्रेम पथिक, कानन कुसुम, महाराणा का महत्व और झरना ही ठहरती हैं; अस्तु इन्हीं का आलोच्य काल से सीधा सम्बन्ध है और इन्हीं के अनुशीलन का यहा प्रयत्न किया गया है।

'प्रसाद' के प्रारम्भिक काव्य के सम्बन्ध में आचार्य बाजपेयी का मत भी पठनीय है। "नवीन युग की हिन्दी बृहत्त्रयी के रूप में श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और श्री सुमित्रानन्दन पन्त की प्रतिष्ठा मानी जाती है।...इनमें भी ऐतिहासिक दृष्टि से जयशंकर प्रसाद का कार्य सबसे अधिक विशेषता समन्वित है। उन्होंने कविता को सबसे प्रथम रसमय बनाया। कल्पना और सौन्दर्य के नए स्पर्श अनुभव कराये। उनके पूर्व के हिन्दी कवि, प्राचीन शृंगारी कवियों के शृंगार से इतने भयभीत-से हो गये थे कि वे उसे स्पर्श करने में ही संकोच मानने लगे थे। काव्य में मधुर भावों का प्रवेश सशंक दृष्टि से देखा जा रहा था, जिसके कारण कविता के प्रति अति आकर्षण की भी कमी हो रही थी।...श्री जयशंकर प्रसाद ने काव्य के लिए परम आवश्यक माधुर्य भाव की सृष्टि प्राकृतिक वर्णनों द्वारा प्रारम्भ की। 'चित्राधार' की उनकी उस काल की कवितायें लोगों को अनोखी लगी होंगी।"[1]

प्रसादजी प्रारम्भ से ही संवेदनशील और गम्भीर हो गये थे। आत्मा को प्रकृति के साथ रखने में उन्हें एक अलौकिक रस मिलता था। प्रकृति की चेतन सत्ता के साथ वे मनुष्य की शक्तियों की कभी-कभी तुलना भी करते थे। मनुष्य की स्वार्थ वृत्ति देखकर वे असमंजस में पड़ जाते थे। तब उनके मुख से अनायास ही कविता फूट पड़ती थी—

"नील नभ में शोभित विस्तार,
प्रकृति है सुन्दर परम उदार,
नर-हृदय परिचित, पूरित स्वार्थ,
बात जंचती कुछ नही यथार्थ।"[2]

'चित्राधार' से प्रकृति प्रेम की जो कविता प्रारम्भ हुई उसका विश्लेषण करने पर कई बातें मालूम होती हैं। एक तो वह गीत-कविता के रूप में है। जहां छोटी-छोटी भावनायें एक में केन्द्रित होकर गेय हो उठती हैं, उसे गीति काव्य कहते हैं।[3]

कवि प्रसाद का जीवन एक साधक का जीवन था। सभा संस्था से अलग साहित्यिक दलबन्दी से दूर काव्य रस की सुधा में वे सदैव स्नात रहे और हिन्दी को अपनी उसी प्रतिभा के प्रसाद से भर दिया। वैभव की दीवारों से घिरे हुए रहकर भी उन्होंने जीवन के यथार्थ को खुली आंखों से देखा। इसीलिए वे भोग और करुणा दोनों को गले लगाने में कभी संकोच नहीं किए। प्रेम के प्रखर, उज्ज्वल स्वरूप को उन्होंने अपने सीने से लगा लिया था। वे अनुराग को मानव-

१. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ५९–६०।   २. चित्राधार प्रसाद।
३. आ० बाजपेयी जयशंकर प्रसाद पृष्ठ ६४

जीवन की उपलब्धि मानते थे। सौन्दर्य उनके लिए प्रकाश का काम देता रहा। संक्षेप में वे प्रेम और सौन्दर्य के कवि थे। उनकी नारी भावना आधुनिक समाज को एक ऐसा प्रदेय है जिसकी तुलना नहीं की जा सकती। प्रसाद के परवर्ती काव्य में विशेषतः कामायनी में नारी का विकास द्रष्टव्य है।[1]

'चित्राधार' के प्रकृति वर्णन और दार्शनिक भूमिका का बड़ा सटीक वर्णन आचार्य बाजपेयी नेअपनी जयशंकर प्रसाद पुस्तक में दिया है''—श्री जयशंकर प्रसाद के 'चित्राधार' में उनकी विशिष्ट प्रकार की दार्शनिक अभिरुचि के कारण प्रकृति प्रेम एक विशिष्ट प्रकार से व्यक्त हुआ है। अंग्रेज कवि 'वर्ड्सवर्थ' की भांति प्रकृति के प्रति उनका नि.सर्ग-सिद्ध तादात्म्य नहीं दीख पड़ता। प्रत्येक पुष्प से उन्हें वह प्रीति नहीं, जो 'वर्ड्सवर्थ' को थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीय नहीं, वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नहीं करते। यह चित्राधार की बात कही जा रही है। उसमे उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नहीं है। वे सुन्दरता में रमणीयता देखते हैं, सर्वत्र नहीं। इस रमणीयता के सम्बन्ध में उनकी भावना रीति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदय पक्ष है, जिज्ञासा उनका मस्तिष्क पक्ष। कही कहीं वे रमणीय दृश्यों को देखकर मुग्ध होते हैं, और कहीं कहीं प्रश्न पूछते हैं कि यह रमणीयता इसमें कहां से आई। ...वे प्रत्येक रमणीय वस्तु में चैतन्य ज्योति देखते हैं। उनकी सौन्दर्य भावना का विकास व्यापक नहीं होता। वह प्रकृति के रम्य रूपों और नारी की मनोहारिता तक ही सीमित रहती है।''[2]

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि 'चित्राधार' में प्रसाद जी की सन् १९ ९ से १९१६ ई० तक की 'इन्दु' काल की अधिकांश रचनाएं संग्रहीत हैं और कालान्तर में उन रचनाओं के क्रम भी बदल दिये गये हैं। कई रचनाएं प्रेम पथिक और झरना में भी उन्हीं में से आई हैं। और तालमेल बराबर द्वितीय संस्करण तक चलता रहा है, इसका कारण प्रसाद जी की भावनाओं मे परिवर्तन ही कहा जायगा। अब हम उनके दूसरे काव्य प्रेम पथिक पर आ जायं।

'प्रेम पथिक' एक छोटा-सा खंड काव्य है। जिस रूप में यह आज हमें प्राप्त है, उस रूप मे इसे अतुकान्त खण्ड काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें प्रेम की एक छोटी सी कथा को आधार बनाया गया है। सन् १९०५-१९०६ ई० में ब्रजभाषा में प्रसाद जी ने प्रेम पथिक की रचना की थी। इस लघु प्रेमाख्यान के कुछ अंश 'इंदु' के प्रथम भाग में प्रकाशित भी हुए थे। वर्तमान खड़ी बोली में प्रकाशित 'प्रेम-पथिक' उसी का परिवर्तित, परिवर्द्धित, तुकान्त विहीन रूप है।[3] यह नए काव्य की नूतन शैली का नव्य संदेश है। इसकी कुछ पंक्तियां लीजिए—

> ''लीलामय की अद्भुत लीला किससे जानी जाती है।
> कौन उठा सकता घुंघला पट भविष्य का जीवन में॥''[4]

प्रकृति के आकर्षण की ओर जो भावना हेमाभ तपन की किरणों द्वारा प्रकट हुई थी, वह लीलामय के अद्भुत व्यापार की ओर जिज्ञासा से घूम गई है। भविष्य के जीवन में क्या छिपा है, कौन जानता है ? प्रसाद की यह सहज जिज्ञासा, प्रकृति प्रेम अभिव्यंजना की नयी शैली सर्वथा नई दिशा की सूचक है। आगे जरा और बढ़िये—

१— प्रसाद- कामायनी। २- आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी- जयशंकर प्रसाद।
३ प्रसाद, प्रेम पथिक। ४ वही

"तारा‌ओं की माला-कबरी में लटकाये चन्द्रमुखी।
रजनी अपने शान्ति-राज्य-आसन पर आकर बैठी ।"

प्रसाद का कवि बड़ा संवेदनशील है। उसे अनुभव की पगडंडी पर चलने का अभ्यास भी होने लगा है। संसार की वास्तविकता, जीवन के यथार्थ और मनुष्यों के छलकपट को देखकर कवि चीख उठता है—

"कहां मित्रता कसी बातें ? अरे कल्पना हैं सब ये !
जिसे मित्रता समझ रहे हो, क्या वह शिष्टाचार नहीं ?
मुंह देखे की मीठी बातें, चिकनी चुपड़ी ही सुन लो।
जिसे समझते तुम हो अपना मित्र, भूल कर वही अभी।
जब तुम हट जाते हो, तुमको पूरा मूर्ख बनाता है ।"

प्रसाद का कवि केवल प्रेमी ही नहीं था, वह जीवन और जगत के प्रति जागरूक था। 'प्रेम पथिक' के बाल-सखा और सहेली के बिना जाने ही जब उस लड़की का विवाह किसी अपरिचित के साथ मां-बाप द्वारा तय करा दिया जाता है तो वह बेचारा प्रेमी हक्का-बक्का सा रह जाता है। आश्चर्य से उसके मुख से निकल पड़ता है—' पुतली ब्याही जावेगी, जिससे वह परिचित कभी नहीं।" प्रसाद ने यहाँ मनुष्य के सामने, उसके संस्कार जनित परम्परा पर छैनी लगा दी है। उसका प्रश्न मानव जाति के सामने एक प्रश्न चिन्ह बनकर खड़ा है। वह पूछता है कि जब रूखा-सूखा नीरस शीशा टूटता है तो उसकी झंझनाहट से लोग उसकी तरफ आकृष्ट हो जाते हैं परन्तु जब दो मानव हृदयों के मिलन की शृंखला टूट जाती है तो उसकी ओर लोगों का ध्यान क्यों नहीं जाता ?

"रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है।
कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है।"

इन वर्णनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इस युग में मानव प्रेम एक नवीन महिमा से मंडित हुआ और वह जीवन की एक पवित्र निधि अथवा तत्व के रूप मे स्वीकार किया गया।[1] भक्ति जगत में तो प्रेम एक पावन कारी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित था ही, किन्तु अब उसकी कान्ति किरण से मानवीय मादन-प्रेम सम्बन्ध भी दमक उठे। लौकिक प्रेम की पवित्रता तथा महत्ता हिन्दी काव्य में पहिली बार दिखायी पड़ी। कवियों ने उज्ज्वल मानवीय प्रेम का अनेक प्रकार से गुणगान करके उसमे लोकोत्तर पावनता की प्रतिष्ठा की। कवि प्रसाद ने प्रेम को मानव जीवन की सर्वोच्च-साधना के रूप में देखा।[2] इसका ज्वलन्त उदाहरण 'प्रेम पथिक की निम्नलिखित पक्तियों में देखिए—

'पथिक ! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है
घनी छांह है जो ऊपर तो नीचे कांटे बिछे हुए,
प्रेम-यज्ञ मे स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो, ...,

१. डा० श्रीकृष्ण लाल, आधुनिक हिन्दी काव्य का विकास, पृ० ६४।
२ डा० रामेश्वर लाल खंडेलवाल आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य पृ० २५८

इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे
क्योंकि यह प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना
किन्तु पहुंचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।"[1]

'प्रसाद' का कवि निःसंदेह प्रेम की पवित्रता का कायल है। वह उसे हर प्रकार के आरोपों-प्रत्यारोपों से मुक्त रखना चाहता है। उसकी मान्यता है कि प्रेम का दीवाना कभी हार नहीं मानता। वह तो अपनी मस्ती में झूमता हुआ इतना आगे बढ़ जायगा कि जहाँ कोई ओर छोर न हो। उसका प्रेम अनन्त तक व्यापक और असीम तक विराट बन कर आध्यात्मिक धरातल को स्पर्श कर लेता है। प्रसाद ने प्रकृति की भूमिका में ऐसे प्रेमवाद की अभिव्यक्ति की है, जिसमें कहीं कहीं परोक्ष प्रेम का संकेत भी मिलता है। प्रेम संसार का संचालक है, उसी में इस जगत की सारी क्रियायें लय हो जाती है जैसा कि इन पंक्तियों में से प्रकट होता है—

"प्रेम जगत का चालक है, इसके आकर्षण में खिचके
मिट्टी वा जल पिण्ड सभी दिन-रात किया करते फेरा
इसकी गर्मी मरु, धरणी, गिरि, सिन्धु, सभी निज अंतर से
रखते हैं आनन्द-सहित, है इसका अमित प्रभाव महा।"[2]

जयशंकर प्रसाद जीवन में सुख दुख दोनों की समता मानते हैं। वे स्वयं कहते है—'जीवन के पथ में सुख दुख दोनों समता को पाते हैं। इसके आगे वे मनुष्य को उसकी विचित्र वृत्तियो के कारण सावधान करके कहते हैं कि अपने निजी दुख से दुखी होकर सारे संसार को दुखी मत समझो और ईश्वर को लांछन मत दो। यह जगत लीलामय की लीलाभूमि है। निजी स्मृतियों को स्वप्नवत मान कर जगत में जीवन के कल्याण मार्ग पर अग्रसर बनो, कदम बढ़ाओ।[3] विश्वात्मा के सम्मुख अपने को समर्पित करो, प्रकृति को विश्व प्रेम में मिला दो। कारण, विश्व ही ईश्वर है और विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।[4]

प्रेम-पथिक तक पहुंचकर प्रसाद का कवि कुछ अधिक भाव प्रवण, संयमी एवं सुविज्ञ सा बन गया है। 'चित्राधार' से आगे बढ़ने पर श्री जयशंकर प्रसाद के प्रकृति प्रेम, और मानव-चरित्र सम्बन्धी धारणा को उत्तरोत्तर गहराई मिलती है, उनकी जिज्ञासा वृत्ति का विकास होता है। 'प्रेम पथिक' इसका प्रमाण है। इसका प्राकृतिक वर्णन मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य वातावरण बन गया है और मानव सौन्दर्य केवल कुतूहल की वस्तु न रह कर एक अनुपम त्याग की भावना में पर्यवसित हो गया है। प्रकृति के प्रेम से हटकर उनकी जिज्ञासा मनुष्यों के प्रेम मे समाविष्ट हो गई है।"'यहाँ कवि तात्विक निष्कर्ष तक पहुंच सका है। प्रेम अनन्त है, उसका ओर छोर नहीं, उसकी परिणति पूर्ण त्याग में है।[5]

प्रेम पथिक का यह छोटा सा कथानक कवि के स्वच्छन्द जीवन-क्षण में लिखा गया है। प्रेम पथिक की कहानी के दोनों प्रेमी अपने बचपन से ही एक साथ खेलते और आमोद प्रमाद

करते हैं। वे इतने हिल मिल गए हैं कि मानों वे दो शरीर एक प्राण हों। किन्तु कन्या का पिता अपनी लड़की का ब्याह किसी अन्य युवक से कर देता है। उस लड़की (पुतली) का मित्र निराश होकर घर से निकल जंगल में जाकर सन्यासी बन जाता है। एक दिन उसकी प्रेयसी भी वही उससे मिल जाती है। पहले दोनों एक दूसरे को विरक्त रूप में देखकर पहचानते नहीं। किन्तु तापसी के आग्रह पर वह अपनी दर्द भरी कहानी सुनाती है और फिर दोनों एक दूसरे को पहचान जाते है। पुन: वे उस सौन्दर्य प्रेमनिधि सागर की ओर दो सरिताओं की भांति प्रवाहित होने का निश्चय करते है।[1] वहां प्रसाद ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहलवाया है—

"पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलना है।
सोच समझ कर जो चलता है वह पूरा व्यापारी है।"2

महाराणा का महत्व—महाराणा का महत्व एक कथात्मक काव्य है। इसमें अब्दुर्रहीम खानखाना की बेगम के बन्दी बनाये जाने की संक्षिप्त कथा है। राजपूत उसे पकड़कर राणा प्रताप के सामने हाजिर करते हैं। प्रताप स्त्री को कैद करना अधर्म मानता है। अस्तु, अत्यन्त आदर के साथ वह बेगम को खानखाना के पास भेज देता है। अपने शिविर में जाकर बेगम मन ही मन प्रताप के शौर्य और न्याय की सराहना करती है। वह अपने पति से प्रकारान्तर से प्रार्थना करती है, कि नाथ अब मेरा मन यहां से ऊब गया। तुम छुट्टी ले लो। और कश्मीर की सैर के लिये चलो। युद्ध में यदि सम्भव हो तो समृाट अकबर से महाराणा की सन्धि भी करा दीजिए—

"प्रियतम! सचमुच यह पार्वत्य प्रदेश भी
अब न मुझे अच्छा लगता है, शीघ्र ही
मैं चलना चाहती सुखद काशमीर को।
कुछ दिन की छुट्टी लेकर समृाट से
चलिए जल परिवर्तन करने शीघ्र ही
और हो सके तो मिलकर समृाट से
राणा से शुभ सन्धि करा ही दीजिये।"3

यह पुस्तिका एक सोद्देश्य रचना है। इसमें अतुकान्त छन्द के लिये २१ मात्रा वाला छद जो अरिल्ल के नाम से प्रसिद्ध हुआ था, वही विरति के हेरफेर से व्यवहृत है। गति रूप के लिए यह छद अच्छा सिद्ध हुआ है। इसमें प्रेम पथिक की भांति मार्मिक अभिव्यक्ति कम हुई है। प्रकृति चित्रण की वह सफाई भी इसमे परिष्कृत रूप में नहीं झलकती। इस रचना का सबसे अधिक मनोहारी चित्र निम्नलिखित पंक्तियों में देखिये।

"विस्तृत तरु शाखाओं के बीच में
छोटी सी सरिता थी, जल भी स्वच्छ था,
कल-कल ध्वनि भी निकल रही संगीत-सी
व्याकुल हो आश्वासन-सा देती हुई।"4

---

१ परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह २ प्रेम पथिक
३ महाराणा का महत्व। ४ वही

प्रकृति की हल्की झाँकी, प्रेम की पीर, जीवन का अनुपम संदेश आदि भाव इस कविता मे आ गए है। इसमें प्रताप की वीरता और शालीनता तथा नारी के प्रति आदर की भावना के चित्र उभर आये हैं। मानव के सद्गुणों और उपकार की भावनाओं के प्रतिफल का दिव्य संदेश यहां दर्शनीय है। प्रसाद ने आगे चलकर नारी को "नारी तुम केवल श्रद्धा हो" कहा है उसकी प्रारम्भिक भूमिका तो महाराणा के महत्व में ही बन चुकी थी।

कानन-कुसुम—कानन कुसुम में संवत् १९६६ से १९६८ वि० (सन् १९०९ से १९१७) तक की स्फुट कवितायें संग्रहीत हैं। इस पुस्तक में प्रारम्भ मे प्रसाद ने बिना किसी शीर्षक के दो शब्द लिखे हैं, जो यहां अविकल रूप में उद्धृत है—

"प्रियतम,

जो उद्यान से चुन चुन कर हार पहनते हैं, उन्हें 'कानन कुसुम' क्या आनन्द देंगे। यह तुम्हारे लिये है। इसमें रंगील और सादे, सुगन्ध वाले और निर्गन्ध, मकरन्द से भरे हुए, पराग में लिपटे हुए, सभी तरह के कुसुम हैं। असंयत भाव से एकत्र किए गये हैं। भला ऐसी वस्तु को तुम न ग्रहण करोगे तो कौन करेगा ?"[1]

तुम्हारा,
प्रसाद

'प्रसाद' जी में प्रेम-भाव का अंकुर सम्भवतः उस काल में उगा था जब कि उन्हें सर्व-प्रथम सौन्दर्य की अनुभूति हुई थी और वे उसके विमुग्धकारी प्रभाव में आकर अपने ही भीतर की वस्तु का कोई स्पष्ट परिचय नहीं पा सकते थे।[2] उन्हीं दिनों की 'नीरव-प्रेम' शीर्षक कविता मे उन्होंने लिखा है–

"नवल दम्पति केलि विनोद में।
जब विमोहित हैं नव मोद में॥
प्रथम भाषण ज्यों अधरान में।
रहत है तउ गूंजन प्रान में॥"[3]

इसी प्रकार वे उस समय की 'विस्मृत प्रेम' एवं 'हृदय-वेदना' आदि कविताओं में भी कुछ इसी प्रकार गुनगुनाते से जान पड़ते हैं। परन्तु उसी काल की कुछ कविताओं में वे किसी परोक्ष प्रियतम की भी अनुभूति का परिचय देते हैं। यह अनुमान होने लगता है कि उस सत्ता का अनुभव, वे प्रकृति के विविध इंगितों और व्यापारों तथा मानव समाज के प्रत्येक क्षुद्र से क्षुद्र अंग तक में करने को प्रयत्यशील हैं। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण में क्रमशः व्यापकता और उदारता का समावेश हो जाता है। वह सब नैसर्गिक रूप से दृढ़ एवं सन्तुलित भी होता जाता है। प्रेम का स्वरूप इसके आगे आप से आप निखरने लगता है और उस पर सात्विक पन एवं मानवीयता का रंग भी निरन्तर चढ़ता जाता है।

---

१ कानन-कुसुम प्रारम्भिक पृष्ठ, वक्तव्य।
२ आ० परशुराम चतुर्वेदी हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह। ३ कानन कुसुम।

कानन-कुसुम की प्रथम रचना 'प्रभो' शीर्षक प्रार्थना है। इसमें कवि ने प्रकृति के विस्तार में ईश्वर की सत्ता का आभास पाया है। 'वंदना' शीर्षक दूसरी कविता में भी उसी प्रकार की भावना व्यक्त है। तीसरी रचना 'नमस्कार' में स्वच्छन्दतावादी स्वर अधिक तीव्रता से सुनाई देने लगता है। उदाहरणार्थ देखिए—

"जिस मन्दिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है
जिस मन्दिर में रंक नरेश समान रहा है
जिसके हैं आराम प्रकृति-कानन ही सारे
जिस मन्दिर के दीप इंदु, दिनकर औ तारे
उस मन्दिर के नाथ को, निरुपम निरमय स्वस्थ को
नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्व गृहस्थ को।"[1]

परमात्मा को विश्व गृहस्थ कहने में कवि का विशेष अभिप्राय है। वह केवल परम पिता कहकर, निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं कर रहा है वरन वह तो उस सद्गुण गृहस्थ को, जिसकी यह सारी गृहस्थी (सृष्टि) फैली हुई है, उसे नमस्कार कर रहा है। आगे चलकर वह अपने शरीर रूपी नौका के बारे में एक और प्रार्थना जोड़ देता है। 'वह नाव मछली को खिलाने की प्रभो बंशी न हो।'

ऐसा लगता है कवि का जीवन आन्तरिक और वाह्य संघर्षों से जर्जर हो गया है। वे अपने विरोधियों, शत्रुओं और साहित्यिक प्रतिद्वन्द्वियों से त्राण चाहते हैं। इसीलिए अपनी 'मानस युद्ध' कविता में प्रभु को अपना सारथी बना कर निर्विघ्न होकर जीना चाहते हैं। एक बात यह स्पष्ट करना होगा कि कवि प्रसाद विरोध से नहीं डरते, परन्तु 'कुविचार-क्रूरों के कठिन आघात' से भयभीत हैं। ईश्वर से उनकी मात्र यही प्रार्थना है कि जैसे भी बने उन्हें सभाल लें।

'कानन-कुसुम' की 'महाक्रीड़ा' कविता से छायावादी रचनायें प्रारम्भ हो जाती हैं। इसमें नया रूप विधान और नूतन शब्दावली का प्रयोग देखिए—

"सुन्दरी प्राची, विमल उषा से मुख धोने को है
पूर्णिमा की रात्रि का शशि अस्त अब होने को है।"[2]

यद्यपि ये पंक्तियां सर्वथा परम्परामुक्त नहीं हैं। इनमें भी द्विवेदी युगीन काव्य-गुण परिलक्षित हो रहे हैं, पर कविता का स्वर बदल गया है। इसका रंग ढग नया हो गया है। इसी कविता की दो पंक्तियां और देखिए—

"वृत्त आकृत कुंकुमारुण कंज-कानन-मित्र है
पूर्व में प्रकटित हुआ यह चरित जिसका चित्र है।"[3]

प्रकृति के प्रति कवि का अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। प्रकृति की विभिन्न दिशाओं में कवि झांकने लगा है। वह प्रकृति के अनेक अद्भुत अनोखे चित्रों की मन ही मन कल्पना कर रहा है। 'नव बसन्त' शीर्षक रचना में वह आह्लाद से विभोर होकर गा उठता है—

---

१ कानन-कुसुम, पृष्ठ ४। २ वही पृष्ठ ९ ३ वही पृष्ठ १०

"प्रकृति और वसंत का सुखमय समागम हो गया
मंजरी रस-मत्त मधुकर-पुंज का क्रम हो गया।"[1]

कानन-कुसुम का 'हृदय-वेदना' गीत भी पर्याप्त भावनात्मक है। कवि आन्तरिक पीड़ा में मस्त है क्योंकि वह पीड़ा प्रेम की है। वह प्रेम उस अनन्य प्रियतम का प्रेम है, जिसमें प्रसाद को सारी सृष्टि लय नजर आती है। उस प्रियतम के साथ कवि स्वच्छन्द क्रीड़ा करता रहा है।

'ग्रीष्म का मध्याह्न' कविता वर्णनात्मक है। इसमें प्रकृति के मानवीकरण का उत्तम प्रयास है। स्वभावोक्ति के मनोहर नमूने यहां देखे जा सकते हैं।

'प्रियतम' कविता जो सन् १९१२ ई० में रची गई थी, नवीनता से ओत-प्रोत है। तत्कालीन किसी भी कवि की उस समय की रचना के साथ रखकर इसकी तुलना करने पर 'प्रसाद' की कल्पनाशक्ति, वर्णन प्रणाली और अनुभूतियों की सटीक पकड़ की परख हो जायगी। 'प्रसाद' का 'प्रियतम' जो उनके छायावादी काव्य का मेरुदण्ड है, यहीं से प्रारम्भ होता है। इस दृष्टि से कानन-कुसुम की यह कविता एक सीमा रेखा है। इससे पहले भी उन्होंने ईश्वर की प्रार्थनायें की हैं अवश्य, पर वे स्पष्ट रूप से प्रभु की विनती हैं। उनमें पूजा और उपासना की आरती सजा कर श्रद्धा के फूल चढ़ाये गये हैं। किन्तु इस 'प्रियतम' में प्रेम, उलाहना, जिज्ञासा, संकेत और याचना के भाव साथ ही साथ चल रहे हैं। इसकी इन पंक्तियों में देखिए, कवि बड़ी व्यथापूर्ण और मर्मयुक्त वाणी से अपने प्रियतम से शिकायत करता है। वह अब और वादाखिलाफी बर्दाश्त नहीं कर सकता। वह स्वार्थी बनकर अपने प्रियतम से कुछ मांगता नहीं, वह तो केवल यह निवेदन करता है कि हे प्रियतम तू मुझे कुछ मत दे, मुझे अपना बनाकर अपनी आंखों में रख ले—

"अब से भी तो अच्छा है, अब और न करो मुझे बदनाम
क्रीड़ा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम
स्मृति को लिए हुए अंतर में, जीवन कर देंगे निःशेष
छोड़ो अब भी दिखलाओ मत, मिल जाने का लोभ विशेष।"[2]

कवि आंखों की पुतली बनकर प्रियतम की बरौनी से बच कर चमकने की अभिलाषा सजोये हुए है।[3]

'रमणी-हृदय' कविता में कवि प्रसाद ने नारी के दिल को 'फल्गू' नदी की धारा माना है। उसका विश्वास है कि स्त्री का हृदय प्रशान्त, संसार के सुख-दुख को अपने भीतर समेटे हुए चलता है। उसमें भीतर ज्वालामुखी के शोले छिपे होते हैं तो ऊपर से हिमालय की बर्फ जमी रहती है, किन्तु जब वह भड़क उठता है, तो जो भी उसके सामने आयेगा, भस्म होकर क्षार बने बिना नहीं रह सकता।

"फल्गू की है धार हृदय वामा का जैसे
रूखा ऊपर भीतर स्नेह सरोवर जैसे
ढकी बर्फ से शीतल ऊंची चोटी जिसकी

१ कानन कुसुम पृष्ठ ९९ २ वही पृष्ठ ७६–७७ ३ वही

भीतर है क्या बात न जानी जाती उनकी
ज्वालामुखी समान कभी जब खुल जाते हैं
भस्म किया उनको, जिनको वे पा जाते हैं।"

ऊपर के काव्य में जो भावना है, वह केवल कल्पना या अनुमान मात्र नहीं है। प्रसाद यौवन और शृंगार का कवि रहा है। उसने निकट से रमणी हृदय को परखा है। उसके दोनो पक्षों—गुण और दोष का कवि को अच्छा अनुभव है। प्रसाद के हृदय में जहां नारी के रूप की अदम्य प्यास रही है, वहीं वह रमणी हृदय की ज्वालाओं, विवशताओं को भी महसूस कर सका है। कवि की कल्पना निजी अनुभूति से मिलकर निखर उठी है। लगे हाथ कवि की 'नहीं डरते' कविता की कुछ पंक्तियां भी यहीं देख लें क्योंकि इनका ऊपर की पक्तियों से सम्बन्ध है। प्रसाद प्रेम के परिणाम से परिचित हैं—

"तुम अपने पर मरते हो, तुम कभी न इसका गर्व करो
कि 'हम चाह में व्याकुल हैं' यह गर्म सांस अब नहीं भरो
मिथ्या ही हो, किन्तु प्रेम का प्रत्याख्यान नहीं करते
धोखा क्या है, समझ चुके थे, फिर भी किया, नहीं डरते।"[1]

प्रेम में धोखा खाने के बाद, उसकी कमजोरियों को समझने के बाद भी 'प्रसाद' का कवि प्रेम करने से नहीं चूकता। वह डंके की चोट पर घोषणा कर रहा है कि वह किसी से नहीं डरता। दुष्परिणामों की उसे कोई चिन्ता नहीं। कानन-कुसुम की मकरंद-विन्दु' कविता काव्य कला की दृष्टि से उत्तम है। इसमें अलंकारिक छटा-सी छाई है, विशेषत: रूपकों की भरमार है। भाव की दृष्टि से भी यह कविता सशक्त है—

"हैं पलक परदे खिंचे वरुणी मधुर आधार से
अश्रु मुक्ता की लगी झालर खुले दृग-द्वार से
चित्र-मंदिर में अमल आलोक कैसा हो रहा
पुतलियां प्रहरी बनीं जो सौम्य हैं आकार से।"[2]

'चित्रकूट' कविता कानन कुसुम की सर्वश्रेष्ठ, सबसे अधिक बड़ी, लोकप्रिय और प्रभावोत्पादक रचना है। इसकी लोकप्रियता का कारण यह भी रहा है कि इसका भाव स्पष्ट और विषय महत्वपूर्ण है। इस कविता का कुछ अंश पाठ्य-पुस्तकों में समय-समय पर संग्रहीत होता रहा है, इससे भी इसकी ख्याति बढ़ी है। परन्तु इसके सुयश के पीछे है द्विवेदी-युगीन भावना। यह एक वर्णनात्मक काव्य है। राम-सीता और लक्ष्मण अयोध्या से वन में जा रहे हैं। चित्रकूट पर पहुंचकर वे पर्णकुटी बनाकर विश्राम करते हैं। रात्रि का समय है, चांदनी धरती और आसमान के बीच सेतु बना रही है। रात दूध से नहा रही है, ओसकण बरस रहे हैं, राम सीता के मुख को देखते हैं, और विनोद से प्रश्न करते हैं। सीता उतनी ही पटुता से उत्तर देती हैं। सीता और राम के मधुर-सरस एवं उल्लासवर्द्धक वार्तालाप से सारा वातावरण पुलकित हो उठा है। भरत के प्रसग ने इसमें और जान डाल दी है। लक्ष्मण के स्वभाव का ऊर्जस्वित रूप भी यहां द्रष्टव्य है।

१ कानन कुसुम पृष्ठ ७० ७१ २ वही पृष्ठ ९२

राम के सम्बन्ध में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने जो लिखा है—'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।' यह सर्वथा उचित ही है। इस कविता का आरम्भ अत्यन्त रोचक एवं नाटकीय ढंग से हुआ है। संवादों ने इसे प्राणवान बनाया है। प्रसाद की नयी लेखनी ने इस कथा में नया रंग भर उठा है। उक्ति वैचित्र्य का आनन्द लीजिए—

'राघव बोले देख जानकी के आनन को—
स्वर्गंगा का कमल मिला कैसे कानन को,
नील मधुप को देख वहीं उस कंजकली ने
स्वयं आगमन किया—कहा यह जनक लली ने।[1]

'चित्रकूट' के पश्चात इस संग्रह में 'भरत', 'शिल्प सौन्दर्य', 'कुरुक्षेत्र', 'वीर बालक', और 'श्रीकृष्ण जयंती' शीर्षक कवितायें संकलित हैं। प्रायः सभी वर्णनात्मक है। सबका ऐतिहासिक महत्व है। प्रसाद का कवि अतीत के गौरव और इतिहास के सुनहले पृष्ठों का भक्त रहा है। उसकी ये प्रारम्भिक रचनायें आगे चलकर अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त और स्कंद गुप्त में वैभवपूर्ण ऐश्वर्य, वीरता एवं राष्ट्रीयता की गाथा गाने में सफल हुई है। आधुनिक राष्ट्रीयता के संदर्भ में ये कृतियाँ साहित्य की अनुपम निधि बन गई है। वे भारत की गौरवशिला हैं।

'झरना'—प्रसाद की प्रारम्भिक रचनाओं में सबसे अधिक व्यवस्थित, प्रौढ़ एवं महत्वपूर्ण है। इसके सम्बन्ध में प्रसादजी ने स्वयं निवेदन किया है—'जिस शैली की कविता को हिन्दी-साहित्य में आज दिन 'छायावाद' का नाम मिल रहा है, उसका प्रारम्भ प्रस्तुत पुस्तक (संग्रह) द्वारा ही हुआ था।"[2] इस संक्षिप्त वक्तव्य के बाद पुस्तक प्रारम्भ होने से पहले कवि ने एक 'समर्पण गीत' लिखा है, जो नीचे दिया जा रहा है—

"हृदय ही तुम्हें दान कर दिया।
क्षुद्र था, उसने गर्व किया॥
तुम्हें पाया अगाध गंभीर।
कहाँ जल बिन्दु, कहाँ निधि-क्षीर॥"[3]

काव्य-सौन्दर्य की चर्चा के प्रसंग में रस या रमणीयार्थ की चिन्ता ही भारतीय साहित्य-साधना का प्रमुख आधार रहा है। अन्तर्मुखी चेतना के कारण भारतीय मनीषा में आभ्यन्तर रस प्रतीति को ही प्रमुख स्थान प्राप्त होता रहा है, सौन्दर्य को अलंकरण का वाह्य उपकरण मान कर काव्य-सर्वस्व के रूप में उसका वैसा वर्णन नहीं हुआ जैसा बहिर्मुखी चेतना प्रधान पाश्चात्य देशों में। हम मानते हैं कि काव्य की आत्मा उसकी भाव वस्तु ही है, किन्तु काव्य सौन्दर्य का विश्लेषण करते समय उसके वाह्य स्वरूप की किसी भी तरह उपेक्षा सम्भव नहीं।[4]

प्रसाद हिन्दी के (खड़ीबोली) पहले कवि है जिन्होंने भाव बोध रस के साथ ही साथ काव्य के बाह्य स्वरूप को संवार कर उसे जीवन्त बना दिया। प्रकृति-प्रेम, जिज्ञासा अनुभूति और मधुर कल्पना के झीने पट से प्रसाद के कवि ने कविता-कामिनी का शृंगार किया।

१. कानन-कुसुम, पृष्ठ ९६। २. प्रसाद, निवेदन, झरना, पृष्ठ १।
३ प्रसाद- समर्पण- झरना- पृष्ठ २।
४ डा० विजयेन्द्र स्नातक भूमिका हिन्दी काव्य और उसका सौंदर्य पृष्ठ क ख।

झरना के प्रारम्भ मे परिचय शीर्षक एक कविता आई है उसमें चार पद हैं इसमे कवि ने प्रकृति के भीतर घटनेवाली घटनाओं के प्रति कुतूहल दर्शाया है। वह प्रकृति की सारी लीलाओं को, परिवर्तनों को समझ नहीं पाता, परन्तु ऐसी भावना उनके मन में बद्धमूल हो जाती है कि यह सब कुछ प्रेम के नाते ही हो रहा है। इस गीत को हम मूल रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं—

परिचय १ उषा का प्राची में आभास।
सरोरुह का, सर बीच विकास॥
कौन परिचय था? क्या सम्बन्ध।
गगन मंडल में अरुण विलास॥
२ रहे रजनी में कहाँ मलिन्द?
सरोवर बीच खिला अरविन्द॥
कौन परिचय था? क्या सम्बन्ध?
मधुर मधुमय मोहन मकरंद॥
३ प्रफुल्लित मानस बीच सरोज।
मलय से अनिल चलाकर खोज॥
कौन परिचय था? क्या सम्बन्ध?
वही परिमल जो मिलता रोज॥
४ राग से अरुण, घुला मकरन्द।
मिला परिमल से जो सानन्द॥

वही परिचय था, वह सम्बन्ध।
"प्रेम का मेरा तेरा छन्द।।"

छायावादी काव्य का अध्यात्मिक स्वरूप, रहस्यवाद की भावना, नूतन छंद विधान, नई भाषा-शैली, प्रेम की विराट् सत्ता, प्रकृति की अनंत छवि, सौंदर्य का मिलन, दो दूर रहनेवाली एक दूसरी से अनभिज्ञ शक्तियों का आपस मे स्वाभाविक आकर्षण, जीवन का मधुमय हास-उल्लास-विलास, मधुर विचार सरणियों का गुंफन झरना की कविताओं की विशेषता है।

'झरना' का कवि अल्हड़ता के खेल खेल कर उत्कृष्ट भावभूमि पर प्रौढ़ विचारों और गूढ़ भावों का प्रदर्शन करता है। प्रकृति की मनोहारी छटा जीवन के यथार्थ रूप मे उसे मिलने लगी है। इस संग्रह की पहली ही रचना, भाषा का प्रवाह, विषय की स्पष्टता और शब्दों का चयन देखते ही बनता है।

"मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
मनोहर झरना।"[1]

'प्रथम प्रभात' में कवि की मनोवृत्तियां खग-कुल सी सो रही थीं। सारी सृष्टि स्पन्दनहीन थी

१ प्रसाद झरना पृष्ठ १

कि अचानक प्रभात के मलयानिल ने उसे गुदगुदा दिया, भौंरे गूंज उठे, मकरंद की वर्षा हुई, पपी का पीउ कहाँ ? शब्द उठा, रागरंजित गगन ने आनन्द की चादर बिछा दी। कवि एक कदम आगे बढ़ गया और 'खोलो द्वार' कविता में स्वयं बोल उठा—'प्रियतम डरो नहीं, मैं आकर तुम्हारे द्वार को धूल धूसरित नहीं करूंगा। मैं किसी तरह से भूला भटका, अपार दुख लेकर तुम्हारे द्वार पर आ गया हूं'। हे प्रियतम ! तुम अपने अरुणकिरण-सम कर से मुझे जरा स्पर्श कर लो अपने द्वार खोल दो, जिससे जगत के प्रभात के साथ ही साथ मेरा भी प्रभात हो जाय ताकि दुखों से मुक्ति पा जाऊं। इस कविता में आध्यात्मिकता का धरातल पर्याप्त ऊंचा है। इसकी कुछ पंक्तियां देखिए—

> "अरुण किरणसम कर से छू लो खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।
> सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुख अपार—
> मिट जावे जो तुमको देखूं खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार॥"[1]

झरना की रचनाओं के सम्बन्ध में डा० सुधीन्द्र का मत भी पठनीय है—'झरना कवि के प्रेमिक हृदय का सहज उद्रेक है, उसके छींटों में प्रणयी की समग्र मधुर और कटु अनुभूतियां स्पन्दित हैं। प्रकृति की भूमिका से कवि ने प्रतीकवाद द्वारा अपने विदग्ध प्रेम की व्यंजना की है, तो कहीं अलौकिक रूप व्यापार द्वारा। सुरा, मादकता, फूलमाला आदि प्रेमिक प्रतीकों से भी राशि-राशि अनुभूतियों की अभिव्यंजना है।"[2]

झरना के कई गीतों में 'इश्क हकीकी' और 'इश्क मजाजी' की अनुभूतियां हैं। उपेक्षा करना, सुधा में गरल आदि कवितायें उर्दू शायरों की सी प्रेम व्यंजना प्रकट करने वाली शैली की कवितायें हैं। किसी के अपांग की धारा से ही झरना प्रवाहित हो पड़ा है और 'प्रणयवन्या ने किया प्रसाद' इस 'प्रणय-वन्या' के जल में भारतीय और ईरानी सस्कृति के प्रेम का स्वाद मिलता है। यह निश्चित है कि उसमें 'बात कुछ छिपी हुई है गहरी।' हो सकता है कि वह कोई 'कल्पनातीत की घटना' हो।[3]

'प्रियतम' शीर्षक रचना में पहुंचकर कवि पुनः अपने प्रियतम से प्रश्न करता है। उस प्रियतम से शिकायत है, कवि की लेखनी हिलने लगी है और कागज कांप रहा है। प्रसाद की अनुभूति यहां एक अत्यन्त सुदृढ़ आधार पर खड़ी है। कवि को यह शिकवा नही है कि उसका प्रियतम दूसरों से बातचीत करता है, प्रेम व्यापार करता है, वरन् उसे डर तो इस बात का है कि वह इस वेचारे को उस भीड़-भाड़ में भूल न जाय, अन्यथा, इसका क्या होगा ?

> औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुख नहीं।
> जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं॥"[4]

यहां तो यह कहना अतिशयोक्ति युक्त न होगा कि प्रसाद का रहस्यवाद कबीर से भी बाजी मार ले गया है। कबीर तो अपने प्रियतम को ढककर रखना चाहते हैं। सबकी दृष्टि बचाने की बात सोचते हैं, जैसा कि इन पंक्तियों से प्रकट है—

---

१. प्रसाद, झरना, पृष्ठ ७।
२. डा० सुधीन्द्र, हिंदी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ३७६।
३. वही। ४ झरना प्रियतम पृष्ठ ३०

नैनन अन्तर आव तू, नैन झापि तोहिं लेउ।
ना मैं देखौं और को ना तोहि देखन देउं ॥"[1]

झरना की 'प्रियतम' कविता तक पहुंचते पहुंचते प्रसाद के काव्य की अनेक उलझनें साफ हो गई हैं और उनके कवि की दिशायें भी स्पष्ट दीखने लगी है। उनके परवर्ती कवि का जो प्रदेय आसू, लहर और कामायनी में मिला है, उसकी झलक भी झरना मे मिल जाती है। ये रचनायें द्विवेदी युगीन काव्य धारा से सर्वथा भिन्न अपना एक भव्य महल खड़ा कर चुकी हैं। यह जीवन के अधिक निकट हो गई हैं। मेरा मतलब यह है कि व्यक्ति का जीवन भी, सामाजिक भावना के अतिरिक्त, कुछ अलग सत्ता रखता है। उस सत्ता की अभिव्यक्ति द्विवेदी जी से प्रभावित कवि न कर सके। रत्नाकर की गोपियां इसीलिए कहती हैं—"बूंदता विलैहैं बूंद बारिधि में मिलि के।"[2] और महादेवी वर्मा भी प्रियतम से मिलना नहीं चाहतीं। उनका कहना है कि 'मिलन का मत नाम लो, मैं विरह में चिर हूं।'[3]

उपेक्षा करना, वेदने ठहरो, धूल का खेल आदि रचनाओं में कवि की निराशा और वेदना ही अधिक प्रकट हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके जीवन की आन्तरिक टीस, सामाजिक पीडन, पारिवारिक चिन्ताओं ने कवि को निराश एवं हताश बना दिया है, परन्तु इसी संग्रह की 'विन्दु' ! कविता तक पहुंचकर वह पुनः चेतना प्राप्त कर लेता है। मन को समझाता हुआ कवि दृढ स्वर में बोलता है—

रे मन !
न कर तू कभी दूर का प्रेम।
निष्ठुर ही रहना अच्छा है, यही करेगा क्षेम।"[4]

असफल प्रेम की थकान से कवि हतोत्साह हो गया है। अब वह मादक सपनों में अपने को बहकाने की अपेक्षा सचेतन होकर मन को बहलाने में विश्वास रखता है। उसके रोते हुए हृदय से उच्छ्वास निकलने लगे हैं। कल्पना की रंगीन दुनिया से हटकर वह यथार्थ की समतल भूमि में खडा होने का प्रयास कर रहा है। इसीलिये अनजान परदेशी की प्रीति को वह शुभ नहीं मानता। उसकी स्थूल मान्यता है कि 'नाहर नख से हृदय लड़ाना जितनी बड़ी मूर्खता है, उतनी ही बड़ी बेवकूफी है, अनजान, अपरिचित व्यक्ति से सूत्र-जोड़ना प्रसाद के शब्दों में पढ़िये—

"परदेशी की प्रीति उपजती अनायास ही आय।
नाहर नख से हृदय लड़ाना, और कहूं क्या हाय।"[5]

'झरना' काव्य के अन्त में 'विन्दु' शीर्षक से छः छोटी-छोटी कविताएं हैं। प्रत्येक में एक एक स्वतन्त्र विचार है। जीवन के घात-प्रतिघात से कवि ने जो सबक सीखा है उसे उन कविताओं मे रखने का प्रयत्न किया है। उदाहरण स्वरूप 'विन्दु' शीर्षक रचना में कवि फूल से कह रहा है—

"सुमन तुम कली बने रह जाओ।
ये भौरे केवल रस भोगी इन्हें न पास बुलाओ।"[6]

---

१ कबीरदास कबीर ग्रंथावली　　२ रत्नाकर उद्धव शतक
३ महादेवी वर्मा यामा　　४ झरना　　५ वही　　६ वही।

सुमन को मानव के रूप में रखकर प्रसाद ने मनुष्यों में [illegible] बात कही है। वे [illegible]धान करते हुए 'सुमन' को चेतावनी के स्वर में सीख देते हैं 'अब सब मिलकर अपनी इच्छा आनन्द और सुगंधि तथा मकरंद को लोभी भौंरा रूपी स्वार्थियों को लूटने का अवसर मत दो। जब तुम्हारा रस, आनन्द, जीवन मात्र सब समाप्त हो जायगा तो ये लोग तुम से बात भी नहीं करेंगे जिस तरह भौंरे सूखे फूलों, टूटी पंखुड़ियों और गन्धहीन कलियों से नाता नहीं रखते हैं।

संक्षेप में डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि झरना में प्रेम की सफलता और असफलता की अनेक स्थितियाँ हैं। इस खण्ड में 'प्रसाद' प्रधानतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। इन उर्दू कवियों की मार्मिक अभिव्यंजना लाक्षणिकता, पीड़ावाद और अनुभूति की तरलता का परिचय मिलता है। परन्तु कुछ कवितायें ऐसी भी हैं, जहाँ इस प्रेम को ईश्वर परक बना दिया गया है और वहाँ आध्यात्मिकता की सफल व्यंजना है।[1]

जयशंकर प्रसाद के कवि का उद्भव और विकास हिन्दी साहित्य में एक ऐतिहासिक घटना है। राष्ट्रभारती के इस सपूत ने साहित्य की जिस विधा की ओर लेखनी उठाई उसे सम्पन्न एवं चमत्कृत कर दिया। कहा गया है कि शायर, सिंह और सपूत लीक पर नहीं चलते, अन्यत्र यह बात सत्य प्रतीत हो या न हो, परन्तु प्रसाद के सम्बन्ध में यह सोलहों आने खरी उतरती है।

'इन्दु' में अपने एक लेख 'कवि और कविता' में उन्होंने सन् १९१० ई० में लिखा था—"शृंगार रस की मधुरता पान करते-करते आपकी मनोवृत्तियाँ शिथिल तथा अकुला गई हैं। इस कारण आप को भुला देनेवाली कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु, धीरे-धीरे जातीय संगीतमयी वृत्ति स्फुरणकारिणी, आलस्य को भंग करने वाली, धीर गंभीर, परिविक्षेपकारिणी, शान्तिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना चाहिए। दिन दूर नहीं, सरस्वती अपनी मलिनता को त्याग, नवल रूप धारण कर, प्राभातिक उषा को लजावेगी। एक बार वीणावादिनी अपनी वीणा को पंचम स्वर में फिर ललकारेंगी। भारत की भारती फिर भी भारत की ही होगी।'[2]

'प्रसाद' ने अपनी उपर्युक्त घोषणा को पूर्ण किया। उनकी कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी और उनके निवन्ध सभी प्रथम श्रेणी की रचनायें सिद्ध हुईं। जातीय जीवन की श्रेष्ठ और भारतीय राष्ट्रीयता का भाव कभी प्रसाद की आँखों से ओझल नहीं हुआ। इसीलिए उनका परवर्ती समस्त काव्य उच्च राष्ट्रीय लालसा की अदम्य ऊर्मियों से स्पंदित है। त्याग, बलिदान जो भारतीय जीवन की विशेषतायें रही है, वह प्रसाद के स्त्री-पुरुष चरित्रों में होड़ सी लगाती जान पड़ती हैं। उदाहरण के लिए 'स्कन्दगुप्त' नाटक के 'स्कन्द' और 'देवसेना' को लीजिए—इनमें 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की उक्ति चरितार्थ होती है।

डा० प्रेमशंकर अपने प्रबन्ध में लिखते हैं—"भावना की दृष्टि से कवि में अनुभूति की सच्चाई है, भावों की गहनता। उसका काव्य एक ऐसे आधार पर निर्मित है जहाँ कवि एक स्वतन्त्र पक्षी की भांति धरणी के ही गीत गाता रहता है। कवि का राष्ट्रीय प्रेम अतीत के प्रति अनुराग और सांस्कृतिक मोह के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। 'हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से हम आये

१ डा० रामरतन भटनागर, प्रसाद साहित्य और समीक्षा, पृ० ५८।
२ इदु कला २ किरण १ श्रावण शुक्ल २, १९६७ ई०

थे नहीं' के द्वारा उन्होंने पुनः आर्य जाति के गौरव को स्थापित किया। इसका सम्पूर्ण गौरव तो नाटकों में ही देखा जा सकता है। कालिदास और रवीन्द्र की परम्परा में प्रसाद ने एक चरण रखा था। उतनी क्षमता का कोई दूसरा कवि दिखाई नहीं देता। प्रसाद के काव्य की प्रेरणा भारतीय है। उन्होंने उपनिषद् दर्शन से अपने रहस्यवाद की प्रेरणा ली थी। कवि प्रसाद अपनी भावनाओं के गायक थे। शिव भक्ति उनके जीवन में प्रारम्भ से ही थी।"[1] शिव की विराट सत्ता में कवि का अपार विश्वास था। उसका प्रमाण निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए—

"निराशा में, अशान्ति में, सुख में, उस अपूर्व सुन्दर चन्द्र की भक्ति रूपी किरणें तुम्हे अशांति प्रदान करेंगी। और यदि तुम्हे कोई कष्ट न हो, तो उस अशरण-शरण-चरण में लोटकर रोओ, वे अश्रु तुम्हें सुधा के समान सुखद होंगे और तुम्हारे संताप को हर लेंगे।"[2] शिव स्तवन करता हुआ भक्त कहता है—

"हे शिव धन्य तुम्हारी माया
जेहि बस भूलि भ्रमत है सबही, सुर अरु असुर निकाया।"[3]

उपर्युक्त सन्दर्भ में कौन कहता है और कब कहता है यह उतना महत्वपूर्ण नही है; जितना वह कवि के शैव मत का पोषक है। प्रसाद के कवि का शैवागम तो कामायनी में पूर्ण हुआ है, पर प्रारम्भिक रचनाओं की ये रेखायें भी उसके लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक सिद्ध हुई है।

प्रसाद के प्रारंभिक काव्यों के इस अनुशीलन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१—प्रसाद जी ने आरम्भ से ही काव्य में नूतन प्रयोग किए, स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से नये जीवन बोध और संज्ञा की उन्होंने अपने काव्य में स्थापना की।

२—प्रसाद एक नये साहित्य-युग के निर्माता ही नहीं हैं, एक नई विचार शैली और नव्य दर्शक के उद्भावक भी हैं।[4]

३—वे एक सहज द्रष्टा, विचार एवं महान प्रतिभा के कवि थे।

४—लौकिक और पारलौकिक की दिव्य ज्योति से उनका काव्य जगमगा रहा है। उसमें जीवन के लिए प्रचुर सामग्री है। वह मानवीय आधार पर खड़ा है।

५—प्रसाद जी छायावादी काव्य की (हिन्दी में) सृष्टि करने वाले प्रथम कलाकार हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी की प्रारम्भिक रचनायें

सुप्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्त्ता पं० माधवराव सप्रे से प्रभावित होकर माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय आन्दोलन में शरीक हुए। उन्हीं की प्रेरणा से हिन्दी केसरी मे उनका प्रथम लेख 'राष्ट्रीय आन्दोलन और बहिष्कार' प्रकाशित हुआ।[5] जीवन की अनगढ़ राहों पर चलते हुए माखनलाल ने

---

१. डा० प्रेम शंकर, प्रसाद का काव्य। २. चित्राधार, 'भक्ति लेख'।
३ चित्राधार ब्रभ्रुवाहन ४ आ० पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जयशंकर प्रसाद भूमिका
५. ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ माखनलाल चतुर्वेदी

स्कूल अध्यापक का काम १९ जुलाई सन् १९०७ ई० को स्वीकार किया।[1] अध्यापक होने पर भी माखनलाल का मन क्रान्तिकारियों की योजना में लगा रहा। वे पढ़ाने-लिखाने में मन नहीं लगा सके। इसका परिणाम यह निकला कि शिक्षा-विभाग में उनके खिलाफ शिकायत पहुंची। माखनलाल के अध्यापक जीवन के प्रारम्भ के कुछ ही समय बाद उनके साहित्यिक क्षितिज पर विहंसती उषा का आगमन हुआ। उन्होंने सन् १९०८ ई० में एक कविता लिखी जिसकी कुछ पंक्तियां यहां दी जा रही हैं—

> 'हे प्रशान्त ! तूफान हिए—
> मैं कैसे कहूं समाजा[2]
> भुजग शयन ! पर विषधर—
> मन में, प्यारे लेट जगा जा।'[3]

उपर्युक्त कविता 'शान्ताकारं भुजग शयनम पद्मनाभम् सुरेशं' गीता के इसी श्लोक पर आधारित है। कविता में छायानुवाद और थोड़ी बहुत कल्पना का पुट सम्मिलित है। इसमें साहित्यिक छटा भले न हो पर प्राइमरी के एक अध्यापक के जो कक्षा ६ तक शिक्षित हो, ज्ञान की प्रशंसा अवश्य की जायगी।

सन् १९१० ई० में पहुंचते-पहुचते माखनलाल ने उर्दू के लहजे पर एक और तुकबन्दी की—

> "गुनों की पहुंच के
> परे के कुओं में
> मैं डूबा हुवा हूं
> जुड़ी बाजुओं में।"[4]

माखनलाल स्कूल में नाटक कराने, कविता लिखने और क्रान्ति की योजनाओं में मस्त थे। उधर सरकारी निरीक्षक ने स्कूल का निरीक्षण किया और अपनी रिपोर्ट में लिखा—"प्रथम कक्षा के पाठक (अध्यापक) की पढ़ाई ठीक रीति से नही होती। उसने रीति भी नही समझाई है। कविता के अर्थ समझाना चाहिए। पढ़ाई इस कक्षा की बहुत कम है, ज्यादा ध्यान देना चाहिए।[5]

कर्मवीर मनुष्य संकल्प के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है, घटनाएँ जीवन में कभी बाधक और कभी साधक बनती जाती हैं। वह मुड़कर पीछे नहीं देखता क्योंकि उसे तो कहीं अन्यत्र जाना है। माखनलाल भी उसी धुन में बहे चले जा रहे थे। उन्हें राष्ट्रीय जीवन में कुछ नवीन अमिट रेखायें खींचनी थीं, वही अपने को खपाकर 'मकतब के मुदर्रिस' के रूप में मरना तो था नहीं। बस, अपनी धुन में भक्ति परक भावनाओं के मूड में कवि गा उठा—

> अपने जी की जलन बुझाऊं,
> अपना-सा कर पाऊं,

---

१. ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ, माखनलाल चतुर्वेदी, पृष्ठ २५८।

२. हिम-तरंगिनी, पृष्ठ ६८—६९। ३. वही, पृष्ठ ९०।

४ बरुआ, चतुर्वेदी पृष्ठ २१९

'वैदेही सुकुमारि किते गई'
तेरे स्वर में गाऊं।[1]

कवि के अनगढ़ शब्द चयन में अभिव्यक्ति उलझ गई है। अर्थ की संगत बैठाना कठिन हो गया है। फिर भी वह अपनी बात को कहने का कविता के माध्यम से अधिकार नहीं छोड़ता। भीतर एक आकुलता है। जबरदस्त बेचैनी है। भाव बुलबुला रहे हैं, वेदना छटपटा रही है।

सन् १९१२ ई० के दशहरे के अवसर पर 'शक्ति-पूजा' शीर्षक लेख 'सुबोध-सिन्धु' के हिन्दी संस्करण में प्रकाशित हुआ। इस लेख पर सरकारी अफसर बहुत लाल पीले हुए। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने माखनलाल को बुलाकर डांटा और कहा, "तुम सिडीशन लिखता है? जानता है, तुमको हम कुचल डालेगा।"[२]

'प्रभा' का पहला अंक ७ अप्रैल १९१३ ई० को निकला, उसके अधिकांश लेखादि माखनलाल के ही थे। खंडवा की इस सचित्र मैगजीन का सब लोगों ने सहर्ष स्वागत किया। 'प्रभा' के ६ अंक सुचारु रूप से जब निकल गये तब माखनलाल ने स्कूल की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।[३] सन् १९१३ ई० के अक्टूबर महीने से गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। तब तक माखनलाल अनेक कविताओं का सृजन कर चुके थे। 'प्रताप' के निकलते ही उन्होंने 'चेतावनी' शीर्षक कविता 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रकाशनार्थ भेजी। उसकी प्रारम्भिक दो पंक्तियां देखिए—

"अंगुली दिखा लो, या घिना लो, डरवा लो, डर नहीं,
बातें बना लो, सब छिना लो, क्या करें? उत्तर नहीं।"[4]

काव्य की दृष्टि से इन पंक्तियों का मूल्य अवश्य ही कम है, पर राष्ट्रीयता के युग-दीप को प्रज्वलित करने, जनता को जगाने के लिए यह सब अनिवार्य था। 'प्रभा' और 'प्रताप' दोनों पत्रो के माध्यम से माखनलाल की लेखन कला के लिए एक विशाल क्षेत्र मिल गया। धड़ाधड़ उनकी रचनायें निकलने लगीं। सन् १९१३ भारतीय आत्मा के कवि के विकास के विचार से अवश्य ही महत्वपूर्ण है। इसी कारण सम्भवतः कुछ आलोचक माखनलाल को छायावादी काव्य का जन्मदाता मानने के भ्रम में उलझ गए हैं। अस्तु, इस वितण्डावाद को समाप्त करने और वस्तु-स्थिति को स्पष्ट करने के विचार से हम यहां माखनलाल चतुर्वेदी की सन् १९१३ से १९२० ई० तक की कविताओं की पंक्तियां उद्धृत कर रहे है ताकि उनके कवि के प्रारम्भिक काव्य के अनुशीलन की सुविधा प्राप्त हो।

'प्रभा' में प्रकाशित रचनाओं के नमूने देखिए—
"बुधवर-प्रबोधाश्रम, अनोखे कुल-कमल वन-भानु,
सहृदय-पंकज-अलि, निराशा-विपिन-दहन-कृशानु।"[५]

---

१. हिम-तरंगिनी, पृष्ठ ६६, सन् १९११ की रचना। २. बरुआ, माखनलाल चतुर्वेदी, पृष्ठ २६४
३. २६ सितम्बर १९१३ ई०। - ४. बरुआ माखनलाल चतुर्वेदी पृष्ठ २८५।
५. नीति निवेदन प्रभा संख्या १ भाग १ विनीत नवनीत

"है कौन सा वह तत्व, जो सारे भुवन में व्याप्त है
ब्रह्मांड पूरा भी नहीं जिसके लिए पर्याप्त है ?"[1]
ऐ धीरो वीर क्यों, शुभ रण मद से मत्त हो केसरी-सा,
दौड़ो दौड़ो अगाड़ी, झपट झट चढ़ो शत्रुओं के गढ़ों पै।"

—(प्रभा) भाग २, संख्या ८, एक भारतीय प्रजा, कार्तिक सम्वत् १९७२

ऊपर की पंक्तियों को ध्यान से देखने पर माखनलालजी की प्रारम्भिक कविता का सहज ही अनुमान लग जाता है। उस समय वे धर्म, देशभक्ति, नैतिकता के आवेग से संपृक्त थे। उन्हीं भावों को वे गद्य-पद्य में विभिन्न रूपों में लिख रहे थे।

'पत्नी' पति के रथ की धुरी है। वह सीता, सती और श्रद्धा भी हो सकती है और कैकेयी तथा द्रौपदी भी। परन्तु उसका महत्व अक्षुण्ण है। आज के क्षणवादी व्यक्तित्व और वस्तुवादी जीवन-दर्शन में भी उसका महत्व कम नहीं है। बाहरी सभी झंझावातों के लिए वह कवच बन जाती है। जीवन में अमरत्व और शिवत्व की कल्पना पत्नी के बिना अधूरी है। वह पत्नी जब माखनलाल को अकेला छोड़कर स्वर्गवासी हो गई तब कवि का भावुक हृदय तड़प उठा—

"भाई छेड़ो नहीं मुझे, खुलकर रो लेने दो
यह पत्थर-सा हृदय आँसुओं से धो लेने दो।
* * *
मैं न्यौता स्वीकार करूंगा कठिन पंथ का
मातृभूमि हो सुखी, भले पंथी रोता है।"[2]

माखनलाल की पत्नी 'ग्यारसी बाई' सुन्दर होने के साथ ही साथ सम्पन्न बाप की बेटी थी। सुरुचि, साधन और गुणयुक्त पत्नी के निधन से माखनलाल विचलित हो उठे। उन्हें इस बात का बड़ा सताप था कि उनकी जीवनसंगिनी अभावों में घुटकर मरीं। अपनी व्यथा को उलाहना भरे स्वरों में कहते हैं—

"रहो प्रेम से तुम्हीं
मौज से मंजु महल में,
मुझे दुखों की इसी
झोपड़ी में सोने दो।
* * *
अरे बचा क्या शेष,
पूर्ण जीवन खोया है।"[3]

सन् १९१४ ई० की एक रात्रि, पूर्णिमा के प्रकाश में कवि जल के प्रवाह और उड़ने वाले

१. 'प्रभा' भाग १, संख्या ६, 'प्रेम' शीर्षक।
२ बरुआ माखनलाल चतुर्वेदी पृष्ठ २९७–९८ जनवरी १९१५ ई०।
हिम-तरंगिनी, पृष्ठ २२ सन् १९१४ दिसम्बर।

बादलों को देखता है। प्रकृति के पुलक भरे सौन्दर्य पर रीझकर पूनम के चांद से मण्डित गगन में कवि उड़ना चाहता है। नैसर्गिक छटा निहार कर कवि तृप्त होना चाहता है—

"उड़ने दे घनश्याम गगन में।
... ...
नाचूं जरा सनेह नदी में
मिलूं महासागर के जी में
पागलनी के पागलपन ले—
तुझे गूंथ दूं कृष्णार्पण में
उड़ने दे घनश्याम गगन में।"[1]

१९१४ ई० में एक पत्र में नीचे लिखी पंक्तियां दी गई हैं। अपने नेता से कवि अनुरोध करता है कि जब कहो त्याग के लिये प्रस्तुत हूं।

मार डालना किन्तु क्षेत्र में
जरा खड़ा रह लेने दो,
अपनी बीती इन चरणों में
थोड़ी-सी कह लेने दो।[2]

ईश्वर की प्रार्थना करता हुआ कवि कहता है—हे देव ! उस ओर तुम्हारे पांव हैं और इस ओर हमारे 'पाप' हैं। तुम्हारे दोनों पैर छोटे-छोटे, कोमल और स्वच्छ हैं और मेरे पाप महाभयंकर ! भला तुम मुझे कैसे तारोगे ?

"सुनकर तुम्हारी चीज हूं
रण मच गया यह घोर,
वे विमल छोटे से युगल,
ये भीमकाय कठोर।"[3]

नीचे दिए हुए पद में कवि कृष्ण से प्रार्थना करता है कि आकर अपनी गायों को संभालो—

"गो-गन संभाले नहीं जाते मतवाले नाथ,
दुपहर आई बट-छांह में बिठाओ नेक।"[4]

सन् १९१६ की दो अन्य कविताओं के उदाहरण देखिये—

पहली रचना में वह ईश्वर का साक्षात्कार चाहता है। उसकी छवि अपनी आँखों में चाहता है दूसरी में प० माधवराव सप्रे को राजनीति में रहने का वचन देने पर प्रण करता है

जिस ओर आऊ राक लेवें
तेरी सूरत सामने ।"[1]

... ...

"माधव दिवाने भाव-भाव
दिखाने
अब कोई चहै बनै
चहै निन्दै काहु परवाह ।"[2]

आगे चलकर कवि ने अनेक प्रार्थनायें लिखीं जिनमें वह भगवान से निवेदन करता है, "हे प्रभु ! तुम अब हमें हर तरह से झंकृत करो । हमारे रोम रोम में नूतन स्वर, नवीन राग और नए भाव भरो । वह ईश्वर-भक्ति और देश-भक्ति दोनों ओर झुका हुआ है । वह राष्ट्र के लिए शक्ति चेतना और नवोन्मेष के बीन बजाना चाहता है ।

'कर्मवीर' के डिक्लेरेशन भरने पर जब जल्दी स्वीकृति नहीं मिली और उन्हें अधिकारियों द्वारा जब यह उपदेश सुनने को मिला कि यदि उसमें लिखा होता, "सामान्य रोजी-रोटी के लिए" निकाला जा रहा है तब सुविधा से आज्ञा मिल जाती । यह उत्तर सुनकर उनका हृदय भर आया, कवि का मन तिलमिला उठा और उस वेदना को प्रकट करने के लिए तुरंत निम्नलिखित पंक्तियां लिखी गईं—

"फिसल जाऊंगा, ललचा रहे,
तुम्हारी आज्ञा है मत हटो
लिये दे दण्ड भेद कस रहे,
और तुम कहते हो मर मिटो ।"[3]

सन् १९०८ ई० से १९२० ई० तक की अनेक कविताओं के अनुशीलन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं ।

(१) माखनलाल ने संघर्ष के साथ-साथ साहित्य की सेवा की है ।
(२) उन्होंने भजन, उद्‌बोधन, राष्ट्रीयता और शोक सम्बन्धी कवितायें लिखी हैं ।
(३) उनकी अधिकांश रचनायें शुष्क, कथात्मक एवं उपदेश परक हैं ।
(४) इन रचनाओं में छायावाद का आरोप करना अनुचित है ।
(५) प्रभा, प्रताप और कर्मवीर में कविता की अपेक्षा उन्होंने गद्य की अधिक शक्तिशाली रचना की । सन् १९२० ई० तक उनकी एक भी प्रथम श्रेणी की कविता नही प्रकाशित हुई थी ।
(६) श्री बरुआजी के इस कथन का "प्रभा में धर्म सम्बन्धी अनेक टिप्पणियों को श्री माखनलाल ने अपनी २४ वर्ष की अवस्था में लिखा था । इन्हीं टिप्पणियों की आधारशिलाओं पर १९१३ ई० से उनका काव्य हिन्दी में सर्वप्रथम छायावादी स्व-

---

१. हिम तरंगिनी । २. वही ।
३. बरुआ माखनलाल चतुर्वेदी पृष्ठ ३५५, परिशिष्ट ।

रूप ग्रहण ही नहीं करने लगा था, व्यापक स्तर पर वह हिन्दी में छायावाद का अग्रतम प्रकाशमान लक्ष्य-स्तम्भ भी था, जिसने अन्य शीर्षस्थ कवियों को छायावादी बनने के लिये खुला निमन्त्रण देना प्रारम्भ कर दिया था। कोई औचित्य नहीं है।

(७) माखनलाल जो नहीं थे, उसे सिद्ध करने से उनका गौरव नहीं है। वे जो थे और जो हैं वह काफी गौरवपूर्ण है। राष्ट्रीयता का निर्मलभाव उनकी विशेषता है।

(८) उनकी धर्मतत्व पर लिखी गई टिप्पणियां अधिक भाव प्रवण एवं विचारोत्तेजक हैं। उनमें भाषा का निखार भी दर्शनीय है।

धर्मतत्व–"एक समय वह था जब हमें नियमितता, स्वास्थ्य सुधार, गुणज्ञता, रहनसहन तथा आचरणशीलता आदि सब गुण संद्धर्म-सेवन थे; किन्तु आज वैसा नहीं है। अब हम स्वार्थी होकर न्यायी बनने का, आलसी होकर धारक बनने का, विश्वास हीन होकर सत्यवादी बनने का तथा नीचे, विकारवर्धक, पुराने तथा मलिन विचारों में अधिक रहकर पूज्य बनने का ढकोसला गढ़कर धर्म का असली तत्व भूल जाते हैं।"

धर्म-तत्व २ में वे लिखते हैं–"निशक्ति, साधारण बातों में दृढ़प्रतिज्ञ नहीं होंगे, तो कठिन धर्म के मार्ग में क्योंकर दृढ़प्रतिज्ञ हो सकते हैं? पूज्यता का सिक्का नहीं, वही मूर्खता का पर्दा है जो हम छोटे मस्तिष्क पर डाल कर अपने को बड़े प्रमाणित करने का नीच प्रयत्न करते हैं।"

धर्म तत्व ३ में माखनलाल जी लिखते हैं "मैं तो तुझे चाहता हूं। तुझ पर प्यार करता हूं। परन्तु मेरे प्यार में ध्यान रख! हलाहल भरा है। यदि तू भूलकर मेरी ओर आ गया, तो बचने का प्रयत्न करने पर भी, काला हुए बिना नहीं रहेगा।"

धर्म-तत्व ४–"वह खड़ा था, मैं उसकी ओर देख रहा था। वह चलने लगा मैं भी उसके साथ-साथ चला। वह जा रहा है, और उसकी चिन्ताशील मुद्रा से यह भी दीखता था कि वह किसी स्थान को जाने का निश्चय कर चुका है। मेरा तब भी कोई निश्चय नहीं था, न अब भी है।"

उपर्युक्त टिप्पणियों के आधार पर श्री बरुआजी फरमाते हैं—"प्रभा" में धर्म सम्बन्धी अनेक टिप्पणियों को श्री माखन लाल चतुर्वेदी ने अपनी २४ वर्ष की अवस्था में लिखा था। इन्हीं टिप्पणियों की आधारशिलाओं पर १९१३ ई० से उनका काव्य हिन्दी में सर्वप्रथम छायावादी स्वरूप ग्रहण ही नहीं करने लगा था, व्यापक स्तर पर वह हिन्दी में छायावाद का अग्रतम प्रकाशमान लक्ष्य-स्तंभ भी था, जिसने अन्य शीर्षस्थ कवियों को छायावादी बनने के लिए खुला निमंत्रण देना प्रारम्भ कर दिया था।"

संस्कृत में एक कहावत है कि यदि मुख बोलने के लिए प्राप्त है तो हरीतिकी को दस हाथ का कहा जा सकता है। उक्तिकार का व्यंग्य यहां बिना किसी हिचक के फिट बैठ जाता है। धर्म सम्बन्धी टिप्पणियों, सामाजिक चेतावनियों, राष्ट्रप्रेम की हुंकारों का महत्व है अवश्य, परन्तु उन्हें खींच कर छायावाद का जन्मदाता कहना भ्रामक एवं अक्ल के खोखलेपन की निशानी है। छायावाद को भला उन उपदेशों से क्या लेना देना है? चतुर्वेदी की अप्रकाशित कविताओं का कौन सा भाग   का   है इसकी ओर बरुआजी ने ध्यान नहीं दिया इस सम्बन्ध में

की कविता की (१९१३ सन १९२०) तक की कुछ पंक्तियाँ प्रकाशन तिथियों के साथ पीछे दी जा चुकी हैं, जिससे तथ्य स्वत. प्रकट हो सकेगा।

महाकवि निराला

निराला का व्यक्तित्व महान और कृतित्व गौरवशाली है। जन्म से मृत्यु तक इनका सब कुछ निराला ही रहा। इनका जन्म अवध के एक गाव, गढ़ाकोला में कान्यकुब्ज ब्राह्मण पण्डित रामसहाय त्रिपाठी की द्वितीय पत्नी की पवित्र कोख से वसन्तपंचमी के दिन सन् १८९६ ई० में हुआ था। इनके पिता महिषादल राज्य, बंगाल में सिपाहियों के जमादार थे; बचपन में ही इनकी माता का निधन हो गया। बालक का नाम रखा गया सूर्यकान्त त्रिपाठी।

मातृहीन बालक की निरीहता तथा पूर्ण स्वस्थ शिशुता से मुग्ध होकर राजा महिषादल के छोटे भाई इन्हें गोद लेना चाहते थे। पर दुर्भाग्य से और हिन्दी के अधिक सौभाग्य से वे स्वयं सूर्यकान्त त्रिपाठी के गोद लेने के योग्य होते स्वर्गवासी हो गए और गोद लेने का प्रश्न उन्हीं के साथ सदा के लिए टल गया।[1]

यही कारण है निरालाजी में बंगला और वैसवाड़ी व्यक्तित्व का एक साथ परिपाक मिलता है। बैसवाड़ा अक्खड़ता, साहस, दृढ़ता और पुरुषार्थ के लिए प्रसिद्ध है। छल कपट पर बैसवाड़ी व्यक्ति बौखला उठता है, परन्तु स्नेह मिलने पर अपने प्राण की बाजी भी लगा देता है। निराला में ये गुण मृत्यु पर्यन्त सुरक्षित रहे। 'शिवाजी का पत्र', 'एक बार बस और नाच तू श्यामा', 'बादल राग', 'राम की शक्ति पूजा' 'जागो फिर एकबार' आदि रचनायें बैसवाड़ी रक्त और रज के ही गुणात्मक परिवर्तन हैं। दूसरी ओर निरालाजी की प्रेम और सौन्दर्य से सम्बन्धित रचनाओं में बंगाल की भावुकता, रवीन्द्र का रहस्यवाद और विवेकानन्द का अद्वैतवाद झलकता है।[2]

वंश परम्परा के अनुसार सूर्यकान्तजी की शादी १९१० ई० में चांदपुर जिला फतेहपुर के एक धनी परिवार में हो गई। दो वर्ष बाद इनका गौना आया, सो भी प्लेग की टट्टी में। चार दिन के बाद उनकी पत्नी मनोहरा देवी अपने मायके चली गई। अभी निरालाजी की अवस्था लगभग १६ वर्ष की ही रही होगी कि वे भावुकता वश अपने को रोक न सके और ससुराल चले गए।

मनोहरादेवी के रूप-सौन्दर्य और हिन्दी प्रेम ने सूर्यकान्त त्रिपाठी को खड़ीबोली कविता की ओर आकृष्ट किया। वैसे बचपन से ही निराला में कविता के बीज छिपे थे। ब्याह से पूर्व ही वे बंगला और हिन्दी (अवधी तथा ब्रज-मिश्रित) भाषा में कवितायें लिखने लगे थे। उनका संकल्प तो देखिए—

> "करि अंग भंग भाषा को समस्त छन्द
> ब्रज अवधी में अब कबित्त हमें लिखना है।"[3]

---

१. कवि निराला और उनका काव्य-साहित्य, गिरीशचंद्र तिवारी, पृ० ९।

२ डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय 'निराला' जीवन और साहित्य

३ [illegible]द पाण्डेय, महाप्राण निराला पृष्ठ २८

किशोर निराला ने संस्कृत के श्लोकों की भी रचना की थी; जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से विदित होता है।

"जड़ो, मूर्खो बालः पशुभरण कार्येषु निरतः।
कृपा दृष्टया जाताः कविकुल शिरोभूषण मणिः'।"[1]

किन्तु मनोहरा देवी इन विभिन्न प्रयोगों से प्रसन्न न हुई। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में निराला के सामने खड़ीबोली की प्रशंसा की। पत्नी की की प्रेरणा, वैवाहिक जीवन की मधुर लालसा, तरुणाई के जोश और बंगला तथा संस्कृत साहित्य की शृंगार परक सरसता ने मिलकर कवि को एकाई दीप्ति दी। उसका हृदय कल्पना और भावना से ओत-प्रोत-था ही। कवि की लेखनी से 'जुही की कली' फूट पड़ी—

"विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी-
स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल कोमल-तनु-तरुणी
जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल, पत्रांक में।"[2]

अपनी २० वर्ष की अवस्था में निराला ने इतनी सशक्त, भावपूर्ण एवं नूतन शैली में एक अमर रचना देकर तत्कालीन सभी हिन्दी कवियों को मात दे दी। उस समय 'प्रसाद' और 'पन्त' दोनों कवि प्रेम और प्रकृति, प्रियतम और प्रियतमा के झिलमिल तारों में उलझहुए थे। उनकी दिशायें धूमिल थीं। निराला की जुही की कली में वर्णन की सफाई, शृंगार की सुकुमारता और प्रकृति का मानवीकरण निःसंदेह प्रथम बार उत्कृष्ट ढंग से सामने आया। किन्तु यहीं हमे यह भी स्मरण रखना होगा कि मानवीय प्रेम और शृंगार के आरोप के साथ ही साथ जुही की कली के कोमल कलेवर में विद्रोह का स्वर भी भरपूर था। द्विवेदी युगीन मर्यादित प्रेम पम्परा को यह एक चुनौती थी। सच पूछिए तो प्रकृति चित्रण के इस खुले माध्यम से उन्होंने 'जुही की कली' के रूप में युग के नए व्यक्तित्व की अद्भुत सृष्टि की।

भाग्य को इस वैज्ञानिक युग में स्वीकार करना पिछड़ेपन की निशानी माना जाता है, पर निराला के जीवन की समस्त घटनाओं को देखकर मनुष्य को भाग्यवादी होने के अतिरिक्त चारा ही नहीं रह जाता। यह श्रेष्ठ रचना सन् १९१६ में सरस्वती में प्रकाशनार्थ भेजी गई, पर वहां से अस्वीकृत होकर लौट आई। मनोहरादेवी भी सन् १९१८ ई० में कवि को अकेला छोड़ कर सर्वदा के लिए चली गई। 'स्नेह निर्झर बह गया और ठूँठ-सा तन रह गया'। कवि के जीवन की सरसता, यौवन की उमंग जो जुही की कली में थी, वह परवर्ती रचनाओं में नहीं रही। बाद मे करुणा, विद्रोह क्रान्ति, विरह, अतीत की स्मृति और पौरुष का प्रदर्शन मात्र है, किन्तु नायक की निपट निठुराई, कठोर आलिंगन, यौवन की मदिरा पिये, नम्र मुखी कभी नहीं हंसी, खिली। कवि उत्तोत्तर सूक्ष्मतर होता गया, क्योंकि प्रेम का लौकिक आधार ही छिन गया था। निराला

१ गंगाप्रसाद पाण्डेय महाप्राण निराला पृष्ठ २८।
२ निराला, जुही की कली, सन् १९१६ ई०

पन्तजी की तरह प्रकृति और नारी में से कभी इसको कभी उसको प्यार नहीं करते। उनकी दिशा बिल्कुल स्पष्ट है। जीवन को कवि महान मानता है। प्रकृति उसी जीवन के विकास की एक कड़ी है। निराला ने स्वयं अपने सम्बन्ध में कहा है—

"सोलह सत्रह साल की उम्र से भाग्य में जो विपर्यय शुरू हुआ, वह आज तक रहा, लेकिन मुझे इतना ही हर्ष है कि जीवन के उसी समय से मैं जीवन के पीछे दौड़ा, जीव के पीछे नहीं इसीलिए शायद बच जाऊंगा। जीव के पीछे पड़ने वाला बड़े-बड़े मकान, राष्ट्र, चमत्कार और जादू से प्रभावित होकर जीवन से हाथ धोता है, जीवन के पीछे चलने वाला जीवन के रहस्य से अनभिज्ञ नहीं होता।"[१]

निराला ने संघर्ष किया जीवन के सत्य को पाने के लिए। उन्होंने विष—गरल को पी लिया, शिव बन कर समाज का कल्याण करने के विचार से। परन्तु मनुष्य मानव है, वह देव या राक्षस बनकर मानवता से विरत हो जाता है। निराला सदैव मानव ही रहे, उन्हें देश की मिट्टी और समाज की चेतना से अटूट लगाव था। तभी स्त्री के मरणोपरान्त इस दृढ़वती का व्रत तो रह गया पर दृढ़ता खतम हो गई। वे स्वयं लिखते हैं—"स्त्री का प्यार उसी समय मालूम दिया, जब वह स्त्रीत्व छोड़ने को थी। ससुराल पहुंचने पर मालूम हुआ, स्त्री गुजर चुकी है। इस 'इन्फ्लूएंजा' ने दादा—जाद बड़े भाई के भी प्राण लिए। घर पर पहुंचते-पहुंचते भाई की लाश देखने को मिली। रास्ते में चक्कर आ गया, सिर पकड़ कर बैठ गया।...चारों ओर अंधेरा नजर आता था।"[२]

मां गई, बाप मरा, पत्नी, भाई आदि परिवार के सभी एक एक करके चोट पर चोट लगाते गये। निराला जी विचलित हो गये। नौकरी छोड़कर घर लौट आये। गरीबी, परेशानी, बेकारी और अपमान ने मिलकर कवि को सम्पूर्ण तोड़ना चाहा। पर वे टूटे नहीं, यही आश्चर्य है। उस समय के जीवन का करुण चित्र देखिए—'मैं बेकार था। 'सरस्वती' से कविता और लेख वापस आ जाते थे। एकाध चीज छपी थी। 'प्रभा' में मालूम हुआ, बड़े बड़े आदमियों के लेख कवितायें छपती हैं। एक दफा आफिस जाकर बातचीत की, उत्तर मिला—इसमें भारतीय आत्मा, राष्ट्रीय पथिक, मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियों की कवितायें छपती हैं...मुंह लटकाकर लौट आया।"[3] किन्तु यह स्थिति अधिक दिन नहीं चली, आन्तरिक शक्ति और आध्यात्म ज्ञान ने भौतिक विपन्नता पर विजय पाई। निराला पुनः उचेन होकर लिखने लगे। और 'कुछ ही दिनों में कविता क्षेत्र में जैसे चूहे लग जायं इस तरह कवि-किसानों और जनता-जमींदारों में मेरा नाम फैला। पुराने स्कूल वालों ने मोर्चाबन्दी की और लड़ाई छेड़ दी। पर हार पर हार खाते गये।'[4] निराला की प्रसिद्धि का कारण था नूतन मुक्त छन्द और नवीन सौन्दर्य-बोध। उनके छंद पढ़ने की कला पर आधारित थे। उनमें यति, लय, गति और ताल तथा स्वर का ऐसा अनुपम मेल था, जो तत्कालीन किसी हिन्दी कवि में नहीं मिलता। उस शैली को प्रसाद ने आगे चलकर 'प्रलय की छाया' और 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' आदि कविताओं में अपनाया। इस समय नई कविता के नाम पर अनेक कवि उन्हीं शैलियों को अपनाकर अपनी नवीनता का ढोल पीटते हैं, पर प्रतिभा

---

१ निराला परिमल की भूमिका पृष्ठ २१ • २ वही

३ महाकवि निराला व्यक्तित्व और कृतित्व पृष्ठ ३३ ४ वही

की कमी, दृष्टि के अभाव और प्रचारवादी स्वर के कारण ये टुटपुंजिए कवि उपहास के कारण बनकर रह जाते हैं। दूसरी बात थी निराला की बिम्ब विधायिका मनोहर भावशक्ति। वे अपने अद्भुत शब्द चित्रों के लिए सदैव स्मरण किए जायंगे। उदाहरण के लिए देखिए कुछ पंक्तियां उनकी सुप्रसिद्ध बादल राग कविता से—

> "बार बार गर्जन,
> वर्षण है मूसलधार,
> हृदय थाम लेता संसार,
> सुन सुन घोर वज्र हुंकार।
> अशनि-पात से शापित उन्नत शत शत वीर,
> क्षत-विक्षत-हत अचल शरीर,
> गगन स्पर्शी स्पर्धा-धीर।"[1]

आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की सिफारिश पर निरालाजी को विवेकानन्द मिशन के हिन्दी पत्र 'समन्वय' के सम्पादक मण्डल में काम करने का मौका मिला। वे कलकत्ते में रहकर 'समन्वय' की सेवा कर ही रहे थे कि सेठ महादेव प्रसाद ने 'मतवाला' नामक पत्र निकाला। 'निराला' जी को आदरपूर्वक 'मतवाला' में बुलाया गया। अब उन्हें अपनी मुक्त प्रतिभा के अनुसार गद्य-पद्य लिखने का मौका मिला। जिस प्रकार 'इन्दु' ने प्रसाद को ख्याति दी, बहुत कुछ उसी प्रकार 'मतवाला' ने निराला को। खूब प्रचार हुआ। विवेकानन्द के दर्शन के प्रभाव से अद्वैतवाद पर निराला के जो विचार थे, वे भी प्रौढ़ निबन्धों के रूप में जनता के सामने आए। परन्तु थोड़े दिन के बाद 'मतवाला' से अलग स्वतन्त्र लेखक, अनुवादक और कवि के रूप में निरालाजी अपनी प्रतिभा का प्रकाशन करने लगे।

सन् १९२८ ई० में वे कलकत्ते से लखनऊ आए और सन् १९२९ ई० में उनकी प्रारम्भिक रचनाओं का प्रथम काव्य सग्रह 'परिमल' प्रकाशित हुआ। 'लिली' कहानी सग्रह और 'अप्सरा' उपन्यास भी उसी समय प्रकाशित हुए। यह वह समय था जब प्रसाद का 'आंसू' और पन्त के 'पल्लव' का प्रकाशन हो चुका था। 'परिमल' ने निराला को प्रौढ़ कवि के रूप में प्रसाद और पंत की पंक्ति में समकक्ष ही नहीं, किन्हीं अर्थों में इन दोनों से अधिक शक्तिशाली रूप में जनता के सामने ला दिया। निराला की 'बादल राग', 'विधवा', 'भिक्षुक' 'जागो फिर एक बार' आदि रचनायें जो द्विवेदी युग की ही देन हैं, इनमें जीवन का यथार्थ, नवयुग का नव्य संदेश और राष्ट्रीयता के स्वर अधिक सावधानी के साथ मुखर हैं। प्रसाद के कानन-कुसुम और पंत की ग्रंथि जैसी रचनाओं की रोमानी भावना इनके सामने फीकी पड़ जाती है। वृहद्त्रयी के उन दोनों कवियो मे यह ओज और पौरुष कभी नहीं आया और इधर निराला में इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई जैसा कि 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' से प्रकट होता है। हां, जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटको में अवश्य ही अद्भुत शक्ति राष्ट्रीयता और स्वर्णिम अतीत को मूर्तमन्त कर दिया कहानियों के चरित्र निर्माण उपन्यासों के यथार्थ और स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त के गीतों में राष्ट्रीयता का

जो व्यवस्थित रूप आया वह सर्वथा सराहनीय है, किन्तु 'प्रेम पथिक' से लेकर 'कामायनी' तक में कहीं भी कविता में वह ओज सामने नहीं आया।

एक विचित्र बात यह है कि छायावाद के प्रायः सभी कवि निराशावादी स्वर में असफल प्रेम के चित्रों से लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ते हैं, पर निराला पौरुष प्रधान आशावादी थे। उनका कवित्व पुष्ट और सबल है। यहाँ तक कि 'सरोज स्मृति' शोकगीत में भी उन्होंने अपने को सम्भालने की कोशिश की है और यह कहकर कि 'क्या कहूं जो कभी नहीं कहा' अपने आत्मगौरव, व्यक्तिनिष्ठा और सहनशक्ति का ही परिचय देते हैं।

निराला के काव्य में प्रकृति प्रारम्भ से ही मानवरूप में चित्रित हुई है जैसा कि प्रथम रचना 'जुही की कली' से ज्ञात होता है। देखिए—

"सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।
इस पर जागी नहीं,
चूक-क्षमा मांगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे।"[1]

निराला के पास कवि की वाणी, कलाकार के हाथ, पहलवान की छाती, दार्शनिक के पैर और संवेदनशील हृदय था। हिन्दी काव्य साधना के इतिहास में निराला का व्यक्तित्व अप्रतिम है। उनके कवि ने रूढ़ियों के विरुद्ध काव्य और जीवन दोनों में संघर्ष किया। बुद्धि और हृदय का संतुलित समन्वय उनके काव्य की विशेषता है। 'परिमल' में प्रकाशित निराला की कतिपय रचनाओं के आधार पर कुछ समालोचक उन्हें अद्वैतवादी मानते हैं, परन्तु यह भी भ्रामक मत है—"तुम और मैं" कविता को ही वे अपने समर्थन में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु किसी कवि को किसी पंथ का अनुयायी मानने के लिए उसके सम्पूर्ण काव्य पर ध्यान देना होगा। हम किसी प्रकार विवाद खड़ा करके विषयान्तर में नहीं पड़ना चाहते। हां, एक बात इस सन्दर्भ में कह कर आगे बढ़ना चाहते हैं—वह यह है कि निराला के परवर्ती काव्य में बड़ी करुणा है। वैसे तो आलोच्य काल की 'विधवा' और 'भिक्षुक' कविताओं में भी करुणा का स्वर तीव्र है, पर 'सरोज स्मृति' के बाद तो वह और गहन हो जाता है। भला अद्वैतवादी कवि के लिए इतनी करुणा की क्या आवश्यकता है? अस्तु, निराला शुद्ध द्वैतवादी है। उनमें विवेकानन्द का प्रभाव और तत्कालीन बंगाली काव्य धारा का असर अवश्य है। उनकी विधवा रचना से एक चित्र लीजिए—

"वह इष्ट देव के मन्दिर के पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,

-

1 निराला, जुही की कली

वह क्रूर-काल ताण्डव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी-लता-सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है।"[1]

दलित भारत की विधवा के इस शक्तिशाली चित्र को समाज के सामने रख कर निराला ने जहाँ एक ओर उसके प्रति अपार करुणा का प्रदर्शन किया है वहीं उन्होंने अपनी अद्भुत विधायिका शक्ति का सिक्का भी जमाया है। इसी कविता की कुछ पंक्तियां और लीजिए—

"षड् ऋतुओं का शृंगार,
कुसुमित कानन में 'नीरव-पद-संचार,
अमर कल्पना मे स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है।

*   *   *

रोती है अस्फुट स्वर में—
दुख सुनता है आकाश धीर
निश्चल समीर,
सरिता की लहरें वे ठहर ठहर कर।"[2]

निराला काव्य के सर्वप्रथम प्रशंसक आचार्य बाजपेयी का निराला सम्बन्धी यह मत भी पठनीय है—

"निराला के काव्य में सन्तुलन है, व्याप्ति है, उनकी अन्तिम कविताओं में करुणात्मक आक्रोश है, पर जीवन से विच्छिन्नता नहीं। उनकी आरम्भिक रचनाओं में एक आशावाद, उल्लास, निर्माणात्मक प्रतिभा, आलंकारिता और सौष्ठव मिलते हैं। जब निराला के आत्मविश्वास पर चोटें पर चोटें लगीं तब उनके काव्य में एक कटुता का, जीवन मे व्यंगात्मक दृष्टि का प्रवेश हुआ।"[3] इससे पूर्व बाजपेयीजी ने एक बात और कही है कि सांसारिक जीवन में अभेद्य दीवारों से टकरा कर उनकी मानसिक चेतना आहत हुई। यह निरालाजी ही थे, जो सुख का जीवन व्यतीत करने उत्पन्न नहीं हुए थे। निराला का व्यक्तित्व आज के सामान्य कवियों से एकदम भिन्न था, उनका दुहरा व्यक्तित्व नहीं है। कहने करने के दो स्तर नहीं है।"[4] निराला की काव्य-रचना का अदम्य उत्साह, उनकी निर्बाध जीवन की अभिलाषाओं से सम्बन्धित है।

निराला के सम्बन्ध में संदेश देते हुए राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने उन्हें भारतीय परंपरा का एक महान कवि और मौलिक विचारक कहा है। सचमुच निराला भारतीय परंपरा के कवि थे और भारतीय आध्यात्म तत्व को उन्होंने अपनाया था। उनका जीवन रामकृष्ण के जीवनदर्शन से प्रेरित होकर विकसित हुआ था।

---

१. निराला, विधवा, १९१९, परिमल। २. वही।
३ आ० नंददुलारे बाजपेयी महाकवि निराला व्यक्तित्व और कृतित्व पृष्ठ ११४ ११५
४ वही पृष्ठ ११३

कवि निराला मुक्त छन्द तथा गीति काव्य के कवि थे। उन्होंने देश की स्थिति, उसके सामाजिक जीवन की बदलती हुई भूमिकाओं पर वास्तविक उन्नयनकारी साहित्य का सृजन किया और अपने काव्य का मेरुदण्ड मानववादी भूमिका पर स्थित कर लिया था।

निराला के कृतित्व को लेकर प्रायः दो तीन प्रश्न किये जाते हैं, उन पर संक्षेप में विचार कर लेना समीचीन होगा। पहला प्रश्न उठता है कि निराला को छायावादी, प्रगतिशील या प्रयोग बहुल कवि के रूप में गीतों और विविध छन्दों के सृष्टा के रूप स्वीकार किया जाय ? बहुत से लोगों ने उन्हें बिम्बवादों का प्रवर्तक भी कहा है। इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यही है कि निराला किसी एक वाद की सीमा में नहीं आते। उनका सम्पूर्ण काव्य उनकी स्वतन्त्र प्रकृति, युग दृष्टि और विद्रोही भावना का परिचायक है।

दूसरा प्रश्न है कि निराला मूलतः शृंगार के कवि हैं या वीर रस के अथवा शान्त या करुण के ? यह भी एक अटपटा प्रश्न है। शृंगार का कवि तो निराला को कहा ही नहीं जा सकता, हां, सौन्दर्य दृष्टि उनमें अवश्य है। वे सुन्दर प्रगीतों के, उदात्त वीर गीतों के और मार्मिक करुण भावों के सृष्टा हैं।[1]

तीसरा प्रश्न है कि आधुनिक युग की काव्यधारा में, काव्य विकास में, संसार की वर्तमान काव्य-प्रवृत्तियों के बीच, निराला का अपना वैशिष्ट्य क्या है ? इसका उत्तर भी हम इस प्रकार दे सकते हैं कि निराला का काव्य सर्वतोमुखी विकास की अपनी सीमा रखता है। यूरोप के खंडित व्यक्तित्व की कविता भी खंडित हो चुकी है। टी० एस० इलियट ने जो मोड़ लिए हैं, निराला के मोड उससे भी अधिक बड़े है। निराला जी सम्पूर्ण युग के संघर्षों मे होकर गुजरे हैं, उन्होंने समाज की महान विकृतियों को देखा है फिर भी उन्होंने मानव जीवन के प्रति आस्था कायम रखी। तभी उनका काव्य मानववादी भूमिका पर टिक सका, वह व्यक्तिनिष्ठ, पलायनवादी या प्रतीकवादी नही बना। वे पहले आशा के स्वर को लेकर चले, तो पीछे आक्रोश के, स्वर को और अंत में परमात्मा के आवाहन के स्वर को।[2]

निराला जी की प्रमुख काव्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते और अप्सरा। निराला एक समर्थ गद्य लेखक भी थे। उपन्यास, कहानी और निबन्धों का भी उन्होंने प्रचुर मात्रा में सृजन किया है। अनुवाद, भाव लेखन द्वारा भी उन्होने हिन्दी को समृद्ध बनाने मे योग दिया है।

शक्ति, पौरुष, ओज, शृंगार और करुणा ने मिलकर निराला के कवि को संवारा है। भारतीय आदर्श एवं पाश्चात्य-शैली-शिल्प दोनों का अद्भुत समन्वय निराला जी की कविता मे द्रष्टव्य है। जीवन के लिये उन्हें इंच इंच पर लड़ना पड़ा है। प्रकृति सदैव निराला के प्रतिकूल रही। "मैं न जनम लेता पृथ्वी पर तो रह जातीं विपद यें क्वाँरी" की उक्ति निराला पर सोलह आने खरी उतरती है। ईश्वर निराला से कितनी बड़ी कसौटी लेना चाहता था और क्यों—यह

१ आचार्य वाजपेयी महाकवि निराला व्यक्तित्व और कृतित्व कतिपय मूल प्रश्न २ वही।

एक सहज प्रश्न बार बार सामने आता है और विशेषकर उस समय तो महान आश्चर्य होता है जब समाज में सांपों को दूध बताशा खिलाते देखा जाता है।

आचार्य बाजपेयी को लिखे गये निराला जी के एक पत्र से उनके भीतर की आग और उनके प्रति हुए दुर्व्यवहारों का सहज ही पता लग जाता है[1]

निराला जी का पत्र बाजपेयी जी के नाम

"प्रिय बाजपेयी जी,

आज आपकी 'निराला' आलोचना पढ़ी। विचारों के लिए तो मैं कुछ कह ही नहीं सकता, कारण, वे आप के है, पर इतिहास के लिये अवश्य कहूंगा कि सुमित्रानन्दन जी को प्यार करने के आठ महीने पहले मैं हिन्दी जनता की आंख की किरकिरी हो चुका था। उनको अच्छी तरह लोगों ने तभी जाना जब 'मौन निमंत्रण' से शायद ११२४ ई० की 'सरस्वती' के फरवरी वाले अंक से लगातार उनकी रचनायें निकलने लगीं। मैं आठ महीने और पहले से 'मतवाला' के मुखपृष्ठ पर आ रहा था, जिसका आपने उद्धरण दिया है–'छूटता है यद्यपि अधिवास' और बाद की रचना कह कर भावना-सम्बलित बतलाया है, 'मतवाला' के निकलने से भी पहले 'माधुरी' के पहले साल निकल चुकी है और मेरे पास १९१६ ई० की लिखी हुई पड़ी थी। शिव पूजन जी ने माधुरी में भेज दी थी। 'समन्वय' में इससे पहले और रचनायें निकल चुकी हैं। पंतजी का 'उच्छ्वास' सिर्फ छपा था। पर वह हिन्दी जनता के पास, ६-७ पृष्ठों का (७५ न० पै०) ४५ पैसे कीमत पर पहुंच चुका था, मैं नहीं कह सकता। गुप्त जी का 'ब्लैक वर्स' वीरांगना काव्य भी पंतजी की सृष्टियों से पहले सरस्वती में निकला। आपका शायद मतलब है पंत जी ने भावना का प्रसार किया. और तभी से जब वे 'मुसक्यानों से उछल-उछल' लिखते थे।"[1]

आपका,
'निराला'

इससे यह सिद्ध होता है कि निराला जी का काव्य क्षेत्र में प्रवेश पंत जी से पहले हुआ। दार्शनिक काव्य के भीतर निखरे हुए 'निराला' जी के व्यक्तित्व को अप्रतिम मानना होगा। नवीन प्रगीतात्मक शैली में की गई उनकी अनेक रचनायें बेजोड़ है। उदाहरण के लिये 'जुही की कली', 'विधवा' और 'जागो फिर एक बार' आदि देखी जा सकती हैं। परवर्ती रचनायें जैसे गीतिका के कुछ गीत, 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' आलंकारिता प्रधान और उदात्त है। 'जागरण' दार्शनिकता प्रधान है।

सुमित्रानन्दन पन्त का प्रारम्भिक काव्य

'नवीन हिन्दी कविता मे सबसे श्रेष्ठ सृष्टि प्रतिभा लेकर पं० सुमित्रानन्दन पन्त का विकास हुआ है। हिन्दी के क्षेत्र मे पंत जी की कल्पना शक्ति, ओज, उनका नवोन्मेष अप्रतिम है। कल्पना ही पंत जी की विशेषता, उनके आकर्षण का रहस्य है।"[1]

---

१ आचार्य नन्ददुलारे बाजपेमी हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी
१ आ० बाजपेयी हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी

पन्तजी की कवि प्रतिभा सुरम्य प्रकृति के अंचल में प्रस्फुटित हुई। प्रकृति का सहज सौन्दर्य कवि के मानस को आन्दोलित करने लगा। झर झर कलरव करते हुए उद्धत अपनी भंगिमामय चाल से पछाड़ खा रहे थे। देखकर १५ वर्ष की आयु में ही सुकुमार कवि की मधुर वाणी फूट पड़ी। सन् १९१६ ई० में इनकी पहली कविता 'अल्मोड़ा अखबार' में छपी। प्रारम्भिक रचनाओं में 'सिगरेट के धुएं' और 'कागज के कुसुम' तक ही भाव सीमित रहे। इस समय उन्होंने एक 'हार' नामक उपन्यास भी लिखा था, जो महत्वपूर्ण तो नहीं था, पर बाल प्रतिभा का परिचायक अवश्य था। इनकी सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कविता 'स्वप्न' थी, जिसने इनको ख्याति दी। इनकी प्रारम्भिक रचनायें 'वीणा' में संग्रहीत हैं, जो प्रकृति से पूर्ण प्रभावित है।[1]

'श्री सुमित्रानन्दन पन्त' की रचनाओं का आरम्भ सं० १९७५ से समझना चाहिए। इनकी प्रारम्भिक रचनायें 'वीणा' में, जिसमें 'हृदतन्त्री के तार' भी हैं, संग्रहीत हैं। उन्हें देखने पर गीतांजलि का प्रभाव कुछ लक्षित अवश्य होता है, पर साथ ही आगे चलकर प्रवर्तित चित्रमयी भाषा के उपयुक्त रमणीय कल्पना का जगह-जगह बहुत ही प्रचुर आभास मिलता है।'[2]

पन्त जी ने स्वयं अपने सम्बन्ध में लिखा है, 'मेरी प्रारम्भिक रचनायें 'वीणा' नामक संग्रह प्रकाशित हुई हैं। इसमें प्रकृति ही अनेक रूप में रूप धारण करके चपल मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही। समस्त काव्य पट प्राकृतिक सुन्दरता के धूप छांह से बना हुआ है। चिड़ियां भौंरे, झिल्लियां, झरने, लहरें आदि जैसे मेरे बाल कल्पना के छाया-वन में मिलकर वाद्य तरंग बजाते रहे। 'फूल पत्ते और चिड़ियां, बादल, ऊषा-सन्ध्या कलरव' मर्मर सब इसमें है।

पन्त जी ने आगे चलकर यह भी स्वीकार किया है कि संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला के गणमान्य कवियों जैसे कालिदास, शेली, कीट्स और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं का इनके काव्य पर प्रभाव पड़ा है। ग्रंथि और पल्लव की अधिकांश कवितायें सन् १९१७ से १९२० ई० बीच हुई।[3] सन् १९२१ ई० में 'उच्छ्वास' की रचना हुई। इसमे छायावाद की विशेषतायें प्रचुर मात्रा में है। इसी कारण हिन्दी के अनेक आलोचकों ने इसी को छायावाद की प्रथम प्रौढ़ रचना माना है।

वीणा :—यहां कवि ने प्रकृति को विस्मयभरी आंखों से देखा है। वह नैसर्गिक छटा पर मुग्ध है। वह उसकी पावनता से अभिभूत है। कवि प्रकृति की छवि अपनी तूलिका से मूर्तमन्त बनाना चाहता है। उसे प्रकृति इतनी भा गई है कि वह बालाओं की आनन छवि और उनके काले कुन्तलों में कोई आकर्षण नही पाता। कुमारियों के बालजाल से द्रुमों की छाया उसे अधिक प्रिय है। उनके भ्रूभंगों से इन्द्रधनुष के रंगों मे अधिक तीव्र कटाक्ष दिखाई देता है। नारी के कोमल स्वर से कोयल के बोल ज्यादा मीठे लगते हैं। उनके अधरामृत से किसलय दल पर सुधा रश्मि से उतरा हुआ जल, अधिक मीठा मालूम होता है। यह कवि की वह किशोरावस्था है, जब कवि सोचता है कि प्रकृति ही सब कुछ है। जीवन का जो भी अभीष्ट है, वह सब उसे वहीं एक ही जगह मिल जायगा।

---

१ डा० . जैन हिन्दी के अर्वाचीन रत्न २ आ० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी सा० का इतिहास ३ डा० बच्चन, पल्लविनी, भूमिका

'वीणा' की कविताओं पर कालिदास के मेघदूत और रवीन्द्र की गीतांजलि का प्रभाव परिलक्षित होता है। पन्त को समूची प्रकृति एक जादूगरनी सी दिखाई पड़ती है। उसकी पिटारी की एक एक वस्तु विस्मयकारक है, जो जादू के साथ सम्मोहन भी करती है। वह कल्पना लोक में अपार्थिव रंगीन मनश्चित्रों के साथ विहार करती है और साथ ही कुतूहल, हास्य-विलास, भयविस्मय और सुखोल्लास भी भरती है। उस समय पन्तजी के हृदय को लुभानेवाला प्रकृति का रूप देखिए —[1]

> "उस फैली हरियाली में
> कौन अकेली खेल रही मां !
> सजा हृदय की थाली मे
> क्रीड़ा कौतूहल कोमलता
> मोद मधुरिमा हास-विलास
> लीला विस्मय अस्फुटतामय
> स्नेह पुलक सुख सरल हुलास !"[2]

पन्तजी की रहस्य भावना प्रायः स्वाभाविक ही रही, बाद का साम्प्रदायिक स्वरूप उसने शायद ही कहीं ग्रहण किया हो। उनकी जो एक बड़ी विशेषता है—प्रकृति के सुन्दर रूपों की आल्हादमयी अनुभूति, वह 'वीणा' में भी कई जगह पाई जाती है। सौन्दर्य का आह्लाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रवृत्त करता है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौन्दर्यानुभूति के प्रसार के लिए अनेक मार्ग खुल जाते हैं।3

इस पुस्तक में छाया, अन्धकार, सरिता, निर्झर एवं उषा आदि पर छोटी-छोटी कवितायें हैं। प्रकृति को पन्त के पूर्ववर्ती हिन्दी कवि, प्रायः उद्दीपन के रूप में ही देखते रहे, किन्तु पन्त ने प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है। प्रकृति में तन्मयता ने ही पन्तजी के हृदय में रहस्यात्मक भाव को जाग्रत किया था। इन प्रकृति विषयक कविताओं में हम दार्शनिक पुट भी देखते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि की दार्शनिकता दर्शनीय है—

> 'मां वह दिन कब आयेगा जब
> मैं तेरी छवि देखूंगा,
> जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
> जग के निर्मल दर्पन में।'

इस कविता में बिम्बवाद की सुन्दर झलक है। वीणा में वर्णित प्रकृति ने पन्तजी के हृदय में उदासता भर दी, जिसने उनको अन्तर्दृष्टि दी। उन्होंने प्रकृति के पारदर्शक पटल में उसकी अन्तरात्मा को देखा है और उसी के प्रभाव से परवर्ती रचनाओं मे अन्तःरहस्यों का उद्घाटन हुआ है।

---

१ डा० विमलकुमार जैन हिन्दी के अर्वाचीन रत्न पृष्ठ २६०। २ वही।

३ आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास

'ग्रन्थि' :—ग्रन्थि एक गीतात्मक खण्ड काव्य है, जिसमें दो प्रेमियों की प्रणय-कथा का निरूपण किया गया है। इसमें पन्त ने अपनी रागात्मिका प्रवृत्ति को जगाया है। उनके प्रथम दो अध्यायों का कथानक उसके अंतिम दो अध्यायों के हृदयोद्गारों को अवसर भर प्रदान करता है। मुख्य वस्तु हैं वे उद्गार जिनमें कवि ने अपने हृदय की कसक निकाली है।

स्मरण रहे कि ग्रंथि में मात्र कल्पना नहीं है। कवि धरती का प्राणी है, हाड़-मांस से उसका कलेवर रचा गया है। उसमें मानवी विकारों का प्रस्फुटन स्वाभाविक है। फिर सोलह वर्ष की अवस्था भी ऐसी होती है कि उसमें यौवन की लालसा झांकने लगती है, मधुर-कोमल ऊर्मियां कुलबुलाने लगती हैं। जीवन अपना रंग पकड़ने लगता है, और सांसें गर्म होने लगती हैं। तब पन्त के तरुण कवि को भी जीवन के सत्य को स्पर्श करने का अवसर मिला हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? रही बात कवि की कल्पना की—सो बिना कल्पना के सहारे कोई अनुभूति, विचार या भाव कविता नहीं बन सकता। उसमें रम्यता, जीवन और पुलक का भाव ही नहीं भर सकता क्योंकि स्थूल का प्यार तो स्थूल ही होगा, परन्तु उसी की अभिव्यक्ति जब कल्पना का दामन थाम लेती है, तब वह काव्य बनकर मनन, अध्ययन और अनुशीलन की वस्तु बन जाता है।

ग्रंथि की संक्षिप्त कथा यह है कि एक बासन्ती दिवस के प्रकाश में, एक नौसिखिया युवक अपनी नाव लेकर सरोवर में नौका विहार करने गया। वह तरंगाघातों से उलट गया। तरणी डूब गई और वह भी लहरों में बेसुध हो गया। अनजान तरुणी ने उसे डूबते देख दयावश उसे बचाया। युवक को होश में लाने के लिए युवती ने उसे अपनी जांघपर लिटाया और उसका मुख पोंछा। थोड़ी देर में युवक की मूर्छा जागी। उसने आंखें खोल दीं, युवती ने मुस्कुरा कर उसका स्वागत किया। पुरुष ने कृतज्ञता भरे भावों से युवती को निहारा, पर वह सलज्ज वहां से उठकर चली गई। युवक उस युवती की ओर प्रेम भाव से आकृष्ट हुआ पर युवती का ब्याह किसी अन्य व्यक्ति से हो गया। युवक का हृदय इस घटना से टुकड़े टुकड़े हो गया।

प्रसाद के 'प्रेम पथिक' की कहानी के अनुरूप ही यह भी है। यह विप्रलम्भ शृंगार की कथा है और प्रथम पुरुष में लिखी गई है। इसमें कुछ आलोचक तथा विज्ञ पाठक पन्त की 'गुह्य प्रणय लीला' की छाया देखते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह कथा कवि की निजी कथा ही हो। पन्त जी ने इसे कल्पना प्रसूत कहा है। हां, उच्छ्वास और आंसू को वे स्वयं ही अपनी आत्मकथा का आभास स्वीकार करते हैं।

पन्तजी जन्मजात कवि हैं। कवि को छोड़कर वे और कुछ हो भी नहीं सकते। और जो उनकी कविता है, वही उनका जीवन है और जो उनका जीवन है वही उनकी कविता है।[१] हम उन्हें ऐसा संवेदन, मनन और चिन्तनशील कवि समझें जो अपने और प्रकृति के, मानवजीवन और समाज के अपने देश अपने युग और अपनी संस्कृति के तथा इन सबमें परिव्याप्त और इन सबके ऊपर जो सत्ता है उसके प्रति चिर जागरूक है [१] वैसे ही पन्त जी की कविता उनके जीवन का

सहज उद्‌गार है वैसे ही उनकी भाषा उनके भावों का स्वाभाविक परिधान है। न तो उन्होंने कविता लिखने के लिए कविता लिखी है, न तो भाषा लिखने के लिए भाषा।

पंत की भाषा प्रारम्भ से ही संस्कृत बहुल एवं हिन्दी की प्रकृति के बिल्कुल अनुकूल है। प्रवाह और ध्वन्यात्मकता, अभिव्यंजना और प्रसाद सर्वत्र दर्शनीय है। पंत की भाषा का प्रवाह निर्झरिणी के कल-कल की धुन में बहा जा रहा है। उसमें कोई भटकाव नहीं, उलझाव व तनाव नहीं। भावों को वहन करने में पन्त की भाषा की सुकुमारता सहायक ही हुई है।

सुमित्रानन्दन पंत के कवि का विकास भी दर्शनीय है। उनकी प्रथम रचना 'वीणा' मे सन् १९१८-१९ ई० की रचनायें संग्रहीत हैं। 'ग्रंथि' सन् १९२० ई० की रचना है। 'पल्लव' एक प्रकार का संकलन है जिसमें सन् १९१८ से लेकर १९२५ ई० तक की प्रत्येक वर्ष की दो-दो, तीन तीन कवितायें रख दी गई हैं। इसी प्रकार 'गुंजन' में १९१९ से लेकर १९३२ ई० की तक की रचनाएं हैं। ज्योत्स्ना वैसे नाटक है पर गीतों के कारण उसे काव्य ही माना जायगा। इसके बाद 'युगान्त' (१९३५-३६ ई०) 'युगवाणी' (२९३६-३९) 'ग्राम्या' (१९३९-४० ई०) 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूल' १९४६-४७ की कृतियां हैं। 'कला और बूढ़ा चांद' स्वाधीनता के बाद की प्रौढ श्रृंगारिक रचना है। 'हरी बांसुरी और पुरानी टेर' उनकी नई पुरानी कविताओं का संकलन है। जिसमें अनेक विषयों पर उन्होंने लिखा है। अभी हाल में पंत जी का 'लोकायतन' सन् १९६४ ई० मे प्रकाशित हुआ है। यह एक महान कृति है। पंत जी युग के साथ सदैव बदलते चले हैं। उनके काव्य के विकास के साथ ही साथ उनके जीवन का भी विकास हुआ है। वे संवेदन, मनन और चिन्तन-शील कवि हैं। कल्पना उनके काव्य की मूल धारा है। वे स्वयं कहते हैं—"मैं कल्पना के सत्य को जो केवल कवि सुलभ सवेदनशीलता से प्राप्त किया जा सकता है) सबसे बड़ा सत्य मानता हू। उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश मानता हूं।...'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक अपनी सभी रचनाओ मे मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है।"[1]

पल्लव—पल्लव में भी कवि प्रधानतया प्रकृति का ही कवि रहा है, किन्तु उसकी दृष्टि मे 'वीणा' और ग्रंथि' से अंतर स्पष्ट है। अब उसकी आंखों से खुमारी का कीचड़ प्रेम जल ने धो दिया है। प्रकृति के सौन्दर्य पर कवि की भावनाओं की छाया सी पड़ गई है। कहीं कवि प्रकृति मे मूर्तिमंत हो गया है, तो कहीं प्रकृति ही कवि में समा सी गई जान पड़ती है। इसका विकास 'उच्छ्वास' और 'आंसू' में देखने को मिलता है—

> "इसी तरह मेरे चितेरे हृदय की
> वाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत-चित्र थी।"
> मेरा पावस ऋतु-सा जीवन
> मानस-सा उमड़ा अपार मन।"[2]

'वीणा' में कवि ने नारी को प्रकृति के सामने तुच्छ या उसकी अवहेलना की थी वही अब क धुनि में मे गा उठता है

तुम्हारे रोम रोम से नारि।
मुझे है स्नेह अपार।

इस वर्णन से पता चलता है कि कवि पन्त प्रकृति और मानव सौन्दर्य के बीच अनिश्चित स्थिति में झूलते रहे। कभी उन्हें प्रकृति अधिक रुची, तो कभी नारी का आकर्षण। पर जीवन के प्रारम्भ में यथेष्ट अवसर पर जो निश्चित नहीं हुआ वह आगे चलकर निश्चित और व्यवस्थित ही होगा, इसकी गारण्टी कौन दे! हां तो सच यह है कि पंत का कवि सुरुचिपूर्ण कोमल साध्वी नारी का साहचर्य न पा सका। मानव की महती परम्परा में वह सुख-दुख, हास-विलास, प्रेम-वियोग, सृजन और संहार की सहज अनुभूति से वंचित रह गया। उसके भीतर बचपन में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा के जो भाव जगे, वे आज भी वयस्क होने पर मूल प्रकृति (नारी) का अनुसन्धान न करने के कारण कोरे कल्पना के जाल बने रह गये। 'प्रसाद' के तत्कालीन काव्य से पन्त की कविता की तुलना करके हम इस कथन की सार्थकता स्पष्ट देख सकते हैं।

पन्त जी का कल्पित अपार प्रेम जो नारी के लिए था, जिससे कवि का रोम रोम पुलकित था, वह क्षण भर में उतर गया। उसने पुनः सोचा कि नारी का वाह्य रूप वसन्त के पीछे छिपे हुये कंकाल की तरह है—

"अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल,
कचों के चिकने काले व्याल
केंचुली, कांस, सिवार।"[1]

इस सम्बन्ध में सुकवि बच्चन का मत भी पठनीय है—"हृदय की रागात्मिका प्रवृत्ति को दबाना सरल नहीं है। अनेक ओर से संयमित और नियमित करने पर भी वह 'गुंजन' के कई गीतों में फूट पड़ी है। उदाहरण के लिये देखिये—'भावी पत्नी के प्रति', 'डोलने लगी मधुर मधुवात' या 'रूप तारा तुम पूर्ण अकाम' में। सम्भवतः यही प्रकृति थी जिसने पंत जी से 'बांध दिए क्यों प्राण', 'शरद चांदनी', 'बजे पायल छम-छम' आदि गीत लिखाये। जिनकी चर्चा मैंने 'हलाहल' के कृति परिचय में की थी। मेरा विश्वास है कि पन्त जी में यह प्रवृत्ति आज भी सजीव है। और सम्भव है उनके किन्हीं सुकुमार क्षणों में (उनके लिए मैं दुर्बल' लिखता) ऐसे ही और गीतों की बौछार कर दें।

बच्चन जी की यह भविष्यवाणी ठीक निकली। पंत जी के परवर्ती ग्रंथों में इस प्रकार की अनेक रचनाएं देखी जा सकती है। कहीं कहीं तो लोग घोर शृंगार और अश्लील तक की बात करते हैं। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि पन्त जी इस युग के सौम्य सन्त हैं। सौन्दर्य और पवित्रता तो उन्हें सौभाग्य स्वरूप मिली है। जीवन के भोग विलास को त्यागकर वे विरागी की भांति मां भारती की आरती उतारते हैं। वे कवि, विवेचक, रसिक और विचारक हैं। पन्त जी का हृदय रागी और मस्तिष्क विरागी है। उन्होंने स्वयं अपने बारे में कहा है—'मैं इस रूप रंग के संसार को, इस नव-नव भावों से उच्छ्वसित जीवन को छोड़कर जा कहां सकता हूं?" विवाह को गृहस्थी को उन्होंने बन्धन समझा है। कविता ही उनके लिए जीवन और दर्शन दोनों हैं। अंग्रेजी कवि शेली ने एकबार कहा था—"मेरी पत्नी वह स्त्री हो सकती है, जो कविता में डूब सके।" शायद पन्त जी भी ऐसा ही सोचते हों।

---

१ डा० बच्चन पल्लविनी भूमिका २ वही।

जो भी हो, पन्त जी एक गतिशील कवि हैं। युग के अनुसार उनके विचार बदलते गये हैं। उनके कवि के चार मोड़ हैं। पहला 'वीणा' और 'ग्रन्थि' का कवि जिसका आलोच्यकाल से सीधा सम्बन्ध है। यही दो पुस्तकें पंत जी की प्रयोगात्मक आरम्भिक रचनायें हैं । इनमें पन्त का सुकुमार अल्हड़ कवि डगमग, डगमग चलता है और प्रकृति को मा संबोधन से पुकारता है, कुतूहल भरी दृष्ट से उसे निहारता है। रहस्यवाद की प्रारम्भिक भूमिकायें यहीं से कवि स्वीकार करता है। आगे चल कर उसकी लाक्षणिकता, वैचित्र्य अभिव्यंजना निरन्तर निगूढ होती जाती हैं और कवि अत्यन्त प्रांजल भाषा के माध्यम से, प्रतीकों के सहारे छायावादी काव्यों की अनुपम सृष्टि करता है। पन्त हिन्दी के महान शिल्पी है। वह नए नए शब्द और नूतन शैली के जन्मदाता हैं।

९

द्विवेदी-युग के कवियों का परवर्ती विकास

द्विवेदी-युग के प्रायः सभी कवि सन् १९२० के बाद भी अपने काव्य- वैभव का विस्तार करने में लगे रहे । उनमें से अधिकांश तो उसी पुरानी परिपाटी पर चलते हुए अपनी पूर्ववर्ती कृतियों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़, भावपूर्ण, परिष्कृत तथा प्रौढ़ काव्य रचना करने में समर्थ हुए, जिनमें मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, सियाराम शरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गोपाल शरण सिंह और रामनरेश त्रिपाठी के नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

इस युग के अन्तिम चरण में जो कवि छायावादी-रहस्यवादी दृष्टिकोण लेकर हिन्दी में आये थे, वे अलग ही अलग अपनी नवीन काव्य धारा का विकास करते रहे । उनकी कविता का सम्पूर्ण परिवेश द्विवेदी युगीन भावधारा से सर्वथा भिन्न था । वे कलाकार नूतन कलादृष्टि मे विश्वास करते थे, उनकी भाषा अधिक परिमार्जित, व्यंजक एवं प्रवाहमय थी । उनके काव्य के विषय, अभिव्यंजना-प्रणाली और जीवन के स्वर नई भूमिका पर चल रहे थे । इस प्रकार के कवियों में प्रसाद, निराला, पन्त और माखनलाल चतुर्वेदी के नाम विशेष ध्यान देने योग्य है । ये सभी कवि छायावाद युग मे अपनी यशस्वी लेखनी से हिन्दी के गौरवपूर्ण साहित्य का निर्माण करते रहे । उन्होंने खड़ी बोली को मधुर, कोमल, परिमार्जित, सुष्ठु एवं भाव प्रवण बनाया । इनकी यशस्वी काव्य परम्परा ने हिन्दी कविता में, प्रसाद और निराला की काव्य-कृतियो के रूप मे, एक नया कीतिमान स्थापित किया । अस्तु, इन कवियों और इनके काव्य का विवेचन इस अध्याय की सीमा के बाहर का विषय है ।

वस्तुतः द्विवेदी युग के कवियों के परवर्ती विकास के अंतर्गत हम केवल उन्हीं कवियों की कृतियों का अनुशीलन करना चाहते हैं जो मूलतः द्विवेदीजी के प्रभाव क्षेत्र में रहे, जिनकी कविता पर युग की स्पष्ट छाप थी और कालान्तर में भी जो उसी प्रकार, प्रबन्ध, कथा काव्य तथा गीति काव्य की रचना-प्रणाली पर दृढ़ रहे । यहां हम उनकी परवर्ती कृतियों को पूर्ववर्ती रचनाओं के सन्दर्भ में देखेंगे कि उनमें क्या क्या सुधार हुए और इन्हें द्विवेदी युग की विकसित रचना कहने का

औचित्य क्या है। समय, परिस्थिति और नव्य युग के प्रभाव का कौन-सा असर इन कवियों पर पड़ा और इनके किन संस्कारों की ढाल ने इन्हें द्विवेदीयुगीन कवच के भीतर घेर रखा जिससे ये अपनी पुरानी परिपाटी से हट न सके।

महाकवि हरिऔध

वैदेही बनवास—महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास सन् १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ। कृष्णकाव्य परंपरा में खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य होने के कारण इसकी खूब चर्चा हुई। प्रियप्रवास की संस्कृत गर्भित भाषा की सर्वत्र आलोचना हुई। उससे प्रभावित होकर हरिऔध ने अपने परवर्ती स्फुट काव्यों की भाषा बोल-चाल की सरल हिन्दी कर दी। परन्तु हरिऔध जी के कवि का गौरव तो प्रियप्रवास पर टिका हुआ था। उस पर लगे भाषा सम्बन्धी लांछन से मुक्त होने के लिए किसी वैसे ही समर्थ महाकाव्य की आवश्यकता थी।

हिन्दुओं के यहां राम और कृष्ण दो ऐसे आदर्श हैं, जिन्हें ईश्वर, अवतार, महापुरुष और देवता सभी कुछ अपनी अपनी सुविधानुसार कवियों ने माना है। इन्हें अपने काव्य का नायक बनाने से कवि को स्वतः ख्याति मिल जाती है। हरिऔध जी इस तथ्य से भली भांति परिचित थे। कृष्ण चरित्र का सम्बल ही शेष रहा। विरहिणी राधा के वर्णन में उन्हें आशातीत सफलता मिल चुकी थी, इसलिए विरहिणी सीता को चित्रित करने का उन्होने निश्चय किया। एक बात और, 'साकेत' की रचना करने के कारण समकालीन कवि मैथिलीशरण गुप्त को पर्याप्त यश-कीर्ति मिल चुकी थी, इसलिए भी कवि को प्रेरणा मिली हो तो आश्चर्य नहीं। तुलसी, सूर और जायसी की आलोचनाओं द्वारा युग के श्रेष्ठ, समीक्षक रामचन्द्र शुक्ल ने राम के शक्तिशाली व्यक्तित्व को आधार मानकर तुलसी के काव्य को सर्वश्रेष्ठ माना था। इन सभी प्रभावों की समन्विति से 'वैदेही बनवास' का जन्म हुआ।

"'वैदेही बनवास' का कवि बूढ़ा हो चुका था, उसके पास जहां अनुभूति का सम्बल था, वहीं कल्पना का अभाव था। उसने अपने काव्य का कथानक तो बहुत ही रोचक एवं मार्मिक चुना, पर जीवन की मिठास, सरसता और औत्सुक्य के भाव न भर सका। जो 'उत्तर राम चरितम्' अथवा रघुवंश में समाहित है।

कविता जीवन का रस है। वह भावनाओं का उद्रेक, अनुभूतियों का मशाल, कल्पना का मूर्त-रूप और सृष्टि का सौन्दर्य है। उसमें दुख-सुख, घृणा-प्रेम, आशा-निराशा, त्याग ग्रहण, औत्सुक्य-तल्लीनता, हास्य और रुदन आदि सभी भाव घनीभूत होकर एक काव्य पुरुष को जन्म देते है।

'वैदेही बनवास' एक प्रबन्ध काव्य है। यह सर्गबद्ध रचना है। इसमें कुल १८ सर्ग हैं। इसके नायक लोकप्रसिद्ध, क्षत्रिय-कुल भूषण राजा रामचन्द्र है। इसका कथानक अत्यन्त जन-प्रिय और मार्मिक है। इसमें करुण रस की प्रधानता है, पर गौण रूप में श्रृंगार, वात्सल्य, शान्त आदि अन्य रस भी आये हैं। लोक-मर्यादा कायम रखना अथवा लोकधर्म की सिद्धि इस काव्य का मुख्य प्रयोजन है। प्रत्येक सर्ग में प्रायः एक छंद का प्रयोग हुआ है। और उसके अन्त में दोहा छन्द का प्रयोग करके, कवि ने सर्ग के अन्त मे छंद परिवर्तन के नियमों का पालन भी किया है। पांचवें छठवें और सातवें जैसे कतिपय सर्गों में विविध छन्दों का प्रयोग भी दिखायी देता है प्रातःकाल,

सूर्योदय, सन्ध्या, चन्द्रमा, आश्रमवन पर्वत, संयोग-वियोग, मुनि पुत्रोत्पत्ति और वर्षा, शरद, बसंत आदि के वर्णन इस काव्य म पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त दाम्पत्य प्रेम की महत्ता, राजा प्रजा का सम्बन्ध नारी चरित्र की पवित्रता आदि विषयों की व्याख्या भी इस रचना में पायी जाती है। सीता के बनवास के आधार पर इसका नामकरण हुआ है। सर्गों के नाम भी वर्णित घटनाओं के आधार पर रखे गये हैं। इस प्रकार महाकाव्य के प्रमुख लक्षणों का निर्वाह वैदेही बनवास में हो जाता है।'

'वैदेही बनवास' में अपेक्षाकृत सरल, भावानुसारिणी भाषा का प्रयोग किया गया है। इसकी शैली में कृत्रिमता और दुरूहता का अभाव है। इसमें हिन्दी के मात्रिक छन्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

वैदेही बनवास की कथा मूलतः वाल्मीकि-रामायण, कालिदास के रघुवंश और भवभूति के उत्तर रामचरित से ली गयी है। इसमें कवि ने स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कल्पना का भी प्रयोग किया है। इसमें लंका से अयोध्या आने पर लोकापवाद डर से राम द्वारा गर्भवती सीता के निर्वासन की करुण कथा वर्णित है। इस काव्य में विषय की व्यापकता का अभाव है। यहां राम को एक आदर्श राजा तथा सीता को एक आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित किया है। वैदेही बनवास में, प्राचीन आर्य संस्कृति के आदर्शों की, आधुनिक युग की मांग के अनुरूप व्याख्या की गयी है। इस महाकाव्य में आदर्श और यथार्थ, प्राचीनता और नवीनता तथा कल्पना और बुद्धितत्व का सुन्दर समन्वय है।

कथा का प्रारम्भ बड़ा ही सुखद, सरस एवं मनोहारी है। सरयू तट पर एक सुन्दर उद्यान में राम-सीता मनोविनोद करते हैं। उसी समय अचानक सीता के मन में लंकादहन की स्मृति आ जाती है। उससे सीता के हृदय पर अवसाद की एक रेखा खिंच जाती है। राम सीता को सान्त्वना देते हैं और राजमहल में दोनों लौट आते हैं। प्रथम सर्ग की कथा यही है। द्वितीय सर्ग में राम राजभवन की चित्रशाला में विविध चित्रों का निरीक्षण कर रहे हैं कि उसी बीच एक गुप्तचर संदेश लाता है कि एक धोबी ने अपनी धोबिन को घर से निकाल दिया और उसने सीता जी के चरित पर रावण की लंकापुरी में रहने के कारण लांछन लगाया है। सीता-सम्बन्धी लोकापवाद सुनकर राम का दुखी होना स्वाभाविक ही है।

तृतीय सर्ग में राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनों भाइयों से मंत्रणा करते हैं। मंत्रणा-गृह में सीता-सम्बन्धी लोकापवाद की समस्या पर भरत और लक्ष्मण का रुख अनर्गल आरोप के विरुद्ध हो जाता है। वे नहीं चाहते कि इस प्रकार किसी झूठे गन्दे अभियोग के कारण सीता अकारण दण्डित हों। परन्तु राम जो राजा थे, नीति का विचार कर अपने प्रेय को छोड़कर श्रेय का वरण करते हैं। चतुर्थ सर्ग में गुरु वशिष्ठ की सम्मति से महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में पहुचाने का निश्चय किया जाता है। पंचम सर्ग में सीता को लोकापवाद की सारी बातें बता दी जाती हैं सीता व्यथित हृदय से राम के लोकाराधन व्रत का अनुमोदन करती हैं इसी प्रकार कथा आगे बढ़ती है और अंत में १८ वें सर्ग में अवध में होने वाले अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है

उसी अवसर पर सीता वाल्मीकि ऋषि के साथ पुनः अयोध्या में चरण रखती हैं। राम उनके स्वागत के लिए आगे बढ़ते हैं, परन्तु वैदेही राम के चरण छूकर तत्काल दिव्य ज्योति में मिल जाती हैं।

वैदेही बनवास में अनेक नई उद्भावनाएं है। रामायण, रघुवंश और उत्तर रामचरित मे सीता के निर्वासन का सारा उत्तरदायित्व राम पर था, पर यहां इस नवीन कृति में राम ने पूरा-पूरा प्रजातन्त्रीय प्रणाली का पालन किया है। वैदेही बनवास में एक महत्वपूर्ण कल्पना यह भी की गयी है कि सीता के विरुद्ध लोकमत जागृत करने में 'लवणासुर' और उसके सहायक गन्धर्वों का भी हाथ था, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट है।

"कुछ दिनों से लवणासुर की, असुरता है बढ़ती जाती।
कूटनीतिक उसकी चालें, गहन हों, पर हैं उत्पाती ॥
लोक अपवाद प्रवर्तन में अधिकतर है वह रत रहता।
श्रीमती जनक-नंदिनी को, काल दनु-कुल का है कहता ॥"[1]

इस प्रबन्ध काव्य में न तो राम सीता को धोखा देते हैं, न ही सीता सब कुछ चुपचाप सहती है। राम सब कुछ सीता को बतला देते हैं और सीता को अपने निर्णय का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार सीता की गौरव-वृद्धि हुई है। पूर्ववर्ती काव्यों में सीता का बन-गमन अत्यन्त करुणा-जनक है। पर वैदेही बनवास का बनगमन आनन्द, उत्साह, गौरव और सद्भावना लिये हुये है। यह तो कांग्रेसी नेताओं की जेल-यात्रा का-सा दृश्य उपस्थित करता है। सीता को जाते समय गुरुजन उसे आशीष देते हैं। सीता एक आधुनिक नेत्री की तरह जाती है और वन में वाल्मीकि ऋषि उनका स्वागत करते हैं तथा रहने की व्यवस्था करते है। वैदेही बनवास में 'शत्रुघ्न' और सीता का विस्तृत वार्तालाप भी हरिऔधजी की मानसिक उपज है।

यहां हम यह कहना चाहेंगे कि रामायण, रघुवंश और उत्तर रामचरित की कथा नाटकीय, काल्पनिक, कुतूहलवर्धक तथा अधिक काव्यानुकूल है, पर हरिऔध की कहानी हृदय पक्ष की अपेक्षा बुद्धि पक्ष के अनुकूल है। इसमे मन को कचोटने की वह सहज शक्ति कहां है, जो बरबस ही पाठक को अपनी ओर खीच ले। यह तो वर्तमान शासन पद्धति की पृष्ठभूमि है, काव्योचित तरलता का तो इसमें अभाव अस्वाभाविक है। रामायण और रघुवंश में सीता पृथ्वी मे समा जाती हैं। यहां पाठक या श्रोता को एक स्फुरण होता है। सीता के प्रति किए गए अन्याय के भार को धरती मां भी सह न सकी—वह फट गयी। एक असाधारण घटना घट गयी। आज भी अत्याचार और अन्याय के कुअवसर पर लोग कहते हैं 'हे धरतीमाता ! तू फट जा और मैं उसमें समा जाऊं।" किन्तु हरिऔध की सीता पति का चरण स्पर्श करते ही गिर पड़ती हैं और दिव्य ज्योति में मिल जाती हैं—

"ज्यों ही पतिप्राणा ने पति-पद-पद्म का स्पर्श किया
निर्जीव मूर्ति-सी बन गई।
और हुए अतिरेक भित्त-उल्लास का, दिव्य ज्योति में
परिणत वे पल में हुई।"[2]

---

१ हरिऔध वैदेही बनवास सर्ग ३, ६९ ७० २ वही सर्ग १८ ४०

इसे पढ़कर ऐसा लगता है मानों कोई स्त्री गिरे और उसका 'हार्ट फेल' हो जाय। हृदय गति रुकना सामान्य घटना है, जबकि धरती का फटना असाधारण। मानव-मन को स्पर्श करने के लिए कुछ मार्मिकता, असाधारणता, विचित्रता और प्रचुर काल्पनिकता भी अपेक्षित है, जो वैदेही वनवास के अन्त में नहीं है।

'वैदेही बनवास' का कथानक सीमित है। सफल महाकाव्य के लिए जितने बड़े कैनवास की जरूरत है, वह इसमें नहीं है। हां, यह सही है कि यह प्रियप्रवास की अपेक्षा अधिक गतिशील है। आनुषंगिक घटनाओं की वैदेही वनवास में न्यूनता है, परन्तु जितनी भी ऐसी घटनाएं उसमें विद्यमान हैं, वे सभी मुख्य कथानक के साथ भली भांति अनुस्यूत दीख पड़ती हैं। वास्तव में हरिऔध ने परंपरागत प्राचीन कथानक को अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर, उसे आधुनिक रंग में रंग कर नवीन रूप दे दिया है।[1]

इस महाकाव्य में हरिऔध ने चरित्र-चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया है। इसमें राम और सीता नए युग की आधुनिक कसौटी पर रखे गये हैं।

राम—वैदेही बनवास के राम एक आदर्श राजा, लोकाराधन के पक्षपाती, त्याग, धैर्य, सहिष्णुता और लोकहित की इच्छा रखने वाले हैं। वे वीर तथा राजनीति कुशल भी हैं। सीता जी उनके चरित्र के सम्बन्ध में कहती हैं:—

"त्याग आपका है उदात्त वृति धन्य है।
लोकोत्तर है आपकी सहनशीलता॥
है अपूर्व आदर्श लोकहित का जनक॥
है महान भवदीय नीति-मर्मज्ञता॥"[2]

राजा राम शान्ति प्रकृति के व्यक्ति हैं। वे साम नीति के उपासक हैं। प्रजा की सच्ची प्रीति के इच्छुक और भयमूलक नीति के वे विरोधी है। वे स्वयं कहते हैं—

"दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योंकि वह है भयमूलक नीति॥
चाह है लाभ करूं, कर त्याग।
प्रजा की सच्ची प्रति-प्रतीति॥"[3]

वैदेही बनवास के राम पर गांधीवादी नीति का पूरा-पूरा असर है। वे शान्ति के प्रचार के लिए व्यग्र हैं, सो भी जनहित में—

पढ़त कर लोकाराधन मंत्र।
करूंगा मैं इसका प्रतिकार॥
साधकर जन-हित-साधन सूत्र।
करूंगा घर घर शान्ति-प्रचार॥[4]

---

१. डा० गोविन्दराम शर्मा, खड़ी बोली के महाकाव्य, पृष्ठ २९९।
२ वैदेही सर्ग ४ ४९ ३ वही सर्ग ३ ९९ ४ वही सर्ग ३, ९७

राम यहाँ बड़े सन्तुलित ढंग से व्यापार करते हैं। वे लंका में हुए रक्तपात से दुखी हैं। वे अत्याचार और अन्याय के अनर्थ को रोकना तो चाहते हैं, पर एक पापी को मारने के लिए धरित्री को रक्तरंजित नहीं करना चाहते। वे आर्तनाद से पीड़ित हो जाते हैं। इसलिए लवणासुर को मारने के लिए शत्रुघ्न को भेजते हैं, किन्तु युद्ध में संयम रखने की बात करते हैं—

> "केवल उसका ही वध हो।
> कुछ ऐसा कौशल करना ॥
> लोहा दानव से लेना ।
> 'भू' को न लहू से भरना ॥"

अपनी पत्नी सीता के लिए उनके हृदय में अगाध प्रेम और आदर भाव है। वे गर्भवती सीता को प्रसन्न रखने और उनकी इच्छाओं की पूर्ति का हर सम्भव प्रयत्न करते है। वाल्मीकि के आश्रम में सीता को भेजने की विवशता उत्पन्न होने पर वे उन्हें पूरी परिस्थितियाँ समझा-बुझा देते हैं। हरिऔध के राम वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी या भवभूति के राम की भांति निष्ठुर और धोखेबाज (आज की आधुनिक नारी की दृष्टि में) नहीं हैं। राम के मन में अपने गुरुजनों के प्रति आदर, भाइयों के लिए प्रेम, दीनों के प्रति दया और देशवासियों के प्रति न्याय-भावना भरपूर है।

सीता—वैदेही बनवास की सीता आदर्श नारी, पतिपरायणा पत्नी, लोकहित रक्षक, पति के सुख में सुख-मानने वाली, लोकमत का आदर करने वाली एक विशेष महिला हैं। राम ने स्वयं अपने श्रीमुख से सीता के सम्बन्ध में कहा है—

> "नहीं सकती जो पर-दुख देख ।
> हृदय जिसका है परम उदार ॥
> सर्वजन सुख संकलन-निमित्त ।
> भरा है जिसके उर में प्यार ॥
> सरलता की हैं जो प्रतिमूर्ति ।
> सहजता है जिसकी प्रिय नीति ॥
> बड़े कोमल हैं जिसके भाव ।
> परम पावन है जिसकी प्रीति ॥"[1]

उक्त मत तो राम का है। वे सीता के पति हैं, प्रेम के नाते कुछ पक्षपात भी कर सकते हैं। यद्यपि राम पर आक्षेप नहीं लगाया जा सकता, चाहे वे तुलसी और वाल्मीकि के राम हों अथवा हरिऔध के गांधीवादी राम या गुप्त जी के ईश्वर राम। परन्तु सीता के सम्बन्ध में वशिष्ठ मुनि का मत भी पठनीय है, जिसमें उन्होंने सीता को गंगा कहकर पवित्रता का पावन रूप सिद्ध किया है।

> "सती-शिरोमणि पतिपरायणा पूत-धी ।
> वह देवी है दिव्य विभूतियों से भरी ॥
> है उदारता सभी सुचरिता सद्व्रता ।
> जनक सुता है परम पुनीता सुरसरी ॥"[2]

१ वैदेही सर्ग ३ ९७   २ वही, सर्ग २ ४१ ४२

सीता जी का व्यवहार पति, गुरुजन, साधु-संत-जन, बहनों और अपने देवरों के प्रति अत्यन्त उच्च धरातल पर टिका हुआ है। वनगमन की बात का निर्णय सुनने पर वह अधीर हो जाती हैं, पर शीघ्र ही उस विह्वलता पर विजयी हो जाती हैं। आर्य नारी सीता अपने आंचल से आंसुओं को पोंछकर कह उठती हैं :—

"वही करूंगी, जो कुछ करने को मुझको आज्ञा होगी।
त्याग करूंगी, इष्ट-सिद्धि के लिए बना मन को योगी॥
सुख-वासना स्वार्थ की चिन्ता दोनों से मुंह मोडूंगी।
लोकाराधन या प्रभु-आराधन के निमित्त सब छोड़ूंगी।"[1]

सीता के इस परिमार्जित रूप में हरिऔध का आदर्श तो आया, पर इसमें स्वाभाविकता का अभाव है। मनुष्य पहले मानव है, बाद में देवता या दानव। उसमें मानवीय रागात्मक गुणों का स्वर सुनाई देना चाहिए। यदि वह नहीं मुखर होता तो मानिए कि कहीं न कहीं खराबी है। इंसान का सुख-दुख, हास-रुदन, उल्लास और निराशा किसी न किसी भाव के साथ फूटना चाहिए। समस्थिति तो योगी अथवा मृतक की होती है। यह जीवन का लक्षण नहीं है। तभी तो वाल्मीकि की सीता वनवास का समाचार पाकर मर्माहत होकर विलाप करती है। उनका करुण रुदन हृदय को वेधकर आरपार हो जाता है। उसी प्रकार रघुवंश की सीता का विलाप भी अत्यन्त मानवीय धरातल पर, पाठक या सीता के मन में एक स्फुरण पैदा करता है, किन्तु हरिऔध की सीता तो मानो मायके से ससुराल आ रही हों, सो भी पहली बार नहीं।

वाल्मीकि के आश्रम मे चीटियों को आटा, पक्षियों को दाना, मृगों को घास और सभी आश्रमवासियों को स्नेह-सौहार्द्र देकर सीता ने अपना गृहिणी पक्ष बलवान बना लिया है। लवकुश के पालन पोषण में वह दक्षता दिखाती है। कुल मिलाकर वैदेही बनवास की सीता—सतीत्व, सेवा, विनम्रता और परोपकार को मूलमंत्र मानकर चलती हैं। वह नारी जाति का उच्च आदर्श रखती हैं। राम सीता के अतिरिक्त प्रसंगवश इस महाकाव्य में अनेक चरित्र आए हैं, पर किसी का समुचित विकास नहीं हो सका है। कवि का ध्यान तो 'बालचर' राधा की भांति 'कैडेट' सीता का निर्माण करना जान पड़ता है।

प्रकृति वर्णन—हरिऔध एक रससिद्ध कवि थे। वे सदैव सब कुछ नियोजित करके चलते थे। उन्होंने अपने इस ग्रंथ में प्रकृति के विविध रूपों का विभिन्न स्थलों पर सुन्दर चित्रण किया है। उनके पावस सम्बन्धी-वर्णन में से कुछ पंक्तियां लीजिये—

"बादल थे नभ मे छाये बादल था रंग समय का।
थी प्रकृति भरी करुणा में कर उपचय मेघ-निचय का॥
वे विविध रूप धारण कर नभ-तल में घूम रहे थे।"[2]

कहीं कहीं उन्होंने प्रकृति में मानवीकरण द्वारा बिम्बविधान की चेष्टा की है वहां उन्हे मिली है और काव्य अपेक्षाकृत सरस हो उठा यथा

पहन श्वेत-शाटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
ले ले सुधा सुधाकर से वह वसुधा पर बरसाती थी ॥"[1]

प्रकृति से बड़ा कोई शिक्षक नही है। पत्ते-पत्ते में सीख भरी है। उसे आत्मसात करने वाला धोखा नही खाता। जीवन में सफल होने के लिये प्रकृति का निरीक्षण और परीक्षण अनिवार्य है। इसीलिए सीता अपने पुत्रों को उसकी ओर आकृष्ट कराती हुई कहती हैं—

"प्रकृति पाठ को पठन करो शुचि-चित्त से।
पत्ते पत्ते में है प्रिय शिक्षा भरी ॥
सोचो समझो मनन करो खोलो नयन।
जीवन जल में ठीक चलेगी कृति-तरी ॥"[2]

"वैदेही वनवास" में रमणीय प्रभात, धूलि भरी सन्ध्या, राका-रजनी, मेघाच्छन्न पावस ऋतु, कुहरावृत्त शीतलता के वर्णन से कथानक में जान आ गयी है। वशिष्ठ और वाल्मीकि के आश्रम का वातावरण प्रकृति के घेरे में सजीव-स्वाभाविक बन गया है। हरिऔध के नैसर्गिक चित्र प्राय: योजनाबद्ध हैं।

रस परिपाक—वैदेही वनवास करुण रस प्रधान महाकाव्य है, पर जैसा कि हम ऊपर सकेत दे चुके है कि 'उत्तर रामचरित' या 'रघुवंश' की करुणा के यहां दर्शन नहीं होते। इसमें आधुनिक युग की बौद्धिकता से प्रभावित करुणा है, जो हृदय की अपेक्षा मुख तथा ओठों से अधिक प्रकट होती है। इसका प्रभाव कम पड़ता है। सीता की बिदाई के समय पशु पक्षियों की दशा मनुष्यो से अधिक नैसर्गिक दीख रही है। सीता का हाल स्वयं पाठक को द्रवीभूत नहीं कर पाता। परन्तु आश्रम में बाल क्रीड़ा में मग्न लव कुश का वर्णन प्रकृति के अधिक निकट जान पड़ता है—

"कभी तितलियों के पीछे वे दौड़ते।
कभी किलकते सुन कोकिल की काकली ॥
ठुमुक-ठुमुक चल किसी फूल के पास जा।
विहंस विहंस के तुतली वाणी बोलते ॥
टूटी फूटी निज पदावली में उमंग।
बार बार थे सरस सुधारस घोलते ॥"[3]

दोनों कुमार पांच बरस के हो चुके थे। वे फूलों, भंवरों और तितलियों के साथ खेलते थे। यहां नैसर्गिक जीवन की छटा साकार हो गयी है। हरिऔध जी ने शान्त, वीर, भयानक आदि रसों का भी यथावसर प्रयोग किया है, पर करुण और आंशिक रूप से वात्सल्य को छोड़कर अन्य प्रयोग शिथिल ही कहे जायेंगे।

अलंकार योजना—वैदेही वनवास में प्रियप्रवास की अपेक्षा कम अलंकरण है। इसमें अलंकारों का विधान सन्तुलित एवं औचित्य की सीमा में हुआ है। प्रदर्शन का प्रश्न इस कृति में नही है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक और समासोक्ति आदि अलंकारों का चयन सुन्दर ढंग से हुआ है। अनुप्रास का एक चित्र लीजिये।

---

१ वैदेही वनवास २ वही ३ वही

"लता लहलही लाल लाल दल में लसी।
भरती थी दृग में अनुराग ललामता ॥
श्यामल दल की बेलि बनाती मुग्ध थी।
दिखा किसी घन रुचि तन की शुचि श्यामता ॥"

हरिऔध जी काव्य शास्त्र के पण्डित थे। वैसे तो उनके सभी आलंकारिक प्रयोग अच्छे हैं, पर उपमाएं उनकी लेखनी से विशेष रंग ग्रहण कर लेती हैं, यथा—

"गगन विलसिता सुरसरिता सी सुन्दरी ।
आश्रम सम्मुख थी सरसा सरयू सरी ॥"[1]

भाषा—प्रकृति से उपाध्यायजी संस्कृत-गर्भित शैली के पण्डित हैं। उसी में उनकी आत्मा रमी है। जब वे सप्रयास कविता को सरल, बोलचाल की खड़ी बोली में ढालते हैं, तब उन्हें वह सफलता नहीं मिलती। कविता नीरस, गद्यवत् तुकबन्दी का रूप ग्रहण कर लेती है। यद्यपि वैदेही बनवास की भाषा में उन्होंने हर प्रकार की सावधानी बरती है, फिर भी इसमें प्रियप्रवास का प्रवाह और उसकी सरसता नहीं आ पायी है।

इसकी भाषा अपेक्षाकृत सरल, स्वाभाविक खड़ीबोली है। इसमें स्थान स्थान पर संस्कृत मिश्रित पदावली का भी प्रयोग हुआ है। और अलंकारों, मुहावरों और नैसर्गिक चित्रों ने सजीवता ला दी है। कहीं कहीं पर अप्रचलित शब्दों जैसे आहवों, कमल, उपचय, वालना, साटिका आदि का भी धड़ल्ले से उन्होंने प्रयोग किया है। किन्तु जहां वे संस्कृत-गर्भित समस्त पदावली का सहारा लेते हैं, वहां भाषा में गति आ जाती है—

"मर्यादा के धाम शील सौजन्य-धुरंधर।
दशरथ नन्दन राम परम रमणीय कलेवर ॥
थीं दूसरी विदेह-नन्दिनी लोक ललामा।
सुकृति-स्वरूपा सती विपुल-मंजुल-गुण धामा ॥"[2]

उपर्युक्त सभी प्रसंगों, उद्धरणों और विवेचनों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'वैदेही बनवास' द्विवेदी युगीन काव्य-मर्यादा का ही एक विकसित स्वरूप है। इसमें भाषा का संस्कार और युगानुकूल आदर्श का समावेश है। हरिऔध ने इस काव्य में गांधीवाद, प्रजातन्त्र और लोकमत का सुन्दर सामंजस्य बैठाया है। संयमशील वृत्त, उपदेश मूलक कथा और आदर्श स्थापना की अनवरत चेष्टा ही इस प्रबन्ध काव्य का मूलमंत्र है। इसमें महाकाव्य के प्रायः अधिकांश मान्य गुण मिल जाते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त

द्विवेदी-युग के शक्तिशाली कवि मैथिलीशरण गुप्त परवर्ती युग में भी द्विवेदी युगीन मर्यादा, कथा-काव्य, आदर्श और राष्ट्रीयता तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के आख्याता के रूप में प्रमुख रहे। उनकी अनेक कृतियां जो सन् १९२० के बाद प्रकाशित हुईं, उनमें वही गौरव और वही शिल्प कुछ परिमार्जित रूप में सामने आया। पंचवटी, साकेत, द्वापर आदि

१ वैदेही बनवास वही

मे हम उनके विकास क्रम को परख सकते हैं। हां, सिद्धराज और यशोधरा आदि काव्य-कृतिया नयी शैली में अवश्य आईं, पर कथा और संवाद तो उनमें भी बने रहे। कुल मिलाकर गुप्त जी राष्ट्रीयता, जातीय भावना, भारतीयता, धर्म समन्वित जीवन, नैतिकता, आदर्श गृहस्थ और रसमय-काव्य के एक सबल प्रणेता रहे हैं। वे काव्य को जीवन के सन्दर्भ में देखने के अभ्यासी थे। उनकी कृतियों में क्षणवादी और भोगवादी (कामपरक) चित्र कम हैं और इसीलिए आज के नए कवि और उनके आलोचक गुप्त जी के काव्य में 'आधुनिक युग बोध', की कमी पाते है। जिन्हें तुकों, गीतों, उदात्त चरित्रों, नैतिक आख्यानों और भारतीय आदर्शों से लगाव नहीं है उनका गुप्त जी के विरुद्ध सोचना स्वाभाविक है, किन्तु जिनको अपनी माटी से प्यार है, उनके लिए गुप्त जी अमर कृती हैं। गुप्त जी राष्ट्रीय कवि थे, उन्होंने रसवादी भूमिका पर भारतीय गौरव गाथाओं को, वर्तमान परिस्थितियों के अनुकुल रूप दिया है। वे संस्कार एवं निर्माण को मिलाकर लोकहित और जन-भावना का आदर करना अच्छी तरह जानते थे।

गुप्त जी जीवन की अमरता और मानव की चरितार्थता में अटूट विश्वास रखते थे। शाश्वत मूल्यों, वैदिक चिन्तन और वर्तमान आवश्यकताओं को वे भली-भांति समझते थे। यही कारण है कि उनका अधिकांश काव्य मानव की महत्ता स्थापित करने में सफल हुआ है। गुप्त जी सत्य और निष्ठा, विश्वास एवं ईमानदारी से कवि कर्म कर रहे थे। उनको किसी अमरीकी डालर से न तो मोह था, न व्यक्तिगत लाभ या लोभ की बात के उथले धरातल पर उन्होंने कभी कदम रखा। वे परम्परा में अटूट विश्वास रखते थे। भारत की जिस कवि परम्परा में वाल्मीकि, कलिदास और तुलसी ने जन्म लिया था, उसी महिमा मंडित परम्परा की ये एक सशक्त कड़ी थे। भक्ति उनकी चेतना का आधार थी। देश भक्ति उनके सामने युग की मांग बनकर आई। अतीत से प्रेरणा ग्रहण करके वे वर्तमान को पुष्ट बनाने में दत्तचित्त रहे। सुन्दर भविष्य की कल्पना वे सदैव करते रहे, पर उनका पैर सदैव धरती पर ही टिका रहा क्योंकि वे मानव की क्षमता, समता और ममता के पूर्ण पक्षपाती रहे। सबके प्रति अगाध सहानुभूति उनका गुण था। उनके प्रमुख काव्य साकेत पर यहीं थोड़ा विचार कर लें तो उपर्युक्त कथन की प्रमाणिकता सिद्ध हो जाए।

साकेत :—साकेत गुप्त जी की साधना का अमृत-फल है। यह उनका प्रमुख प्रतिनिधि काव्य है। तुलसी साहित्य में जो स्थान 'रामचरितमानस' का है वही मैथिलीशरण गुप्त साहित्य मे साकेत का है। इसे डा० कमलाकान्त पाठक ने उनका जीवन-कार्य कहा है[1] और इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिए हैं—

(१) इसमें गुप्त जी की वर्णनात्मक, प्रगीतात्मक और मुक्तक काव्य प्रवृत्तियां अपने सुन्दरतम रूप में प्रयुक्त हैं।

(२) आधुनिक युग की पुनरुत्थानवादी चेतना सांस्कृतिक नव-जागरण के रूप में समस्त काव्य मे परिव्याप्त है।

(३) कवि के नैतिक जीवन-मान और मानवतावादी आदर्श साकेत में सर्वाधिक स्पष्ट और साकार हैं

(४) नायिका-प्रधान काव्य की रचना करके कवि ने नवयुग की भावना, नारी के महत्व की प्रतिष्ठा को चरितार्थ ही नहीं किया, वरन् उर्मिला की चरित्र सृष्टि में उसकी ही स्थापना की। उर्मिला गुप्त जी की सर्वोत्तम कल्पना है और वह जीवन की कई भूमियों पर मुखरित हुई है। इसमें प्रेम का सांस्कृतिक, मानवीय और जीवन-व्यापी रूप वर्णित है।

(५) यहां गुप्त जी गार्हस्थिक अथवा पारिवारिक सीमा के भीतर कथा-काव्य की रचना करते हैं। साकेत में वे जीवन के भव्यतम स्वरूप और उत्कृष्टतम सम्बन्धों का चित्रण दे सके हैं।

(६) स्वयं गुप्त जी ने साकेत के निवेदन पृष्ठ १ पर लिखा है, 'मैं चाहता था कि मेरे साहित्यिक जीवन के साथ ही साकेत की समाप्ति हो।'[1] कवि की यह उक्ति मार्मिक है। वह अपनी काव्य-शक्ति, विचारणा और जीवन दर्शन का, अपने व्यक्तित्व के समस्त उत्कर्ष विधायक तत्वों का, इस काव्य-ग्रंथ में सन्निवेश करना चाहता था और उसने किया भी है। रामोपासना उसे संस्कार रूप में प्राप्त हुई और नवयुग में उसने अपने कवि व्यक्तित्व का निर्माण किया। इन दोनों की समन्वित अभिव्यक्ति है—साकेत।

(७) गुप्त जी मूलतः कथाकार कवि हैं और उन्होंने साकेत को छोड़कर अन्यत्र किसी महत् कथा-वस्तु की कल्पना और सांगोपांग वर्णना नहीं की। यह उनका एकमात्र महाकाव्य है।

(८) साकेत में भारतीय संस्कृति का उन्नयन, आधुनिक युग की बौद्धिकता, आदर्श निष्ठा और नारी भावना, कथा-शिल्प की नवीनता तथा राष्ट्रीय चेतना एवं प्रबुद्ध मानवतावादी जीवन-दृष्टि का समाहार एक नया काव्यास्वाद प्रदान करता है।[2]

रचना-काल :—सन् १९१४–१५ ई० के आसपास साकेत की रचना प्रारम्भ हुई। इसका प्रथम सर्ग जून १९१३ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। जुलाई १९१३ ई० में द्वितीय सर्ग भी सरस्वती में प्रकाशित हुआ। तृतीय सर्ग जनवरी सन् १९१७ ई० में, चतुर्थ सर्ग मई १९१७ ई० मे और पंचम सर्ग जुलाई १९१८ई०में क्रमशः प्रकाशित हुए। इसके बाद साकेत की रचना धीमी पड गयी और कवि अन्य ग्रन्थों की रचना में लग गया।

पुन: 'विशाल भारत' के दिसम्बर सन् १९२९ और फरवरी-मार्च तथा अप्रैल सन् १९३० के अंकों में साकेत का अष्टम सर्ग प्रकाशित हुआ। सन् १९३१ में साकेत की रचना समाप्त हुई और सन् १९३२ ई० में वह काव्य प्रकाशित हुआ।[3] साकेत के रचना-काल में ही 'पंचवटी' की रचना भी हुई। उसकी रचना-तिथि कवि द्वारा संवत् १९७९ (सन् १९२३ ई०) अनुमिति की गई है।[4] पंचवटी का पृथक् एक कृति के रूप में प्रकाशन सन् १९२५ ई० में हुआ, यद्यपि वह साकेत के एक सर्ग के रूप में ही पहले लिखी गई थी। साकेत में विचार-विमर्श के दौरान बहुत से परिवर्तन हुए।

साकेत के सम्बन्ध में आचार्य वाजपेयी का मत दृष्टव्य है—'साकेत में गुप्त जी ने अपने

---

१ ... गुप्त व्यक्ति और काव्य पृष्ठ ३९३ २ वही

३ वही ४ वही।

सर्व प्रिय विषय रामकथा और तत्सम्बन्धी प्रसंगों को अपनाया है, अतएव इसके प्रति उनका अनुराग होना स्वाभाविक है। गुप्त जी की भावना इसमें पूर्ण रूप से रमी है और उनकी प्रतिभा का पूरा उन्मेष हुआ है। इस दृष्टि से साकेत को गुप्त जी की प्रतिनिधि रचना भी कहा जा सकता है।'[1]

साकेत की शैली और उसके उपकरण-साकेत प्रबन्ध काव्य है। कवि ने उसे महाकाव्य का रूप देना चाहा है। साकेत में कथा प्रवाह धारा-प्रवाह रूप से नहीं चलता। उसके लम्बे रचना काल विभिन्न प्रसंगों, आधुनिकता की मांग और घटनाओं की बहुलता ने सभी तन्तुओं को एक रस करने में कठिनाई उपस्थित की है। कथानक में इतिवृत्त, रोचकता, उत्सुकता, नाटकीय विषमता, पूर्वापर सम्बन्ध आदि का सुन्दर समन्वय है। इसका सबसे बड़ा दोष है स्थान-स्थान पर नीरस तुकबन्दी। प्राकृतिक चित्रों के निर्माण में वे असफल हुए है।[2]

संवाद गुप्त जी की शैली की विशेषता है। उसमें कथानक प्राय: संवादों द्वारा ही आगे बढते है। इसलिए उसमें नाटकीय गुणों का होना स्वाभाविक ही है। इस ग्रन्थ का अभिव्यंजना कौशल प्रशंसनीय है। इसमें गुप्त जी के कवि का पूर्ण वैभव स्पष्ट है। अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग, मुहावरों और उक्तियों के आत्मसात करने से भाषा में जान आ गई है। भावनाओं द्वारा मानवीकरण का प्रयत्न अच्छा है; पर कभी कभी मानव गुणों का आरोप आवश्यकता से अधिक बढ जाता है। नवम् सर्ग में जाकर तो कवि 'टेकनिकल' हो गया है। वह पहेली बुझाने लगा है। वहा भाव उलझ गए हैं।[3] नवम् सर्ग में कोई विशेष कथा-वस्तु नहीं है। वह समग्र रूप से उर्मिला की विरह कथा का आख्यान अथवा उच्छ्वास है।[4]

डा० नगेन्द्र का मत है कि उर्मिला का विरह साकेत की सबसे बड़ी घटना है।---चित्रकूट मे एक बार फिर सीता के लाघव से उर्मिला और लक्ष्मण का क्षणिक मिलन हो जाता है। स्त्री हृदय ही स्त्री के हृदय को पहचानता है। लक्ष्मण उर्मिला के क्षीण रूप को देखकर विमूढ़ से रह जाते हैं। उर्मिला उनकी बेबसी समझ जाती है और उन्हें भय मुक्त करती हुई कहती है।

"मेरे उपवन के हरिण आज बनचारी।
मैं बांध न लूंगी तुम्हें तजो भय भारी ॥"[5]

यह आवेश का आवेग से मिलन था। दो हृदयों के अथाह सागर आपस में मिल गए। संसार लय हो गया। उर्मिला को बहुत कुछ कहना था, जीवन की भीतरी साध जो मन में ही मसोस पैदा कर रही थी, उसे अभिव्यक्ति देकर वह जी का भार हल्का करना चाहती थी, परन्तु लक्ष्मण की परिस्थिति जन्य विकलता देखकर वह उन भावों को भी भीतर ही भीतर पी गई और बरबस ही उसके मुंह से निकल पड़ा—

"हा स्वामी ! कहना था क्या-क्या कह न सकी,
कर्मों का दोष।
पर जिससे संतोष तुम्हें हो, मुझे उसी में है संतोष।"

---

१. आधुनिक साहित्य। २. डा० नगेन्द्र, साकेत : एक अध्ययन। ३. वही।
४. कमलाकान्त पाठक, मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य।
५. साकेत।

गुप्त जी ने विच्छेद के दोनों अवसरों पर अनुभावों से ही काम लिया है। कथा ध्वनित की गई है, अभिव्यक्त नहीं। उर्मिला के विरह वर्णन में भी कवि के व्यक्तित्व और उसकी शैली की भांति प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण है। इसमें एक ओर ऊहात्मक वर्णन है, तो दूसरी ओर व्यथा का संवेदनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक व्यक्तिकरण। वास्तव में उर्मिला का विरह जीवन के बाहर की वस्तु न होकर अन्तर्मन का प्रतिफलन है जो गृहस्थ जीवन की मिठास है। उर्मिला न तो योगिनी बन कर वन वन भटकती है, न उन्माद का प्रदर्शन करती है। घर में भी वह सहज नारी की सीमा में अपने को नियंत्रित रखती है। उसका जीवन एक कारागार सा है, जिसमें वह छटपटा रही है। इधर स्मृति है, उधर नैमित्तिक कार्य; कितनी विषमता है। विरहिणी का जीवन समय की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है। उसके सामने सबसे बड़ी समस्या है समय काटना।[1]

साकेत के विरह वर्णन की शैली अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। वहाँ बदलते हुए छंदों में नित्यप्रति के जीवन से सम्बद्ध भावनाओं की इस प्रकार व्यञ्जना हुई है कि यह प्रतीत होता है कि मानों कोई विरहिणी करवटें बदल-बदल कर सभी बातों को झींकती हुई रोदन कर रही है। उसके विरह में देश काल का भी सम्यक् आभास मिलता है। उर्मिला और लक्ष्मण का प्रणय युग्म अद्वितीय था। उसमें सुन्दरता थी, यौवन, सावन, सुख सभी कुछ था, अतः उनका संयुक्त जीवन, उनका रस-विलास अपूर्व था। आज विरह में वह सब स्वप्न हो गया है।[2]

साकेत के विरह-वर्णन में मानसिक उद्वेग ही नहीं है—शारीरिक काम-दशा का भी संकेत है। उर्मिला नव युवती है। उसने जीवन के शारीरिक एवं मानसिक सुखों का आस्वादन लिया है। उसे दोनों का मूल्य ज्ञात है। वह मचलते हुए यौवन को समझाती है—

> "मेरे चपल यौवन बाल,
> अचल अंचल में पड़ा सो मचल कर मत साल।"[3]

उधर जब काम का बाण लगता है, विकलता बढ़ जाती है, जीवन का आवेग, संयम को चुनौती देता है, तब आरोपित गुण भूल जाते है। वह यथार्थ भाव भूमि पर खड़ी होकर निवेदन करती है—

> "मुझे फूल मत मारो।"[4]...

उर्मिला के विरह वर्णन में आदर्श का गौरव और स्वार्थ का निषेध है। उसका आदर्श बहुत ऊंचा है—सती और लक्ष्मी से भी ऊंचा है।[5] उर्मिला के विरह में ईर्ष्या का अणुमात्र भी स्पर्श नहीं है। वह दूसरों के सुख से दुखी नहीं होती वरन् उसके पास सहानुभूति का अक्षय भाण्डार है। उसके विरह में मानवता की पुकार है। उसमें स्वाभाविक गरिमा और विश्व व्यापी करुणा है। कवि की उक्तियों का चमत्कार और उसकी कोमल सुकुमार भावनाओं का उद्गार भी द्रष्टव्य है।

साकेत और आधुनिकता—साकेत की प्रथम आधुनिकता है उसकी भाषा। तत्कालीन किसी

१. डा० नगेन्द्र : साकेत एक अध्ययन।
२. वही। ३. साकेत, नवम् सर्ग। ४. वही।
५. डा० नगेन्द्र, साकेत एक अध्ययन,

भी कवि की भाषा के साथ इसकी तुलना करके इसका स्पष्ट अंतर देखा जा सकता है। इस ग्रंथ मे खड़ीबोली अधिक स्वतन्त्र है। इसकी भाषा पर किसी प्रकार का बाहरी प्रभाव यथासम्भव नही पड़ने दिया गया है। इस पर संस्कृत का अनावश्यक बोझ भी नहीं है।[1]

साकेत की दूसरी आधुनिकता है राम का चरित्र। मानस में गोस्वामी जी ने जहां अवतारवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया है, ईश्वर की मानवता प्रदर्शित की है, वहीं साकेत में ठीक इसके विपरीत मानव की ईश्वरता का निरूपण किया गया है। यही दार्शनिक दृष्टि से ठेठ आधुनिक युग की वस्तु है। साकेत में प्रथम बार मानव का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर—ईश्वर के समकक्ष लाकर रखा गया है, जो मध्य युग में सम्भव नहीं था। साकेत इसी कारण हिन्दी की प्रथम मानवतादर्शवादी या आदर्श—मानवतावादी रचना कही जा सकती है।[2]

साकेत की तीसरी आधुनिकता है सीता का पारिवारिक जीवन। वह जन-जीवन में सामान्य नारी का-सा स्वावलम्बी बन गया है। चित्रकूट की रमणीय प्राकृतिक भूमि में लाकर गुप्त जी ने उनके हाथों में चरखा और तकली के साथ ही साथ खुरपी और कुदाल भी दे दी है। इस प्रकार वे मूल मानव से तनिक भी नहीं हटतीं।

चौथी विशेषता है साकेत में उर्मिला और भरत की साधनामयी जीवनी, जो अन्यत्र इस प्रकार कभी नहीं चित्रित हुई थी। परम्परा से तो राम और सीता का ही आख्यान चलता आया है। परन्तु गुप्त जी ने बड़े साहस के साथ प्राचीन महाकाव्यों की पद्धति के विरुद्ध साधु भरत को नायक और उर्मिला को नायिका बनाया है। इसमें केवल साहित्यिक मौलिकता ही नहीं है, वरन् इससे तो सम्पूर्ण जीवन दर्शन की एक क्रान्तिकारी झलक भी दिखाई देती है। इस अभिनव प्रवर्तन को हम 'व्यक्ति महान मर्यादा की रक्षा' का नाम दे सकते हैं, क्योंकि न केवल क्रमागत वीर-काव्य की मर्यादा यहां खंडित हुई है, बल्कि मानव महत्व का समस्त आदर्श ही बदल गया है।[3]

"...राम और सीता के स्थान पर भरत और उर्मिला के जीवन-सूत्रों से कथा तन्तु का निर्माण साहित्यिक इतिहास में एक प्रवर्तन है और विचारों की दुनियां मे एक अभिनव क्रान्ति। इस नवीनता को यदि साकेत में प्रतिष्ठित आधुनिकता की आत्मा कहा जाय, तो कुछ भी अनुचित नही होगा।"[4] नये युग की मानव महत्व की सामाजिक कल्पना नया व्यक्तिवाद और समत्व का आदर्श-साकेत काव्य के मूल में रहा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

साकेत की पांचवीं विशेषता इसकी साहित्यिक क्रान्तिदर्शिता है। समाज सम्बन्धी धारणाओं मे कोई कवि कितना ही अग्रगामी क्यों न हो, सामने पड़ने वाली साहित्यिक रूढ़ियां और परम्परायें भी उसका मार्ग अवरोध कर लेती हैं, किन्तु गुप्त जी की साकेत सम्बन्धी मूल कल्पना में साहित्यिक नवीनता भी कम नहीं है।

इसके अतिरिक्त अनेक अन्य छोटी-बड़ी नवीनतायें मिलती हैं जैसे अयोध्या से राम के विदा होते समय जनता का सत्याग्रह और उर्मिला का सैनिकों को अहिंसा की शिक्षा आदि। ये सब तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव थे, जो गांधीवादी विचारधारा के फलस्वरूप गुप्त जी

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य। २. वही। ३. वही।
४ वही। ५ वही

पर छा गए थे। वस्तु विन्यास और पात्र कल्पना में भी नवीनता प्रत्यक्ष दर्शनीय है। साकेत की उर्मिला तो नई चरित्र-सृष्टि है. साकेत के लक्ष्मण का आवेश तो और नया है। त्रेता और द्वापर का पुत्र तो मां को भला बुरा कह नहीं सकता था, किन्तु आधुनिक युग का पुत्र माता-पिता के प्रति उस पुरानी भावना का निर्वाह नहीं कर सकता। सम्भवतः लक्ष्मण नेता के रूप में बीसवीं शताब्दी के बुद्धिवाद की शुरुआत कर रहे हैं। देखिए उनका आवेश पूर्ण कथन —

"खड़ी है मां बनी जो नागिनी यह,
अनार्या की जनी, हत भागिनी यह,
अभी विषदंत इसके तोड़ दूंगा,
न रोको तुम, तभी मैं शान्त दूंगा।
बने इस दस्युजा के दास हैं जो,
इसी से दे रहे बनवास हैं जो,
पिता हैं जो हमारे या कहूं क्या ?
कहो हे आर्य ! फिर भी चुप रहूं क्या ?"[1]

लक्ष्मण ऐसे व्यक्ति के मुख से ये शब्द कैसे निकले, कहा नहीं जा सकता। वैसे क्रोधी और हठी स्वभाव तो लक्ष्मण का था, पर माता-पिता को भाई के लिये गाली देना कुछ जंचता नहीं। आज के मनोवैज्ञानिक युग में इस कथन में आधुनिकता स्वीकार की जा सकती है। पितृऋण को न स्वीकार करने वाले तथा अपने जन्म को एक सांयोजिक घटना मात्र मानने वाले नवयुवक साकेत के लक्ष्मण के विकसित वंशज कहे जा सकते हैं।

कैकेयी के इस कथन में 'भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उसे निज गेह' में एक गूढ प्रश्न छिपा है। सचमुच भरत का न बुलाया जाना—सो भी राम के राज्याभिषेक के समय अवश्य ही एक सन्देह पैदा करने जैसी बात है। यहां गुप्त जी केवल भावना पर नहीं तर्क पर खड़े हैं और उनका आधार ठोस है। इसे भावना पर आधारित कहना गलत होगा। आचार्य बाजपेयी उर्मिला के सम्बन्ध में लिखते हैं—'उर्मिला की चरित्र सृष्टि में भी भावनात्मक आदर्शवादिता का स्वरूप स्पष्ट हो सका है, जो समस्त अवस्थाओं में नायिका के महत्व के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। विशेषतः नवम् सर्ग के उर्मिला-गीतों में भावना की जो उन्मुक्त गति है, उसके साथ उर्मिला की उदात्त और संयमपूर्ण चारित्रिक विशेषताओं का मेल नहीं बैठता। इन उर्मिला गीतों की भावना कहीं कहीं ऐसे साधारण स्तर पर पहुंच जाती है, जिसकी 'साकेत' की नायिका से किसी प्रकार अपेक्षा नहीं की जाती।'[2] एक स्थान पर उर्मिला कहती है—

"मेरे चपल यौवन बाल।
अचल अंचल में पड़ा सो मचल कर मत साल।"[3]

यहां पर हम आचार्य जी के मत से सहमत नहीं है। कारण उर्मिला एक युवती है, वियोगिनी है, एक लम्बी अवधि से वह अकेली जवानी काट रही है। उसको महल में स धनयुक्त रखा गया है; उसकी परिस्थिति उच्च और आदर्श होकर भी उसे चौबीसों घंटे नियंत्रित नहीं कर सकती। रमणी के हृदय में जो रिक्तता है समय की जो भूख है उसके संबंध में विचार उत्पन्न होना ही

१ साकेत २ आधुनिक साहित्य ३ साकेत

स्वाभाविक है। हां, यदि वह सम्पूर्ण कुमारिका रही होती तो ये भाव दूषित मनोवृत्ति के परिचायक कहे जाते, परन्तु उर्मिला तो यौवन-रस के अमृत फल का रसास्वादन कर चुकी है। उसे उसकी स्मृति होना निसर्गगत सत्य है।

साकेत में अतिरंजित चित्र भी बहुत है जैसे 'कामिनी की दृष्टि में दामिनी की दमक', लचकती हुई कलाइयां, शरीर-कान्ति में मणियों का प्रतिबिम्बित होना। इसमें तटस्थ सौन्दर्य दर्शन का अभाव है। उर्मिला का सौन्दर्य छोटे छंद की द्रुतगति पर आरूढ़ होकर अधिक मुखर, अधिक अति रंजित और कदाचित् अधिक उत्तेजनाशील हो गया है। साकेत काव्य की सम्पूर्ण आदर्शवादिता के होते हुए भी उसमें व्याप्त इस शरीर-पक्ष प्रधान प्रभाव का निराकरण नही किया जा सकता।

साकेत की भाषा:—साकेत की भाषा में त्रुटियां कम हैं। उसकी भाषा प्रौढ़, प्रांजल और बोल-चाल की भाषा के अधिक निकट है। गुप्त जी ने साकेत में संस्कृत के तत्सम शब्दो को स्थान देते हुए भी समास-बहुला शैली बहुत कम अपनाया है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार दिखाई देता है। संस्कृत का प्रभाव होने पर भी साकेत की भाषा में क्लिष्टता और कृत्रिमता नही आने पायी है। साधारणतया साकेत की भाषा सरल और प्रसाद गुणसम्पन्न है, पर कहीं-कही उसमें भी संस्कृत के पदों को स्थान मिल ही गया है। जैसे राज-कुंज-बिहारिणी, उपमोचितस्तनी, जन-धात्री स्तनपानलालसा, कृषि-गो-द्विजधर्म वृद्धि, नृपभावाम्बु, तरंगभूमि, परिधि-विहीन-सुधाशु-सदृश आदि समस्त पद संस्कृत की समास बहुला शैली के उदाहरण है।[1]

साकेत की भाषा भावों के अनुकूल है। उसमें अभिव्यक्ति की पूरी क्षमता है। भावो के अनुकूल शब्द चयन में साकेतकार निपुण है। युद्ध-वर्णन में उसी सहज माधुर्यप्रिय भाषा को ओजस्वी बनाने का सद्प्रयत्न किया गया है।

साकेत की भाषा में शुद्धि और शक्ति दोनों है। यथाशक्ति उसमें लाक्षणिकता, व्यंजना और अभिधा सभी शक्तियों का अवसरानुकूल प्रयोग किया गया है। शुद्ध प्रांजल भाषा में इसकी रचना हुई है। नवम् सर्ग तक पहुंचते-पहुंचते भाषा में नाद-योजना और प्रवाह चरम सीमा पर पहुंच गया है। देखिये—

> 'सखि नील नभस्सर में उतरा, यह हंस अहा तरता तरता।'[3]
> 'ढलमल ढलमल अंचल, चंचल बिखराता है तारा, सखि निरख नदी की धार।'[4]
> 'मुझे फूल मत मारो, मैं अबला बाला वियोगिनी हूं, कुछ तो दया विचारो।'[5]

साकेत में कवि ने यत्र तत्र मनमानी भी की है। उसने देशज शब्दों के प्रयोग खूब धड़ल्ले से किए हैं। अनुप्रास की रुनझुन, श्लेष का चमत्कार और पुनरुक्ति का वैभव स्थान-स्थान पर मिल जाएगा। साकेत की भाषा मे न तो प्रिय प्रवास की हिल्लोलाकार गति है और न पल्लव, गुंजन, युगान्त की पालिस। उसमें तुलसीदास और राम की शक्ति पूजा का न तो ओज है और न आंसू और लहर अथवा कामायनी का प्रसादत्व।[6]

---

१ डा० गोविन्दराम शर्मा हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य २ वही

३ गुप्त जी साकेत, ४ वही ५ वही ६ डा० नगेन्द्र साकेत एक अध्ययन,

छन्द-योजना :—साकेत सर्गबद्ध काव्य है। उसके प्रत्येक सर्ग में नए छंद का प्रयोग किया गया है। छंद कविता का नैसर्गिक परिधान है। वह साकेत की सीता के दिव्यदुकूल की भांति कविता की देह के साथ ही साथ उत्पन्न हुआ है। कवि ने भावानुकूल छंद-विधान किया है। जैसे प्रथम सर्ग में जहां उर्मिला लक्ष्मण का प्रणय-परिहास चल रहा है, वहां कवि ने शृंगार का स्वाभाविक छद 'पीयूष-वर्षण' चुना है। महाकाव्य की परम्परा के अनुसार प्रत्येक सर्ग के अन्त मे छंद बदला गया है। अन्त में प्राय: दो या दो से अधिक छंद हैं। ये सभी छंद सर्ग को समाप्त करने में सर्वथा उपयुक्त है। इनसे एक उपाख्यान का अन्त हो जाता है और दूसरे मे आगे की ओर बढ़ने की ओर संकेत।[1]

साकेत में कवि ने हिन्दी में प्रचलित प्राय: सभी छन्दों को अपनाया है। उपर्युक्त छंदों के अतिरिक्त आर्या, गीति, शार्दूलविक्रीड़ित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित, वियोगिनी आदि सस्कृत वृत्त और दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, सवैया आदि जैसे प्राचीन हिन्दी छंद भी उसने लिए हैं। विरह की कोमल भावनाओं के लिए गीतों का प्रयोग है। इतने छदों को प्रसगानुकूल रखना, उनका पूर्ण सफलता से निर्वाह करना छंद कला-कौशल का द्योतक है। उसमें यति भग का कहीं नाम नहीं है। हां, गीतों में कवि को उतनी सफलता नहीं मिली है, कारण वह गीत सुलभ मार्दव नहीं ला सका।

महाकाव्यत्व :—महाकाव्य के मुख्य तीन लक्षण माने जा सकते हैं। प्रथम रचना का प्रबन्धात्मक या सर्गबद्ध होना। द्वितीय, उसकी शैली का गाम्भीर्य और तृतीय उसमें वर्णित विषय की व्यापकता और महत्व। साकेत की रचना सर्ग-बद्ध तो है, किन्तु उसकी प्रबन्धगत धारा अव्याहत या अटूट नहीं है। नवम् सर्ग में उर्मिला के विलाप का वर्णन करते हुए कवि जी कथा-तन्तु को छोड़ बैठे हैं। दशम् सर्ग में उर्मिला अपने शैशवकालीन अतीत का स्मरण करती है। इसका भी मुख्य प्रबन्ध से कोई तारतम्य नहीं जुड़ता। ग्यारहवें और बारहवें सर्गों में साकेत के राजपरिवार के दैनिक जीवन की एक झांकी है, सहसा भरत के बाण से हनुमान के गिरने की घटना आ जाती है। परचात् राम के प्रत्यावर्तन और लक्ष्मण-उर्मिला मिलन के साथ काव्य की समाप्ति हो जाती है। इन चार सर्गों में व्यापार-विकास की न्यूनता के कारण प्रबन्ध की शिथिलता स्वीकार करनी पड़ती है। प्रथम आठ सर्गों में कथा का स्वरूप अधिक व्यवस्थित है। परन्तु उसमें एक त्रुटि यह आ गई है कि उसनें केवल कुछ दिनों की घटनायें ही संकलित है;

महाकाव्य की शैली के गाम्भीर्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि एक नितान्त नवीन काव्य-भाषा का निर्माण और प्रयोग करने वाले कवि से सर्वथा साधु, प्रौढ़ और प्रांजल पद-रचना की अपेक्षा करना ही अनुचित होगा।[3]

उन्होंने साहित्यिक और काव्योचित भाषा के निर्माण का प्राथमिक कार्य किया और उसे प्रशसनीय सीमा तक आगे बढ़ाया। साकेत मे प्रचुर नीवनता है। साकेत का साहित्यिक जगत मे जो सम्मान हैं, हिन्दी के ऐतिहासिक विकास मे जो उसकी देन है, युग चेतना के जो नवोन्मेष उसमें अपनी सुन्दर आभा बिखेर रहे हैं, उन्हें देखते हुए 'साकेत' को महाकाव्य न कहना अन्याय

१ डा० नगेन्द्र २ वही ३ आधुनिक साहित्य पृष्ठ १०५ १०६

होगा साकेत महाकाव्य ही नहीं आधुनिक हिन्दी का युग प्रवर्तक महाकाव्य है समस्त हिन्दी जगत को इस पर गर्व और गौरव है।

साकेत के भाव पूर्ण स्थल :—साकेत के सरस स्थल है—लक्ष्मण-उर्मिला की विनोद वार्ता, कैकेयी-मंथरा-सवाद, विदाप्रसंग, निषाद मिलन, दशरथ मरण, भरत आगमन, चित्रकूट-सम्मिलन, उर्मिला की विरह-कथा, नन्दिग्राम में भरत और माण्डवी का वार्तालाप, हनुमान से लक्ष्मण-शक्ति का समाचार सुनकर साकेत वासियों का रण के लिए रणसज्जा, राम-रावण-युद्ध और राम-भरत तथा उर्मिला और लक्ष्मण का मिलन।[1] कहीं-कहीं पर तो कवि ने मानव वृत्तियों का बड़ा ही तथ्यपरक एव सम्वेदनशील वर्णन प्रस्तुत किया है। डा० नगेन्द्र कहते हैं, 'चित्रकूट में दुख से मिश्रित आवेग का एक सागर उमड़ उठा है जिसमे कैकेयी का कलक कच्चे रंग की तरह बह गया है। वास्तव में साकेत के इस प्रसग का गौरव अक्षय है। कवि की भावुकता की सूक्ष्म ग्राहिणी शक्ति, प्रवणता, उसका विस्तृत अधिकार और प्रवाह अद्भुत है।'[2]

भारतीय संस्कृति विश्व की अत्यन्त प्राचीन सस्कृति है। और कदाचित् सबसे पूर्ण। गुप्त जी राष्ट्रीय कवि है। उनमें भारतीयता ओत-प्रोत है। राष्ट्रीयता में भी उनका क्षेत्र है-संस्कृति। वे भारतीय सस्कृति के कवि हैं। यह उनका सबसे बड़ा गौरव और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।[3]

साकेत प्रबन्ध काव्य है। उसमें जीवन को समग्र रूप में ग्रहण किया गया है। दूसरे, चरित्र नायक हैं आर्य सस्कृति के सबसे महान प्रतिष्ठापक भगवान राम। अतः स्वभावतः ही उसका सास्कृतिक आधार कवि के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और पूर्ण है।

उनके जीवन की विभूति है त्याग। वह त्याग भोग या वैराग्य जनित न होकर अनुराग समन्वित है। वह भावुकता का प्रसाद है, उसमें ज्ञान के विलास के लिए अवकाश कम है। कवि के ही शब्दों में 'अथवा त्याग का संचय, प्रणय का पर्व', 'त्याग और अनुराग चाहिए बस यही।' में उसकी व्याख्या स्पष्ट है।[4]

विघ्नों पर विजय प्राप्त कर सुख का अर्जन और उपभोग यह है पाश्चात्य आदर्श। परन्तु भारतीयों का आदर्श दुखों पर विजय प्राप्त कर सुख का अर्जन और उसका भोग ही नहीं है। हमारे सुख की चरम परिणति है उसके त्यागने में। इसी से नर को ईश्वरता प्राप्त होती है और यह भूतल स्वर्ग बन जाता है। यही हमारे जीवन का आदर्श है और ठीक यही साकेत का सदेश।[5]

'भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।'[6]

साकेत का कवि राम में अनन्य भक्ति रखता है। वह राम के अतिरिक्त ईश्वर के किसी अन्य रूप को मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है। यही साकेत की दार्शनिक पृष्ठभूमि है। साकेत प्राचीन

---

१. डा० नगेन्द्र, साकेत : एक अध्ययन, पृष्ठ ७४
२. वही
३ वही
४ वही पृष्ठ ८०
५ वही
६ साकेत, अष्टम सर्ग, पृष्ठ ३४

और नवीन का सामंजस्य है। प्राचीन में जो बुरा है वह उसे मान्य नहीं और नवीन में जो ग्राह्य है वह उसे अमान्य नहीं। इस समन्वय में गुप्त जी गांधी जी से प्रभावित हैं।

साकेत एक चरित्र प्रधान काव्य है। उसमें उर्मिला का चरित्र दीप शिखा की तरह जल रहा है, किन्तु लक्ष्मण अधिक स्वच्छन्द हैं। वे कैकेयी और दशरथ से कटु वाक्य कह देते हैं। इसके लिए वे दोषी हैं।[1]

साकेत का प्रत्येक पात्र अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है। उनमें व्यक्तिगत और जातिगत दोनों विशेषतायें हैं। साकेतकार ने चरित्र के अच्छे और बुरे दोनों पक्षों का उद्घाटन किया है। कवि आदर्शोन्मुख होता हुआ भी जीवन की जटिलताओं को स्वीकार करता है। साकेत में गीत, प्रबन्ध और नाटक तीनों का समन्वय है। साकेत की सीता मानस की सीता से अधिक क्रियाशील है। गुप्त जी की लेखनी का प्रभुत्व तो प्रकट हुआ है कैकेयी के नव निर्माण में। वह युग-युग से लांछित रानी साकेत में आकर पूर्ण मानवी बनकर अधिष्ठित हो जाती है, जब राम के मुख से निकलता है—

> "सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
> जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।"[2]

इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध समीक्षक डा० नगेन्द्र लिखते हैं—"साकेत की उर्मिला में प्रयत्न कलाकार की तूलिका के चिन्ह दिखाई देते हैं। कैकेयी के अंकन में कलम उसके हाथ से छिन गई और माण्डवी की सृष्टि तो मानो अपने आप ही हो गई है। साकेत की ये तीनों अमर सृष्टियां है, जो लोक के स्मृति पटल पर अनन्त काल तक अंकित रहेंगी और कैकेयी तो साकेत की किंचित सबसे प्राणवान चरित्र है।"[3]

साकेत की भांति ही गुप्त जी की अन्य परवर्ती कृतियाँ भी उसी पृष्ठभूमि और आदर्श से से प्रेरित है, पर उन सबका अनुशीलन यहां सम्भव नहीं है।

सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण गुप्त के प्रायः सभी काव्य-'मौर्य विजय' को छोड़कर सन् १९२० ई० के बाद प्रकाशित हुए है। उनके 'अनाथ' और 'दूर्वादल' की कतिपय रचनायें अवश्य ही द्विवेदी युग में रची गई, परन्तु उनका प्रकाशन छायावाद युग में हुआ। इसलिये 'द्विवेदी युग के परवर्ती विकास' शीर्षक अध्ययन में ही इनके अनुशीलन का हमने निश्चय किया है।

सियारामशरण गुप्त बहुमुखी प्रतिभा के कवि हैं। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास और निबन्ध सभी कुछ लिखा है। उनके कलाकार का समुचित विकास तो उनके विचारात्मक निबन्धों में ही मिलता है। वे अत्यन्त सहृदयशील चिन्तक है। उनकी कविताओं में वही चिन्तक सदैव बैठा रहता है। उनकी काव्य-कृतियों में क्रमशः मौर्य विजय, अनाथ, दूर्वादल, विषाद, आर्द्रा, आत्मोत्सर्ग, पाथेय, मृण्मयी, बापू, दैनिकी, उन्मुक्त, नकुल, नोआखाली, जयहिन्द और गीता-संवाद आदि आती हैं, जिनमें बापू, उन्मुक्त और नकुल को विशेष महत्व प्राप्त है।

---

१ डा० नगेन्द्र साकेत एक   २ साकेत अष्टम सर्ग।
३ साकेत एक

संवत् २०१२ में सियारामशरण गुप्त की कुछ चुनी हुई कविताओं का एक संक्षिप्त संग्रह 'कवि श्री सियारामशरण गुप्त' शीर्षक से भी प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन अज्ञेय जी ने किया है।

अनाथ—यह सन् १९२१ ई० की रचना है। इसमें ग्रामीण जीवन का करुण चित्र अंकित है, जिसमें जमींदार प्रथा, (जिसका अब उन्मूलन हो चुका है, काँग्रेस सरकार द्वारा) बेगारी, शोषण और पुलिस के हृदयहीन अत्याचारों की कहानी है। मोहन और उसकी पत्नी यमुना साधारण ग्रामीण हैं, उनका पुत्र मुरलीधर मृत्यु शय्या पर निःसहाय अवस्था में पड़ा है। इसी पृष्ठभूमि पर जमींदार और पुलिस की क्रूरता, हृदयहीनता का नग्न ताण्डव, प्रारंभ होता है। यह तत्कालीन राजनीतिक स्थिति पर तीखा व्यंग्य है।

दूर्वादल—इस काव्य-संग्रह में सन् १९१५ ई० से १९२४ ई० तक लिखी कवितायें संग्रहीत है। यह काव्य संग्रह सियारामशरण गुप्त की विभिन्न विषयक रचनाओं का क्रमिक विकास बतलाता है। इस संग्रह की तीन कवितायें क्रमशः 'तुलसीदास', 'घट' और 'वर्ष प्रयाण' विशेष प्रसिद्धि पा सकी है जिनमें 'घट' को, जो विचारात्मक भावप्रवण गीत है, पर्याप्त लोकप्रियता मिली है।

दूर्वादल तक पहुंचते पहुंचते कवि की शैली बहुत कुछ परिष्कृत हो चुकी थी, इसमें देश के सांस्कृतिक नवजागरण का सबल स्वर विद्यमान है। इस संग्रह की कतिपय रचनाओं पर छायावादी प्रभाव भी द्रष्टव्य है—

"किस दिन माया जाल तोड़ के
गेह निज छोड़ के,
बाहर हुए थे इस अक्षय भ्रमण को ?
विश्व महा सिन्धु संतरण को ?"[1]

सम्बोधन, आत्मनिवेदन, राष्ट्रीय प्रेम, ईश्वर भक्ति आदि भावों के सफल प्रयोग इन रचनाओं में देखे जा सकते हैं।

विषाद—विषाद का प्रकाशन सन् १९२९ ई० में हुआ। इसमें १५ विषाद भरी रचनायें हैं, जिन पर धर्म पत्नी की मृत्यु का विषाद छाया हुआ है। इसमें घनीभूत पीड़ा बरबस ही मर्म को स्पर्श करती है। कवि सदैव संयत भाव से उस दर्द को नियंत्रित कर रहा है—

"हृदय का ऐसा दाहक दाह
मर्म का इतना गहरा घाव
साधनों का यह वृहदाभाव
वेदना का यह चिर चीत्कार।"[2]

'चिर चीत्कार' में कवि पर छायावादी प्रभाव स्पष्ट है। यहां व्यथा गहरी है। वह नहीं कि मृत पत्नी की स्मृति पुरवाई हवा की भांति कहाँ से आती है और घाव को ताजा करे रही है

"वह भूला भटका मनस्ताप
कर उठा अचानक है विलाप।"[1]

बस स्मृति उठते ही उसका रोम-रोम चीत्कार उठता है, और संचित धैर्य का बांध टूट जाता है।

"हाय ! देकर वह दिव्य प्रकाश
किया है तूने तमो विकास
मेघ ! मत तू ये आंसू डाल
हृदय से ही निष्ठुर है काल।"[2]

कवि अपनी वैयक्तिक वेदना का साधारणीकरण करना चाहता है। उसके लिए वह प्राणपण से प्रयत्नशील है। अपनी वेदना की स्वीकृति भी वह नहीं करना चाहता, किन्तु उसका दुःख इतना तीव्र है कि उस स्नेह की याद बरबस ही आ जाती है–

"तन में, मन में, रोम-रोम में, नख से शिख पर्यन्त
लिखकर तू रख गई स्नेहमयि ! अपना स्नेह अनंत।[3]
* * *
'बार-बार मन में लाता है तेरा स्मरण विषाद
क्षण भर को ही वहाँ मुझे क्या आती है कुछ याद
कभी कल्पना पहुंचाती है क्या तुझ तक यह बात
मैं इस समय कर रहा हूंगा नीरस अश्रु निपात ?"[4]

जीवन में करुणा की वर्षा करने वाली यह रचना विरहियों को अवश्य भावेगी। कवि वैयक्तिक अनुभूति, आत्म पीड़ा और विस्मृति के दर्द से तड़प रहा है। संयम और संकोच ने उसे नियन्त्रित कर दिया है, वरना वह इतना खुलकर रोता कि सब दंग रह जाते। 'विषाद' की करुणा का धरातल शुद्ध व्यक्तिगत है। उसमें स्वर्गगता पत्नी के वियोग में कवि ने अत्यन्त मार्मिक, किन्तु सयत कवितायें लिखी हैं। मृत्यु के समक्ष मानव कितना असहाय है; उसका प्रेम, उसकी कल्पना, उसका बुद्धि वैभव सभी कुछ अपने प्रियजन को मृत्युपाश से मुक्त करने में असमर्थ रहते हैं। वह बेचारा स्मृति, स्वप्न, कल्पना आदि की सहायता से भी अपने प्रिय को प्राप्त नहीं कर पाता। विकल कवि दिवास्वप्न देखता है—

"हो सकती भव बीच नहीं क्या कोई नूतन बात ?
आ जा आज यहाँ फिर से तू सस्मित पुलकित गात।"[5]

आर्द्रा—सन् १९२८ ई० में रचित इस संग्रह में कुल १३ कवितायें हैं। इसमें कथात्मक शैली में सामाजिक चित्र मिलते हैं। 'हूक' कविता में बेटी 'रमा' की हृदय गति रुक जाने से होने वाली मृत्यु का करुण चित्रण है। यहां मानव की अतृप्त आकांक्षाओं का भी वर्णन है। सामाजिक कुरीतियों पर भी इसमें दृष्टि निक्षप किया गया है देश की दरिद्रता अशिक्षा नग्नता पर कटू

क्तियां हैं। अन्याय और क्रूरता के ताण्डव को देखकर कवि के हृदय में हूक उठी है। 'खादी की चादर' चम्पारन का कारुणिक चित्र है। 'नृशंस' शीर्षक कविता में दहेज प्रथा की पृष्ठभूमि में समाज को 'घातक-समाज कंस' की संज्ञा दी गई है। 'एक फूल की चाह' में अछूतों के प्रति किए गए अत्याचारों का हृदयस्पर्शी वर्णन है। इस कविता की पहली पंक्ति 'मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो।'[1] के कान में पड़ते ही सम्पूर्ण दृश्य पाठक के सामने आ जाता है। दीन अछूत सुखिया की बीमारी, मृत्यु, उसके बाप का मन्दिर प्रवेश, समाज के ठेकेदारों द्वारा पीटा जाना और जेल यात्रा और बंदीगृह से लौटने पर सुखिया की चिता की राख पाना आदि-आदि...। उस समय उस विवश अछूत पिता के पश्चात्ताप का जायजा लीजिये।

"हाय! फूल-सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी।
अन्तिम बार गोद में बेटी
तुमको ले न सका मैं हाय।
एक फूल मां का प्रसाद भी
तुमको दे न सका मैं हाय।'[2]

यह कविता सियारामशरण गुप्त की सबसे अधिक पठित रचना है।

आत्मोत्सर्ग—संवत् १९८८ (सन् १९३१ ई०) अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के बलिदान के अवसर पर यह राष्ट्रीय कथाकाव्य लिखा गया। विद्यार्थी जी की मृत्यु नि:सन्देह एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय शोकपूर्ण घटना थी। इस पुस्तक के प्रारम्भ में महात्मा गांधी के दो शब्द और मैथिलीशरण गुप्त की श्रद्धांजलि भी है। कानपुर के विषाक्त साम्प्रदायिक दंगे और उसमें निर्भीकता पूर्ण बलिदान की मार्मिक कथा 'आत्मोत्सर्ग' में वर्णित है—

"हाजिर मेरा खून, तुम्हारा
फूले-फले इस्लाम।"[3]
"अब मत भोगो, अपने हाथों
अरे बहुत तुमने भोगा
हिन्दू-मुसलमान दोनों का
यह संयुक्त राष्ट्र होगा।"[4]

विद्यार्थी जी की हत्या पर कवि चीत्कार कर उठता है—

"अरे दीन के दीवानो, हा!
यह तुमने क्या कर डाला?
अपने हाथ खून से रंग कर
किया स्वयं निज मुख काला?"[5]

सचमुच विद्यार्थी जी की हत्या राष्ट्रीय चरित्र पर एक धब्बा ही है।

---

१ सिय[illegible] गुप्त फूल की चाह। २ वही आर्द्रा पृष्ठ २९
[illegible]

पाथेय—सम्वत् १९९० (सन् १९३३ ई०) पाथेय में तीन-चार वर्षों की लिखी हुई कवितायें संग्रहीत हैं। इसमें कवि मानवीय तत्वों के सहारे नव-निर्माण के शिलान्यास करने की चेष्टा कर रहा है। इस संग्रह की 'शंखनाद' शीर्षक रचना को छोड़कर शेष रचनाएं शुष्क एवं विचारों से बोझिल हैं।

मृण्मयी—संवत् १९९३ (सन् १९३६ ई०) इसमें लघु कथा के सहारे जीवन की गुरुतम समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इसके गीत धरती के गीत हैं। बुन्देलखण्ड के उन्मुक्त जीवन का हृदय-स्पन्दन इन रचनाओं में उभर आया है। धरित्री के शस्य-श्यामल रूप की सजग आह्लाद-पूर्ण प्रेरणा इस पुस्तक का मूल है।

बापू—(रचना काल सन् १९३८ ई०) गुप्त बन्धुओं पर राष्ट्र पिता गांधी जी का प्रचुर प्रभाव पड़ा था। उनके वैष्णव कवि-हृदय पर 'बापू' के सत्य-अहिंसा के सिद्धान्तों की अमिट छाप लग गई। अपने बापू शीर्षक काव्य में सियारामशरण गुप्त ने युग पुरुष महात्मा गांधी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। 'बापू' में महात्मा जी के धर्म-प्राण व्यक्तित्व को भूमण्डल तथा मानव इतिहास की पृष्ठभूमि पर रखकर कवि ने गहन दृष्टि का परिचय दिया है। पुस्तक के प्रारम्भ में अपनी भूमिका में महादेव भाई देसाई ने गांधी को धर्म-तीर्थ रूप में स्वीकार किया है। देसाई के विचार से मानवता को गांधी जी की सबसे बड़ी देन है 'अभयदान'। त्रस्त मानवता का गांधी जी ने बड़ा उपकार किया है। बापू की कुछ पंक्तियां देखिए—

"जिसने किया है महातंक छिन्न
विश्व के प्रपीड़ितों के अन्तर से,
बोध का प्रदीप दीप्त कर के
जिसने दिखाया—दीन दुर्बल नहीं है हीन,
वह है निरस्त्र भी महत्वासीन
अपने अजेय आत्मबल से;
अन्य के अपार शक्ति-छल में
मुक्त सर्वथैव वह एक मात्र स्वेच्छाधीन।"[1]

'बापू' की प्रथम कविता में श्रद्धालु जनता की प्रतीक्षा का सुन्दर वर्णन है। गांधी जी के दर्शन के लिए लोग धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा-रत हैं। अन्तर्मन की भावनाओं को सरल भाषा में व्यक्त करने की क्षमता सराहनीय है। कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"आई अहा! मूर्ति वह हंसती;
जैसे एक पुण्य-रश्मि स्वर्ग से उतर के
अन्ध तमः पुंज छिन्न करके
दीख पड़ी अंतस् के अंतस् में धसती।
आत्म मणिका-सा पारदर्शी पात्र,
दृष्टि हेतु गात्र उपलक्ष मात्र,
भीतर की ज्योति से छलकता।"[2]

१ बापू, पृष्ठ ५१ २ वही पृष्ठ ६

कवि ने गांधी को सर्वत्र इसी रूप में देखा है। मानव की सात्विक वृत्तियों को जागृत करने मे उनका सबसे बड़ा योग रहा है। वे श्रद्धा की मूर्ति थे। उन्होंने युग को कर्म का मंत्र दिया। भौतिक जगत के अन्धकार मे वे अध्यात्मिक प्रकाश पुंज थे। सत्य-अहिंसा को उन्होंने साधन ही नहीं, साध्य-रूप मे ग्रहण करके मानव को भावी-निर्माण की नई दिशा प्रदान की। ज्ञान की नित्य शुद्ध-बुद्ध शक्ति के वे प्रतीक थे।

इस सग्रह की अंतिम कविताओं मे मानवता के ह्रास पर कवि का क्षोभ भी व्यक्त हुआ है। विडम्बना, रक्तपात तथा हिंसा से ग्रसित यह पृथ्वी क्या विनाश के पथ पर जा रही है, यह प्रश्न कवि के मन में बार-बार उठता है, जिससे वह पूछ बैठता है 'मानव है नाश के कगार पर ?' कवि सियारामशरण बाबू के मन में पीड़ितो के प्रति सहानुभूति स्वाभाविक है। परन्तु स्मरण रहे कि तमाम शकाओं, बाधाओ और असंगतियों के बावजूद कवि निराश नहीं है। वह मीलों लम्बी जुमहाई नही लेता। घुटन-रिक्तता और निराशा से ऊपर उठ कर वह प्रकृति के विलास और मानव के विकास पर विश्वास करता है। मानव के भविष्य के सम्बन्ध में वह आश्वस्त है। सभवतः सृजनशील आस्था ही उसने गांधी जी के अहिंसा-दर्शन से ग्रहण किया है—

"श्री गणेश यह है नवीनता के सृजन का
आद्य अक्षर नव्य-भव्य जीवन का ।"

'सत्य का विशुद्धोचार' करता हुआ कवि 'बापू' का समाहार करता है। इसमे शब्द-चयन, भाव-निरूपण और नूतन-छंद विधान की दिशा में कवि को सफलता मिली है। 'बापू' एक व्यक्ति-काव्य है। इसमें कवि को श्रद्धा, देशभक्ति और आदर्श सभी कुछ घुल मिलकर एक हो गया है। कवि भारत की ओर सकेत करके बोल उठता है—

"देश, अरे मेरे देश,
तेरी उच्चता में दृढ़ है नगेश,
अतल गम्भीरता में सागर है,
मन की पवित्रता में गंगा की लहर है।"

'बापू' काव्य के सम्बन्ध में प्रो० सहल का मत भी पठनीय है—"बापू कवि की अन्तरात्मा का सगीत है। गुप्त जी मानवता के कवि हैं और इस रचना में मानवता ही झंकृत हुई है। बापू' एक उत्कृष्ट गीतिकाव्य है। इसमें गांधी जी के दिव्य और अलौकिक गुणों की गाथा है। यह हिन्दी की मुक्तक परम्परा का अच्छा नमूना है। कवि को अपनी इसी कृति पर सबसे अधिक सन्तोष है,—शायद अभी तक मैं अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति लिख नहीं सका हूं, फिर भी कविता में सबसे अधिक आत्मतुष्टि मुझे 'बापू' से हुई है।

'बापू' के प्रत्येक उच्छ्वास का यदि विश्लेषण किया जाय तो उससे भाव की एक रूपता सहज ही सिद्ध की जा सकती है। पहले उच्छ्वास मे यदि भाव प्रवण चित्र हैं तो दूसरे में सुन्दर दृश्य। प्रत्येक उच्छ्वास में एक ही भावना अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। शब्दो को तौल तौल कर रखा गया है। पन्द्रहवां और उन्नीसवां ये दो गीत जरा बड़े हैं, शेष सभी छोटे-छोटे हैं। पन्द्रहवें गीत में कवि की हार्दिकता फूट पड़ी है

"कवि रे, अरे, क्यों आज तेरे गीत गीले ये
तेरे स्वर-तार सभी ढीले ये ?

१८ वें गीत में देश-प्रेम सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। अप्रस्तुत बोल चाल के वर्णन द्वारा देश की राजनैतिक हलचल की ओर संकेत है। बापू को एक जगह ईंधन रहित शुद्ध अग्नि-ज्वाल कहा गया है। उनमें सब काल और देश की विभूतियों का समन्वय है। 'बापू' के साथ धरित्री में जागृति का मांगलिक सुप्रभात हुआ है। 'बापू' प्रधानतः एक वीर पूजात्मक काव्य है। इस रचना को साहित्यिक वीर काव्य का नाम देना उपयुक्त होगा। यह वास्तव में भावना का काव्य है। इसमें कहीं गांधी जी के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। कवि ने शायद जान बूझ कर ऐसा किया है।

उन्मुक्त (सन् १९४० ई०)—यह एक सजीव गीत-नाट्य है, जिसकी प्रेरणा कवि को अहिंसावाद से मिली है। जागरूक चेतना के सभी लक्षण इस गीत नाट्य में विद्यमान हैं। युद्ध की भूमिका में मानव के मूलभूत सिद्धान्त और नव समाज व्यवस्था के निर्माण की ओर सुन्दर संकेत किया गया है। यन्त्र युग के अभिशापों का सजीव वर्णन इस काव्य में मिलता है। आज प्रायः सभी राष्ट्रों की शक्ति सैन्यबल अर्जित करने में लगी है। विनाश और संहार के स्वर धरती को कंपा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में कवि इस काव्य द्वारा प्रकट करता है—

"हिंसा से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी मंगल है।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर—
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।"

इसके सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र लिखते हैं—'उन्मुक्त' रूपक है, लौह द्वीप के अधिपति ने समस्त संसार को अधिकृत करने का रक्तमय अनुष्ठान किया है। ताम्रद्वीप, रौप्य-द्वीप ध्वस्त हो चुके हैं। अब कुसुम-द्वीप पर आक्रमण हुआ है। कुसुम द्वीपवासी वीरता से लड़ते हैं उसका सेनानी पुष्पदन्त, सारी शक्ति लगा देता है और अन्त में भस्मक किरण का भी उपयोग करने को बाध्य हुआ, किन्तु भाग्य ने साथ न दिया। कुसुम-द्वीप भी पराजित हो जाता है। पुष्पदन्त, गुणाधार, और मृदुला इस द्वीप के संचालक व्यक्ति थे। 'उन्मुक्त' का संदेश है—सबके हित में लाभ करो निज विजय श्री का'। सुश्रुषालय 'उन्मुक्त' का महत्वपूर्ण भाग है। इसमें द्रवित भावनाओं के बीच वीरता बिजली की भांति चमक उठी है। यह कवि की अन्तर्मुखी साधना का फल है। इसमें चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है।'

उपर्युक्त मान्यताओं से हटकर हमें कुछ कहना है। 'उन्मुक्त' में गांधीवादी विचारधारा का प्रचार अवश्य हुआ है, परन्तु वास्तव में अहिंसा का सिद्धान्त हिंसक, बर्बर, दुर्दान्त पशु प्रवृत्ति वालों के सामने टिकता नहीं। उनसे पार पाने के लिए शक्ति, साधन और युद्ध तथा कूटनीति ही रामबाण सिद्ध होती है। अस्तु कवि की भावना अत्यन्त ऊंचे धरातल पर तो सराहनीय है, किन्तु राष्ट्रीय नीति की नींव डालने और जीवंत समाज की रचना मे यह कोरा सिद्धान्त मात्र होगा।

बड़े आश्चर्य का विषय तो यह है कि हिन्दी में जिस समय दिनकर नवीन भारतीय

आ मा के पूव राम की शक्ति पूजा जागो फिर एक बार की घोषणा महाप्राण निराला बहुत पहले ही कर चुके थे उस समय सियाराम बाबू इतने निर्जीव क्लीव काव्य की रचना मे किस प्रकार लीन हुए ? गांधी जी के अहिंसा सिद्धान्त में वीरता, ओज पौरुष के सर्वत्र दर्शन होते हैं, पर सियारामशरण गुप्त का काव्य तो पराजित स्वर का कारुण्य लेकर चला है।

दैनिकी—सियारामशरण गुप्त के इस संग्रह में ६०-७० छोटी-छोटी कवितायें दैनिक जीवन की गाथा लिए खड़ी है। यह युद्ध जनित घटनाओं की डायरी के पृष्ठों की तरह तथ्यगत वर्णन हैं। दैनिकी उनकी एक सुन्दर रचना है क्योंकि इस कृति में उन्होने अनुभव किया कि मिट्टी की झनझनाहट ही इस युग की सच्ची कविता है। कवि प्रायः सर्वहारा पर आंसू बहाकर शोषकों में करुणा उत्पन्न करना चाहते हैं, उन्हें दैनिकी के कवि ने उच्च स्वर से ललकारा है।

> "करता है क्या ? अरे मूढ़, कवि यह क्या करता ?
> उत्पीड़ित के अश्रु लिये ये कहां विचरता ?
> दिखा दिखा कर इन्हें न कर अपमानित उसको,
> लौटा आ तू इन्हें उसी पाषाण-पुरुष को।"

सियाराम बाबू में कला की उपासना कम विचारों का सेवन अधिक है, इसीलिए उनका काव्य गद्य से बहुत निकट पहुंच गया है।

नकुल—यह एक खण्ड काव्य है और इसका आधार महाभारत का वनपर्व है। इसमें युधिष्ठिर के धर्मनिष्ठ होने का प्रमाण है। नकुल की कथा में स्वतन्त्रता से भी काम लिया गया है,। वह बिल्कुल ऐतिहासिक खण्ड काव्य नहीं है। इसमें व्यक्ति की अपेक्षा घटना ही प्रधान है। इसमें लघु मानव की जय और उसकी पावनता का अधिकार सिद्ध किया गया है। प्रकृति वर्णन मे कवि को सफलता मिली है। छोटे के लिए बड़े का स्वेच्छा से आत्मत्याग यथार्थ धर्म है। युधिष्ठिर कहते है—

> "छोटे के लिए भी बड़े से बड़ा समर्पण
> किया जाय जब, तभी धर्म-धन का संरक्षण।"

इतना ही नहीं, आगे बढ़ कर सियाराम बाबू गांधीवाद के स्वर से ऊंचे स्वर में मानवता की वकालत करते हैं। उनकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> "लेना होगा निखिल-क्षेम-व्रत निर्भय हमको।
> देना होगा बड़ा भाग लघु से लघुता को ॥

नकुल का कथानक, घटनायें, रस, चरित्र, भाषामार्दव और अलंकार विधान सभी कुछ अपेक्षाकृत यथेष्ट हैं। काव्य विधान में इसकी कथा केवल १२ घण्टे की है और युधिष्ठिर के उदात्त चरित्र की उच्चता प्रमाणित हुई है। नकुल तो निमित्त मात्र है।

'नोआखाली,' 'जयहिन्द' और 'गीता सम्वाद' ये उनकी अन्य कृतियाँ है। 'नोआखाली' की रचना सन् १९४६ के उस नृशंस साम्प्रदायिक बवंडर पर एक मलहम है 'जयहिन्द' १५ अगस्त १९४७ के स्वाधीनता दिवस पर लिखी गई एक २०० २५० पंक्तियों की लम्बी कविता है

इसमें अतीत गौरव, वर्तमान उल्लास और भावी आशायें व्यक्त हुई हैं। भाव-विह्वल कवि पूछता है—

'कवि के स्वतंत्र देश
तेरे लिए कौन नया गीत आज गाऊं मैं'

और 'गीता-संवाद' अनुष्टुप छन्दों में लिखित गीता का समश्लोकी अनुवाद है। 'कवि श्री सियारामशरण गुप्त' अज्ञेय जी द्वारा सम्पादित एक ऐसी पुस्तक है, जिसमें गुप्त जी की प्रायः सभी अच्छी रचनाओं के कुछ अंश आ गए हैं। उसी में सभी कृतियों का सन्-सम्वत भी दिया गया है। इसका प्रथम संस्करण २०१२ वि० में प्रकाशित हुआ था। यहां हमने उसी की तिथियों को प्रामाणिक मानकर ग्रहण किया है। उसी संग्रह में 'घट' शीर्षक प्रतीकात्मक सुन्दर रचना भी दी गई है जिसके शब्द-चयन और अनुप्रास तथा वर्णन की सफाई द्रष्टव्य है—

'कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज घिस घिस कर सारे तन में,
किस निर्मम, निर्दय ने मुझको बांधा है इस बंधन में
फांसी-सी है पड़ी गले में नीचे गिरता जाता हूं।
बार-बार इस महा कूप में इधर-उधर टकराता हूं।'

समग्र विवेचन :—'सुस्थिर और व्यवस्थित अध्ययन के उपरान्त मेरे मन में सियारामशरण गुप्त की कविता के विषय में ये धारणायें बनी हैं—

(१) उनकी कविता का मूल भाव करुणा है।
(२) उनकी काव्य-चेतना का धरातल शुद्ध मानवीय है, दूसरे शब्दों में उसका मूलभूत जीवन-दर्शन विशुद्ध मानववाद है, जिसपर गांधी जी के सिद्धान्तों की गहरी और प्रत्यक्ष छाप है।
(३) इनकी कविता का प्रभाव एकान्त, सात्विक और शान्तिमय होता है।
(४) परन्तु सियारामशरण ने मुक्ति को बचाकर भुक्ति की साधना की है इसलिये इस कविता में जीवन का स्वाद कम है।

मौर्य विजय से लेकर नकुल तक सियारामशरण गुप्त के अनेक काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें मौर्य विजय और नकुल खण्ड काव्य हैं। 'उन्मुक्त' काव्य-रूपक है। 'बापू' व्यक्ति-काव्य है, 'आत्मोत्सर्ग' चरित्र काव्य है। 'पाथेय', 'मृण्मयी' और 'नोआखाली' तथा 'दैनिकी' में स्फुट विचार हैं। मौर्य विजय को छोड़कर सभी का प्रधान स्वर करुणा है। इस करुणा के व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनों ही कारण हैं।

व्यक्तिगत धरातल पर इस कवि ने स्वास्थ्य, दाम्पत्य प्रेम और लोक स्वीकृति इन तीनों के अभाव का अनुभव किया है। समष्टिगत जीवन में भी वह युग पराजय का था। राजनीतिक जीवन में कांग्रेस बार-बार असफल हो रही थी और उधर सामाजिक जीवन पर रूढ़ियों का सर्प इतनी गहरी कुंडली मारे बैठा था कि आचरण-सुधार के सभी आन्दोलन उसको अपने स्थान से हिलाने-डुलाने में असमर्थ हो रहे थे। विषाद के इस सार्वभौम साम्राज्य में सियारामशरण गुप्त की कविता का विकास हुआ और उसमें करुण स्वर का प्राधान्य हुआ।[1]

---

1 डा० नगेन्द्र गुप्त पृष्ठ ६७

डा० नगेन्द्र के उपर्युक्त उक को हम स्वीकार करने में इसलिये असमर्थ हैं कि करुणा और दर्द तो काव्य को गति देते है और रही बात तत्कालीन राजनीतिक हार या कांग्रेस की पराजय की, वह भी इतिहास से मेल नहीं खाती। सन् १९२१ के पूर्व कांग्रेस की हार कुछ अर्थ रखती थी, पर उसके बाद तो कांग्रेस को बराबर समर्थन मिलता रहा। अंग्रेज जितना ही उसे दबाने की कोशिश करते, जनता उतना ही उसका समर्थन करती थी और सन् १९३० के बाद तो कांग्रेस देश-विदेश हर जगह, ख्याति प्राप्त संस्था बन गई थी। फिर उसी समय मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के काव्य में शोले बरस रहे थे। श्यामनारायण पाण्डेय की वीर रस की कवितायें और दिनकर के राष्ट्रीय गीत भी प्रारम्भ हो चुके थे। फिर केवल सियारामशरण गुप्त पर ही सारी करुणा क्यों छा गई ? मेरे विचार से—

सियारामशरण गुप्त का तन रोगी, मन योगी, कवि वियोगी और हृदय करुणा-भोगी था। उनमें चिन्तक की गम्भीरता, साधक की साधना, सज्जन व्यक्ति की ईमानदारी तो भरपूर रही है, किन्तु उस कवि के पास जीवन का आवेग, उल्लास, हास विलास और रागात्मक तत्व बहुत कम हैं। यही कारण है कि उनके काव्य में श्मशान की शान्ति और स्वर्ग की पवित्रता तो है, पर विवाह का उत्सव, युद्ध की ललकार और प्रेम का उन्माद कहीं नहीं दिखाता। उनका कवि इतना अधिक संवेदनशील हो गया है कि वह जिन्दगी की रंगीनियों को कौन कहे, दुख के दुर्दान्त आघातों को भी नही देख पाता। वह एक समाधिस्थ योगी की तरह लोगों के कल्याण की कामना तो करता है, पर उसमें विराट् 'काम' का कोई स्पन्द नहीं। जीवन में व्याप्त कवि की करुणा, वैयक्तिक जीवन की मूर्छना और आत्मरसपीड़ा ने उन्हें इतना धोया था कि वे तरंगाधातों में निर्जीव व्यक्तित्व के साथ बहते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उनका कवि निर्बल, हारा हुआ और मन्द है। उसमें उर्मियों का क्रन्दन नहीं, भावों का नन्दन नहीं।

हिन्दी के एक लेखक ने सियारामशरण के निबन्धों के प्रभाव के सम्बन्ध मे लिखा है कि इनका मन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जैसा निमृत मदिर में मन्द-मन्द जलते हुए 'घृतदीप' का। डा० नगेन्द्र इसपर टिप्पणी देते हुए लिखते है—'यह उक्ति उनके समस्त साहित्य पर घटित होती है, विशेषकर उनके काव्य पर पूर्णतः घटित होती है।'

युग के तूफान और आंधी के बीच उनका मंदिर-दीप नीरव, निष्कंप जलता रहता है। इनकी कविता में शान्ति और सात्विकता मिलती है। कवि ने अपना अहंकार पूर्णतः पीड़ा में घुला मिला दिया है। उन्होंने मुक्ति को बचाकर भुक्ति की साधना की है। इसलिये उसमें जीवन का स्वाद कम है।

नारी की ओर दृष्टि डालने से पूर्व यह सत्पुरुष अपनी आंखों को मानो गंगाजल से आंज लेता है। यों तो इनके काव्यों में नारी के विविध रूपों का वर्णन है, पर कहीं वे रति की आलम्बन प्रकृति नारी के रूप में तथा मन का उद्घाटन नहीं कर सके हैं। नारी के लिए उन में श्रद्धा और संकोच-मिश्रित स्निग्धता भर है। शृंगार का प्रसंग आते ही कवि पर दोनों भाव आरूढ़ हो जाते हैं। जैसे

'करती थी वह वहां अकेली स्नान-विमज्जन।
अंजलि से जल वक्ष बाहु कच भिगो भिगोकर,
जल धारा मे पसर गई वह लम्बी होकर।

उपर्युक्त रूप वर्णन कितना फीका है। कवि के पास रमणी के रूप को पाने की दृष्टि नहीं है या फिर उसमें साहस और शक्ति नहीं। कवि रूप से आंखें फेरकर आकाश देख रहा है। माना कि नारी के अनेक पूज्य रूप हैं, पर नारी का प्रकृत नारी-रूप भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है, जिसके शरीर और मन में उपभोग की भूख है, जो स्वयं उपभोग बनकर तृप्ति पाती है ; उस सहज नारी रूप की उपेक्षा मूल नारी रूप की उपेक्षा है। जीवन का कवि कभी उसकी ओर से विमुख नहीं हो सकता। अहम् के सत और असत् दोनों रूपों की जीवन में सार्थकता है। स्नेह, करुणा, श्रद्धा, विनय, शान्ति, अहिंसा की भांति घृणा, कठोरता, अहंकार और वासना का भी जीवन में निश्चित स्थान है। और 'काम' तो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। श्रेय और प्रेय दोनो मे काम है। डा० नगेन्द्र का निम्नलिखित कथन अक्षरशः सत्य है—

'सियारामशरण गुप्त की कविता में अमृत है, पर मनुष्य को अमृत ही नहीं, रस चाहिए। वह रस पर जीता है।' और जीवन-रस का अभाव तो सियारामशरण गुप्त की सम्पूर्ण कविता में व्याप्त है। यहां तक कि करुणा और दीनता के चित्रण में भी वे कचोट और संवेदना को ठीक उभार नहीं दे सके। देखिए 'बिरजू' जो उनकी फुटकल कविताओं में एक सटीक प्रयोग है, वह गरीब है। दाल की चक्की पर काम करता है, और जरा सा दम लेते देखकर मालिक उसे निकाल देता है, कहता है कि बिरजू के लिए कोई काम नहीं है—

''इस नई दाल की चक्की पर बिरजू, वह नाटा सा मजूर,
करता है काम कई दिन से करके अपने को चूर-चूर।
कह दिया गया उससे यह है—कल से उसका कुछ नहीं काम,
उसके स्वामी अवलोक गए, वह बैठा था लेकर विराम।'

कला शिल्प—कला के लिए अन्तर्मुखी वृत्ति की आवश्यकता है, जिसके दो प्रमुख रूप हैं—चिन्तन और कल्पना। सियारामशरण बाबू में चिन्तन प्राचुर्य है। वे कहते कम, संकेत अधिक करते है। व्यंग्य उनका तीखा अस्त्र है। उनकी कला समृद्ध न होकर स्वच्छ है। वह बीसवीं शताब्दी की पाश्चात्य नारी में 'चर्च की नन्स' की भांति निर्मल है। उनमें अर्थ-गाम्भीर्य और प्रौढता के कही-कहीं दर्शन् हो जाते हैं। उनके काव्य में संस्कार और साधना का समन्वय है। वे साधक कवि हैं। उन्होने प्रेय को छोड़कर श्रेय की साधना की है। इसीलिए उन्हें लोकप्रियता नही मिली।

कवि के काव्य की करुणा आज की चिर परिचित भौतिक कुंठाओं की करुणा न रहकर भारतीय अध्यात्म की मानव करुणा, भगवान बुद्ध की मैत्री-करुणा बन जाती है। उसमें आशा और विश्वास के अमर सन्देश मुखर है। मानव जीवन मे पाशव प्रवृत्ति उदय होती है, वह जीवन का सत्य नही है घृणा पर स्नेह की प्यार की विजय गांधीवाद की घोषणा है कवि ने गांधी वाद के तात्विक रूप को ही ग्रहण किया है उन्मुक्त और नकुल में

सर्वत्र उसी की स्थापना का सतत् प्रयत्न है। इतने के बावजूद कवि को लोक स्वीकृति और यश नहीं मिला, यह एक सत्य है। तब यही कहना पड़ता है कि नियति के सामने मानव विवश है। सारी वैज्ञानिक उपलब्धियों के उपरान्त, हम नियन्ता नहीं शासित ही हैं।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी

स्वप्न—त्रिपाठी जी के दो खण्डकाव्यों—'पथिक' और 'मिलन' का उल्लेख हो चुका है, किन्तु उनका यह तीसरा खण्डकाव्य भी उसी शृंखला का एक अंग है। इसकी रचना अवश्य ही द्विवेदी युग के बाद हुई, पर विषय, वर्णन प्रणाली और कथात्मकता आदि पूर्ववर्ती काव्य की भांति ही चलते हैं। अस्तु द्विवेदी-युग के परवर्ती विकास में इस काव्य का रखना ही सर्वथा उचित है। दूसरी बात—जिस छायावाद युग में इसकी रचना हुई उससे यह अलग ठहरता है। इसके निर्माण के सम्बन्ध में (रचना काल जेष्ठ दशहरा, सं० १९८५) कवि स्वयं लिखता है—

"जेठ के दशहरे के दिन से 'स्वप्न' का प्रारम्भ हुआ और लगातार १५ दिनों तक यह पहलगांव (काश्मीर) में, हिमपर्वत से घिरे हुए हरित-पुष्पित-सुरभित-सघन वन से अलंकृत एक अन्तराल में, चांदी की धारा के समान उज्ज्वल और प्रखर प्रवाहित नाले के तट पर तम्बू में रहकर तथा गुलमर्ग में मैंने इसे पूर्ण किया। पहले इसे कई प्रकार के छंदों में लिखा था, पर अन्त में पांचों सर्ग एक ही छंद में कर दिए।"[1]

'पथिक' कवि की दक्षिण यात्रा का स्मृति चिन्ह है और यह 'स्वप्न' उत्तर यात्रा का। इसमें नवयुवकों के दुविधामय हृदय को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। आजकल जो देश मे एक ओर दुःख दैन्य करुण-रस उत्पन्न कर रहा है, तो दूसरी ओर सौन्दर्य, शृंगार और सुख के लिये प्रकृति का प्रोत्साहन पाने की चेष्टा है। नवयुवकों को करुणा और शृंगार के बीच का मार्ग चुनना है। दोनों का आकर्षण समान है, फिर युवक कहां जायें ? इस समस्या का समाधान ही 'स्वप्न' खण्ड काव्य है।

कवि त्रिपाठी जी प्रकृति के पुजारी हैं। उनका प्रकृति-प्रेम इस कृति में भी पथिक की भांति उमड पड़ा है। काश्मीर की सुषमा का भी इसमें यत्र-तत्र समावेश है, किन्तु कवि का ध्यान तो परदुख, देश-प्रेम, सेवा और त्याग पर लगा हुआ है, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है—

"भोग नहीं सकता हूं गृह-सुख
भूल नहीं सकता हूं पर-दुख
यौवन विफल जा रहा है यह
जैसे शून्य-सदन में दीपक।"

दीपक का महत्व जलने में है। उसका काम प्रकाश और ज्योति का फैलाव करना है, पर प्रश्न उठता है कि वह प्रकाश और ज्योति किसके लिए, यदि घर ही सूना हो, उसमें कोई व्यक्ति ही न हो। आगे चलकर कवि के मन में शंका उत्पन्न होती है कि मैं क्या हूं, कौन हूं और यहां क्यों आया ? मैं स्वयं दृश्य हूं अथवा दर्शक ? इन उलझनों के कठघरे में बन्द स्वप्न का कवि इस निष्कर्ष पर पहुंचता है

१ स्वप्न पृष्ठ ९

सेवा है महिमा मनुष्य की
न कि अति उच्च विचार-द्रव्यबल
मूल हेतु रवि के गौरव का
है प्रकाश ही न कि उच्च स्थल ।"

'स्वप्न' की नायिका 'सुमना' त्रिपाठी जी की एक अप्रतिम वारांगना और अद्भुत सौन्दर्य-सृष्टि है। देश जब विदेशी आक्रमण से दलित पराजित होने लगता है और राजा भाग जाता है, प्रजा में देश-प्रेम है पर उसका सचालन ठीक नहीं हो पाता, तब सुमना अपने पति से निवेदन करती है उस युद्ध में सम्मिलित होने के लिए। वह भोग-विलास में आकण्ठ डूबा हुआ व्यक्ति है, कर्तव्य का पालन नहीं करता।

अपने पति की रति-आसक्ति से ऊबकर 'सुमना' स्वयं युद्ध के मैदान में चली जाती है। वहाँ वह भेष बदलकर पुरुष के रूप में, अपने साहस, वीरता और रणकौशल से शत्रुओं के छक्के छुड़ा देती है। छद्मवेश में वह अपने पति से भी मिलती है और उसे समझाती है, 'तुम वीरता से लड़ो, सम्भव है सुमना तुम्हें युद्ध के बाद मिल जाय।' विरही 'वसंत' युद्ध जीतने के विचार से नहीं, 'सुमना' को प्राप्त करने की लालसा से युद्ध में प्रविष्ट होता है। अन्त में 'सुमना' और 'वसन्त' के अथक प्रयत्नों से विजयश्री हाथ लगती है। 'सुमना' वास्तविक रूप में प्रकट होकर 'वसंत' को चकित कर देती है। कथा यहीं खत्म हो जाती है।

कल्पना के आधार पर रचित यह खण्डकाव्य एक सोद्देश्य रचना है। सन् १९२१ ई० में महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन चला था और विदेशी सत्ता से जूझने अनेक स्त्री-पुरुष निकल पड़े थे। उसी यज्ञ में कवि ने अपनी यह कृति अर्पित की है। इस रचना में भाषा का प्रवाह, विषय की स्पष्टता और ओज भरपूर है। इस खण्डकाव्य में नायिका का चरित्र उस समय चरम सीमा पर पहुँच जाता है, जहाँ वह अपने प्रियतम को छोड़कर प्रेम देश में युद्ध करती है। नारी जब एक बार अपने कर्तव्य पालन का संकल्प कर लेती है तब भला उसको कौन रोक सकता है—

"नाथ ! तुम्हारी कायरता का
मैं ही एक मात्र हूं कारण
मुझको ही करना होगा अब
यह कलंक—कालिमा—निवारण
अर्द्धांगिनी तुम्हारी हूं मैं
तुम न सही तो मैं ही जाकर
उभय कुलों की मर्यादा की
रक्षा में होऊंगी तत्पर।"

सुमना पर आधुनिकता का भी प्रभाव है। वह वर्तमान युग की शिक्षित विवेकशील नारी का प्रतिनिधि है। उसके सामने जब देश-प्रेम और पति प्रेम में से एक को चुनने का अवसर आता है तब वह देश प्रेम को वरीयता देकर नारी जाति को उच्च आसन प्रदान कर देती है

"निज कर्तव्य परायण सुमना
उसी रात में पुरुष वेश धर
तम में लुप्त हो गई घर से ।"

'वसंत' को सुमना प्रेरणा ही नहीं देती है, वरन् वह आकर स्वयं उसे युद्ध-स्थल पर ले जाती है। यहां 'वसत' और 'सुमना' दोनों प्रतीकात्मक नाम हैं। वसत के आगमन पर सभी सुन्दर पुष्प खिल जाते हैं, उसी प्रकार 'वसंत' नायक के रण में आने पर 'सुमना' नायिका गद्गद् हो जाती है। 'स्वप्न' खण्डकाव्य में कवि ने व्यवहारवादी रुख का ही समर्थन किया है, जैसा कि इन पंक्तियों से प्रकट है—

"केवल बल-प्रयोग पशुता है
केवल कौशल है कायर पन
शस्त्र शास्त्र दोनों के बल से
विज्ञ जीतते हैं जीवन रण ।"

कवि प्रेम का कायल है। वह सच्चे प्रेम की व्याख्या इन शब्दों में करता है—

"सच्चा प्रेम वही है जिसकी
तृप्ति आत्मबलि पर हो निर्भर
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है
करो प्रेम पर प्राण निछावर ।"

पं० रामनरेश त्रिपाठी एक राष्ट्रीय कवि और वीर पुरुष थे। उनकी नस-नस में देश-प्रेम लहरें लेता है। वे इसे पुण्य क्षेत्र मानते हैं—

"देश-प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है
अमल असीम त्याग से विलसित
आत्मा के विकास से जिसमें
मनुष्यता होती है विकसित ।"

ठाकुर गोपाल शरण सिंह

सरस्वती के कवि भाग दो (सन् १९११ से १९२० ई० तक) में ठाकुर गोपालशरण सिंह का जिक्र हो चुका है। इनकी प्रथम रचना 'ग्रथ' सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद ये सरस्वती में बराबर लिखते रहे। इनकी आरम्भ की रचनायें 'सचिता' मे संग्रहीत हैं, परन्तु प्रकाशन सबसे पहले 'माधवी' हुई थी। घनाक्षरी और सवैया छन्द इन्हें प्रिय हैं। 'माधवी' की सभी कवितायें इन्हीं छन्दों में रची गई हैं, जिससे काव्य मे थोड़ी मधुरता आ गई है। इसमें एक ओर ब्रजभाषा-काव्य सौन्दर्य की प्रेरणा है तो दूसरी ओर आने वाले युग की सूचना है। द्विवेदी युग की काव्यधारा से मिली हुई भी यह उससे कुछ भिन्न है।

'माधवी' में बहुत से विषयों का समावेश है उसकी कई कवितायें श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं। [illegible] में कवि की [illegible] यात्रा का वर्णन है। उन दिनों कवि के जीवन में प्रेम [illegible]

उल्लास की प्रधानता थी, फिर तत्कालीन रचनाओं में प्रेम का प्रस्फुटन हो तो आश्चर्य ही क्या ? भक्ति भावना भी कवि में पैतृक सम्पत्ति और संस्कारों की भांति है। उसके ईश्वर प्रेम सम्बन्धी विचारों का रसास्वादन कीजिये।

मैंने कभी सोचा वह मंजुल मयंक में है,
देखता इसी से उसे चाव से चकोर है।
कभी यह ज्ञात हुआ वह जलधर में है,
नाचता निहार के उसी को मंजु मोर है।।

विश्व की अखिल छवि में अनन्त का और प्रकृति के भिन्न भिन्न व्यापारों में परोक्ष सत्त की अनुभूति ठाकुर साहब की रचनाओं में प्रकट होती है। इन पर रवीन्द्र के रहस्यमय गीतों—विशेषतया गीतांजलि का प्रभाव झलकता है। माधवी में वियोग जनित वेदना का भी वर्णन है। परन्तु उसकी तल्लीनता में उल्लास अन्तर्हित है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़िए—

'पहले तुझे मैं बस एक ठौर देखता था,
देखता हूं सब ठौर तुझको जुदाई में।"

कवि ने जीवन से बहुत प्रेरणा ग्रहण की है। प्रकृति उसके लिए निकट सहचरी की तरह रही है। प्रकृति के जो साफ चित्र इनकी कविताओं में मिलते हैं वे इसी के परिणाम हैं। इनके नैसर्गिक चित्रण भी जीवन सम्बन्धी अनुभूतियों से अनुप्राणित हैं। 'कादम्बिनी' में इस प्रकार के पद्य बहुत मात्रा में हैं। जैसे—

"सजनी ! रो-रोकर मैं कर दूं
क्यों न भला गुंजित कानन ?
सुनता होगा किसी कुंज में
छिपकर मेरा जीवन धन।"

कवि जीवन में आशावादी है। उसे इस जगत में अनन्त जीवन, अनन्त प्रेम और अनन्त उल्लास के दर्शन होते हैं। 'कादम्बिनी' में कई कवितायें इस दृष्टिकोण की परिचायक हैं। 'माधवी' में यथातथ्य वर्णनों का ही बाहुल्य है, काल्पनिक चित्र बहुत कम हैं, किन्तु 'कादम्बिनी' में कल्पना का ही प्राधान्य है और रहस्य भावना ही अधिक स्पष्ट है—

"आती सागर-उर खोल-खोल,
गाती हैं लहरें लोल-लोल
पाकर उनसे संगीत दान,
पुलकित करते हैं विश्व प्राण नभ में गुंजित ये अमर गान।"

नारी की व्यथा से कवि अभिभूत हो उठता है। उसका कहना है, कोमल कलियों का सुन्दर रूप रंग सबको आकर्षित करता है। और उनके मृदु सौरभ से सभी का हृदय आनन्दित हो जाता है। परन्तु उनके सुकुमार शरीर को तीक्ष्ण कण्टकों से जो चोट पहुंचती है और वायु के तीव्र झोंके से उन्हें जो व्यथा होती है, उन पर कितने लोगों का ध्यान जाता है ! ठीक यही बात नारियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है उनके बाह्य सौन्दर्य पर संसार मुग्ध रहता है स्नेह

मयी माता और लावण्यमयी प्रियतमा के रूप में उन्हें सब जानते हैं, किन्तु हृदय में छिपी हुई अगाध पीड़ा और वेदना का ज्ञान किसको होता है। प्रत्येक मनुष्य के दाम्पत्य जीवन पर एक पर्दा पड़ा रहता है। कभी-कभी सुख के सब साधन रहते हुए भी दाम्पत्य जीवन अत्यन्त विषादमय हो जाता है। संसार उससे अनभिज्ञ ही रह जाता है।' कवि के शब्दों में ही—

"गंगा-यमुना की धारा बहती सूने सदनों में,
परदे के भीतर सागर लहराता है नयनों में।
है गूंज रही परदे में कितनी ही क्लेश-कथायें,
महलों के भीतर छिपकर रहती हैं विविध व्यथायें।"

'मानवी' की प्रत्येक रचना में किसी न किसी सामाजिक समस्या की ओर संकेत है। इनमे संसार के नारी हृदय के भाव-चित्र है। कवि को 'मानवी' की प्रेरणा अंग्रेजी पुस्तक (इमेन्सिपेशन आफ वीमन) से मिली। 'मानवी' नारी हृदय की विभिन्न करुण-कथाओं का क्रदन है। इसमें प्राय: विवाहिता दुखी स्त्रियों का ही चित्र है. हां एक मात्र 'अनारकली' इसका अपवाद है। प्रेम दाम्पत्य जीवन का रस है। जब प्रेम के विपरीत आचरण की विवशता आती है तो जीवन भार बन जाता है। 'व्रजबाला' शीर्षक रचना में अभीप्सित-ब्याह के दुष्परिणाम पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है। विवेक शून्य प्रेम भी जीवन को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार 'अनारकली' बलिदान,' 'उपेक्षिता,' 'अभागिनी' आदि रचनायें विभिन्न प्रकार की व्यथा कथा लिये हैं।

कवि आदर्श चित्रण की अपेक्षा यथार्थ पर विशेष ध्यान देता है फिर भी पवित्र प्रेम के वर्णन में ही उसकी आत्मा रमी है। 'मानवी' में सीता, शकुन्तला और अनारकली आदि उत्कृष्ट उपासिकायें हैं। इस कृति में कवि की करुण अनुभूतियों के ही चित्र हैं। करुणा के कवि प्रति सहज स्नेह रखता है। इनकी आध्यात्मिक रचनाओं में दार्शनिक विवेचन नहीं, वरन् उनके मूल में भक्तिमयी जिज्ञासा है। ईश्वर बुद्धि का विषय न होकर अनुभूति का विषय है। उस ईश्वर की अनुभूति दुख में ही होती है।

'ज्योतिष्मती' के छोटे-छोटे गीतों में अदृश्य करुणामय के प्रति पीड़ित आत्माओं के उद्गार हैं। इनमें मात्र आत्मसमर्पण ही नही है, आत्मविश्वास झलकता है, जैसा कि प्रकट है—

तुम पर हो विश्वास मुझे, पर
        अपना ही विश्वास रहे।

'संचिता' कवि की एक विविध रंग भरी कृति है। इसमें प्रारम्भिक रचनायें भी शामिल हैं। इसमें सब समय की सभी प्रकार की कविताओं का सन्निवेश है।

'कादम्बिनी' और 'सुमना' इन दोनों पुस्तकों में प्राय: एक ही प्रकार की रचनायें हैं। दोनों मे प्रकृति और जीवन का संश्लेषण है। परन्तु 'कादम्बिनी' में प्राकृतिक सौन्दर्य का विशेष रूप से वर्णन है और 'सुमना' में प्रकृति के स्वर में जीवन के गीत हैं। एक उदाहरण देखिए—

"तुम बन वसंत की श्री सुन्दर,
भर दो जग में सुषमा-सागर
मैं सुमन बनूं उस शाखा पर

निज फूलों के अ घात सहू
तुम सुखी रहो मैं दुखी रहू

'कादम्बिनी' में विश्वानुभूति की प्रधानता है और 'सुमना' में स्वानुभूति की। एक में मुख्यतः संसार के उल्लासमय रूप की झलक है और दूसरी में जीवन के कठोर सत्यों का भी आभास है।

भौतिकवाद जिस चरम सीमा को पहुंच गया है, उसी का परिणाम वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का निर्माण है। इसके मूल में आक्रमण और शोषण की प्रवृत्ति है। निर्बलता और आर्थिक विपन्नता आक्रमण का आमन्त्रण है। पाशविक मनोवृत्तियां मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में भी अनर्थ का कारण होती है। सभ्यता और शिक्षा मनुजत्व के जिस भव्य-भवन का निर्माण शताब्दियों में करती हैं, वह बात की बात में नष्ट हो जाता है। वैज्ञानिक आविष्कार आज मानवता के सबसे बड़े शत्रु के रूप में मुंह बाये खड़े हैं। सृष्टि के वरदानों से मंगलमय करने वाला विज्ञान आज कहाँ जा रहा है, इस पर कवि व्यंग्य करता है—

'फूल फलों के अधिक भार से
टूट रही है डाल।"

इनकी 'विश्वगीत' कविता का सम्बन्ध भी पिछले (द्वितीय) महायुद्ध से है। कविताओं में युद्ध का वर्णन नहीं है, वरन् युद्ध जनित समाचारों को पढ़कर कवि पर जो प्रतिक्रिया हुई है, उसी को यहां वाणी देने की चेष्टा की गई है। प्रतीकों के सहारे अप्रस्तुत को प्रस्तुत करने का एक प्रयास तो देखिए—

"अभी अभी तो खिल आया था,
कुछ ही विकसित हो पाया था,
वायु कहाँ से आकर इस पर
डाल गयी है धूल ?"
यह सुन्दर लघु फूल।"

काव्य को प्रेरणा चाहे जहाँ से मिले, किन्तु उसका उद्गम स्थान हृदय ही है। कवि का मुख्य कर्म हृदय का रहस्योद्घाटन करना, प्रकृति के भीतर समाहित भावों का खोलना, आवेगों को अभिव्यक्ति देना और चिरन्तन सत्य का पक्ष प्रस्तुत करना। शिव, सौन्दर्य और मधु को जन सुलभ बनाना ही तो कविता है। इस कला में उक्त कवि पूर्ण सफल हुआ है।

ठाकुर गोपालशरण सिंह जैसा कि पीछे कहा है कि वे मूलतः द्विवेदी जी द्वारा निर्देशित मार्ग पर ही चले हैं, उनकी रचनाओं में भाषा, शैली, अभिव्यंजना कौशल, विषय चुनाव और तुक तथा सीख का भाव सब कुछ द्विवेदी युगीन ही है। वे श्रेय और प्रेय में से जीवन के श्रेय को चुनने के लिए पक्षपाती है। छन्द, अलंकार और रसों का प्रयोग विषय-स्थान एवं परिस्थितिनुकूल हुआ है। इनका सम्पूर्ण काव्य एक सुनियोजित व्यवस्था का प्रतीक है। कवि घटनाओं और दृश्यों पर पहले खूब गौर करता है फिर कविता से उसे सरल बनाता है उसकी कविता जीवन रस से

सर्वदा सम्पृक्त है। गोपाल शरण जी प्रेम करुणा और प्रकृति के कवि हैं उनकी अनारकली रचना से कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

''सुकुमार-कुमार हृदय की,
स्वर्गीय प्रेम की प्रतिमा
ली छीन अनारकली ने
नव-कुसुम-कली की सुषमा !'

ग्रामीण जीवन के प्रति कवि के हृदय में बड़ी मोहक भावना है। वह गांव का निवासी है उसे गांव की पवित्रता, भोलापन, प्रकृति स्वरूप आकर्षण लगता है—

''प्रकृति सुन्दरी की गोदी में,
खेल रहा तू शिशु-सा कौन ?
कोलाहल मय जग को हरदम,
चकित देखता है तू मौन ।'

कवि गोपाल शरण सिंह प्रकृति के पुजारी हैं। उनका हृदय आज भी प्राकृतिक दृश्यों से ऊबा नहीं है। इस मशीनी जिन्दगी मे भी कवि बिना किसी कुंठा के सरल चित्त हो गा उठता है—

''सुना गान मैंने सागर का,
सरिताओं के कल-कल स्वर का,
लता द्रुमों के मृदु मर्मर का
वंशी-ध्वनि भी सुनी समय की
बुझी नहीं चिर-तृषा हृदय की ।''

हृदय की तृषा कभी भी न बुझी है न बुझेगी; कारण जब तक व्यक्ति जीता है, जीवन की सरसता है, तब तक प्यास बनी रहेगी। हां जो प्रकृति की अपेक्षा सिक्कों पर निगाह लगाये हैं, उन्हें अवश्य ही समय आने पर निराश और हताश होना पड़ेगा, क्योंकि मनुष्य सिक्के नहीं चबा सकता, वह गर्मी तो देता है, पर उसमें शीतलता का निवास नहीं होता । फिर मधुरता, प्रेम, सौन्दर्य और तरलता के बिना जीवन कैसा !

पं० श्यामनारायण पाण्डेय

पं० श्यामनारायण पाण्डेय का काव्यारम्भ द्विवेदी युग के समाप्त होते-होते शुरू हुआ, परन्तु इनके काव्य की मूल भावना और अभिव्यंजना प्रणाली द्विवेदी युगीन ही थी। वीर पूजा, अतीत के गौरव-मय चित्र, राष्ट्रीय सम्मान, उद्बोधन के सरस स्वर, इनकी ओजस्वी वाणी से स्वतः फूट पड़े। वीर रस का इतना शक्तिशाली कोई कवि आधुनिक हिन्दी के इतिहास में ढूढ़ने से भी नहीं मिलेगा। जीवन की समस्त साधना को बटोरकर इस 'वीर-रस' प्रधान कृती ने राजपूताने के उन भग्न खण्डहरों में झांका, जहाँ की पहाड़ियों की चट्टानें, झरनों के जलबिन्दु और धरती के रजकण आज भी साहसी राजपूतों का इतिहास गाते हैं। आजमगढ़ की उर्वर भूमि के इस सपूत ने प्रारम्भ से ही वीर-पूजा का व्रत ले लिया था जैसा कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है

'इन्होंने पहले' त्रेता के दो वीर' नामक एक छोटा-सा काव्य लिखा था जिसमें लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध के कई प्रसंग लेकर दोनों वीरों का महत्त्व चित्रित किया गया था। यह रचना हरिगीतिका तथा संस्कृत के कई वर्ण-वृत्तों में द्वितीय उत्थान की शैली पर है। 'माधव' और 'रिमझिम' नाम की इनकी दो और छोटी-छोटी रचनायें हैं। इनकी ओजस्वी प्रतिभा का पूर्ण विकास 'हल्दीघाटी' नामक १७ सर्गों के महाकाव्य में दिखाई पड़ा।[1]

हल्दी घाटी (रचना काल १९३१ई०) :—हल्दीघाटी में कवि श्री श्यामनारायण पाण्डेय ने महाराणाप्रतापसिंह के जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं को न लेकर केवल युद्ध सम्बन्धी सूत्रों को ही जोड़ा है। कवि का अभिप्राय राणाप्रताप के अप्रतिम दृढ़ व्यक्तित्व का चित्रण और उनकी वीरता का उद्घोष करना ही जान पड़ता है। कवि वर्तमान जन-जीवन में राणा का आदर्श प्रस्तुत करना चाहता है। हल्दीघाटी के विविध इतिवृत्तात्मक प्रसंगों के बीच अनेक कवित्वमय स्थल उभर आए हैं। इस महाकाव्य में वीर-रस की गंगा सर्वत्र प्रवाहित है, किन्तु कहीं-कही प्रकृति के प्रभावशाली चित्र भी उसी प्रकार अपनी काम्य-सुकुमारता एवं सौन्दर्य-सुषमा लिए खड़े हैं।

'सावन का हरित प्रभात रहा, अम्बर पर थी घनघोर घटा।
फहराकर पंख थिरकते थे, मन हरती थी बन-मोर छटा॥
पड़ रही फुही झींसी झिन झिन, पर्वत की हरी बनाली पर।
'पी कहां' पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली-डाली पर॥
वारिद के उर में दमक-दमक, तड़-तड़ बिजली थी तड़क रही।
रह-रह कर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही॥

प्रकृति वर्णन के सजीव पुट के अतिरिक्त उत्साह की अनेक अन्तर्दशाओं की व्यंजना तथा युद्ध की अनेक परिस्थितियों के चित्र से पूर्ण यह काव्य खड़ीबोली में अपने ढंग का एक ही है। युद्ध के समाकुल वेग और संघर्ष का ऐसा सजीव और प्रवाहपूर्ण वर्णन बहुत कम देखने को आता है। उदाहरण के लिए देखिए—

'कल कल बहती थी रण गंगा, अरि दल को डूब नहाने को।
तलवार वीर की नाव बनी, चट पट उस पार लगाने को।
बैरी दल की ललकार गिरी, वह नागिन-सी तलवार गिरी।
था शोर मौत से बचो बचो, तलवार गिरी, तलवार गिरी।
क्षण इधर गई, क्षण उधर गई, क्षण चढ़ी बाढ़-सी उतर गई।
था प्रलय चमकती जिधर गई, क्षण शोर हो गया किधर गई।'

इधर देश पर आपत्ति आई। स्वाधीनता खतरे मे पड़ गई। दुश्मनों ने घात लगाई, पर महाराणा का साहस नहीं टूटा। उसने विपत्तियों के विरुद्ध जूझने का दृढ़ संकल्प करके यह अनोखा प्रण किया—

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६१२

जब तक स्वतंत्र यह देश नहीं
है कट सकता नख केश नहीं
मरने कटने का क्लेश नहीं
कम हो सकता आवेश नहीं।'

काश ! भारत के वर्तमान शासक राणा के चरित्र और हल्दीघाटी काव्य के सन्देश को मनन करते तो विदेशी दौरे, लम्बे भाषण छोड़कर संकटकालीन स्थिति में अधिक सुदृढ़ राष्ट्रीय नीति अपना सकते। राणा के उपर्युक्त त्याग और व्रत का वहां की जनता ने कितने उत्साह और त्याग से स्वागत किया यह किसी से छिपा नहीं है।

'हल्दीघाटी' की भाषा सजीव, मुहावरेदार, ओजस्विनी, प्रवाहमय और सरल, प्रकृति से ही खड़ीबोली है। कवि उर्दू की मर्सिया पद्धति से भी प्रभावित जान पड़ता है। इससे ओज और रोचकता की प्रचुरता है। हल्दीघाटी की अभिव्यंजना शैली निःसन्देह आकर्षक है। लोकप्रियता, प्रभावोत्पादकता और रसज्ञता के बावजूद असम्बद्ध कथानक, अपूर्ण एवं एकांगी जीवन के चित्रण तथा अतिशय भावुकता के प्रदर्शन की वजह से हल्दीघाटी को कुछ विद्वानों ने महाकाव्य नहीं माना है। कवि स्वयं इसके महाकाव्यत्व पर दृढ़ नहीं जान पड़ता, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है—

'...महान ! इन्हीं कतिपय घटनाओं को मैंने कविता का रूप दिया है। यह खण्डकाव्य है अथवा महाकाव्य, इसमें सन्देह है, लेकिन तू तो निःसन्देह महाकाव्य है। तेरे जीवन की एक-एक घटना संसार के लिए आदर्श है और हिन्दुत्व के लिए गर्व की वस्तु।'

'हल्दीघाटी में इतिहास के आधार के कारण इसकी रचना में नवीन युग की परिस्थितियों और भावनाओं-आदर्शों आदि का दिग्दर्शन नहीं किया जा सका। यही बात 'नूरजहां' के बारे में भी कही जा सकती है। इन दोनों प्रबन्धों में मध्य युग की घटना विशेष को लेकर ही पात्रों का चरित्र चित्रण किया गया है, अतएव इनका वातावरण भी पुराना है।'[1]

इस प्रबन्ध काव्य का प्रथम संस्करण छपने पर आलोचकों की टिप्पणियों का संक्षिप्त उत्तर देते हुए कवि लिखता है—'मैं पहले से ही इस बात की चेष्टा में था कि हल्दीघाटी के छंद निर्झर की तरह अबाध गति से बहते रहें, उनमें वह बिजली पैदा हो, जिससे मुर्दों की भुजायें फड़कने लगें, उनसे वह टानिक उद्भूत हो जिससे पढ़ने वालों का खून बढ़ने लगे और वह प्रकाश फूट पड़े जिससे एक बार सारा राष्ट्र जगमगा उठे। अस्तु।'

हल्दीघाटी का हिन्दी संसार में पर्याप्त स्वागत हुआ है। उसके पाठकों की संख्या निस्सन्देह बड़ी है, तभी तो इस काव्य के १०-१२ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और भविष्य में और भी होंगे। दूसरी बात जो इसके सम्बन्ध में कहनी है वह यह कि कवि को इसी कृति पर हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ मंगलाप्रसाद पारितोषिक २,०००) मिला है। यह काव्य महाकाव्य की कसौटी पर खरा उतरे या नहीं पर इसको हिन्दी का महान काव्य अवश्य ही कहा जाएगा इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

जौहर (सन् १९४५ ई०) :—पाण्डेय जी का दूसरा प्रमुख काव्य है 'जौहर'। जौहर प्रबन्ध-काव्य भी सर्गबद्ध रचना है। यह २१ चिनगारियों में विभक्त है। 'हल्दीघाटी' में कवि ने जिस प्रकार राणाप्रताप के चरित्र की महत्ता प्रदर्शित की है, उसी प्रकार 'जौहर' में सती शिरोमणि वीर नारी पद्मिनी के सतीत्व और बलिदान का चित्र अंकित है यह इतिहास प्रसिद्ध कथानक है राजा रतनसिंह की अनन्य सुन्दरी रानी पद्मावती अपने पति को अलाउद्दीन के पंजे से छुड़ाकर स्वयं जौहर की आग में भस्म हो जाती है। अलाउद्दीन छल बल और महाभीषण युद्ध के बावजूद पद्मिनी की राख ही पाता है।

'जौहर' काव्य में वीर और करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। खिलजी सेना के साथ युद्ध में 'गोरा-बादल' जैसे राजपूतों की वीरता पठनीय है। खिलजी सेना से परास्त होने पर पद्मिनी का अन्य राजपूत स्त्रियों के साथ अग्नि की लपटों में भस्मसात होना करुण रस के परिपाक का अद्भुत उदाहरण है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, प्रकृति-चित्रण में पाण्डेय जी पटु हैं। चन्द्रोदय, अंधेरी रात ग्रीष्म और वसन्त आदि के चित्र उनकी लेखनी से खूब संवरते हैं, चन्द्रोदय का एक भव्य चित्र प्रस्तुत है—

'नीरव थी रात धरा पर, विधु सुधा उड़ेल रहा था।
नभ के आंगन में हंस हंस, तारों से खेल रहा था॥
शशि की मुस्कान प्रभा से, गिरि पर उजियाली छायी।
कण चमक रहे हीरो-से, रजनी थी दूध नहाई।
वह उतर गगन से आया, सरिता-सरिता, सर-सर में।
चांदी सी चमकी लहरें, वह फूला लहर-लहर में॥'[1]

'जौहर' की भाषा भावानुकूल, मुहावरेदार सरल और प्रवाहमय है। छन्द-योजना, अलंकारों की सृष्टि और रस का परिपाक इस काव्य में सुनियोजित-सा जान पड़ता है। इन गुणों के उपरान्त कवि राजा रतनसिंह, रानी पद्मावती अथवा बादशाह अलाउद्दीन खिलजी में से किसी के समग्र जीवन को समेटकर काव्य का विषय न बना सका। इस काव्य मे भावुकता और एकांगी जीवन की संक्षिप्त घटना को वर्णन का विस्तार दिया गया है। इसलिए जौहर को भी हम महाकाव्य की संज्ञा न देकर प्रबन्ध काव्य ही कहेंगे।

'जौहर' में जहां वीर और करुण रस के सुन्दर स्थल हैं वहीं कहीं-कहीं इतिवृत्तात्मकता, नीरसता और अव्यवस्था के चिन्ह भी मिल जाते हैं। इसमें जीवन के विविध पक्षों पर विचार नही किया जा सका है। यद्यपि कवि ने 'जौहर' को 'वीर-करुण रस-सिक्त' अद्वितीय महाकाव्य माना है। कुछ आलोचकों नें जौहर काव्य के कथानक में कतिपय असंगतियों की ओर संकेत किया है, जैसे रतनसिंह का, पद्मिनी के चितारोहण संबंधी आकाशवाणी सुनकर आखेट के समय मूर्छित होकर गिर पड़ना, चिता पर जलने से पूर्व शृंगार कर तत्पर पद्मिनी में रति भाव का उदय और चित्तौड़ के किले में चारों ओर बिखरी लाशों के बीच अलाउद्दीन का पद्मिनी को प्राप्त करने की विकलता आदि अस्वाभाविक प्रतीत होती है।[2]

१ जौहर चिनगारी ७ २ डा० गोपि... शर्मा, हिन्दी के आधुनिक ... पृष्ठ ४६८

डा० शर्मा के उपर्युक्त आक्षेप तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इसको संक्षेप में हम इस प्रकार कहेंगे—"कि राजा रतनसिंह पद्मिनी के रूप, गुण और प्रेम में आकण्ठ डूबा हुआ था। रानी पद्मिनी के रूप में उसे विश्व की सारी सम्पदा मिल चुकी थी। रानी ही उसकी जिन्दगी थी। उस रानी के चितारोहण की आकाशवाणी सुनकर राजा का मूर्छित होकर गिरना ही स्वाभाविक था, उसका उस समय क्रूरता के साथ शिकार करना अस्वाभाविक होता। बल्कि हम तो यहां तक कहेंगे कि राजा का हृदय कोमल होने के साथ कहीं कमजोर भी होता तब तो 'हार्टफेल' हो गया होता। दूसरी बात है पद्मिनी के शृंगार और दर्पण में मुंह देखने की। रानी पद्मिनी नवयौवना, रूपरंग मे अद्वितीय 'रति' की प्रतिमूर्ति थी। जौहर के लिए तैयारी उसकी विवशता थी। तत्कालीन प्रथा के अनुसार जौहर से पूर्व उसने शृंगार किया और जब दर्पण में सजे हुए अपने अप्रतिम रूप की अंतिम झांकी उसने देखी, तब उस समय उस रूप के नशे पर न्यौछावर राजा का स्मरण होना क्या कभी अस्वाभाविक कहा जायगा ? अग्नि में जल कर नष्ट होने से पूर्व राजा की भुजाओं में एक बार और बंधने की सजग इच्छा ही उसके प्रखर यौवन की यथार्थ भावना रही होगी। इसका उदय न होना ही अप्राकृतिक था। अन्तिम आरोप है अलाउद्दीन की निर्लज्जता और बेहयायी का। जो बादशाह अपनी पिपासा के लिए सारे देश को तबाह कर सकता है, पराई स्त्री को पाने के लिए एक मुल्क को जलाकर खाक कर सकता है, वह लाशों के बीच पद्मिनी को पाने के लिए बेचैन हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? फिर नीतिकारों ने तो स्पष्ट संकेत किया है—'कामातुराणां न भयं न लज्जा।' इतना ही नहीं, सुप्रसिद्ध फ्रान्सीसी उपन्यासकार अनातोलेफ्रांस ने अपनी लोकप्रिय कृति 'थायस' में दिखलाया है कि पापनाशी अपनी मृतक प्रेयसी को कब्र से उखाड़ कर रात्रि के अंधेरे में अपनी बाहुओं में कस लेता है। तब अलाउद्दीन के लिए पद्मिनी को बेचैनी से खोजना क्या अस्वाभाविक होगा !

कवि श्री गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

ठाकुर गुरुभक्तसिंह का काव्य काल द्विवेदी-युग के बाद आता है, परन्तु आख्यानक प्रबन्ध काव्य की रचना, तुकों की बंदिश और कथ्य को स्पष्ट रूप से रखने के कारण हम इन्हें द्विवेदी युग के परवर्ती विकास के अन्तर्गत रख रहे हैं। इनकी सबसे प्रसिद्ध कृति है 'नूरजहां' प्रबन्ध काव्य। वैसे, 'सरस सुमन', 'कुसुम कुंज', 'वंशी ध्वनि' और 'वनश्री' भी उल्लेखनीय हैं।

'नूरजहां' को आधुनिक प्रबन्ध काव्यों में पर्याप्त ख्याति मिली है। यह महाकाव्य १८ सर्गों में विभक्त है। इतिहास प्रसिद्ध मुगल सम्राज्ञी नूरजहां की जीवन गाथा को लेकर इसकी रचना हुई है। गयासबेग का अपनी बेगम के साथ ईरान से हिन्दुस्थान की ओर प्रस्थान, मार्ग में ही मेहरुन्निसा का जन्म, आगरा में उसका पालन-पोषण, सलीम की उस पर आसक्ति, शेर अफगन के साथ मेहरुन्निसा का ब्याह, शेर अफगन के साथ उसकी बंगाल यात्रा, बादशाह अकबर की मृत्यु, और कुतुबुद्दीन द्वारा शेर अफगान की हत्या मेहरुन्निसा और जहांगीर का पुनः मिलन, जहांगीर का अपनी प्रेयसी के साथ काश्मीर यात्रा और अंत में नूरजहां का मुगल-सम्राज्ञी के रूप में सिंहासन पर प्रतिष्ठा आदि घटनायें इस काव्य में विस्तार से वर्णित हैं।

नूरजहां की कथा सुसंगठित और प्रवाहमय है। इसमें इतिहास की घटनाओं और कवि कल्पनाओं का सुन्दर समन्वय है। ऐतिहासिक इतिवृत्त को ले लेने के कारण नायक और नायिका

का चित्रण अधिक विस्तार के साथ हो सका है, परन्तु इतिहास के ही आधार के कारण इस रचना मे नवीन युग की परिस्थितियों और भावनाओं-आदर्शों आदि का दिग्दर्शन नहीं किया जा सका। चरित्र-चित्रण मे कवि को अच्छी सफलता मिली है, विशेषतया नायिका नूरजहां के वर्णन में कवि की आत्मा खूब रमी है। नूरजहां का सौन्दर्य उसके भोलेपन के साथ मुखर हो उठा है—

"यह किरण जाल-सी उज्ज्वल है, मानस की विमल मराली है।
अंग-अंग में चपला खेल रही है, फिर भी भोली भाली है॥"

'नूरजहां' काव्य में प्रकृति वर्णन को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। नैसर्गिक मनोरम, सजीव चित्रों से यह कृति भरी पड़ी है। वन्य प्रदेशों की विशेषताओं की ओर कवि का ध्यान बराबर रहा है सच तो यह है कि नायिका नूरजहां ने प्रकृति की गोद में ही अपने सौन्दर्य और रूप-रंग का विकास किया है। उसके जन्म के समय वनस्थली का वर्णन द्रष्टव्य है।

"इन घासों के मैदानों में, इन हरे भरे मखतूलों पर,
इन गिरि शिखरों के अंचल मे, इन सरिताओं के कूलों पर,
जो रहा चाटता ओस रात भर प्यासा ही था घूम रहा,
वह मारुत पुष्पों का प्याला खाली कर कर है झूम रहा।
पर्वत के चरणों में लिपटी वह हरी भरी जो घाटी है,
जिसमें झरने की झर झर है, फूलों से ही जो पाटी है,
उसके तट के सुरम्य भू पर झाड़ी के झिलमिल घूंघट में,
है नई कली इक झांक रही लिपटी घासों ही के पट में।"

'नूरजहां' एक शृंगार प्रधान काव्य है। उषा आदि प्रसंगों की लालिमा के साथ ही साथ मानव-सौन्दर्य का, उसकी अनुपम छवि का रूपहला वर्णन यहां साकार हो उठा है। इस रचना में शृंगार के अतिरिक्त करुण, वीर, रौद्र और हास्य का भी समावेश है। मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि में कवि को खूब सफलता मिली है। इस काव्य की भाषा प्रसाद गुण सम्पन्न, प्रांजल एवं प्रवाहमयी है। मुहावरेदानी आजमगढ़ के कवियों की विशेषता है। इससे उनकी भाषा सजीवता, भावप्रवणता तथा व्यंजकता आदि गुणों के साथ दीप्त हो उठती है। इस काव्य में संवादों के सुष्ठु प्रयोग ने नाटकीयता की अवतारणा कर दी है।

'नूरजहां' में महाकाव्य के अनेक तत्वों का समावेश है, परन्तु इसका नायक जहांगीर बुज-दिल, हीन व्यक्तित्व का पुरुष है। यह एक श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य है।

१०

द्विवेदी-युग के विवेचित काव्य का महत्व

भारतेन्दु-काल के काव्य का निष्कर्ष

भारतेन्दु-युग नवजागरण का काल था। उसमें भारत की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक स्थिति का पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ। उस युग के कवि रीतिकालीन मर्यादा से ऊपर उठने का प्रयत्न कर रहे थे। ब्रज भाषा की जगह गद्य मे खड़ीबोली प्रतिष्ठित हो चुकी थी और पद्य में उसके लिए विचार-विमर्श चल रहा था। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, धर्म समाज तथा अन्य अनेक धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन चल रहे थे, जिससे सामाजिक चेतना नए सिरे से उभरने लगी थी। धीरे-धीरे लोग शिक्षा और सरकारी नौकरियों की ओर बढ़ रहे थे। नए व्यवसाय और कृषि की ओर ध्यान नहीं था। अंग्रेज शासक नहीं चाहते थे कि भारत आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली बने क्योंकि गरीबी शोषण के लिए बढ़ावा देती है। देश में अभाव और निराशा फैल रही थी। सामाजिक दृष्टि से देश पिछड़ा हुआ था।

भारतेन्दु ने अभावों की व्यक्तिगत वेदना को राष्ट्रीय व्यापकता दी। जाति और सम्प्रदायगत दुखों को समूचे देश की असहनीय समस्या का रूप दिया। अपनी वर्तमान हेय अवस्था के प्रति जनता के हृदय में, असन्तोष उत्पन्न करने वालों के भारतेन्दु अग्रगणी थे।

हरिश्चन्द्र के सहयोगियों में काव्य धारा को नए-नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढांचों, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण आदि में स्वच्छन्दता के दर्शन हुए।

भारतेन्दु-युग जीवन की नवीन परिस्थितियों एवं नव चेतना को लेकर आया। उससे पूर्व के काव्य में मध्य-युग (रीतिकाल) की सामन्तीय भावना का प्रचार और कृत्रिम भावात्मक आदर्श का बाहुल्य था। भारतीय विद्रोह (सन् १८५७ ई०) एवं अंग्रेजों के आतंक ने भारतीयों को जीवन में यथार्थ निरीक्षण का अवसर प्रदान किया। इस युग के साहित्य में भारतीय संस्कृति प्राचीनता और राष्ट्रीयता के प्रति आकर्षण पैदा हुआ सामाजिक विकारों का उल्लेख भी होने

लगा। वास्तव में यह हिंदी साहित्य के लिये संक्रान्ति काल था आदर्श और यथार्थ प्राचीन और नवीन के प्रति कवि सावधान थे उनके नवीन विषयों के चित्रण अकृत्रिम और आडम्बर विहीन हैं। लोक-जीवन का पुनः काव्य में सम्पर्क बढ़ रहा था। कजरी, लावनी और अन्य लोक-गीत जनता में प्रतिष्ठा पा रहे थे। बड़े कवि भी उसकी रचना में गौरव अनुभव करते थे।

यद्यपि अंग्रेज शासक मुसलमान शासकों की अपेक्षा कुछ नई रीति और नये आकर्षण लेकर आए थे, किन्तु उसका प्रभाव केवल अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त शिक्षितों, राजाओं, नवाबों और बड़े बड़े जमींदार तथा सामन्तों पर ही पड़ा। इतिहास मध्य युग का ही रहा और कला भी पुरानी थी। संस्कृत और ब्रजभाषा के सम्पर्क में एक प्रकार से भारतेन्दु-युग पिछले संसार का ही हिन्दी रूपान्तर था। डा० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल इस युग में निम्नलिखित प्रवृत्तियों का समावेश मानते है–

भारतेन्दु काल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक संघर्षों और विचार क्रान्ति का काल है। इसके अंतर्गत आन्तरिक क्रान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति दोनों आती हैं। इसमें देश प्रेम की कई रंगतें दिखाई पड़ीं। उनमे मुख्य ये हैं।

१—राज प्रशस्तियों के रूप में।

२—तत्कालीन देश-दशा के वर्णन के रूप में, जिसमें देश की सामाजिक व आर्थिक दुर्दशा पर क्षोभ प्रकट हुआ है।

३—अतीत के उज्ज्वल वैभव व गौरव गान के रूप में, जिसमे नवीन आशा व उमंग के साथ ही देशोद्धार का संकल्प भी व्यक्त हुआ।

४—भविष्य की मधुर कल्पना करके तन मन धन से देश को स्वतन्त्र देखने की मधुर अभिलाषा के रूप में।

५—भारत की माता के रूप में कल्पना करते हुए देश की सौन्दर्य-माधुरी (भौगोलिक एवं चारित्रिक) में निमग्न हो जाने के रूप में।

६—हिन्दू विधवा के उद्धार, बाल विवाह की रोक, मद्य-निषेध, अनमेल विवाह की रोक-थाम, जाति-पांति की भावना का उन्मूल, समाज-सुधार।

७—नागरी के उद्धार, परिष्कार, उसकी प्रगति तथा उसके स्वतन्त्र देश-भाषा के रूप में स्वीकृत कराये जाने का प्रयत्न, स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण और भावना के रूप मे।

८—देशोद्धार के लिए अन्य सामाजिक आन्दोलनों, योजनाओं व प्रयत्नों आदि के रूप हैं।

उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ बीज रूप में भारतेन्दु काल में आयी, किन्तु निःसंदेह इनका पूर्ण विकास आगे चल कर द्विवेदी-युग में ही हुआ। भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता हिन्दुत्व तक ही सीमित थी।

द्विवेदी-युग में नवीनता के नए सूत्र - द्विवेदी युग में देश प्रेम और व्यापक राष्ट्रीयता युग धर्म के रूप में कवियों द्वारा प्रथम बार स्वीकृत हुई। यह भारत के इतिहास की एक अद्भुत घटना थी। तत्कालीन प्रखर नेता लोकमान्य तिलक ने सम्पूर्ण भारत के एक सुविशाल नए राष्ट्र की परिकल्पना की। देशी भाषा के पत्र-पत्रिकाओं ने जनता को शिक्षित करने में बड़ी सहायता पहुंचायी जनमत और लोकमानस को दीक्षित करने का साहित्य बड़े वेग से प्रकाशित किया

जाने लगा। सन् १८५७ ई० के विद्रोह की जो आग अंग्रेजों द्वारा दबा दी गई थी, वह समय पाकर धीरे-धीरे लोगों के मन मे पुनः सुलगने लगी। विदेशी शासकों ने सुधार के नाम पर कुछ छोटी-छोटी नौकरियाँ भी भारतवासियों को दीं तथा उनकी ओर से अन्य सुविधाओं का जाल भी फेंका गया। पढ़े-लिखे लोग उसमें फंस गए। स्वार्थवश वे अंग्रेजों के भक्त भी बन गए। परन्तु देश में फैली भयंकर बेकारी, अशिक्षा, दीनता और सामाजिक अप्रतिष्ठा ने लोगों के मन में नैराश्य की भावना को जन्म दिया। भारतेन्दु-युग के कतिपय लेखकों और कवियों ने मुकरियों, पहेलियों और व्यंग्य चित्रों से पहले भी उसका विरोध किया था, परन्तु खुले आम विरोध की शक्ति उनमें नहीं थी; बल्कि शासकों को प्रसन्न रखने के लिए वे समय समय पर उनका गुणगान भी करते थे। द्विवेदी-युग के कवियो ने पराधीनता की इस असह्य वेदना को, जिससे देश कराह रहा था, एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया। वैचारिक संघर्ष की नींव पड़ी। दो जीवन पद्धतियो मे टक्कर हुई। कला सम्बन्धी मान्यताओं में क्रान्ति का बीज वपन हुआ। स्वप्निल जीवन का कुहासा और धुंध छंटने लगे। यथार्थ की देहरी पर लोगों ने कदम रखा। नए काव्य के साथ लोगों का साक्षात्कार हुआ।

ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली की प्रतिष्ठा हो गई। नए छंदों का प्रयोग आरंभ हुआ। काव्य में नवीन आदर्श ग्रहण किए गये। रीतिकालीन रूढ़िगत प्रेम के आदर्श के स्थान पर देश प्रेम स्वस्थ एवं व्यापक रूप में स्वीकृत हुआ। सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रोह उभरने लगा। वर्तमान जीवन परिस्थिति के विरुद्ध असतोष और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह उभरने लगा। देश की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति, देशी सामन्तवाद और विदेशी साम्राज्यवाद के दो किनारों से टकराने लगी। वह उनसे ठोकर खाकर भी मुड़ी नहीं, वरन् आगे बढ़ी।

राष्ट्रीय काव्य के क्षेत्र मे विशेष प्रगति हुई। भारतेन्दु युग की निराशा छंटकर उसके स्थान पर आक्रोश और आत्मविश्वास के भाव पैदा हुए। आपसी मेल मिलाप तथा विश्व-बन्धुत्व भावना देश में बढ़ी। आडम्बर और रूढ़ियां टूटने लगीं। ऊंच नीच और छूत-अछूत की थोथी दीवारें भग्न हो गईं। तथ्य सामने आया। स्वाधीन राष्ट्र पुरुष की एक अखण्ड मूर्ति का आदर्श सामने रखा गया। साम्प्रदायिक सौमनस्य कायम करने की भरपूर चेष्टा की गई, यद्यपि इसमे एक वर्ग विशेष की हठवादिता से विशेष सफलता नहीं मिली। काव्य में सामाजिकता का विकास तो हुआ, पर वैयक्तिकता नहीं आ सकी।

तत्कालीन काव्य पर महात्मा गांधी के जीवन और उनके आदर्शों का भी प्रभाव पड़ा। गांधीवाद का आध्यात्मिक आधार है, मानव स्वभाव पर अटल विश्वास। सत्य उसकी रीढ़ है। द्विवेदी युग का कवि आस्थावान है। वह युग के बदलते हुए मूल्यों को ग्रहण करता हुआ गतिशील रहा। उसकी नई कविता में नए विश्वास जागे। मानव प्रेम और नारी के रूप में परिवर्तित दृष्टिकोण प्रथम बार बहुत दिनों के बाद भारतीय वांङ्मय में पुनः आया। नारी के योग-क्षेम की आवश्यकता महसूस की गई। विदेशों में होने वाले परिवर्तनों पर भी हमारी दृष्टि गई और भारत के कवि-लेखकों ने प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाया।

इस युग की कविता में अभिव्यक्ति का खरापन, सीधापन और ग्रामीण रंग तो आया- पर भावविक [illegible] नहीं [illegible] सका शैली की नूतनता आई पर निखार नहीं खड़ीबोली में

प्रौढ़ता, चपलता और गठन आयी, किन्तु साथ ही साथ गद्यमयता और कथात्मकता भी आयी, जो काव्य की दृष्टि से दोष है। संक्षेप में देश-प्रेम की कविता अनगढ़, शिलाखण्डों में प्रवाहित होने वाली निर्मल जल की कल्लोलिनी है। इसमें नवीनता है, ताजगी है, प्रफुल्लता और स्फूर्ति है।

द्विवेदी-युग में जाति-धर्म और कुल की छोटी सीमायें टूट कर देश-प्रेम की परिधि में समा गई। 'एक हृदय हो भारत जननी' की आवश्यकता महसूस की गई। सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में सम्पूर्ण सुधार नहीं हो सका, कारण गुलामी स्वयं अपने आप में एक अभिशाप है। उसके कारण निरक्षरता, रूढ़ियां और सामंतवादी सामाजिक ढांचा अब भी शेष रहा। सर्वहारा, पूंजीपति और जमींदार तथा अंग्रेजों के भक्त सरकारी नौकर और रायबहादुर, खान बहादुर, राजा और नवाब बने रहे। इनका समन्वय कठिन ही नहीं असम्भव था। ऐसी स्थिति में संगठन और राष्ट्र प्रेम को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में हिन्दी के विकास को प्रोत्साहन मिला।

"पाश्चात्य नवीन बुद्धिवाद, विचार और कार्य की वैज्ञानिक प्रक्रिया तथा नवीन शिक्षा और साहित्यानुशीलन ने लोगों को उदार हृदय व खुले मस्तिष्क से वस्तु-स्थिति पर अनासक्त ढंग से विचार करने, उन पर अपनी स्वतन्त्र धारणा स्थिर करने, तथा नवीन परिस्थितियों के आग्रह से समन्वय की व्यापक भावना के साथ प्रत्येक वस्तु के प्रति एक सजग, तटस्थ विवेकपूर्ण दृष्टि को ग्रहण करने का अवसर और उत्तेजना प्रदान की।"

अंग्रेजी शोषण का सबसे अधिक प्रभाव किसानों पर पड़ा। समाज में इनकी दशा सबसे शोचनीय बन गई। इनके उत्पीड़न से देश का आर्थिक ढांचा लड़खड़ा गया। अकाल और सूखा ने उधर अलग तबाही मचा दी। प्लेग आदि भयंकर बीमारियों की मार समाज सहन न कर सका। चारों ओर त्राहि त्राहि मच गई। देश की इस विपन्न दशा की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ। उनके भीतर मानव प्रेम विकसित हुआ। उन्होंने सुनियोजित ढंग से दीनों-हीनों के प्रति संवेदना एवं सहानुभूति के स्रोत खोल दिये। कविता करुणा की गंगा में नहाने लगी।

इस सांस्कृतिक जागरण के प्रखर प्रहरी थे—स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, पं० मदनमोहन मालवीय और महात्मा गांधी। ये सभी सामाजिक क्रान्ति द्वारा राजनीतिक क्रांति चाहते थे। मुक्ति (आजादी) इनका लक्ष्य था। इस मुक्ति के लिये सहयोग, चरित्र बल, राष्ट्रीय एकता, सेवा तथा बलिदान की सच्ची भावना की अत्यन्त आवश्यकता थी, अस्तु, नैतिकता पर इस युग में सबसे अधिक बल दिया गया। इसका सुफल यह निकला कि साहित्य में नए विचार नूतन भाव और शिव संकल्प की अवतारणा हुई, किन्तु दूसरी ओर पिष्टपेषण और गद्यमयता आदि का विस्तार हुआ"। स्वर्णिम अतीत की गौरव गाथाओं को गाकर वर्तमान का कलेवर सजाया जाने लगा। कवियों ने इतिहास और पुराण से प्रसंग लेकर नए आख्यान खड़े किये।

द्विवेदी-युग में भारतवासियों के सम्मुख स्वराज्य-प्राप्ति एक प्रमुख प्रश्न था। धर्म और सम्प्रदाय की संकरी गलियां, साहित्य की ओछी प्रवृत्तियां मिटकर व्यापक विचारों के चौराहे पर मिल गईं। सच्चा धर्म, युग-धर्म या मानव-धर्म बन गया। कविता का मुख्य कलेवर राष्ट्रीय एवं सामाजिक हो गया। हिन्दी काव्य में धार्मिक सहिष्णुता, दूसरे धर्मों के प्रति आदर, मानव-प्रेम एकता और सवधर्म-समन्वय की उदात्त भावना उत्पन्न हुई। इस दिशा में राष्ट्र कवि मैथिलीशरण

गुप्त के काव्य का प्रदेय स्तुत्य है। इनमें हिन्दू मुसलमान ईसाई और सिक्ख सभी धर्मों के प्रति आदर प्रकट किया है।

द्विवेदी-युग की राष्ट्रीयता, प्रान्तीयता और हिन्दुत्व से ऊपर उठकर सर्वजनीन तथा सम्पूर्ण देश की एकता और अखण्डता की द्योतक बन गई थी। काव्य में इस व्यापकता के अनुरूप दीप्ति, मधुरता और औदार्य का समावेश हुआ। बाबू मैथिलीशरण गुप्त के साथ ही साथ पं० श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', 'शंकर', 'सनेही' आदि कवियों की कविता में राष्ट्र-प्रेम की गम्भीर, सरस, सरल, स्पष्ट और वेगवती वाग्धारा प्रवाहित हुई। ये सभी कवि युग-मानस को उद्बोधन देने तथा बड़े मनोयोग से उन्हें आगे बढ़ाने में संलग्न थे।

भाषागत परिवर्तन :—इस युग की कविता की विशेषता भाषा परिवर्तन है। खड़ीबोली मुख्य काव्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। प्रारम्भ में यह भाषा अव्यवस्थित और भावों को वहन करने में असक्षम थी, पर धीरे धीरे द्विवेदी जी के सद्प्रयत्नों से इसका परिष्कार हुआ। द्विवेदी जी कविता में तुकबन्दी के विरोधी थे। छन्द के क्षेत्र में वे स्वच्छन्दतावादी थे। उन्होंने कवियों को विविध प्रकार के छन्द लेखन की ओर प्रोत्साहित किया। इस युग में लावनी और उर्दू के छन्दों का प्रचुर प्रयोग श्रीधर पाठक ने किया। हरिऔध ने संस्कृत छन्दों के साथ ही साथ अनेक नए-नए छन्दों का उपयोग किया। उनको संस्कृतवृत्तों के प्रयोग में बड़ी सफलता मिली, जैसा कि 'प्रिय-प्रवास' के छन्द-प्रयोग से प्रकट होता है। मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गोपालशरणसिंह, श्री सियारामशरण गुप्त और कवि शंकर ने अनेक नये छन्दों का प्रयोग खड़ीबोली में किया।

सन् १९०३ ई० में जब द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक की आसन्दी पर बैठे, हिन्दी कविता की भाषा परीक्षण काल से गुजर रही थी। इस युग का सबसे बड़ा प्रयोग भाषा का ही है। यह खड़ी बोली कविता का प्रारम्भ ही था और कोई भी भाषा प्रारम्भ से विषय-वस्तु के वर्णन में इतिवृत्तात्मक और अभिव्यक्ति में अभिधात्मक होती है इसलिये द्विवेदी-युग की प्रारम्भिक कविता ठीक उसी तरह है जैसे कोई ग्रामीण लड़की नंगे पैर अपने खेतों की ओर चल देती है। उसमें गति है, लचक नहीं। प्रवाह है, संवेदना का आवर्त नहीं। सीधी और सरल है, जटिल और विदग्ध नहीं।

युग-निर्माता द्विवेदी जी ने सदैव शुद्ध, व्याकरण सम्मत भाषा लिखने का कवियों से आग्रह किया। वे स्वयं इस मार्ग के साधक बने। भाषा को प्रांजल बनाने का भी उन्होंने अथक प्रयत्न किया। काव्य में व्याप्त शैथिल्य को दूर कर उन्होंने नई अभिव्यंजना प्रणाली को जन्म दिया। नए प्रतीक और नूतन शब्दावली ग्रहण की गई।

आलोच्य युग में कवि, पाठक तथा आलोचक तीनों का ध्यान नव-स्वीकृत भाषा त्रुटियों की ओर आकृष्ट हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों तथा साहित्य-सभाओं के अध्यक्षीय भाषणों में खड़ीबोली की शब्द संकरता, तुकबन्दी के आतिशय्य और व्याकरण सम्बन्धी दोषों की कटु आलोचना हुई [illegible] कवियों ने नूतन विषय वस्तु के लिए रीति कालीन रूढ़ काव्य शैली [illegible] बोली की [illegible] उच्छृंखलता का अन्त हो गया।

भाषा के गठन और विशुद्धता के अतिशय आग्रह ने स्वच्छन्द रचना के प्रवाह को मन्द अवरुद्ध कर दिया। हरिऔध आदि कई कवियों की भाषा कृत्रिम रूप धारण कर गई जिस भूल का उन्होंने कालान्तर में परिमार्जन किया।

अति व्याकरण सम्मत और काव्य शैली के अत्यन्त वर्णनात्मक होने के कारण खड़ीबोली कविता अभिधात्मक हो गई। तुकों की पुनः उसमें घुसपैठ बढ़ गई। भाषा का नैसर्गिक प्रवाह कुछ रुक-सा गया और उसकी अभिव्यंजना क्षमता भी घट गई किन्तु सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि भाषा के क्षेत्र में छायी हुई अराजकता मिट गई। शुद्ध प्रयोग कविता के लिये अनिवार्य हो गया। परवर्ती काव्य में जो प्रवाह, प्रसाद गुण और मार्दव बाद में आया वह भाषा शुद्धता के कारण प्रौढ़ता को छू गया। प्रारम्भिक प्रयत्नों ने पृष्ठभूमि का काम किया।

मातृ-भाषा का प्रेम देश-प्रेम का अभिन्न अंग है। इसके बिना देश-प्रेम की चर्चा बनावटी सी लगती है। इसलिये इस युग के सभी कवियों ने अपनी मातृभाषा और राष्ट्र भाषा-हिन्दी के प्रति गहरी चिन्ता व्यक्त की। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, सत्यनारायण 'कविरत्न', मैथिलीशरण गुप्त और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। भारत के समूलोद्धार के लिये तत्कालीन हिन्दी कवियों ने व्यापक एवं विशाल कार्य-क्रम बनाया। परिस्थितियों का प्रभाव काव्य-वस्तु के अतिरिक्त काव्य-शैली पर भी पड़ा। आवेग, प्रवाह और कथन की आकुलता ने भाषा को परिमार्जित किया परन्तु कला की सजावट, भाषा का अलंकरण और बाह्य सौन्दर्य फीका ही रहा जो छायावाद में पूर्ण हुआ। वास्तव में इस युग के कवियों का ध्यान अपनी कविता से अधिक देश-प्रेम पर था। कविता तो माध्यम थी, साधन रही, साध्य तो थी राष्ट्रीयता, स्वाधीनता।

नए काव्य रूप के क्षेत्र में कार्य :—द्विवेदी-युग का काव्य विविध प्रकार का है। उसमें स्पष्टतया तीन धारायें साथ-साथ चलती रहीं। प्रथम धारा प्रबन्ध काव्य की थी, जिसमें महाकाव्य तथा खण्डकाव्यों की रचना हुई। इसमें समाज की नूतन आदर्श स्वीकृति और वर्णनात्मक शैली का प्रयोग चलता रहा, जिसमें हरिऔध का 'प्रिय प्रवास', गुप्त जी की 'भारत-भारती', 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी' और 'साकेत' का पूर्वार्द्ध और सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य विजय काव्य' आता है। नवीन धारा के प्रारम्भ में छोटे-छोटे पद्यात्मक-निबन्धों की भी परम्परा चली जो प्रारम्भ में कुछ भाव प्रधान रही, पर आगे चलकर शुष्क होने लगी। दूसरी धारा ब्रजभाषा के कवियों की थी जिसमें 'रत्नाकर', और 'पूर्ण', 'कविरत्न' और 'वियोगी हरि' तथा 'सनेही' आदि कवि अपनी काव्य-माधुरी की सरस-सजीली अभिव्यक्ति कर रहे थे। 'उद्धव-शतक' ऐसा रससिक्त काव्य इसी युग की देन है। ये ब्रजभाषा के कवि भी राष्ट्रीय यज्ञ में अपनी शक्ति के अनुसार आहुति दे रहे थे ये युग के प्रभाव से अछूते कभी भी नहीं रहे यह दूसरी बात थी कि भाषा के क्षेत्र में इन्होंने परिवर्तित काव्य शैली को उस समय नहीं अथवा उसे अपनाने में असमर्थ रहे

के माध्यम से शुद्ध सात्विक प्रेम लौकिक और पारलौकिक दोनों को अपना काव्य-विषय बना रहे थे स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का वर्णन, युग बोध और जीवन की क्लिष्ट भावनाओं को अभिव्यक्ति देने के विचार से वे नए काव्य में अनमोल एवं अमिट रेखायें खींच रहे थे। इन स्वच्छन्दतावादी गीतों के प्रमुख लेखक थे श्री श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी और माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, निराला, और पंत का प्रारम्भिक काव्य भी इसी के अन्तर्गत आता है। यहां हम सकेत मात्र करते हैं और केवल एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। चित्र है गुप्त जी के 'साकेत' से—

"वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर कनी,
सजग रहूं मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय विशिख-अनी।"[1]

इसे देखकर हम कह सकते हैं कि अभिधात्मक द्विवेदी युगीन कविता में धीरे-धीरे अनुभूति पक्ष का प्रवेश हो रहा था। कविता आदर्श के साथ ही जीवन की वस्तुपरक भूमिका पर बढ़ रही थी।

नए आदर्शों का निरूपण—द्विवेदी-युग में सामाजिक क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए। पूर्व युग के वाद-विवाद और आलोचना-प्रत्यालोचना का स्थान, ठोस सामाजिक-उत्थान करने की भावना ने ले लिया। मानवता के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण प्रादुर्भूत हुआ। मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा गया। और निरन्तर शोषण के बीच जीवनयापन करने वाले अशिक्षित किसानों और श्रमिकों के जीवन, हिन्दी कवियों के वर्णन-विषय बन गए। नारी का, जो समाज में भोग की सामग्री मात्र बन गई थी, उसका गौरव बढ़ा। वह समाज का रस और विश्व की ज्योति बन गई। कबीर की माया महा ठगिनी रूपी स्त्री मानव जाति का उत्तमांश हो गई। मैथिलीशरण गुप्त की कविता में नारी के महान रूप के दर्शन होते हैं। 'कैकेयी', 'उर्मिला', 'सीता' और 'यशोधरा' को जो सामाजिक मूल्य गुप्त जी ने प्रदान किया, वह कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा गया था। तत्कालीन महाकवि हरिऔध ने भी अपनी 'प्रिय प्रवास' की नायिका 'राधा' को सर्वथा नए सन्दर्भ में रखा। वह नए युग की नई भावनाओं से मण्डित होकर समाज के सम्मुख उपस्थित हुई। इस युग में नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों का भी प्रभाव पड़ा। चारों ओर बुद्धिवाद का बोल बाला हो गया। धार्मिक दृष्टिकोण में भी महान परिवर्तन हुआ।

द्विवेदी-काल में सहसा ही ईश्वर-भक्ति के स्वरूप में, हिन्दी साहित्य के पूर्ववर्ती कालों से, एक युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित हो गया। जिस रूढ़ अर्थ में भक्ति-भावना आदि का प्रयोग चला आ रहा था, उसका अब लोप-सा हो चला। यह अन्तर प्राचीनतावादी 'रत्नाकर' के 'उद्धव-शतक' के 'उद्धव' के स्वरूप और 'हरिऔध' द्वारा 'प्रिय प्रवास' में निरूपित ईश्वर सम्बन्धी तथा नवधा-भक्ति सम्बन्धी भावना के अध्ययन से पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है। इस उत्क्रान्ति के मूल में

राजनीतिक एवं सामाजिक युग-चेतना थी साहित्य क्षेत्र में यह परिवर्तन कविवर रवीन्द्रनाथ के काव्य में सर्वाधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ा।

इस काल के कवियों ने देश और जाति के जीवन की बड़ी विशद सशक्त और मौलिक आलोचना और व्याख्यायें की है। इसमें इस युग के काव्य की देन और शक्ति छिपी है। द्विवेदी युगीन काव्य में मानव-सत्यता, सात्विक ओज, प्रवाह, जीवनोष्मा तथा बल है। इसमें भारतीय राष्ट्र के जीर्णोद्धार तथा नवनिर्माण के शिवसंकल्प की जीवन्त प्रेरणा ये झलक रही है। नैष्टिक वस्तु के अभाव में कोरी शैली का सौन्दर्य क्या कभी वरणीय है ? फिर जब हम देखते हैं कि इन कवियों ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर उठने के प्रयत्न में प्रेम और सौन्दर्य की वृत्तियों का परिष्कार किया, तथा उन्हें ऊर्ध्वमुख और उज्ज्वल बनाया तो उसकी उपलब्धि हल्की नहीं ठहरती। इसके अतिरिक्त इस युग में कवियों की सीमित हृदय-परिधि का विस्तार भी हुआ। 'रति' का प्रवाह केवल दाम्पत्य-रति की सीमा तोड़कर जीवन तथा जगत के अनेक विस्तृत क्षेत्रों की ओर भी उन्मुक्त होकर दौड़ पड़ा।

राष्ट्रीय काव्य धारा की एक विशेषता उसका सांस्कृतिक पक्ष है। साम्प्रदायिक सामंजस्य, सदिच्छा तथा मेल-मिलाप का पोषण युग के अनेक कवियों ने बड़े मनोयोग से किया जिनमें मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी और माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रमुख हैं। इस युग की कविता की एक विशेषता राजनीतिक चेतना भी रही, जिसके फलस्वरूप स्वदेश की लहर राष्ट्रीय एकता और सर्वतोमुखी जागरण का मंत्र फूंकना ही इन कवियों का कार्य था। पं० रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' का निर्माण इसी को लक्ष्य करके किया गया।

द्विवेदी-युग का काव्य राष्ट्रीय कांग्रेस का बिगुल था। इन कवियों ने ऐसा वातावरण पैदा कर दिया कि देशवासी सर पर कफन बांध कर देश सेवा के लिए निकल पड़े। इस युग की कविता में समान भावना और मानवीय गुणों की सहज ही स्थापना हुई। कविता में चरम सत्य को स्वीकार किया गया। कवियों ने सत्य और न्याय की मांग की। गरीब, किसान, मजदूर, विधवा और अछूत काव्य के विषय बन गये। मैथिलीशरण गुप्त इस दिशा में हमारे अग्रज सिद्ध हुये। माटी का मोल बढ़ गया। मनुष्य में ईश्वर के दर्शन हुए। मानव सेवा ही ईश्वर सेवा बन गई। तभी तो 'साकेत' के राम कहते हैं—

> "भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया,
> नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
> संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
> इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"[1]

भारत की भूमि जो माँ है, उसकी अस्मिता की रक्षा में सरस्वती पुत्रों ने अपना गौरवपूर्ण योगदान किया

द्विवेदी युग के काव्य में शृंगार के अश्लील पक्ष को त्याज्य समझा गया। नैतिकता जीवन और साहित्य की एक अनिवार्य सी कसौटी बन गई। इस बन्धन ने कवियों के स्वाभाविक विकास पर एक प्रकार का अंकुश लगा दिया। इसका कुफल यह निकला कि सजीव, प्राणमय, उल्लास विलास, हास और व्यंग्य के जो चित्र काव्य जगत में सहज ही उभर सकते थे, वे नहीं आ सके। सारा काव्य सोद्देश्य बन गया।

इस युग की कविता के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है –"बात यह थी कि खड़ीबोली का प्रचार बराबर बढ़ता दिखाई देता था और काव्य के प्रवाह के लिए कुछ नई-नई भूमियां भी दिखाई पड़ती थीं। देश-दशा, समाज-दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण सम्बन्धी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रहकर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी पर गहराई के साथ नहीं। त्याग, वीरता उदारता, सहिष्णुता इत्यादि के अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग पद्यबद्ध हुए, जिनके बीच बीच में जन्म भूमि-प्रेम, स्वजाति-गौरव, आत्म-सम्मान की व्यंजना करने वाले जोशीले भाषण रखे गए।"1

इस युग की कविता में प्रभु के अवतार का महत्त्व कम हो गया। राम और कृष्ण निराकार ईश्वर के पद से नीचे उतरकर महापुरुष या लोकनायक बन गए। स्त्री पुरुष की उद्धारक बन गई। मानव का नया मूल्यांकन हुआ। धर्म जो मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघर मे सुरक्षित था, उसकी ऊपरी मान्यतायें घट गईं। जीवन में धर्म का स्थान बहुत कम हो गया। धर्म के नाम पर खाने कमाने वालों को बड़ा धक्का लगा।

काव्यगत वैशिष्ट्य - द्विवेदी-युग की कविता में व्यक्ति के स्थान पर समूह की सत्ता स्थापित हुई व्यक्तिगत साधना के स्थान पर सामूहिक सत्याग्रह की नींव पड़ी। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धो के सौन्दर्य में ही वास्तविक आध्यात्मिकता के दर्शन किए जाने लगे। 'प्रिय प्रवास', 'साकेत' और 'पथिक' द्वारा नवीन आध्यात्मिकता की काव्यात्मक व्याख्या हुई। राष्ट्रसेवा मे आत्मदान करना मुक्ति का साधन बन गया। आत्मा परमात्मा का दार्शनिक चिन्तन, देश चिन्तन मे समा गया। युग के नैतिक आदर्शों के फलस्वरूप उत्पन्न परिष्कृत दृष्टिकोण ने दाम्पत्य-प्रेम को नई दिशा दी, जिसको हम 'प्रिय प्रवास', 'साकेत', 'पथिक' और 'मिलन' मे देख सकते है।

समाज में नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा बढ़ी। शाश्वत मूल्यों और जीवन के प्रमुख उद्देश्यो की पुनर्स्थापना हुई जो रीति काल में विशेषतया गुलामी के कारण नष्ट हो गयी थी। साहित्य मे एक नया मानवीय दृष्टिकोण विकसित हुआ। भक्तिकाल में निर्गुण ब्रह्म या उसके सगुण रूप राम तथा कृष्ण ही काव्य के नायक थे। रीतिकाल में रसिक या विलासी राजा तथा बादशाह नायक बने और उनकी प्रेयसी या नायिकायें ही काव्य का मुख्य विषय बनी हुई थीं। किन्तु आधुनिक युग में अलौकिक या विरल के लिए अवकाश नहीं रहा। काव्य आकाश कुसुम की कल्पना से उतरकर धरती के गीत गुनगुनाने लगा। साधारण मानव के प्रत्यक्ष दुख-सुख, उसकी आशा-

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६११

आकांक्षा, स्पृहा-स्वप्न, अभाव रुदन और महत्व एवं गौरव की कथा उसके प्राणों में बस गई। पश्चिमी विचारकों का भी काव्य पर प्रभाव पड़ा। दीनता, दारिद्र्य और अभाव के प्रति मानव में संवेदना एवं सहानुभूति का स्रोत स्वतः फूट पड़ा। जीवन की सौन्दर्य-भावना और प्रकृति के लालित्य को देखने वाली रुचि का परिष्कार हुआ।

इस युग की प्रतिभा वर्णन की प्रतिभा थी। गीतात्मक प्रतिभा उसमें कम थी। अपनी सीमा और मर्यादा में रहकर इस युग के कवियों ने जो कुछ अर्जित किया वह हमारी बहुमूल्य उपलब्धि है, इसके लिए वे उचित श्रेय तथा साधुवाद के अधिकारी हैं। काव्य-शैली के क्षेत्र में भी इन कवियों की देन प्रशंसनीय है। अपनी वस्तु अथवा कथानक को प्रभाव-शालिता के साथ ढालने के लिए इन्होंने प्राचीन वृत्तों के साथ शनैः-शनैः नव आविष्कृत छंदों के प्रयोग किए। भाषा और शैली के अनेक प्रयोग इस युग में हुए जिसके कारण छायावाद को प्रतिष्ठित होने के लिए बना बनाया क्षेत्र मिल गया।

द्विवेदी-युग में, हजारों वर्षों के बाद, मनुष्य की सच्ची प्रतिष्ठा पहली बार इस देश में आंकी गई। मानव ने मानव को समझा। इन्सान इन्सान के बीच की बनावटी दीवारें ढहने लगीं। साधन ही नहीं साध्य वरन् साधु साध्य की ओर लोगों का ध्यान गया। जनवादी काव्य धारा का उद्रेक बड़े वेग से आगे बढ़ा। ब्रजभाषा की पुरानी धारा धीरे धीरे लुप्त हो गई। दरबारी संस्कृति और तज्जन्य काव्य का ह्रास ही नहीं हुआ, उसका सृजन सदा के लिए बन्द हो गया। शृंगार की प्रवृत्ति को अश्लील मानकर उसका बहिष्कार किया गया। अब कविता का उद्देश्य केवल मनोरंजन न रहा। उसमें मानव जीवन की पनपती हुई नवसंस्कृति का समावेश हुआ। मानवतावाद बुद्धिवादी प्रवृत्ति और राष्ट्रीयता तीनों इस युग की कविता के प्राण बन गए। परोपकार और सेवा मानव धर्म हो गये, तभी तो 'साकेत' के राम सीता से कहते हैं—

"मैं आया उनके हेतु कि जो तापित है,
जो विकल, विवश, बल हीन, दीन शापित है।"

इस युग के काव्य में रूढ़िवादी परम्परायें खंडित हुई है। जाति से नीचे माने जाने वाले और दरिद्र तथा दुष्ट स्वभाव के पात्रों के चरित्र चित्रण में भी अत्यन्त सहानुभूति से काम लिया गया है। एक आदर्श मान्यता तो यह भी है कि हर व्यक्ति के हृदय में दूध की स्वच्छ, निर्मल धारा बहती है, आवश्यकता है उस मर्म को स्पर्श करने की। नवीन मानव मूल्यों की स्थापना के साथ ही अद्भुत एवं अलौकिक के प्रति उदासीनता बढ़ रही थी। जो जमीन की पहुंच के बाहर था, उसके मानवीकरण का प्रयत्न चल रहा था। लोक-जीवन में सक्रियता बढ़ गयी थी। वीतरागात्मकता के विरुद्ध विद्रोह की भावना चल रही थी धर्म की मौलिक रूप से प्रतिष्ठा हो रही थी नर में नारायण को उतारना युग की विशेषता थी।

भाव-भूमियों से अवगत हुए । आलोच्य काल में विभिन्न रसों में कवितायें हुईं । युग के सभी प्रेम काव्यों में रूप माधुरी के आकर्षण से उत्पन्न संयोग और वियोग के साफ चित्र उभरे हैं । 'प्रसाद' के 'प्रेम पथिक', रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' और 'मिलन' मे त्याग भरे प्रेम का उद्दाम स्वरूप विद्यमान है । 'प्रियप्रवास' एवं 'साकेत' में भी उसके दर्शन होते हैं ।

गुप्त जी के 'भारत भारती', 'किसान', 'जयद्रथ बध; 'सनेही' के 'कृषक-क्रन्दन', सियारामशरण गुप्त के 'अनाथ', रामनरेश त्रिपाठी के पथिक' आदि काव्यों में करुण रस की सफल अवतारणा हुई है । इस युग के 'मौर्य विजय', 'महाराणा का महत्व' आदि काव्यों में वीर रस की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है । आलोच्य युग के विस्तृत काव्य में इसी प्रकार विविध रसों का समावेश प्राप्त होता है ।

तत्कालीन कवियों को शृंगारिक गीत गाने और मन बहलाने की फुरसत नहीं थी । वे तो ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को इस देश से खदेड़ने और उसके स्थान पर स्वराज्य की स्थापना में लगे हुए थे । युग धर्म की उपेक्षा कर वे कवि जीवित नहीं रह सकते थे । वह उनका आपद धर्म था । जैसा आज युद्ध के समय (१९६५ ई० पाकिस्तान के साथ युद्ध) देश के प्रति सभी कवि और लेखक एक स्वर से साम्राज्यवादियों, निरंकुश तानाशाहों और देशद्रोहियों तथा पंचमांगियों के विरुद्ध अभियान कर रहे हैं । यहाँ तक कि 'क्षणवादी' कवि भी वीरतापूर्ण तुकबन्दी करने लगे हैं ।

सच तो यह है कि द्विवेदी-युग के कवि कविता के वाह्य रूप की जगह उसकी अन्तरात्मा की ओर अधिक आकृष्ट हुए थे । इसलिये व्यंजना और लक्षणा का प्रयोग न करके अभिधा द्वारा वे कविता की आत्मा को प्रकट कर रहे थे । उनके वर्णन में कोई भ्रम या भटकाव नहीं है । उसमें सत्यम् और शिवम् की भरपूर प्रतिष्ठा है, हां सुन्दरम् का भाव बाद में उसमें मिला । किन्तु सत्य स्वयं अपने आप में सुन्दर है और जब वह शिव के साथ समन्वित हो जाता है तब तो उसका मूल्य असीम बन जाता है । अस्तु, कविता इस युग में आडम्बर युक्त चोले को फेंक कर यथार्थ की देहली पर खड़ी होकर मंगलमय प्रभात को निहारने लगी । पाठकों के हृदय में आशा और विश्वास का उदय हुआ ।

यह काल हिन्दी काव्य की प्रायः सभी प्रवृत्तियों का उद्भव स्थल है । इसमें एक ओर गुप्त जी की वर्णन प्रधान प्रारम्भिक रचनायें हैं, जिन्हें देखकर कुछ लोग उन्हें महान कवि मानने में सकोच करते हैं, तो दूसरी ओर गीत मुक्तक एवं स्वच्छन्दतावादी प्रकृति काव्य-चित्र । जहाँ इस युग की कविता का प्रारंभ अनगढ़ खड़ीबोली से हुआ, वहीं 'जुही की कली' और 'पचवटी' की निखरी भाषा भी सामने आयी । एक ओर नीरस गद्य-सी तुकबन्दियां हुईं तो दूसरी ओर 'उद्धव शतक' ऐसे रस सिद्ध काव्य की सृष्टि भी

चरित्रों की सृष्टि, आदर्श जीवन के साथ मनुष्य की चरितार्थता, नैतिक मूल्यों की स्थापना, गर्हित अश्लील चित्रों का बहिष्कार और युग युग से उपेक्षित नारी को महिमामय स्थान दिलाने का सद्प्रयत्न इस काल के काव्य का प्रदेय है। आज भी हिन्दी साहित्य में जिन तीन आधुनिक महा-काव्यों की तुलनात्मक समीक्षा समानान्तर की जाती है उसके नाम क्रमश: 'प्रिय प्रवास' 'साकेत' और 'कामायनी' हैं स्पष्ट है कि प्रथम दोनों द्विवेदी युगीन हैं तीसरा छायावादी है। कोई भी जागरूक आलोचक इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि 'प्रियप्रवास और 'साकेत' अपने युग की काव्य प्रवृत्तियों के सीमान्त प्रयोग नहीं है।

महाकवि हरिऔध और बाबू मैथिलीशरण गुप्त के व्यापक, विस्तृत एवं महान काव्य कृतियों का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं साहित्यिक मूल्य है। उनका विकास क्रम गौरव की बात है। उसी पर आज परवर्ती काव्य का महल खड़ा है. पर वे नींव के पत्थर ही नहीं, दीवार के चित्र और कलश के फूल भी हैं। सचमुच देखा जाय तो प्रसाद, निराला, पंत, प्रेमचन्द्र (कथाकार) और रामचन्द्र शुक्ल (आलोचक) आदि जो हिन्दी के गौरव हैं, सभी उस युग की उपज हैं। परवर्ती लेखकों और कवियों को परिमार्जित एवं सुबोध भाषा मिली। उन्हें नए नए छन्द तथा नई सामाजिक भूमिका मिली, जिससे वे सुयशपूर्ण काव्य करने में सफल हुए, किन्तु यहीं हम यह भी संकेत करना चाहेंगे कि द्विवेदी-युग के कवियों को भी कालान्तर में काव्य का विकास करने का जब सुअवसर मिला, तब उनकी लेखनी से 'साकेत' का उत्तरार्द्ध, 'यशोधरा', 'द्वापर,' 'वैदेही वनवास', 'हल्दी घाटी.' 'नूरजहां' और 'जौहर' आदि सरस काव्य सामने आए। हम तो एक कदम और आगे बढ़कर कहेंगे कि 'दिनकर' के काव्य का बहुत बड़ा अंश द्विवेदी युगीन काव्य शैली में ही रचा गया है। आज भी द्विवेदी युग की सम्पूर्ण धारा सूखी नहीं है, उसका स्वर विभिन्न काव्य सरणियों में मिलकर किसी न किसी रूप में प्रवाहित है।

एक बात और, जब-जब कभी राष्ट्रीय संकट खड़ा होगा, द्विवेदी युग की काव्य-शैली अपरिहार्य रूप से पुनः चलेगी क्योंकि घर में आग लगने पर प्रथम धर्म पानी जुटाना और आग बुझाना हो जाता है, उस समय कोई अभागा व्यक्ति भी 'भोग,' 'काम,' या 'आनन्द' की बात नहीं सोच सकता, उसी प्रकार राष्ट्र को कायम रखने, उसकी स्वाधीनता की रक्षा के लिए लड़कर और आपदकाल में स्वयं की बलि देकर देश को बचाया जाता है। राष्ट्र पुरुष के अखण्ड गौरव-पूर्ण स्वरूप की रक्षा में काव्य पुरुष का सुन्दर सरस स्वरूप स्वेच्छया अपनी आहुति देकर सरस भाषा, जन बल और उद्बोधन का स्वर साधकर जनता को जगाने लगता है। वह उस समय कला के महान आसन से उतर कर प्रचार की पगडंडियों पर चलने लगता है और यही उसकी सच्ची सेवा है। जन-जन के कंठ में समाकर समवेत स्वर से मुखरित होना उसकी सिद्धि है।

भारत पर चीनी आक्रमण सन् १९६२ ई० और पाकिस्तानी आक्रमण सन् १९६५ ई० के अवसर पर लिखे गये हजारों छोटे बड़े काव्यों को हम देख सकते हैं। बड़ी कठिनाई से उसमें ढूंढने पर शुद्ध साहित्यिक पंक्तियाँ मिलती हैं। युद्ध के समय, आजादी की रक्षा के लिए हमारे 'क्षणवादी' कवि, 'भोगवादी' लेखक और 'कामवादी' चित्रकार भी वीरता, पराक्रम और शौर्य भरे गीत लिखने लगे हैं। इस समय वे अपनी आत्मरत्त पीड़ा, कुंठा या काम परक कृतियों को समाज के सामने लाने से कतराते हैं। अस्तु. निवेदन केवल यही है कि द्विवेदी युग के काव्य को एक सांस में नीरस, भद्दा, और उपदेशात्मक कहना युग की नाड़ी को न पहचानना

है। आज आवश्यकता इस बात की है कि उसकी समस्त परिस्थितियों और सन्दर्भों पर विचार हो, उसकी विभिन्न शैलियों तथा प्रवृत्तियों का मूल्यांकन तथा सम्पूर्ण उपलब्धियों का समुचित आकलन हो। तभी तत्कालीन कवियों के प्रति न्याय होगा और काव्य सम्बन्धी मान्यताओं के सत्य की झांकी मिलेगी।

जीवन के सांस्कृतिक धरातल पर आदर्श राष्ट्रीय चेतना और सहज मानव-हृदय की स्वीकृति जब तक हृदय और मस्तिष्क करता रहेगा, तब तक द्विवेदी युग के हिन्दी काव्य का प्रभाव और उसकी ज्योति अमिट एवं अक्षुण्ण बनी रहेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

परिशिष्ट (क)

लाला भगवानदीन*

जन्म : सम्वत् १९२६, मृत्यु : सम्वत् १९८७ जुलाई, सन् १९३० ई०

फारसी की बहरों को हिन्दी में लेकर रचना करने वाले और खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा दोनों में काव्य लिखने वाले, साथ ही प्रचुर परिमाण में कविता करने वाले लाला जी द्विवेदी-युग के एक विशेष प्रकार की शैली के प्रवर्तक कवि थे।[1]

लाला जी बुन्देलखंड में पैदा हुये थे। उनकी रहन सहन बहुत सादी थी। उनका हृदय बहुत ही कोमल, सरल तथा उदार था। उन्होंने हिंदी के प्राचीन काव्य का नियमित रूप से अध्ययन किया था। वे साहित्य में अज्ञानपूर्वक उछल कूद करने वालों से चिढ़ते थे।

बुन्देलखंड एक ऐसा प्रदेश है जहाँ आज भी पश्चिमी सभ्यता का प्रसार कम हुआ है। वहा के लोग भारतीय रीति-रिवाज का पालन करते हैं। उनमें वीरता और काव्य के प्रति आदर है। विभिन्न पर्वो, त्योहारों और ऋतुविशेष के उत्सवों में वहाँ की जनता उमंग के साथ भाग लेती है। लाला जी वही उमंग भरा दिल लेकर छतरपुर से काशी में बस गये थे।

अपनी काव्य-साधना और सीधेपन के कारण वे धीरे धीरे काशी के साहित्यजगत में विशिष्ट स्थान बनाने में सफल हो गये। हिंदी शब्द सागर के सम्पादकों में वे भी एक थे। बाद में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में हिंदी की उच्च स्तर की शिक्षा प्रारम्भ होने पर लाला जी भी एक प्राध्यापक के रूप में वहाँ नियुक्त हुए।

लाला जी एक ठोस विद्वान थे। परम्परा के साथ व्यवस्थित अध्ययन में उनकी रुचि थी। उन्होंने देखा कि विश्वविद्यालय में समयाभाव के कारण अनेक युवा छात्रों को काव्य के समुचित अध्ययन का अवसर नहीं मिलता। इस कमी की पूर्ति के लिए उन्होंने एक साहित्य विद्यालय खोला, जो उन्हीं के नाम पर अब भी चल रहा है। कविता में लाला जी अपना नाम 'दीन' रखते थे।

'दीन' जी पहले ब्रजभाषा में पुराने ढंग की कविता करते थे। 'लक्ष्मी' के सम्पादक हो जाने पर खड़ी बोली की कवितायें लिखने लगे। वीरों के चरित्रों को लेकर उन्होंने बोल-चाल की फड़कती भाषा में जोशीली रचनायें कीं। उनकी कविता का तर्ज प्रायः मुंशियाना था। वे छंद भी उर्दू का रखते तथा उर्दू-फारसी शब्दों का भी प्रयोग करते रहे।

'दीन' जी के तीन काव्य निकले हैं जिनके नाम क्रमशः 'वीर [illegible]', 'वीर बालक' और

वीर पंचरत्न' हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, लाला जी प्राचीन हिंदी काव्य के मर्मज्ञ थे। उन्होंने अनेक ग्रंथों की टीकायें भी लिखी हैं। रामचंद्रिका, कविप्रिया, दोहावली, कवितावली और बिहारी सतसई आदि की व्यवस्थित टीकाओं ने साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अच्छा मार्ग खोल दिया है। भक्ति और शृङ्गार की पुराने ढंग की कविताओं में उक्ति चमत्कार वे अच्छा लाते थे।[1]

इनकी कविताओं के कुछ उदाहरण यहीं देख लें—

'सुनि मुनि कौसिक से साप को हवाल सब,
बाढ़ी चित करुना की अजब उमंग है।
पद-रज डारि करे पाप सब छारि,
कारि नवल-सुनारि दियो बामहू उतंग है॥
'दीन' भनै ताहि लखि जात पतिलोक,
और उपमा अभूत को सुझाओ नयो ढंग है।
कौतुक निधान राज राज की बनाय रज्जु,
पद तें उड़ाई ऋषि-पतिनी पतंग है॥[2]

उपर्युक्त कविता से स्पष्ट है कि 'दीन' जी उक्ति चमत्कार के प्रति सावधान थे, पर रस की वह पावन धारा जो सिद्ध कवियों में पायी जाती है, उसका इनमें अभाव था। इनकी कविता का एक और उदाहरण ले लेना अधिक समीचीन होगा—

"वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता,
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता॥
जो वीर-सुजश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता॥"[3]

खड़ी बोली की इस कविता में गद्यमयता और तुकों का नीरस प्रयोग ही अधिक है। उनकी फुटकल कवितायें 'नवीन बीन' या 'नदी में दीन' में संग्रहीत हैं।

लाला जी ने अलंकारों के लक्षण दोहे में दिये हैं और उदाहरण दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त, छप्पय, बरवै आदि छंदों में। अलंकारों के लक्षणों को उन्होंने विवरण द्वारा स्पष्ट किया है और किसी भी अलंकार की विशेषता अथवा दूसरे सादृश्य रखने वाले अलंकार से अंतर को सूचना में प्रकट किया है। उदाहरणों की रोचकता 'दीन' जी की 'अलंकार-मंजूषा' में अद्वितीय है। उन्होंने हिन्दी के सभी उत्कृष्ट कवियों की रचनाओं से चुन-चुन कर उदाहरण जुटाये हैं।[4]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लाला जी कवि थे, काव्यशास्त्र के पंडित थे। उन्होंने राष्ट्रभाषा की अभिवृद्धि के लिए अनेक प्रकार से योगदान किया है।

परिशिष्ट (ख)

पुस्तक-सूची

नाम-पुस्तक	लेखक
समालोचना समुच्चय	आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
विचार-विमर्श	,, ,,
सुहागरात	,, ,,
रसज्ञ-रंजन	,, ,,
कविता-कौमुदी	,, ,,
हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
चिन्तामणि, भाग १, २	,, ,,
हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी	,, नन्ददुलारे बाजपेयी
नया साहित्य : नये प्रश्न	,, ,,
आधुनिक साहित्य	,, ,,
जयशंकर प्रसाद	,, ,,
आदिकाल	,, हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी का सामयिक साहित्य	,, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
वाङ्मय विमर्श	,, ,,
भारतेन्दु-युग	डा० रामविलास शर्मा
महाकवि निराला : व्यक्तित्व और कृतित्व	,, ,,
महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग	,, उदयभानु सिंह
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	,, श्रीकृष्णलाल
मानस-दर्शन	,, ,,
हिन्दी कविता में युगान्तर	,, सुधीन्द्र
संस्कृति के चार अध्याय	,, रामधारी सिंह 'दिनकर'
आधुनिक हिन्दी साहित्य	,, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
आधुनिक काव्य-धारा	,, केसरीनारायण शुक्ल
हिन्दी गद्य शैली का विकास	,, जगन्नाथप्रसाद शर्मा
मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य	,, कमलाकान्त पाठक
खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना	,, आशा गुप्ता
हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य	,, गोविन्दराम शर्मा
श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व- काव्य	,, मिश्र

हरिऔध : जीवन और कृतित्व	डा० मुकुन्ददेव शर्मा
हरिऔध : अभिनन्दन ग्रन्थ	
हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा	" स्नेहलता श्रीवास्तव
हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग	" शंकर देव अवतरे
हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप और विकास	" शम्भुनाथ सिंह
कोविद रत्नमाला, भाग १	" श्यामसुन्दर दास
महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास	" धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
साकेत : एक अध्ययन	" नगेन्द्र
सियारामशरण गुप्त	सम्पादक डा० नगेन्द्र
गुप्त जी की कला	डा० सत्येन्द्र
भाषा अध्ययन के आधार	" प्रेमनारायण टण्डन
सिद्धान्त और अध्ययन	" गुलाबराय
हिन्दी के अर्वाचीन रत्न	" विमलकुमार जैन
आधुनिक युग का इतिहास	" कृष्णशंकर शुक्ल
रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला	" विश्वम्भरनाथ भट्ट
प्रसाद साहित्य और समीक्षा	" रामरतन भटनागर
छायावाद के गौरव चिन्ह	" क्षेम
आधुनिक हिन्दी कविता मे प्रेम और शृंगार	" रामेश्वरलाल खंडेलवाल
प्रसाद का काव्य	" प्रेमशंकर
निराला : जीवन और साहित्य	" विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता	" उमाकान्त
आधुनिक हिन्दी कवियो के काव्य-सिद्धान्त	" सुरेशचन्द्र गुप्त
पल्लविनी	सम्पादक डा० हरिवंशराय 'बच्चन'
मूल्यांकन	प्रो० कपिल
महाकवि हरिऔध और उनका प्रिय-प्रवास	" देवेन्द्र शर्मा
ब्रजरत्न	" रामजी पाण्डे
बापू विमर्श	" कन्हैयालाल सहल
हमारे साहित्य निर्माता	प० शान्तिप्रिय द्विवेदी
शंकर-सर्वस्व	सम्पादक डा० हरिशंकर शर्मा
द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ	सम्पादक मण्डल—देवीदत्त शुक्ल, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी···
डायरी	मौलवी मजहरअली सधीलवी
भारतीय नव-जागरण का इतिहास	बाबूराव जोशी
द्विवेदी मीमासा	स० शिवपूजनसहाय　　यण टंडन
शिवपूजन रत्नावली भाग ४	बाबू शिवपूजन सहाय

द्विवेदी काव्य माला	सम्पादक–रमेशचन्द्र मिश्र
मेघनाद वध	माइकेल मधसूदन दत्त
प्रिय-प्रवास	अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
पद्य-प्रसून	,, ,,
प्रेम-पुष्पहार	,, ,,
चुभते चौपदे	,, ,,
वैदेही बनवास	,, ,,
रामचरित चिन्तामणि	रामचरित उपाध्याय
रंग में भंग	मैथिलीशरण गुप्त
जयद्रथ वध	,,
भारत-भारती	,,
पंचवटी	,,
साकेत	,,
द्वापर	,,
यशोधरा	,,
काबा और करबला	,,
मंगल-घट	,,
दूर्वादल	सियारामशरण गुप्त
अनाथ	,,
विषाद	,,
आत्मोत्सर्ग	,,
पाथेय	,,
मृण्मयी	,,
बापू	,,
महाराणा का महत्व	जयशंकर प्रसाद
चित्राधार	,,
कामायनी	,,
प्रेम-पथिक	,,
कानन-कुसुम	,,
झरना	,,
काव्य कला तथा अन्य निबन्ध	,,
स्वजीवनी	श्रीधर पाठक
कश्मीर सुषमा	
[illegible]	

स्वप्न	रामनरेश त्रिपाठी
माखनलाल चतुर्वेदी	कौशिक बरुआ
पुष्पांजलि	मिश्रबन्धु
काव्य-दर्पण	रामदहिन मिश्र
काव्यालोक	"
काव्य-शास्त्र की रूपरेखा	श्यामनन्दन शास्त्री
परिमल	निराला
पल्लव	सुमित्रानन्दन पंत
आधुनिक कवि	"
छंद प्रभाकर	भानु कवि
गीति काव्य का विकास	प्रवासी
महादेवी का विवेचनात्मक गद्य	सम्पादिका—महादेवी वर्मा
यामा	महादेवी वर्मा
साहित्य-दर्पण	विश्वनाथ
हिन्दी साहित्य कोश	सम्पादक मण्डल—धीरेन्द्र वर्मा···
पूर्ण पराग	सम्पादक—हरदयालु सिंह
उद्धव-शतक	जगन्नाथदास रत्नाकर
शृंगार लहरी	"
वीर-सतसई	वियोगी हरि
मेरा जीवन प्रवाह	"
रीति काल और रत्नाकर	कृष्णकुमार कौशिक
रत्नाकर और उनका काव्य	कु० उषा जायसवाल
रत्नाकर—नागरी प्रचारिणी सभा	(संपादित)
पूर्ण संग्रह	राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'
काव्य कौस्तुभ	विद्याभूषण मिश्र
बिहारी सतसई	कवि बिहारीलाल
हृदय तरंग	सत्यनारायण कविरत्न
हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां	शिवकुमार शर्मा तथा गणपतिचन्द्र गुप्त
हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां	जयकिशन प्रसाद
हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह	परशुराम चतुर्वेदी
हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य	विजयेन्द्र स्नातक
कबीर ग्रन्थावली	कबीरदास
हिमतरंगिनी	माखनलाल चतुर्वेदी
कवि निराला और उनका काव्य-साहित्य	गिरीशचन्द्र तिवारी पाण्डेय

आज के लोकप्रिय कवि — रामावतार त्यागी
अनारकली — गोपालशरण सिंह
कवि श्री सियारामशरण गुप्त — सम्पादक—अज्ञेय
नूरजहाँ — गुरुभक्तसिंह 'भक्त'
युग और साहित्य — पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी
हल्दीघाटी — श्यामनारायण पाण्डेय
जौहर — "
थायस — अनातोले फ्रान्स
ब्रजभाषा के नवरत्न — कृष्णकुमार सिन्हा
हरिऔध और उनका प्रिय-प्रवास — "
महाकवि हरिऔध — गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
भारतेन्दु ग्रन्थावली — सम्पादक—ब्रजरत्नदास
साहित्य-सन्देश — सम्पादक—गुलाबराय
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी — सम्पादिका—निर्मल तलवार
पराग — रूपनारायण पाण्डेय
आधुनिक कवि—४ — गोपालशरण सिंह
अवन्तिका विशेषांक — सम्पादक—लक्ष्मीनारायण सुधांशु
हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास — रामबहोरी शुक्ल और डा० भगीरथ मिश्र
यशवन्तराय महाकाव्य (मराठी)
रामचरितमानस — गो० तुलसीदास
श्रीमद्भगवद्गीता
हिस्ट्री आफ इण्डिया — टी० एस० पाल
न्यू आइडियाज इन इण्डिया — आर० व्ही० जे० मेरीसन
प्रेक्टीकल क्रिटीसिज्म — आई० ए० रिचर्ड्स
प्रिंसिपल आफ लिटरेरी क्रिटीसिज्म — "
स्टेडी आफ लिटरेचर — हडसन
दी प्राबलम आफ स्टाइल — जे० मिडिलटन मरे
पाणिनि शिक्षा

पत्र-पत्रिकायें:—

सम्मेलन पत्रिका
सरस्वती
प्रताप
इन्दु
साप्ताहिक जागरण
भारत-मित्र
वेंकटेश्वर समाचार
अवध समाचार

विशाल भारत	अभ्युदय
माधुरी	प्रभा
प्रतिभा	साप्ताहिक हिन्दुस्तान
धर्मयुग	हिन्दुस्त न टाइम्स
नवभारत टाइम्स	कादम्बिनी आदि ।